संस्कृत महाकाव्यों में गार्हस्थ्य-चित्रण

[इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी॰ फिल्॰ उपाधि के लिये प्रस्तुत]

शोधप्रबन्ध

निर्देशक
डॉ० राजेन्द्र मिश्र
एम॰ ए॰ (स्वर्णपदकाङ्क)
प्रवक्ता, संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

प्रस्तुतकर्ता
कौशलचन्द्र मिश्र
एम्॰ ए॰ (संस्कृत)

संस्कृत-विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

नवम्बर १९७७ ई॰

भूमिका

भूमिका

भारत की प्राचीन संस्कृति के सामाजिक विधानों में आश्रम व्यवस्था का महत्वपूर्ण स्थान है । इस व्यवस्था की स्थापना द्वारा हमारे प्राचीन समाज चिन्तकों ने प्रत्येक व्यक्ति के सहज ही सांसारिक आवागमन से मुक्त होने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है ।

प्राचीन ऋषियों ने मानव जीवन की पूर्णायु को सौ वर्षों की मानकर उसे क्रमिक रूप से ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास--इन चार आश्रमों में विभाजित किया है । धर्मशास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार इस आश्रम-चतुष्टय में से ब्रह्मचर्याश्रम में व्यक्ति को अर्थोपार्जन, (विद्याध्ययन रूप) गृहस्थ में कामोपभोग, वानप्रस्थ में धर्मार्जन एवं संन्यास आश्रम में संन्यासी का बाना धारण करके मोक्ष की प्राप्ति का उपाय करना चाहिए । स्पष्ट है कि हमारे धर्मशास्त्रियों की इस आश्रम-व्यवस्था के क्रमिक पालन से व्यक्ति सरलता से मोक्ष प्राप्त कर सकता है और चूंकि मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य सांसारिक आवागमन से मुक्ति प्राप्त करना होता है अत: इस दृष्टि से आश्रम-व्यवस्था का महत्व एवं उसकी उपयोगिता स्वत: ही प्रकट हो जाती है ।

इस आश्रम-चतुष्टय में भी गृहस्थाश्रम अन्य तीनों आश्रमों की अपेक्षा व्यक्ति एवं समाज दोनों ही के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । जीवन के इस भाग में व्यक्ति ब्रह्मचर्याश्रम में संचित ज्ञान का उपयोग

करते हुए, कामोपभोग द्वारा मानसिक सन्तोष की प्राप्ति के पश्चात् धर्मार्जन एवं मोक्ष-प्राप्ति के लिए मानसिक रूप से अपने को तैयार करता है। इस प्रकार 'व्यक्ति' की दृष्टि से गृहस्थाश्रम की महत्ता स्वत: ही स्पष्ट हो जाती है। व्यक्ति विशेष के लिए महत्वपूर्ण होने के साथ ही साथ यह समाज के लिए भी महत्वपूर्ण है क्योंकि ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी एवं संन्यासी इन तीनों के भरण-पोषण का भार इसी (गृहस्थ) के ऊपर रहता है। गृहस्थ ही इन तीनों के भोजन की व्यवस्था करके ब्रह्मचारी को अध्ययन, वानप्रस्थी को धर्मसाधना एवं संन्यासी को मोक्ष की प्राप्ति के प्रयास करने का अवसर प्रदान करता है।

प्राचीन धर्मशास्त्रियों के अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति के पश्चात् शिष्य का समावर्तन संस्कार किया जाता था और इसके बाद वह गुरुकुल जीवन का परित्याग करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता था।

भारतीय संस्कृति एवं देववाणी के प्रबल पक्षपाती पूज्यपाद पिता जी की देखरेख में ही, सन् १९७२ ई० में संस्कृत विषय लेकर जब मैंने स्नातकोत्तर उपाधि ग्रहण की और इस बीच जब विद्यार्थी- जीवन का समापन करके मेरा भी कुलपरम्परया गृहस्थाश्रम में प्रवेश का समय आया तो मन में एक स्वाभाविक प्रश्न उठा कि आखिर संस्कृत काव्यों में विवेचित गृहस्थों का जीवन कैसा था ? वहां गृहस्थ के लिए कौन-कौन से कर्तव्य निर्धारित थे और संस्कृत काव्यों में चित्रित गृहस्थों ने उनका कहां तक पालन किया था ?

मन में अन्तर्हित इस कौतूहल को लिए हुए ही शोध कार्य के सम्बन्ध में परमादरणीय गुरुवर्य डा० राजेन्द्र मिश्र जी से मिला और जब उन्होंने मेरे कौतूहल के शमन के लिए "संस्कृत-महाकाव्यों में गार्हस्थ्य चित्रण" विषय पर ही शोधकार्य करने का आदेश दिया तो मन को एक स्वाभाविक सन्तोष एवं शोधकार्य के लिए आन्तरिक उत्साह प्राप्त हुआ क्योंकि मेरा यह विचार है कि कोई भी शोधकर्ता उसी शोध विषय में उपलब्धि की पूर्णता प्राप्त कर सकता है जिसका उसके मनोनीतत्व से सम्बन्ध हो ।

गृहस्थाश्रम का व्यवहार-क्षेत्र समाज होता है । साहित्य भी समाज की मान्यताओं का दर्पण होता है, उसमें किसी न किसी रूप में सामाजिक जीवन का ही चित्रण होता है इसीलिए संस्कृत के प्रत्येक महाकाव्य में हमें किसी न किसी रूप में गार्हस्थ्य चित्रण देखने को मिलता है । संस्कृत वाङ्मय में "महाकाव्य" ही एक ऐसी विधा है जो आज भी जीवित है । आधुनिक युग में भी पौराणिक आख्यानों एवं समयुगीन कथानकों को आधार बनाकर चरितकाव्यों का प्रणयन हो रहा है ।

स्पष्ट है कि शोध-विषय के व्यापक चित्रण के कारण शोधकर्ता, संस्कृत वाङ्मय के समस्त महाकाव्यों को अपनी अध्ययन-परिधि में नहीं ले सकता था । फलतः उसने मुख्यरूप से संस्कृत के उपजीव्य काव्यों (रामायण-महाभारत) से लेकर महाकवि श्री हर्ष के "नैषधीयचरितम्" तक ही अपने विवेचन को सीमित रखा है । इस परिधि में भी पौनःपुन्येन उल्लेख से बचने के लिए एक ही कथा को आधार बनाने

वाले महाकाव्यों को भी अध्ययन परिधि से बाहर रखा गया है । इस सीमा-रेखा के कारण ही रामकथा पर आश्रित भट्टिकाव्य, हयग्रीववध, रघुवीरचरित आदि एवं शिवकथा पर आधृत हरविजय, शिवलीलार्णव एवं श्रीकण्ठचरित आदि को अध्ययन परिधि में न लेकर, शृंगारिक-चित्रण के कारण "जानकीहरण" एवं शिवकथा के आर्षकाव्य होने के कारण "कुमारसम्भव" को ही अध्ययन परिधि में रखा गया है । श्री हर्ष के बाद के संस्कृत महाकाव्यों में से कृष्ण कथा पर आधृत कवि कर्णपूर विरचित "पारिजातहरण", श्री हरिदास सिद्धान्त वागीश विरचित "रुक्मिणी हरण" एवं श्री बदरी नाथ शर्मा विरचित "राधा परिणय" सरीखे आधुनिक महाकाव्यों को भी अपनी अध्ययन-परिधि में लेकर, आधुनिक महाकाव्यों में चित्रित गार्हस्थ्य जीवन को भी जानने का प्रयास किया गया है ।

इस प्रकार शोधकर्ता ने वाल्मीकिरामायण, महाभारत, सौन्दरनन्द, बुद्धचरित, कुमारसम्भव, रघुवंश, किरातार्जुनीयम्, शिशुपालवध, जानकीहरण, नवसाहसांकचरित, विक्रमांकदेवचरित, धर्मशर्माभ्युदय, शंकरदिग्विजय, नैषधीयचरित, रुक्मिणीहरण, राधा-परिणय एवं पारिजातहरण— इन सत्रह महाकाव्यों को अपने अध्ययन का लक्ष्य बनाया है । अध्ययन-सौविध्य की दृष्टि से शोधकर्ता ने इन महाकाव्यों को चार श्रेणियों में विभाजित किया है । प्रथम श्रेणी में पुरुषार्थ चतुष्टय प्रधान महाकाव्यों, वाल्मीकि रामायण एवं महाभारत को लिया गया है । द्वितीय श्रेणी में धर्मप्रधान महाकाव्यों को लिया गया है और इसके अन्तर्गत बौद्धधर्मप्रतिपादक, सौन्दरनन्द एवं बुद्धचरित, जैनधर्मप्रतिपादक धर्मशर्माभ्युदय एवं सनातन धर्म प्रतिपादक शंकरदिग्विजय को

रखा गया है । तृतीय श्रेणी के अन्तर्गत अर्थप्रधान काव्यों को लिया गया है और इसके अन्तर्गत रघुवंश, किरात, शिशुपालवध, जानकीहरण एवं विक्रमांकदेवचरित का परिगणन किया गया है । चतुर्थ श्रेणी के अन्तर्गत कामप्रधानमहाकाव्यों को लिया गया है और इसके अन्तर्गत कुमारसम्भव, नवसाहसांकचरित, राधापरिणय, रुक्मिणीहरण एवं पारिजातहरण इन पांच महाकाव्यों को रखा गया है ।

समस्त शोधप्रबन्ध पांच अध्यायों में विभक्त किया गया है । प्रथम अध्याय में मानव जीवन की दुर्लभता एवं उसकी सार्थकता पर प्रकाश डालते हुए, शास्त्रों में प्रतिपादित पुरुषार्थचतुष्टय एवं गृहस्थाश्रम में पुरुषार्थत्रय की महत्ता का विवेचन किया गया है । इसके पश्चात् संस्कृत महाकाव्यों के प्रतिपाद्य विषय का विवेचन करते हुए संस्कृत काव्यों में गार्हस्थ्य चित्रण के विविध स्वरूपों को बताया गया है ।

द्वितीय अध्याय में गृह, गृहस्थ एवं गार्हस्थ्य शब्दों का विस्तृत व्याख्यान करते हुए गार्हस्थ्य की परिधि एवं गार्हस्थ्य जीवन से सम्बद्ध विवाह संस्कार तथा उसके विविधरूप, विवाह-विधि आदि के धर्मशास्त्रीय स्वरूप को स्पष्ट करते हुए संस्कृत महाकाव्यों में उनके स्वरूप का विवेचन किया गया है । साथ ही पाणिग्रहण के घटक अंगों, वर एवं कन्या आदि के गुण-दोषों का विवेचन करते हुए गार्हस्थ्य जीवन से सम्बद्ध कुछ अवान्तर तथ्यों — अनुलोम-प्रतिलोम विवाह, नियोग प्रथा, पूर्वानुराग एवं विवाह प्रथा की स्थापना पर प्रकाश डाला गया है ।

तृतीय अध्याय में उपजीव्य काव्यों के गृहस्थों का

विवेचन करते हुए इन काव्यों में उपलब्ध गार्हस्थ्य के स्वरूप का तुलनात्मक विवेचन किया गया है । और साथ ही धर्मशास्त्रों में गार्हस्थ्य का क्या स्वरूप है ? इस विषय का विवेचन किया गया है ।

चतुर्थ अध्याय में धर्म एवं अर्थ प्रधान काव्यों के प्रतिपाद्य विषय का विवेचन करते हुए इन काव्यों के गृहस्थों का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । साथ ही इस श्रेणी के काव्य-रचयिताओं की गृहस्थाश्रम सम्बन्धी मान्यताओं को बताया गया है ।

पंचम अध्याय में कामप्रधानमहाकाव्यों के प्रतिपाद्य विषय का विवेचन करते हुए, इस श्रेणी के काव्यों में चित्रित गृहस्थों तथा गार्हस्थ्य के स्वरूप का विवेचन किया गया है ।

'उपसंहार' शीर्षक के अन्तर्गत संस्कृत महाकाव्यों में उपलब्ध गार्हस्थ्य सम्बन्धी मान्यताओं का आधुनिक युग की मान्यताओं से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है ।

शोधप्रबन्ध के अन्त में 'परिशिष्ट' शीर्षक के अन्तर्गत कुछ व्यक्तियों से सम्बद्ध अन्तर्कथाओं का उल्लेख किया गया है ।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध की पूर्णता में अनेक विद्वन्मनीषियों, स्नेहसुरतत गुरुजनों, स्निग्ध मित्रों एवं सन्तोषणी प्रकृति वाले उदारचेता कुटुम्बियों के सहयोग एवं सद्भाव का महत्वपूर्ण योगदान है । वस्तुतः इन लोगों के सहयोग के अभाव में शोधप्रबन्ध की पूर्णता सन्दिग्ध ही थी ।

श्रद्धेय पितृचरण ने निराशा एवं अभाव के क्षणों में जो सम्बल प्रदान किया है उसके लिए मैं आजन्म उनका ऋणी रहूंगा ।

शोधप्रबन्ध के निर्देशक परमादरणीय गुरुवर्य डा० राजेन्द्र मिश्र जी ने अपने व्यस्ततम समय में भी समय-समय पर जो सहयोग किया है और मेरी शोधसमस्याओं का निदान प्रस्तुत किया है, उसके लिए तो यह जन यावज्जीवन उनका ऋणी रहेगा ।

यद्यपि प्राचीन ऋषियों ने पितृ एवं गुरु ऋण से अनृण होने के उपाय के रूप में क्रमशः पुत्रोत्पादन एवं अध्ययन-अध्यापन का विधान किया है परन्तु मैं इन उपायों से भी इनसे अनृण नहीं होना चाहता क्योंकि किसी व्यक्ति से अनृण होने के पश्चात् उससे सम्बन्ध-विच्छेद की सम्भावना रहती है ।

शोधकार्य की कालावधि में प्रातःस्मरणीय गुरुवर्य ने अपने कवित्व से जिस तरह अभिभूत करके अपना बना लिया है, उसे ध्यान में रखकर मेरी यही कामना है कि —

"गच्छतस्तिष्ठतो वापि जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ।
मा भून्मनः कदाचिन्मे त्वया विरहितं क्वचे ।।"

श्रद्धेय विभागाध्यक्ष महोदय के प्रति मैं आभार प्रदर्शित करना अपना कर्तव्य मानता हूं जिनके स्नेहमय संरक्षण में यह शोधकार्य सम्पन्न करने का अवसर मिला ।

शोधकार्य में सहायता के लिए अन्य विभागीय गुरुजनों, विशेषत: श्री लक्ष्मीकान्त दीक्षित (प्रवाचक), डा० सुरेशचन्द्र पाण्डेय (प्रवाचक) एवं डा० हरिशंकर त्रिपाठी जी का भी कृतज्ञ हूं। क्योंकि इन सभी गुरुजनों ने किसी न किसी रूप में शोधकार्य में सहायता पहुंचाई है।

प्रात:स्मरणीय मातामह प्रो० सरस्वती प्रसाद चतुर्वेदी (भू० पू० अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) का भी अनुगृहीत हूं। वस्तुत: शोधप्रबन्ध की पूर्णता उनके मूक आशीष का ही फल है।

श्रद्धेय अग्रज श्री आनन्द शंकर मिश्र (प्रवक्ता, अंग्रेजी-विभाग, क्रिश्चियन कालेज, प्रतापगढ़) का भी कृतज्ञ हूं जिन्होंने शोधकार्य में सतत प्रेरणा प्रदान की है। प्रिय मित्र श्री आनन्द कुमार श्रीवास्तव (प्रवक्ता, संस्कृत विभाग, सी०एम०पी० डिग्री कालेज, इलाहाबाद) का भी आभारी हूं जिन्होंने शोध की कार्यविधि में अनेक तरह से सहायता की है।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के पुस्तकालयीय कर्मचारियों, राजकीय पुस्तकालय के कर्मचारियों एवं गंगानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ के उपपुस्तकालयाध्यक्ष, श्री रामानन्द धपड़ियाल महोदय का भी आभारी हूं जिन्होंने समय-समय पर पुस्तकीय सहायता देकर शोधकार्य में सहायता पहुंचायी है। राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, शास्त्री भवन, नयी दिल्ली का भी आभारी हूं जिसने दो सौ रुपए प्रतिमास की [illegible] छात्रवृत्ति देकर आर्थिक

सहायता की है और अन्त में शोधप्रबन्ध के यथासाध्य शुद्ध टंकण के लिए श्री श्याम लाल तिवारी जी के प्रति भी आभार प्रदर्शित करता हूं ।

शोधकार्य के टंकण के सन्दर्भ में समस्त सुधीजनों से विनम्र अनुरोध है कि इसमें पंचमवर्ण से संयुक्त व्यंजनों के स्थान पर अनुस्वार का ही प्रयोग किया गया है । अत: शंकर, गंगा आदि संस्कृत-व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध शब्द विवशता की स्थिति में, इसी रूप में टंकित हुए हैं । एतदर्थ शोधकर्ता 'भावग्राही जनार्दन:' की आस्था के साथ क्षमाप्रार्थी है । इन्हीं शब्दों के साथ यह पुष्पांजलि माँ भारती के चरणेन्दीवरों में समर्पित है ।

विदुषां वशंवद:,

कौशल-चन्द्र मिश्र

(कौशलचन्द्र मिश्र)

संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद ।

हनुमज्जयन्ती
५ नवम्बर, १९७७ ई०

२२७ ए, नया ममफोर्डगंज,
इलाहाबाद

संक्षिप्त संकेत सूची

(अकारादि क्रम से)

संक्षिप्त संकेत सूची

(अकारादि क्रम से)

अथर्व०	अथर्ववेद
आग्नि० गृ० सू०	आग्निवेश्य गृह्यसूत्र
आप० म० ब्रा०	आपस्तम्ब मन्त्र ब्राह्मण
आप०	आपस्तम्बस्मृति
आप० गृ०सू०	आपस्तम्ब गृह्यसूत्र
आप० ध० सू०	आपस्तम्ब धर्मसूत्र
आश्व० गृ० सू०	आश्वलायन गृह्यसूत्र
आश्व० श्रौ० सू०	आश्वलायन श्रौतसूत्र
का० सू०	कामसूत्र
का०गृ०सू०	काठक गृह्यसूत्र
किरात०	किरातार्जुनीय
कुमार०	कुमारसम्भव
कौ० अ०	कौटिलीय अर्थशास्त्र
कौ० गृ० सू०	कौशीतकि गृह्यसूत्र
खा० गृ० सू०	खादिर गृह्यसूत्र
गो० गृ० सू०	गोभिल गृह्यसूत्र
गौ० ध० सू०	गौतमधर्मसूत्र
गृ० र० वि० भे०	गृहस्थ रत्नाकर का "विवाहभेदाः" प्रकरण
जानकी०	जानकीहरण
जै० गृ० सू०	जैमिनि गृह्यसूत्र

द० रू०	दशरूपक
दक्ष०	दक्षस्मृति
द्रा० गृ० सू०	द्राह्यायण गृह्यसूत्र
ध्व० लो०	ध्वन्यालोक
धर्मशर्मा०	धर्मशर्माभ्युदय
नवसाहसांक०	नवसाहसांकचरित
नारद०	नारदस्मृति
नैषध०	नैषधीय चरित
पार० गृ० सू०	पारस्कर गृह्यसूत्र
पारिजात०	पारिजातहरण
बुध० चा० ध० व०	बुधस्मृति का 'चातुर्वर्ण्यधर्मवर्णनम्' प्रकरण
बुद्ध०	बुद्धचरित
बौधा० ध० सू०	बौधायन धर्मसूत्र
बौधा० गृ० सू०	बौधायन गृह्यसूत्र
बौधा० वि० प्र० व०	बौधायनस्मृति का 'विवाह प्रकार वर्णनम्' प्रकरण
भार० गृ० सू०	भारद्वाज गृह्यसूत्र
म० भा० आदि०	महाभारत आदि पर्व
,, ,, सभा०	,, सभा पर्व
,, ,, वन०	,, वन पर्व
,, ,, उद्योग०	,, उद्योग पर्व
,, ,, कर्ण०	,, कर्ण पर्व
,, ,, शान्ति०	,, शान्ति पर्व
,, ,, अनु०	,, अनुशासन पर्व
,, ,, अश्व	,, अश्वमेध पर्व
,, ,, स्वर्गा०	,, स्वर्गारोहणपर्व

यद्यपि शोधकर्त्री ने गीता प्रेस से प्रकाशित महाभारत को ही अपने अध्ययन का आधार बनाया है पुनरपि यत्र-तत्र उसने श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

द्वारा स्वाध्याय मण्डल पारडी, बलसाड़ से प्रकाशित संस्करण का भी प्रयोग किया है । ऐसे स्थलों पर "म० भा० स्वा० म०" इस संक्षिप्त निर्देश से उसका उल्लेख कर दिया गया है ।

मनु०	मनुस्मृति
मा० गृ० सू०	मानव गृह्यसूत्र
याज्ञ०	याज्ञवल्क्यस्मृति
रघु०	रघुवंश
राधा०	राधापरिणय
रुक्मिणी०	रुक्मिणीहरण
ल०द० ठाकुर द्वारा प्र०स्मृ० का अध्य० पृ० में उ०नारद०	डा० लक्ष्मीदत्त ठाकुर द्वारा प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन: पृष्ठ में उद्धृत नारद
ला० आ० स्मृ० वि०प्र०व०	लघ्वाश्वलायन स्मृति का "विवाहप्रकार वर्णनम्" प्रकरण
लौ० गृ० सू०	लौगाक्षि गृह्यसूत्र
वसिष्ठ० गृ० ध०	वसिष्ठस्मृति का "गृहस्थधर्मवर्णनम्" प्रकरण
वा० रा० बाल०	वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड
वा० रा० अयोध्या०	,, ,, अयोध्या काण्ड
वा० रा० अरण्य०	,, ,, अरण्यकाण्ड
वा० रा० किष्किन्धा०	,, ,, किष्किन्धा काण्ड
वा० रा० सुन्दर०	,, ,, सुन्दर काण्ड
वा० रा० युद्ध०	,, ,, युद्धकाण्ड
वा० रा० उत्तर०	,, ,, उत्तरकाण्ड
वा० गृ० सू०	वाराह गृह्यसूत्र
विष्णु०	विष्णुस्मृति
विक्रमांक	विक्रमांकदेवचरित
वी० मि०	वीर मित्रोदय

वेदव्यास	वेदव्यास स्मृति
शंकर०	शंकरदिग्विजय
शङ्ख स०	शङ्खस्मृति
शिशुपाल०	शिशुपालवध
सम्वर्त०	सम्वर्तस्मृति
सांख्या० गृ० सू०	सांख्यायन गृह्यसूत्र
सौन्दर०	सौन्दरनन्द
स्मृ० च० सं० का० प्र० भा०	स्मृतिचन्द्रिका के 'संस्कारकाण्ड' का प्रथम भाग
,, ,, व्यव० का०	,, ,, का व्यवहारकाण्ड
स्मृ० मु०	स्मृति मुक्ताफल
हारीत०	हारीत स्मृति
हिरण्य० गृ० सू०	हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र
ऋ०	ऋग्वेद

विषय-निर्देशिका

विषय-निर्देशिका

विषय	पृष्ठ संख्या

विषय	पृष्ठ संख्या

विषय	पृष्ठ संख्या

विषय | पृष्ठ संख्या

विषय	पृष्ठ संख्या

विषय   पृष्ठ संख्या

विषय | पृष्ठ संख्या

-०-

प्रथम अध्याय

-0-

विषय-प्रवेश

प्रथम अध्याय
--०--

१- विषय-प्रवेश

यदि इस चराचर दृश्यमान् जगत् का विश्लेषण किया जाय तो हमें यह पूरा संसार तीन प्रकार की जीव-सृष्टियों से समन्वित दिखाई पड़ता है । जीव-सृष्टि के इस विश्लेषणात्मक अध्ययन-क्रम में सर्वप्रथम हमारी दृष्टि प्रकृति के परिवार पर पड़ती है और इस प्रकार हम प्राकृतिक जीवों की गणना प्रथम कोटि की सृष्टि के अन्तर्गत कर सकते हैं । विचारकों ने इस सृष्टि को 'उल्टी सृष्टि' की संज्ञा दी है और इस नामकरण को समुचित सिद्ध करने के लिए यह तर्क प्रस्तुत किया है कि चूंकि प्रकृति के सभी जीवों का शिरोभाग पृथ्वी के नीचे और उनके अन्य अंग-प्रत्यंग ऊपर की ओर विकसित होते हैं इसीलिए इन्हें 'उल्टी सृष्टि कहा जाना चाहिए'[१]। इस सृष्टि का सीधा सा नामकरण 'प्राकृतिक सृष्टि' भी किया जा सकता है क्योंकि इस सृष्टि के अन्तर्गत वृक्षों, पौधों एवं लताओं आदि प्रकृति-परिवार के सदस्यों का ही परिगणन किया गया है ।

भारतीय परम्परा के अनुसार प्रलय-वेला के अनन्तर नवीन सृष्टि की संरचना के समय प्रजापति ब्रह्मा ने सर्वप्रथम 'प्राकृतिक सृष्टि' को ही इस धरातल पर प्रतिष्ठित किया । श्रीमद्भागवत में स्पष्टरूप से कहा गया है कि 'जब ईश्वर विभिन्न वृक्षों एवं पशुओं आदि की संरचना से

१- देखें : श्री धनभानु कुमार, 'गृहस्थ-जीवन में शान्ति का मार्ग' -- कल्याण, फरवरी १९५२ ई० ।

सन्तोष न प्राप्त कर सके तो उन्होंने मनुष्यों की रचना की ।"[1] श्रीमद्भागवतकार के इस कथन से यही तथ्य प्रकट होता है कि ईश्वर ने सर्वप्रथम "प्राकृतिक सृष्टि" की ही रचना पूर्ण की ।

संसार की दूसरी कोटि की सृष्टि के अन्तर्गत पशु-जगत की सृष्टि की गणना की जा सकती है और इसके अन्तर्गत समस्त पशुओं एवं कीट-कृमियों आदि को परिगणित किया जा सकता है । शास्त्रकारों ने इस सृष्टि को "आड़ी सृष्टि" की संज्ञा दी है और इस नाम के रहस्य को उद्घाटित करते हुए यह विचार प्रकट किया है कि यहां "आड़ी" से तात्पर्य है पशुजगत् के जीवों की रीढ़ की हड्डी या मेरुदण्ड से, चूंकि पशु-जगत् के प्राय: सभी जीवों का मेरुदण्ड आड़ा होता है इसलिए इस कोटि की सृष्टि को "आड़ी सृष्टि" कहना चाहिए ।[2] इस कोटि की सृष्टि के अन्तर्गत चूंकि पशुजगत के जीवों को परिगणित किया गया है एतदर्थ हम इसे "पाशविक सृष्टि" की संज्ञा भी दे सकते हैं । धार्मिक भावना के अनुसार प्रजापति ब्रह्मा ने इस सृष्टि की संरचना "प्राकृतिक सृष्टि" के अनन्तर पूर्ण की थी ।[3]

उपर्युक्त दोनों प्रकार की सृष्टियों की रचना के पश्चात्

१- सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या
 वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान् ।
तैस्तैरतुष्टहृदय: पुरुषं विधाय
 ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देव: ।।
 -- श्रीमद्भागवत ११।९।२८

२- देखें - श्री कमिनानु सुकुमार-"गृहस्थ-जीवन में शान्ति का मार्ग"
 -- कल्याण, फरवरी, १९६१ ई० ।

३- द्रष्टव्य- श्रीमद्भागवत ११।९।२८

प्रजापति मानव-सृष्टि की ओर अग्रसर हुए । श्रीमद्भागवत के अनुसार जब प्रजापति प्राकृतिक एवं पाशविक सृष्टि के जीवों की संरचना कर चुके तो उन्हें यह प्रतीत हुआ कि अभी तक उन्होंने किसी भी ऐसे प्राणी की रचना नहीं की है जो मुक्ति के लिए प्रयास कर सके, जबकि जीव-सृष्टि का उनका मुख्य प्रयोजन मात्र यह था कि प्रत्येक जीव मुक्ति के लिए प्रयत्न कर सके । बस जीव सृष्टि की इसी अपूर्णता को देखकर उन्होंने मानव सृष्टि को रचने का विचार किया ।[१] इसके अतिरिक्त प्रथम रचित सृष्टिद्वय में एक अपूर्णता यह भी थी कि उन जीवों की संसार में तब तक कोई उपयोगिता नहीं थी जब तक कि इनका कोई उपभोक्ता न होता क्योंकि इन जीवों का स्वत: के लिए कोई लाभ नहीं होता । सम्भवत: इन्हीं कारणों को ध्यान में रखते हुए प्रजापति ने मनुष्यों को उत्पन्न किया ।[२] मनुष्यों की रचना उन्होंने उपर्युक्त दोनों कोटि की सृष्टि के जीवों से भिन्न एक नए रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने मनुष्यों का मूल भाग ऊर्ध्व दिशा में और शेष भाग नीचे की ओर परिवर्द्धन करता हुआ बनाया ।[३] विचारकों ने सम्भवत: मनुष्यों के इसी

१- द्रष्टव्य - श्रीमद्भागवत १०।८७।२

२- श्रीमद्भागवत के अनुसार प्रजापति ने सारी सृष्टि के अन्त में अपनी मन:शक्ति से विश्व की अभिवृद्धि करने वाले मनुओं को उत्पन्न किया और इन्हीं मनुओं से अन्य मानवों का उद्भव हुआ - देखें श्रीमद्भागवत ३।२०।४९-५० । निरुक्तकार महर्षि यास्क ने इसीलिए "मनुष्य" शब्द पर निर्वचन करते हुए लिखा है -" - - - - - - - - - मनोरपत्यानि मानवा: । -- देखें - निरुक्त ३।२।७ ।

३- "ऊर्ध्वमूलमध: शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।"

-- श्रीमद्भगवद्गीता १५।१

वैशिष्ट्य को ध्यान में रखते हुए सृष्टि की इस तृतीय कोटि को "सीधी सृष्टि" से अभिहित किया है ।[१] इस सृष्टि को हम "मानवीय सृष्टि" भी कह सकते हैं क्योंकि इसके अन्तर्गत मानव-समुदाय की ही परिगणना की गयी है ।

भारतीय धार्मिक भावना के अनुसार इस धरातल पर प्रत्येक व्यक्ति अपने ही दुष्कृत्यों या सुकृत्यों के आधार पर जन्म ग्रहण करता है । यदि जीव ने पिछले जन्म में दुष्कृत्य किया है तो वह प्राकृतिक या पाशविक सृष्टि में जन्म ग्रहण करता है और यदि उसने सुकृत्यों का पालन किया है तो मानवीय सृष्टि में जन्म ग्रहण करता है ।

कर्मफल के उपर्युक्त सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए हम इस त्रिविध सृष्टि को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं -- भोगयोनि-सृष्टि एवं कर्मयोनि-सृष्टि । प्राकृतिक एवं पाशविक सृष्टि के जीवों को हम भोग-योनि के अन्तर्गत रख सकते हैं क्योंकि इन सृष्टियों के जीवों के जीवन का एक मात्र उद्देश्य होता है अपने पूर्वजन्म में किए हुए दुष्कर्मों के फल का भोग करना । मानवीय सृष्टि को हम भोगयोनि की सृष्टि के साथ ही कर्म-योनि वाली सृष्टि भी मान सकते हैं क्योंकि मनुष्यों को अपने पूर्व जन्म में किए गए दुष्कर्मों के भोग के साथ ही प्राप्त जन्म के सत्कर्मों के द्वारा मोक्ष-प्राप्त करने का अवसर भी प्राप्त रहता है । प्रस्तुत प्रसंग में एक रोचक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब प्राकृतिक एवं पाशविक सृष्टि के जीवों का उद्देश्य मात्र दुष्कर्मों का फल भोगना ही है तो क्या ये जीव जन्म-जन्मान्तर तक फल का भोग ही करते रहेंगे, कभी इस योनि से छुटकारा न पा सकेंगे और यदि ये इन योनियों से जीव छुटकारा प्राप्त कर सकते हैं तो किस उपाय से ? धार्मिक

१-देखें श्री धर्मभानु सुकुमार - "गृहस्थ-जीवन में शान्ति का मार्ग"
--कल्याण, फरवरी, १९६१ ई० ।

भावना के अनुसार इन सृष्टियों के जीव भी अपना जन्म मानवीय सृष्टि की सेवा द्वारा सार्थक कर सकते हैं और अपने को इस सेवा-भाव द्वारा ही ऊंचा उठा सकते हैं। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि प्राकृतिक एवं पाशविक सृष्टि के जीवों का एक मात्र श्रेयस्कर कर्तव्य है सर्वतोभावेन मानव-परिचर्या। ये जीव अपने इस कर्तव्य को सदा से ही निभाते आ रहे हैं। मानवों की क्षुधा-शान्ति के लिए वृक्ष, अनन्त काल से विभिन्न फलों का उत्पादन करते आ रहे हैं। उनकी तृषा-शान्ति के लिए नदियां अनन्त काल से अमृतोपम जल की व्यवस्था करती आ रही हैं। इसी प्रकार अश्व, उष्ट्र, गज आदि अनन्त काल से मानवों के यातायात की समस्या हल करते आ रहे हैं और इस प्रकार ये सभी जीव मानव-समुदाय की परिचर्या में ही अपने जन्म को सार्थक करते आ रहे हैं।

2- मानव-जीवन की दुर्लभता एवं उसका उद्देश्य

उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य सुनिश्चित हो जाता है कि प्रजापति ब्रह्मा द्वारा रचित त्रिविध सृष्टियों में मानवीय सृष्टि ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि इस योनि में जीव अपने दुष्कर्मों के फल-भोग के अनन्तर, सम्पादित सत्कर्मों द्वारा मुक्ति भी प्राप्त कर सकता है किन्तु भारतीय चिन्तकों के अनुसार ऐसे पुण्यात्मा कर्मयोनिज एवं भोगयोनिज मानव का शरीर जीव के लिए अत्यन्त दुर्लभ है।[१] भारतीय महर्षियों का स्पष्ट उद्घोष है कि 'कदाचिल्लभते जन्म मानुष्यं पुण्यसंचयात्' अर्थात् चौरासी लाख योनियों में

१(अ)- दुर्लभो मानुषो देहो - -- - - ।'

--देवी भागवत ६।३०।२४

(ब)- नरत्वं दुर्लभं लोके - - - - ।'

--अग्निपुराण (द्वि० भा०) १६४।३

भ्रमण करता हुआ जीव यदा-कदा ही अपने पुण्य कर्मों के कारण इस नर-तन का आश्रय प्राप्त कर पाता है और ईश्वर उसे यह नर-तन भी एक विशेष उद्देश्य से प्रदान करता है । यह उद्देश्य है जीव को मुक्ति का अवसर प्रदान कराना, उसे मुक्तिमार्ग से छुटकारा दिलाना । श्रीमद्भागवत में मानव-सृष्टि का उद्देश्य निरूपित करते हुए कहा गया है कि प्रजापति ब्रह्मा ने मनुष्यों के लिए बुद्धि, इन्द्रिय, मन एवं प्राणों का निर्माण किया । प्राणों द्वारा जीव जीवन-धारण, इन्द्रियों द्वारा सत्शास्त्र का श्रवण, मन के द्वारा तत्व का चिन्तन तथा बुद्धि के द्वारा तत्व का निश्चय करके आत्मा का साक्षात्कार कर सकता है अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर सकता है।[1] प्रकारान्तर से यहाँ मानव का एक मात्र प्राप्तव्य मोक्ष ही निरूपित किया गया है । भारतीय भावना के अनुसार व्यक्ति मोक्ष तभी प्राप्त कर सकता है जबकि उसे आत्मस्वरूप का परिज्ञान हो जाय । इसलिए इस मानव-योनि को प्राप्त करके जीव को आत्म ज्ञान प्राप्त करने की ओर अग्रसर होना चाहिए[2]। यदि नर-तन को प्राप्त करके भी जीव आत्मस्वरूप का परिज्ञान नहीं कर सका तो उसे कहीं भी किसी भी योनि में शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती[3] और इस प्रकार वह सदा-सदा के लिए मोक्ष-प्राप्ति से वंचित होकर सांसारिक आवागमन के वात्याचक्र में ही भ्रमण करता रहेगा ।

१- देखें - श्रीमद्भागवत १०।८७।२

२- देखें - देवी भागवत ६।३०।२४

३- लब्ध्वेह मानुषीं योनिं ज्ञानविज्ञानसम्भवाम् ।
आत्मानं यो न बुध्येत न क्वचिच्छममाप्नुयात् ॥
-- श्रीमद्भागवत ६।१६।५८

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि मानव का मुख्य कर्तव्य है आत्मस्वरूप का परिज्ञान प्राप्त करते हुए मोक्ष की प्राप्ति करना, परन्तु भारतीय मान्यता के अनुसार मोक्ष मानव जीवन का अन्तिम प्राप्तव्य है, यह उसके जीवन की चरमोपलब्धि है क्योंकि उसे इस मोक्ष तत्व की प्राप्ति के पूर्व भी कुछ प्राप्त करना है। इसीलिए भारतीय महर्षि धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष जीवन के ये चार उद्देश्य निर्धारित करने को बाध्य हुए, भले ही उन्होंने चरमोद्देश्य मोक्ष को निरूपित किया किन्तु मोक्ष को ही सब कुछ मानते हुए उन्होंने अन्य आवश्यक उपलब्धियों (धर्म, अर्थ एवं काम) की बलि नहीं दी क्योंकि उनकी दृष्टि में धर्मार्थकाम एवं मोक्ष, यह मानव-जीवन के विकास की एक क्रमिक रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं।

3- शास्त्रों में प्रतिपादित पुरुषार्थ- चतुष्टय एवं गार्हस्थ्य-जीवन में उनकी आवश्यकता तथा महत्ता

यदि मानव का शारीरिक विश्लेषण किया जाय तो उसमें शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा ये चार अंग महत्वपूर्ण सिद्ध होते हैं। बिना इन चारों के सम्मिलित हुए हम मानव की परिकल्पना ही नहीं कर सकते। चूंकि मानव-शरीर में ये चार अंग महत्वपूर्ण होते हैं अतः स्पष्ट है कि मानव-जीवन के सम्यक् संचालन में भी इनका महत्वपूर्ण स्थान होगा। इन्हीं महत्वपूर्ण अंगों के पोषण एवं उनकी सुरक्षा के लिए भारतीय चिन्तकों ने पुरुषार्थ-चतुष्टय की परिकल्पना प्रस्तुत की। शरीर मानव का पहला महत्वपूर्ण अंग है, इस शरीर के पोषण के लिए अर्थ आवश्यक है। इसी प्रकार मानसिक सन्तोष के लिए काम, बुद्धि के विकास के लिए धर्म और आत्मा की शान्ति के लिए मोक्ष आवश्यक है। इस प्रकार यहां हम देख रहे हैं कि मानव शरीर के चार महत्वपूर्ण अंग अर्थ, काम, धर्म एवं मोक्ष इन चार

तत्वों के सहयोग से ही अपने कार्यसंचालन में समर्थ होते हैं। इन चारों के अभाव में ये चार महत्वपूर्ण अंग निष्क्रिय बन जाते हैं। उदाहरणार्थ भोजन एवं वस्त्र के अभाव में शरीर नष्ट हो जाता है अत: शरीर के पोषण के लिए अर्थ आवश्यक है। इसी प्रकार काम (कामोपभोग) के अभाव में मन कुण्ठित हो जाता है, अत: मन को कुण्ठा से बचाने एवं उसे सुरक्षित रखने के लिए काम का उपभोग अपरिहार्य है। एवमेव धर्म के अभाव में बुद्धि के भ्रष्ट हो जाने का पूरा-पूरा खतरा विद्यमान रहता है क्योंकि धर्म ही बुद्धि को नियंत्रित करता है। आत्मा भी मोक्ष के अभाव में पतित हो सकता है क्योंकि मोक्ष की भावना ही व्यक्ति को आत्मज्ञान प्राप्त करने की ओर प्रेरित करती है और आत्मज्ञान से ही व्यक्ति मोक्ष प्राप्त करता है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारतीय चिन्तकों द्वारा निर्देशित पुरुषार्थ चतुष्टय पर आधारित जीवन ही मनुष्य को इस आवागमन से मुक्ति प्रदान करता है इसीलिए पुरुषार्थ-चतुष्टय का पालन प्रत्येक मानव का एक आवश्यक एवं अपरिहार्य तथा श्रेयस्कर कर्तव्य सिद्ध हो जाता है। मानव-जीवन में पुरुषार्थ-चतुष्टय की इस महत्ता को देखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि यहां इस बात को स्पष्ट कर दिया जाय कि पुरुषार्थ से क्या तात्पर्य है, उनकी संख्या चार ही क्यों है ? तथा मानव-जीवन की सफलता में उनका क्या स्थान है ?

'पुरुषार्थ' शब्द की निष्पत्ति पुरुष और अर्थ इन दो शब्दों के योग से हुई है। यहां 'पुरुष' से तात्पर्य है उस चैतन्यांश जीव से जो इस देह के भीतर सोया हो -- पुरि देहे शेते इति पुरुष:। (यद्यपि इस व्युत्पत्ति के अनुसार तो पुरुष शब्द का एकमात्र अर्थ जीवमात्र सिद्ध होता है परन्तु योगि रूढ़ के अनुसार यहां पुरुष से तात्पर्य है -मानव) और 'अर्थ' शब्द से तात्पर्य है उस पदार्थ से जिसकी सभी अभिलाषा करें-- अर्थ्यते प्राप्यते

सर्वैरित्यर्थः । और इस प्रकार हम 'पुरुषार्थ' शब्द का अर्थ कर सकते हैं जो पुरुषों से चाहा जाय अर्थात् सभी पुरुष जिस वस्तु की कामना करें वही पुरुषार्थ है -- पुरुषैः अर्थ्यते प्रार्थ्यते इति पुरुषार्थः । इस व्युत्पत्यात्मक अर्थ से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य इस संसार में जिन-जिन वस्तुओं की अभिलाषा करते हैं वे सभी पुरुषार्थ हैं और इस प्रकार पुरुषार्थों की संख्या अनन्त होती है क्योंकि मनुष्य के अभिलाषा की कोई सीमा नहीं होती । भारतीय विचारकों ने सम्भवतः इसीलिए पुरुषार्थों की संख्या चार नियत की और यह विचार प्रकट किया कि मनुष्य की सभी कामनाओं का अन्तर्भाव इस पुरुषार्थ-चतुष्टय में ही हो जाता है ।

'पुरुषार्थ' शब्द की एक दूसरी व्युत्पत्ति भी सम्भव है । क्योंकि इन चारों पुरुषार्थों को प्राप्त करने की योग्यता केवल पुरुष (स्त्री एवं पुरुष) में ही है अन्य योनि के जीव इन्हें नहीं प्राप्त कर पाते इसलिए यह भी कहा जा सकता है कि पुरुषार्थ से तात्पर्य है उन कृत्यों से जो केवल पुरुषों के द्वारा ही सम्पादित हो सकें -- पुरुषेण प्राप्यानि-श्रेयांसि इति पुरुषार्थः ।

मानव एक बुद्धिसम्पन्न एवं सुख की इच्छा वाला प्राणी होता है और इन पुरुषार्थों में भी उसकी प्रवृत्तिमात्र सुखोपभोग के लिए ही होती है । इन धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति से चूंकि मनुष्यों को अनन्त सुख प्राप्त होता है, अतः इस सुख को केन्द्रबिन्दु बनाते हुए हम कह सकते हैं कि मनुष्य जिन-जिन सुखों और सुख के साधनों की विशेष रूप से अभिलाषा करते हैं वे ही पुरुषार्थ हैं । सांसारिक सुख को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं -- प्रथम प्रकार का सुख वह माना जा सकता है जो हमें शरीरस्थ ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का सांसारिक विषयों के साथ सम्पर्क होने पर प्राप्त होता है । इस सुख को हम 'विषय सुख' की संज्ञा दे सकते हैं,

क्योंकि इस सुख में सांसारिक विषयों का ही महत्वपूर्ण स्थान होता है । दूसरे प्रकार का सुख इस सुख से ऊपर एक दूसरे जगत् का सुख होता है और मनुष्य वह सुख तब प्राप्त कर पाता है जब उसे आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है । इस सुख को 'आत्मसुख ' की संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि इसमें आत्मा महत्वपूर्ण होता है । यदि इन दोनों सुखों को ध्यान में रखते हुए पुरुषार्थ-चतुष्टय पर विचार किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि चूंकि मनुष्य विषय एवं आत्म केवल इन दो सुखों की इच्छा करते हैं अत: पुरुषार्थ भी दो होने चाहिए । इनमें से विषय सुख की पूर्ति 'काम ' नामक पुरुषार्थ की आराधना से हो जाती है और आत्मसुख की प्राप्ति मोक्ष के अनन्तर प्राप्त हो जाती है । अत: पुरुषार्थ केवल दो माने जाने चाहिए । फिर, शास्त्रकारों ने उनकी संख्या चार क्यों नियत की ? इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर इस प्रकार है -- काम और मोक्ष अपने आप में पूर्ण नहीं होते । काम की आराधना अर्थ से और मोक्ष की प्राप्ति धर्म की सहायता से ही होती है । अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि चूंकि काम एवं मोक्ष (जो कि मानव के साध्य होते हैं) की प्राप्ति के अर्थ और धर्म नाम के दो सहायक होते हैं । इसीलिए पुरुषार्थों की संख्या भी चार ही मानी जानी चाहिए क्योंकि यह एक साधारण सा नियम है कि साध्य और साधन एक दूसरे के बिना अपूर्ण होते हैं या साधन पर ही साध्य आधृत होता है ।

'काम ' मानव की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है और इसकी प्राप्ति की ओर वह स्वत: ही उन्मुख रहता है, लेकिन इस सुपरिष्कृत काम की सिद्धि अर्थ के बिना नहीं हो सकती तथा अर्थ की स्थिरता भी धर्म के बिना नहीं रह सकती । अत: यदि मानव-मन के कामोपभोग की इच्छा को ध्यान में रखा जाय तो धर्म और अर्थ ये दो उसके सहायक सिद्ध होते हैं । इस धर्म, अर्थ एवं काम को शास्त्रकारों ने त्रिवर्ग की संज्ञा दी है और मोक्ष को उन्होंने

'चतुर्वर्ग' कहा है ।[१] मानव-जीवन की उन्नति में इन दोनों ही वर्गों की प्राप्ति आवश्यक मानी जा सकती है यद्यपि प्रत्येक की सिद्धि का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है । त्रिवर्ग की सिद्धि मानव का सांसारिक पथ कल्याणमय करती है इसीलिए इसे 'अभ्युदय'[२] की संज्ञा दी जा सकती है और मोक्ष चूंकि मानव की चरमोपलब्धि होती है, उसकी प्राप्ति के अनन्तर उसे कुछ भी प्राप्तव्य नहीं रह जाता इसलिए इसे 'नि:श्रेयस्'[३] कहा जाता है ।

त्रिवर्ग की सिद्धि का क्षेत्र गार्हस्थ्य जीवन ही होता है । यद्यपि धर्म पूरे मानव-जीवन में व्याप्त रहता है किन्तु अर्थ और काम की चरितार्थता गृहस्थाश्रम में ही होती है । और यदि गृहस्थाश्रम में त्रिवर्ग की आराधना से मनुष्य अभ्युदय प्राप्त कर लेता है तो मोक्ष की प्राप्ति के अनन्तर नि:श्रेयस् की स्थिति उसे स्वत: ही प्राप्त हो जाती है । इस प्रकार यहां यह स्पष्टरूप से समझ लेना चाहिए कि नि:श्रेयस् की स्थिति प्राप्त करने से पूर्व मनुष्य को अभ्युदय के प्राप्ति की ओर ध्यान देना चाहिए । ऊपर कहा जा चुका है कि अभ्युदय पुरुषार्थत्रय की सफलता का परिणाम होता है । यहां एक तथ्य यह स्पष्टरूप से समझ लेना चाहिए कि मनुष्य को उसी त्रिवर्ग से अभ्युदय प्राप्त हो सकता है जो समुचित रीति से प्राप्त किया गया हो । त्रिवर्ग को समुचित रीति से प्राप्त करने का तात्पर्य है धर्म, अर्थ एवं काम के शास्त्रानुकूल अर्जन से । शास्त्रानुकूल से तात्पर्य है इन पुरुषार्थों का

१- त्रिवर्गो धर्मकामार्थैश्चतुर्वर्गः समोक्षकः ।

-- अमर कोश २।७।५७

२- अभ्युदय से तात्पर्य है मानव का : अभित: उदय-सर्वथा उन्नति को प्राप्त होना।

३- नि:श्रेयस् से तात्पर्य है जिससे बढ़कर और कोई भी श्रेष्ठफल न हो - नास्ति श्रेयान् यस्मात् तत् नि:श्रेयसम् ।

निर्दोष पालन । महाभारत-प्रणेता महर्षि व्यास का कथन है कि मानवों की सांसारिक विषयों में रागात्मिका प्रवृत्ति होने के कारण उनके द्वारा आराधित ये तीनों पुरुषार्थ, सावधान न रहने पर एक-एक दोष से युक्त हो जाते हैं । धर्म में फल की अभिलाषा, अर्थ में निगूहन् (अर्थात् उसे दान और भोग में व्यय न करना) काम में सम्प्रमोह (अधिकाधिक मोह का उत्पन्न हो जाना) ये तीन दोष इनमें व्याप्त रहते हैं ।[१] अत: त्रिवर्ग की समुचित आराधना से तात्पर्य यह है कि धर्म, अर्थ एवं काम की प्राप्ति इस प्रकार से करें कि वे क्रमश: अपध्यान, निगूहन एवं सम्प्रमोह इन तीन दोषों से रहित हों । यही कारण है कि तत्ववेत्ता धर्म का अनुष्ठान निष्काम भाव से ही करते हैं । वे अर्थ का उपार्जन त्याग के लिए करते हैं और काम का सेवन शरीर-रक्षण या सन्तानोत्पत्ति के लिए करते हैं । संस्कृत के महाकाव्यकारों ने अपने नायकों के वर्णन के प्रसंग में त्रिवर्ग के सेवन की इसी विधि का चित्रण किया है । विश्वविश्रुत महाकवि कालिदास ने रघुवंश में महाराज दिलीप आदि के प्रसंग में त्रिवर्ग की इसी आराधना की विधि को अपनाते हुए[२] उनके अभ्युदय का उद्दाम चित्रण प्रस्तुत करते हुए योग द्वारा शरीर त्याग का चित्रण प्रस्तुत किया है[३] और इस प्रकार त्रिवर्ग की आराधना से प्राप्त अभ्युदय के अनन्तर उन्हें नि:श्रेयस् की स्थिति में चित्रित किया है । संस्कृत के महाकाव्यों में

१- अपध्यानमलो धर्मो मलोऽर्थस्य निगूहनम् ।
सम्प्रमोहमल: कामो भूयस्तद् गुणवर्धित: ।।
-- म० भा० शा० प० १२३।१०

२- त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ।।
-- रघु -१।७

३- रघु - १।८

धर्म, अर्थ एवं कामोपभोग की यह विधि प्रारम्भ से लेकर अन्त तक अक्षुण्ण रूप से विद्यमान रही है । इस विषय पर यथावसर विस्तृत प्रकाश डाला जाएगा ।

वस्तुत: पुरुषार्थ-चतुष्टय में अर्थ, काम और मोक्ष इन तीनों का मूल 'धर्म' ही है । धर्म ही वह तत्व है जो अर्थ और काम को सम्यक् संचालित करते हुए मनुष्य को मोक्ष का अधिकारी बनाता है और इस प्रकार धर्म, काम एवं अर्थ की सिद्धि में सहायक प्रतीत होता है परन्तु यहां इतना अवश्य ध्यान में रखना चाहिए कि अर्थ और काम ये दोनों धर्म के गौण फल हैं क्योंकि वह मुख्यरूप से मोक्ष में ही सहायक होता है । अत: धर्म का मुख्य फल मोक्ष ही सिद्ध होता है । अर्थ का भी मुख्य फल, उसका मुख्य उद्देश्य धर्म की आराधना ही होती है केवल सांसारिक सुखों का उपभोगमात्र नहीं । ये उसके मात्र गौण फल माने जा सकते हैं और इसी प्रकार काम का भी मुख्य फल जीवन-लाभ ही होता है, इन्द्रिय-तृप्ति नहीं तथा इस प्रकार त्रिवर्ग की प्राप्ति के अनन्तर अभ्युदय को प्राप्त मानव-जीवन का भी मुख्य फल तत्वज्ञान होना चाहिए न कि संसार में लिप्सा ।[१] इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए भारतीय महर्षियों ने मोक्ष पर सर्वाधिक बल दिया और उसे परम पुरुषार्थ

१- धर्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृत: ।
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता
जीवस्य तत्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभि: ।।
-- श्रीमद्भागवत १।२।९-१०

या अन्तिम पुरुषार्थ निरूपित करते हुए[1] उसे ही मानव-जीवन का सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य निरूपित किया ।[2]

अन्त में हम कह सकते हैं कि मानव-जीवन की सफलता का रहस्य पुरुषार्थ चतुष्टय की सफलता में ही निहित है । इसीलिए हमारे शास्त्रों का स्पष्ट आदेश है कि मनुष्य को यावज्जीवन ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए जिससे कि इनके नष्ट या दूषित हो जाने का भय हो ।[3] ऊपर कहा जा चुका है कि `काम ` मानव की एक स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है और मनुष्य का ध्यान स्वत: इसकी प्राप्ति की ओर आकर्षित होता है । ऐसी स्थिति में सामान्यत: ऐसे मानव भी हो सकते हैं जो धर्म और मोक्ष को परे रखकर काम एवं उसके सहचर अर्थ को ही जीवन का सर्वस्व मान बैठें और काम एवं अर्थ के नग्न ताण्डव को ही विधाता का सर्वोत्तम विधान समझ कर उसी की आराधना में लगे रहें । ऐसे पुरुषों को सावधान करते हुए श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि जो मनुष्य अर्थ और काम के ही उपासक होते हैं वे सारे पुरुषार्थों से रहित होते हैं और जीवन में धर्म तथा मोक्ष के अभाव में ज्ञान-विज्ञान से च्युत होकर स्थावर योनि में जन्म-ग्रहण करते हैं ।[4] यही कारण है कि संस्कृत-महाकाव्यकारों ने अपने काव्यों में अर्थ और काम के ऊपर धर्म

१- तत्रापि मोक्ष एवार्थ आत्यन्तिकतयेष्यते ।
त्रैवर्ग्योऽर्थो यतो नित्यं कृतान्तभयसंयुत: ।।
-- वही ४।२२।३५

२- एतावानेव मनुजैर्योगनैपुण्यबुद्धिभि: ।
स्वार्थ: सर्वात्मना ज्ञेयो यत् परात्मैक दर्शनम् ।।
-- वही ६।१६।६३

३- न कुर्यात् कर्हिचित् संगतमस्तीव्रं तितीरिषु: ।
धर्मार्थकाममोक्षाणां यदत्यन्तविघातकम् ।।
-- श्रीमद्भागवत ४।२२।३४

४- अर्थेन्द्रियारामाभिध्यानं सर्वार्थापह्नवो नृणाम् ।
भ्रंशितो ज्ञानविज्ञानाद् येनाविशति मुख्यताम् ।।
-- वही ४।२२।३३

धर्म के नियन्त्रण का ही चित्रण किया है और इस प्रकार धर्म को सर्वाधिक महत्व देते हुए उसे अर्थ, काम एवं मोक्ष का सार तत्व निरूपित किया है।[१] सांसारिक जीवन में बहुधा अर्थ और काम अपनी स्वतंत्रता तथा महत्ता के लिए धर्म का विरोध करते हुए दिखाई पड़ते हैं। धर्म को ध्वस्त करके अर्थ अपनी प्रबलता घोषित करता है और काम भी धर्म को परे रखकर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है। संस्कृत-महाकाव्यों में इन दोनों ही स्थितियों के उदाहरण हमें प्राप्त होते हैं। महाभारत का दुर्योधन जीवन में अर्थ को ही सब कुछ मान बैठता है और युधिष्ठिरादि का अर्थ दुरोदर के बहाने हड़प बैठता है। धर्म की दुहाई देकर याचना करने पर 'सूच्यग्रं नैव दास्यामि' का उद्घोष करता है। ऐसे ओछे अर्थप्रिय भूपति की पराजय दिखाकर सम्भवतः महाकवि व्यास अर्थ पर धर्म का ही अंकुश लगाते हुए प्रतीत होते हैं। (यहाँ अर्थ से तात्पर्य भूमि से है, इस विषय पर आगे प्रकाश डाला जायगा)। यहाँ एक प्रश्न यह उठ सकता है कि दुर्योधन राजा था और राजा को अर्थ की प्राप्ति करनी चाहिए, इसलिए यदि दुर्योधन ने युधिष्ठिर के अर्थ का हरण किया तो क्या बुरा किया ? इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि यदि दुर्योधन ने सम्मुख युद्ध में पाण्डवों से भूमि हड़प की होती तो वह न्यायसंगत अर्थोपार्जक होता किन्तु उसने तो 'दुरोदर' से अर्थ का संग्रह किया था। अतः महाकवि व्यास को यह चित्रित करना पड़ा कि जो व्यक्ति जीवन में धर्म से रहित विधि से अर्थ का संग्रह करेगा वह जीवन में दुर्योधन की तरह ही पराजित होगा और अयश को प्राप्त करेगा। 'दुरोदरच्छद्मजिता' अर्थोपार्जक होने के कारण अपने रुचिकर महाकाव्य 'किरातार्जुनीयम्' के प्रारम्भिक सर्गों में दुर्योधन के वैभव का उद्दाम चित्रण

१- अनेन धर्मः सविशेषमद्य मे त्रिवर्गसारः प्रतिभाति भामिनि।
त्वया मनोनिर्विषयार्थकामया यदेक एव प्रतिगृह्य सेव्यते॥
-- कुमार ५।३८

प्रस्तुत करते हुए भी उसे अपने काव्य का नायक न बनाकर सम्भवत: भारवि ने भी प्रकारान्तर से यही स्पष्ट किया है कि न्यायिक एवं धर्म-मार्ग से संगृहीत अर्थ ही व्यक्ति का कल्याण कर सकता है ।

ऊपर कहा जा चुका है कि काम भी धर्म को ध्वस्त करके अपनी उत्कर्षता एवं सर्वातिशयता को स्थापित करता है । कुमारसम्भव की रूपगर्विता पार्वती अपने रूप की चकाचौंध से ही देवाधिदेवशंकर को मोह लेना चाहती है । कामोत्तेजक वस्त्राभूषणों से सुसज्जिता पार्वती समाधिरत देवाधिदेव शंकर के पास पहुंचती है । और पुष्पार्पण के अनन्तर तिरछी होकर खड़ी हो जाती है । शंकर का ध्यान भंग होता है, रूप की इस चकाचौंध में वह दिग्भ्रमित होने लगते हैं और जब आत्मविश्लेषण में प्रवृत्त होते हैं तो अपने में उत्पन्न इस विकार को कामदेव की ही लीला मानकर उसे ही नष्ट कर देते हैं और इस प्रकार काम को नष्ट करके पुन: साधना में लगते हैं ।[१] प्रकारान्तर से इस वर्णन के द्वारा सम्भवत: महाकवि कालिदास यही चित्रित करना चाहते थे कि काम भी धर्ममूलक ही होना चाहिए । यदि धर्म को छोड़कर आप काम प्राप्त करना चाहते हैं तो पार्वती की तरह ही आपको भी पराजय ही मिलेगी।

अन्त में हम कह सकते हैं कि धर्म, अर्थ एवं काम इन तीनों की सिद्धि से ही व्यक्ति अपने जन्म को सफल कर सकता है । इसी विधि से वह संसार के आवागमन से मुक्ति पाते हुए परमपुरुषार्थ मोक्ष का अधिकारी हो सकता है । महर्षि वात्स्यायन की स्पष्ट सम्मति है कि सांसारिक मनुष्य को धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति के लिए सतत् प्रयत्नशील रहना चाहिए क्योंकि इन पुरुषार्थों के पालन से ही वह इहलोक एवं परलोक दोनों ही स्थानों पर

१- देखें - कुमारसम्भव तृतीय सर्ग ।

सुख प्राप्त कर सकता है ।[1] यहां एक तथ्य यह सुनिश्चित रूप से पुनः स्थिर हो जाता है कि मनुष्य को त्रिवर्ग का समुचित रूप से पालन करना चाहिए ।[2] उसे किसी पुरुषार्थ विशेष को ही लक्ष्य बनाकर उसकी प्राप्ति मात्र को ही जीवन का लक्ष्य नहीं बनाना चाहिए । आचार्य कौटिल्य की सम्मति है कि यदि कोई व्यक्ति ऐसा करता है तो वह त्रिवर्ग की प्राप्ति से रहित हो जाता है ।[3] उदाहरणार्थ काम को ही लिया जा सकता है । काम की प्राप्ति इस प्रकार से करनी चाहिए कि उससे धर्म एवं अर्थ न बाधित हों या फिर धर्म या अर्थ की दुहाई देकर व्यक्ति को काम से भी मुख नहीं मोड़ना चाहिए ।[4] संस्कृत-महाकाव्य-रचयिताओं ने अपने नायकों के वर्णन के प्रसंग में उन्हें त्रिवर्ग को समानरूप से ही सेवा करते हुए चित्रित किया है । विश्वविश्रुत महाकवि कालिदास के नायक महाराज अतिथि इसी विधि से त्रिवर्ग का सेवन करते हुए

१- एवमर्थं च कामं च धर्मं चोपाचरन्नरः ।
इहामुत्र च निःशल्यमत्यन्तं सुखमश्नुते ।।
-- का० सू० १।२।३६

२- वात्स्यायन पुरुषार्थत्रय के समुचित पालन का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं --
"किं स्यात्परत्रेत्याशंका कार्ये यस्मिन्न जायते ।
न चार्थघ्नं सुखेति शिष्टास्तत्र व्यवस्थिता: ।।
त्रिवर्गसाधकं यत्स्याद्द्वयोरेकस्य वा पुनः
कार्यं तदपि कुर्वीत न त्वेकार्थं द्विबाधकम् ।।
-- का० सू० १।२।५०

३- एको ह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मानमितरौ च पीडयति ।
-- कौ० अ० ३।६।१

४- धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत । न निःसुखः स्यात् ।
-- वही

चित्रित किए गए हैं ।[१] महाराज दुर्योधन के वर्णन के प्रसंग में महाकवि भारवि ने भी त्रिवर्ग के सेवन की इसी आदर्श पद्धति को चित्रित किया है ।[२] संस्कृत महाकवियों के इन वर्णनों से यही तथ्य स्पष्ट होता है कि इनकी दृष्टि में समान रूप से त्रिवर्ग का सेवन करने वाला व्यक्ति ही आदर्श था । महाभारतकार महर्षि व्यास भी इसी तथ्य का समर्थन करते हुए उस व्यक्ति को जघन्य बताते हैं जो कि धर्म, अर्थ एवं काम की समान रूप से सेवा नहीं करता ।[३] कामसूत्र-प्रणेता महर्षि वात्स्यायन इन चारों में धर्म को ही सर्वोत्कृष्ट एवं आवश्यक मानते हुए कहते हैं कि जैसे हाथ में आए हुए अन्न को अधिक अन्न-लाभ की दृष्टि से भूमि में बो दिया जाता है उसी प्रकार मोक्ष के लिए अर्थ और काम को संकुचित करके धर्म का ही सेवन करना चाहिए ।[४] अर्थ और काम के संकुचित सेवन से इनका तात्पर्य इन पुरुषार्थ द्वयों के शास्त्रानुकूल अर्जन से ही है ।

इस प्रकार संक्षेप में हम कह सकते हैं कि संसार में मनुष्य के मुख्य अभिलषित धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ हैं और मानव-जीवन की सफलता-विफलता इन चारों की सफलता पर ही निर्भर है । इन चारों में भी धर्म सर्वप्रधान है क्योंकि वह अन्य सभी पुरुषार्थत्रय में अनुस्यूत है इसीलिए

१- न धर्ममर्थकामाभ्यां बबाधे न च तेन तौ ।
नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु ।।
-- रघु १७।५७

२- असक्तमाराधयतो यथायथं विभज्य भक्त्या समपक्षपातया ।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान न बाधतेऽस्य त्रिगण: परस्परम् ।।
-- किरात १।११

३- धर्मार्थकामा: सममेव सेव्या :
यो ह्येकभक्त: स नरो जघन्य: ।।
-- म० भा० शा० प० १६७।४०

४- लोकयात्राया: हस्तगतस्य च बीजस्य भविष्यत: सस्यस्यार्थे त्यागदर्शनाद् चरेद्धर्मान् ।
-- कामसूत्र १।२।२५

श्रुति का आदेश है कि "धर्मात् न प्रमदितव्यम्" अर्थात् धर्म से प्रमाद नहीं करना चाहिए ।

धर्म, अर्थ और काम इन तीनों की चरितार्थता किस प्रकार सम्भव है ? यह एक विचारणीय प्रश्न है । इसका उत्तर हम पारस्कर प्रभृति गृह्यसूत्रकारों और तदनुवर्ती स्मृतिकारों के उन वचनों से पाते हैं जहां गृहस्थाश्रम का सांगोपांग वर्णन हुआ है । मानव-जीवन के चतुर्धा विभाजित आश्रमचतुष्टयों में से दूसरा गृहस्थाश्रम है । इस विषय में यथोचित प्रकाश आगे डाला जाएगा। यहां केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि पुरुषार्थत्रय की चरितार्थता गृहस्थाश्रम में है और गृहस्थाश्रम की चरितार्थता दो व्यक्तियों (महिला एवं पुरुष) के परस्पर विवाह-बन्धन द्वारा आबद्ध होने में है । विवाहित जीवन के बिना शास्त्रोपदिष्ट यज्ञ यागादिमूलक धर्माचरण सम्भव नहीं । ठीक इसी प्रकार गार्हस्थ्य के बिना शास्त्रसम्मत कामाराधन भी सम्भव नहीं और गार्हस्थ्य के बिना अर्थ की आराधना भी अयार्थक एवं अनुपयोगी है । इस प्रकार गृहस्थाश्रम धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों की प्रधान अथवा साक्षात् रूप से तथा मोक्ष तत्त्व की अवान्तर रूप से लीला भूमि है । यही गार्हस्थ्य जीवन संस्कृत महाकाव्यों के प्रतिपाद्य रूप में प्रयुक्त हुआ है ।

४-संस्कृत महाकाव्यों का प्रतिपाद्य एवं उसके विविध प्रकार तथा उनमें गार्हस्थ्य जीवन का प्रायशः अंगीकरण

आचार्य भामह ने काव्य का विभाजन पांच भागों में किया है :- सर्गबन्ध, अभिनेयार्थ, आख्यायिका, कथा और अनिबद्ध ।[१] इनमें प्रथम

१- सर्गबन्धोऽभिनेयार्थं तथैवाख्यायिकाकथे ।
अनिबद्धं च काव्यादि तत्पुनः पञ्चधोच्यते ।।
-- भामह का काव्यालंकार १।१८

भेद सर्गबन्ध का तात्पर्य है वह काव्य अथवा रचना जो सर्गों में बंधी हुई हो । सर्गबन्ध रचना का सर्वोत्तम निदर्शन ही महाकाव्य है ।

संस्कृत महाकाव्यों का प्रतिपाद्य निरूपित करने के लिए दो प्रमुख दृष्टिकोण हैं जिन्हें हम सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण की संज्ञा दे सकते हैं । दूसरे शब्दों में इन्हीं को हम शास्त्रीय और लौकिक दृष्टिकोण भी कह सकते हैं । शास्त्रीय अथवा सैद्धान्तिक दृष्टिकोण वह है जिसका आश्रय लेकर आचार्य भामह एवं दण्डी आदि ने संस्कृत-महाकाव्यों का प्रतिपाद्य निश्चित किया है । यह दृष्टिकोण उन-उन आचार्यों के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में महाकाव्य-लक्षण प्रसंग में दृष्टिगोचर होता है ।

व्यावहारिक अथवा लौकिक दृष्टिकोण वह है जिसके अनुसार पुरुषार्थचतुष्टय संस्कृतमहाकाव्यों के प्रतिपाद्य रूप में प्रयुक्त हुआ है । वस्तुत: दोनों दृष्टिकोणों की आधारशिला एक ही है । अन्तर इतना ही है कि एक तकनीक का प्रतीक है और दूसरा उसी की जन-जीवन में चरितार्थता ।

आचार्य भामह प्राचीनतम् आचार्य हैं जिन्होंने अपने ग्रन्थ 'काव्यालंकार' के प्रथम परिच्छेद में काव्य-विभाजन की सलक्षण व्याख्या प्रस्तुत की है । उन्होंने महाकाव्य के प्रतिपाद्य रूप में जिन तथ्यों की चर्चा की है वे इस प्रकार हैं -- मन्त्र-दूतप्रयाण, युद्धवर्णन, नायक का अभ्युदय, चतुर्वर्गाभिधान, पुष्कलमात्रा में सदुपदेशों का प्रकाशन ।[1] विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखने पर सिद्ध होता है कि भामहाभिप्रेत महाकाव्य-प्रतिपाद्य में तीन प्रमुख तत्त्व अपेक्षित हैं --

----

१- काव्यालंकार १।१९-२३ ।

पंचसन्धि, रस सद्भाव और चतुर्वर्गाभिधान ।[1] आचार्य दण्डी ने अपने महाकाव्य-लक्षण प्रसंग में भामह का पूर्णत: अनुसरण करते हुए कुछ नवीनताएं संयुक्त की हैं । कुछ तकनीकी तत्वों का उन्होंने विशेषरूप से उल्लेख किया है ।तुलनात्मक दृष्टि से उन्होंने मन्त्रदूत प्रयाणादि के अतिरिक्त नगर,अर्णव , शैल, ऋतु, चन्द्रोदय, सूर्योदय, उद्यान-क्रीड़ा, जलविहार, मधुपान और रतोत्सव आदि वैभवपूर्ण तथ्यों को सम्बर्धित किया है ।[2] इसी प्रकार परवर्ती अन्यान्य आचार्यों ने अपनी ओर से कुछ न कुछ जोड़ा अवश्य है परन्तु उनमें नूतनता अत्यल्प है । आचार्यों द्वारा प्रस्तुत किया गया यह प्रतिपाद्य विवरण महाकाव्यों के शास्त्रीय व्याख्या का एक अंश है ।

व्यावहारिक दृष्टिकोण का साक्षात् सम्बन्ध जन-जीवन से है । आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट किए गए महाकाव्यों के प्रतिपाद्य तत्व जन-जीवन में अवतरित होते ही एक नवीन शीर्षक बन जाते हैं । उदाहरणार्थ भामह द्वारा निर्दिष्ट 'मन्त्रदूतप्रयाणादि' और दण्डी द्वारा अनुमोदित नगरार्णव, शैलर्तुवर्णन व्यावहारिक दृष्टिकोण से लोकजीवन के अन्तर्गत 'अर्थ' के अधिकार-क्षेत्र में आएंगे जो कि पुरुषार्थचतुष्टय का ही एक अंग है । इसी प्रकार दण्डी

१- चतुर्वर्गाभिधान को सभी लक्षणकारों ने मान्यता दी है और आचार्य रुद्रट का स्पष्ट आदेश है कि रससंयुक्त प्रबन्धकाव्यों में रचयिता को इनका चित्रण सम्यक् रूप से करना चाहिए --

'जगति चतुर्वर्ग इति ख्यातिर्धर्मार्थकाममोक्षाणां
सम्यक् तानभिदध्याद्रससंमिश्रान्प्रबन्धेषु ।।

-- रुद्रट काव्यालंकार १६।१

२- द्रष्टव्य 'काव्यादर्श' १।१४-१६ ।

द्वारा निर्दिष्ट मधुपान एवं रतोत्सव आदि तथा आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित सम्भोग-विप्रलम्भ[1] आदि तत्त्व "काम" के अन्तर्गत आएंगे । इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि आचार्यों ने महाकाव्यों के प्रतिपाद्य में जिन तथ्यों का नाम कुछ विशिष्ट पदावलियों द्वारा प्रस्तुत किया है वही तथ्य जन-जीवन में व्यवहारत: धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के नाम से जाने जाते हैं ।

धर्म, अर्थ और काम की पारस्परिक सहयोगिता प्राचीनकाल से ही आचार्यों की प्रतिभा का लक्ष्य बनी है । धर्म समस्त पुरुषार्थों में सर्वोपरि माना गया है । विभिन्न धर्मशास्त्रों, स्मृतियों एवं लौकिक आमाणकों का यही मत रहा है ।[2] चूंकि धर्म ही समाज को नियमित करने वाला तत्त्व है अतएव संस्कृत महाकाव्यों में अर्थ और काम को भी धर्म के संरक्षण में ही चित्रित किया गया है । अर्थ की पिपासा मनुष्य को "रावण" बना सकती है जो कि विवेकशून्य होकर निरीह ऋषियों-मुनियों से भी रक्तकर वसूल कर सकता है । इसी प्रकार

१- द्रष्टव्य "साहित्यदर्पण" ६।३१५-३२४ ।

२- (अ) तेषु च धर्मोत्तर: स्यात्
-- गौ० ध०सू० ११।९।४६

(ब) एषां समवाये पूर्व: पूर्वो गरीयान् ।
-- का० सू० १।२।१४

(स) तस्मादर्थाच्च कामाच्च धर्म एवोत्तरो भवेत् ।
अस्मिंल्लोके परे चैव धर्मात्मा सुखमेधते ॥
--म० भा० शा० प० ६१।५२ इसी प्रकार म०भा०शा०प०१४७।६; १६७।७ आदि में भी धर्म को सर्वोपरि माना गया है ।

(द) धर्मादर्थ: प्रभवति धर्मात् प्रभवते सुखम् ।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत् ॥
-- वा० रा० अरण्य ९०।३०

(य) धर्मादर्थं च कामं च मोक्षं च त्रितयं लभेत् ।
तस्मादेवं समीहेत विद्वान् स बहुधा स्मृत: ॥
--पद्मपुराण उत्तरखण्ड ७५।२

धर्मविहीन "काम" नहुष एवं ययाति जैसे तप:पूत राजर्षियों के भी पतन का कारण बन सकता है। निश्चय ही महाकाव्यों में एवं विध तथ्यों के प्रतिपादन से लोकमंगल नहीं सिद्ध हो सकता। तभी तो आचार्य मम्मट उद्घोषित करते हैं "रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत्।"[1]

संस्कृत महाकाव्यकारों ने इसी व्यावहारिक दृष्टिकोण को अपनाते हुए धर्मानुमोदित "काम" एवं धर्मानुमोदित "अर्थ" को अपनी रचनाओं में प्रतिपादित किया है। यहां तक कि महाकाव्यों में प्रतिपादित धर्म भी धर्मानुमोदित है। इसका आशय यह है कि कापालिकों की नरसंहार-लीला भी उनका धर्म है, अवधूतों की पैशाचिकी वृत्तियां भी उनका धर्म है, परन्तु इन समाज-विरोधी धर्मों का चित्रण प्रतिपाद्यरूप में किसी भी महाकाव्यकार ने नहीं किया है क्योंकि ये सम्प्रदाय-विशेष के तथाकथित धर्म होते हुए भी उस त्रिकालाबाधित धर्म से अनुमोदित नहीं हैं जिसकी आधारशिला के विषय में वेद कहता है --

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥[2]

निष्कर्ष यह है कि "अंगी" के रूप में धर्म-विरुद्ध धर्मार्थकाम को संस्कृत महाकाव्यों ने अपना प्रतिपाद्य नहीं बनाया है।

परन्तु यह सत्य है कि कुछ महाकवियों ने इन्हें ग्रहण भी किया है परन्तु अंगरूप में - गौणरूप में। ऐसा उन्होंने क्यों किया? इसका एकमात्र उत्तर यही हो सकता है कि कवि निरंकुश होता है। वह जहां धर्मानुमोदित अर्थ और काम के आदर्शों को प्रतिपादित करके लोकजीवन को समुन्नत करना

१- काव्य प्रकाश - प्रथम उल्लास के द्वितीय कारिका की वृत्ति।
२- ऋग्वेद १०।१९०।१

चाहता है वहीं धर्मविरुद्ध अर्थादि तथ्यों को निरूपित करके, उनसे उत्पन्न होने वाले महाविनाशकारी परिणामों के द्वारा दुराचाररत जनवर्ग को सचेत भी करना चाहता है । यही कारण है कि कविकुलगुरु कालिदास ने एक ही ग्रन्थ में जहां गाय जैसी "अल्प वस्तु" के लिए दुर्लभ प्राणों का उत्सर्ग करने वाले महाराज दिलीप का आदर्श प्रस्तुत किया जो कि धर्मानुमोदित धर्म का आदर्श था वहीं उसी कवि ने अपने महाकाव्य के दुःखान्त होने तक की चिन्ता न करते हुए अग्निवर्ण सरीखे धर्मविरुद्ध कामुक के पतन का भी चित्रण किया । इन दो विरोधी आदर्शों के प्रतिपादन का केवल यही रहस्य था कि लोग दिलीप की तरह धर्मप्राण बनें । साथ ही साथ अग्निवर्ण की तरह निरन्तर काम-वासना में लिप्त न रहें । दोनों ही आदर्शों द्वारा लोकमंगल की सिद्धि होती है । बस, एक की प्रवृत्ति विध्यात्मक है और दूसरे की निषेधात्मक । जब तक "काम" धर्मानुमोदित नहीं होता उसे "वासना" कहते हैं परन्तु संयम और तपश्चर्या की आग में जलकर वही "काम" "प्रेम" बन जाता है । कालिदास के शब्दों में वही "तथाविध प्रेम"[1] है । पार्वती जब तक रूपगर्विता थीं देवाधिदेव का सान्निध्य उन्हें नहीं मिला परन्तु जब उनका रूप-मोह नष्ट हो गया[2] और जब वह शंकर के ध्यान में डूबकर "अपर्णा" बन गई तब स्वयं देवाधिदेव उनके याचक बन गए ।[3] यही संस्कृत महाकाव्यों में प्रतिपादित धर्मानुमोदित "काम"

१- इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः ।।
--कुमार सम्भव ५।२

२- तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती ।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ।।
-- कुमार सम्भव ५।१

३- अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि तवास्मि दासः
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ ।
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज
क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ।।
-- कुमार सम्भव ५।८६

का स्वरूप है । इसी का अनुवर्तन नैषधीयचरित, हरविजय, श्रीकंठचरित, शिवलीलार्णव, नवसाहसांकचरित, विक्रमांकदेवचरित और मधुराविजय प्रभृति कामप्रधान महाकाव्यों में दृष्टिगोचर होता है ।

'अर्थ' शब्द सम्प्रति धन का पर्याय बन गया है परन्तु शास्त्रीय दृष्टि से इसका तात्पर्य कुछ और ही है । अर्थशास्त्र के आदि प्रणेता आचार्य कौटिल्य के मतानुसार मनुष्यों की वसति (बस्ती) को अर्थ कहते हैं । इस प्रकार मनुष्यों से संकुल पृथ्वी के प्राप्त करने एवं पालन-पोषण करने के उपायों को निरूपित करने वाला शास्त्र ही अर्थशास्त्र है ।[1] इस प्रकार परत: प्रामाण्य से अर्थ का व्याख्यान स्पष्ट हो जाता है । पुरुषार्थचतुष्टय में परिगणित 'अर्थ' के परिवेश में वे समस्त मानवीय व्यवहार आ जाते हैं जिनका सम्बन्ध पृथ्वी को प्राप्त करने तथा प्राप्त हुई पृथ्वी के पोषण करने से है । यद्यपि एक दृष्टि से 'अर्थ' केवल राजाओं का अधिकार क्षेत्र प्रतीत होता है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य न साम्राज्य-विजय कर सकता है और न उसका पालन । परन्तु ऐसा नहीं है । नरपतियों के सन्दर्भ में अर्थ शब्द का अभिप्राय भले ही विजित भू प्रदेश से हो परन्तु जनता जनार्दन के लिए उसका सामान्य आशय है- भौतिक जीवन का समुन्नयन करने वाला कोई भी अभियान ।[2] यह बात और है कि

१- मनुष्याणां वृत्ति: अर्थ : । मनुष्यवती भूमि: इत्यर्थ: । तस्या: पृथिव्या: लाभपालनोपाय: शास्त्रमर्थशास्त्रमिति ।
--कौ० अ० १५/१/१

२- आचार्य वात्स्यायन इसीलिए 'अर्थ' की विस्तृत व्याख्या करते हुए कहते हैं कि विद्या, भूमि, सुवर्ण, पशु, धान्य, बरतन आदि घर का सामान तथा मित्रों एवं वस्त्राभूषण, गृह आदि वस्तुओं को धर्मपूर्वक प्राप्त करना और प्राप्त किए हुए की वृद्धि करना ही अर्थ है --

'विद्याभूमिहिरण्यपशुधान्यभाण्डोपस्करमित्रादीनामर्जनमर्जितस्य विवर्धनमर्थ: ।'
-- का० सू० १।२।६

संस्कृत के अधिकांश महाकाव्य पौराणिक नरपतियों का जीवन-चरित होने के कारण (जैसे कि किरातार्जुनीयम् आदि) अथवा समकालिक आश्रयदाता नरेशों की प्रशस्तिगाथा होने के कारण (जैसे विक्रमांकदेवचरित आदि) अर्थ के दूसरे पक्ष को नहीं प्रदर्शित कर पाते । वे केवल शत्रुओं द्वारा शासित प्रदेशों को जीतने और उनके पोषण करने का ही निदर्शन प्रस्तुत कर पाते हैं । इस प्रकार संस्कृत महाकाव्यों में प्रतिपादित `अर्थ` अत्यन्त संकुचित एवं संकीर्ण है । यदि संस्कृत भाषा आज भी अपनी हर्षयुगीन स्थिति प्राप्त किए होती तो राजतन्त्रविहीन आज के युग में प्रतिभाशाली कवि शायद `भाखरानंगल` और `दुर्गापुर मिलाई` जैसे उद्योगों को अपने महाकाव्यों का प्रतिपाद्य बनाते और इन आदर्शों की गणना `धर्म` तथा `काम` में न होकर `अर्थ` में ही होती । भले ही ये उद्योग कौटिल्यसम्मत `अर्थ` के अधिकार क्षेत्र में न आते ।

रघुवंश, किरातार्जुनीय, रावणवध, शिशुपालवध और जानकीहरण आदि संस्कृत के अर्थप्रधान महाकाव्य हैं । परन्तु इनमें भी धर्मानुमोदित अर्थ का ही चित्र प्रस्तुत किया गया है । यदि ऐसा न होता तो किरातार्जुनीय में महाकवि भारवि को दुर्योधन के ही शासन को लक्ष्य बनाना चाहिए था क्योंकि वह भी युधिष्ठिर की भांति प्रजापालन में दत्तचित्त था । प्रश्न है कि महाकवि भारवि ने ऐसा क्यों नहीं किया ? क्यों नहीं उन्होंने दुर्योधन को अपने महाकाव्य का नायक बनाया ? केवल इसलिए कि दुर्योधन धर्मानुमोदित अर्थ का पक्षधर नहीं था ।[१] यदि उसने सम्मुख युद्ध में पाण्डवों से साम्राज्य जीत लिया होता तो वह उसका धर्मत: अधिकारी था परन्तु उसने तो दुरोदर के बहाने

१- विशंकमानो भवत: पराभवं । नृपासनस्थोऽपि वनाधिवासिन: ।
दुरोदरच्छद्मजितां समीहते । नयेन जेतुं जगतीं सुयोधन: ।।
-- किरात १।७

साम्राज्य को हस्तगत किया । भला ऐसे बेईमान नरेश को कौन कवि अपना नायक बना सकता है । फलत: भारवि ने प्रारम्भिक सर्गों में दुर्योधन के वैभव का उद्दाम चित्रण करते हुए भी महाकाव्य के कथानक को उसके पक्ष में नहीं जाने दिया । ठीक यही स्थिति शिशुपाल वध और अन्यान्य महाकाव्यों में भी है । इस प्रकार धर्मानुमोदित अर्थ को ही प्रतिपाद्य बनाना महाकाव्यकारों को अभीष्ट रहा है ।

धर्म की प्रधानता तथा उसकी सर्वातिशायिनी प्रभावशालिता के विषय में परिच्छेद के आरम्भ में ही संकेत किया जा चुका है । वस्तुत: इस सन्दर्भ में जिस 'धर्म' की व्याख्या करने का प्रयास किया जा रहा है वह वेद वेदांग सम्मत 'धर्म' है जिसकी पृष्ठभूमि वेदों में, प्रतिष्ठापना धर्मसूत्रों में और जिसका उपबृंहण स्मृतियों में क्रमश: होता रहा है । यह वही धर्म है जिसके विषय में महाकवि माघ ने शिशुपाल वध के तृतीय सर्ग में अपना मत व्यक्त किया है ।[१] कहने का आशय यह है कि यह धर्म बौद्धों, जैनों, चार्वाकों, वामाचारियों तथा अन्यान्य सम्प्रदायों के तथाकथित वाग्जालों से सर्वथा पृथक् है । यह धर्म विश्व के समस्त छोटे-बड़े धर्मों की आधारशिला है । यह वह मानव धर्म है जो वर्गविशेष जातिविशेष अथवा राष्ट्रविशेष के लिए न होकर विश्वजनीन मानवमात्र के लिए है । इसी धर्म के विषय में वैशेषिक दर्शन में कहा गया है कि जिससे अभ्युदय और नि:श्रेयस् की प्राप्ति हो वही धर्म है ।[२]

१- उद्धृत्य मेघैस्तत एव तोयमर्थं मुनीन्द्रैरिव सम्प्रणीता: ।
आलोकयामास हरि: पतन्तीर्नदी: स्मृतीर्वेदमिताम्बुराशिम् ।।
--शिशुपालवध ३।७५

२- यतोऽभ्युदय नि:श्रेयस् सिद्धि: स: धर्म : ।
--वैशेषिक दर्शन १।१।२

महाभारत में अनेक ऐसे उल्लेख हुए हैं जो उपर्युक्त धर्म की परिधि में न आते हुए भी धर्म माने गए हैं। ऐसे प्रसंगों में महर्षि विश्वामित्र द्वारा श्वान मांस भक्षण[1] आदि प्रमुख हैं। इसी प्रकार महाभारतयुग में प्रचलित नियोग प्रथा भी परस्त्रीगमन होते हुए भी धर्मसिद्ध मानी गई थी। इन सन्दर्भों का आखिर क्या रहस्य हो सकता है? यदि स्मृति सम्मत धर्म ही धर्म है तो फिर उपर्युक्त दृष्टान्त अधर्म क्यों नहीं है? बौद्ध और जैन आदि धर्म शाश्वत धर्म क्यों नहीं है? इनका सन्तोषजनक उत्तर इस प्रकार है -- जैसे अनन्तसागर नदियों का आश्रय स्थान है और नदियां स्वयं छोटे-छोटे स्रोतों के लिए सागर बन जाती हैं ठीक उसी प्रकार वेद, स्मृति-समर्थित धर्म देश एवं काल की सीमा में बंधा न होने के कारण समस्त विश्व के छोटे-बड़े धर्मों का आश्रय है। परन्तु उसी वेद स्मृति समर्थित धर्म में विलीन विभिन्न साम्प्रदायिक धर्म अपने से भी छोटी आस्थाओं तथा विश्वासों की दृष्टि से धर्म बन जाते हैं। तर्कशास्त्र का यह एक सुनिश्चित नियम है कि प्रत्येक विशेष अपने सामान्य की दृष्टि से तो विशेष है परन्तु अपने ही विशेष (Species) की दृष्टि से वह स्वयं भी सामान्य (Genus) बन जाता है। बौद्ध धर्म उस सनातन धर्म की प्रक्रिया में उत्पन्न हुआ जो स्मृति-सम्मत धर्म होते हुए भी ब्राह्मणों की मुगम्मन्यता एवं अहम्मिति के कारण समाज की ईर्ष्या का केन्द्र बन गया था। फलतः तथागत को उद्घोष करना पड़ा 'न जच्चा ब्रह्मनो होति आदि।' इस परम्परा में हम देखते हैं कि स्मृतिसम्मत धर्म की अपेक्षा जितनी संकीर्णता सनातन धर्म में आगई थी उससे भी कहीं अधिक संकीर्णता बौद्धधर्म में आ गयी और आज जो प्रत्येक जाति का अपना पृथक्-पृथक् धर्म बन रहा है वह उसी पतनोन्मुख संकीर्ण भावना का परिणाम है।

१- विस्तृत कथा के लिए देखें प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का परिशिष्ट-१ ।

ठीक इसी प्रकार परस्त्रीगमन स्मृतिसम्मत धर्म के प्रतिकूल है परन्तु यथाकथञ्चित वंश लुप्त जाने की संकटमयी स्थिति में यह अनिवार्य समझा गया कि वंश-रक्षा की जाय। फलत: नियोग प्रथा को धर्म की परिधि में ले लिया गया और राजकुल की युवती विधवा के साथ उसी वंश के किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति अथवा जनपद के किसी तेजस्वी ऋषि-मुनि का संयोग तथा पुत्रोत्पादन समुचित माना गया। विश्वामित्र आदि ऋषियों के सन्दर्भ में भी प्राण-रक्षा को सर्वोपरि मानते हुए श्वान-मांस-भक्षण आदि को औचित्य प्रदान किया गया। प्राचीन ग्रन्थों में ऐसे दृष्टान्तों को 'आपद्धर्म' की संज्ञा दी गयी है। धनुर्धारी अर्जुन दीन ब्राह्मण की पुकार सुनकर परस्पर की गयी प्रतिज्ञा के विपरीत द्रौपदी एवं युधिष्ठिर के वास-गृह में गाण्डीव लेने के लिए चले गए थे।[१] प्रतिज्ञा-भंग निश्चय ही अधर्म था परन्तु दीन ब्राह्मण की रक्षा आपद्धर्म था। धर्म चाहे जैसा हो अधर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ होता ही है।

इस परिप्रेक्ष्य में यदि संस्कृत महाकाव्यों के प्रतिपाद्य का विश्लेषण किया जाय तो हम देखते हैं कि महाकाव्य रचयिताओं ने किसी धर्म विशेष (संकीर्ण धर्म, बौद्ध जैन आदि) का आश्रय न लेकर त्रिकालाबाधित स्मृति-सम्मत धर्म को ही अपना लक्ष्य बनाया है। परन्तु ऐसा कोई महाकाव्य नहीं मिलता जिसमें कि आमूलचूड़ इस विश्वजनीन धर्म को अंगी लक्ष्य बनाया गया हो। हां, अंगरूप में वे धर्म महाकाव्यों में निरन्तर उपलब्ध होते हैं। नैषध में महाराज नल द्वारा विलाप करते हुए हंस के प्रति दया का प्रदर्शन[२] रघुवंश में नन्दिनी के लिए दिलीप का आत्मार्पण[३] विश्वजित् याग में महाराज रघु द्वारा

१- विस्तृत कथा के लिए देखें- प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का परिशिष्ट- १।

२- द्रष्टव्य 'नैषधीयचरित' का प्रथम सर्ग १२४-१४३।

३- ,, 'रघुवंश' का द्वितिय सर्ग ।

सर्वस्व दान[1] आदि इसी प्रकार के दृष्टान्त हैं । परन्तु जो महाकाव्य सम्मुख धर्मप्रधान हैं (अर्थात् किसी धर्मविशेष के प्रचार के लिए लिखे गए हैं) उनमें विश्वजनीन धर्म का प्रतिपादन नहीं मिलता । ऐसा केवल इसलिए है कि उनके लेखक स्वयं किसी न किसी सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे । यही कारण है कि यदि बुद्धचरित में बौद्धधर्म का चित्रण है तो कफ्फिणाभ्युदय में जैन धर्म का और शंकर दिग्विजय में सनातन धर्म का । परन्तु इतना होते हुए भी संस्कृत के ये धर्म प्रधान महाकाव्य अर्थ और काम की ही भांति निरंकुश नहीं हैं बल्कि उसी धर्म से अनुमोदित हैं जिसका स्वरूप पूर्वागत अनुच्छेदों में स्पष्ट किया जा चुका है ।

निष्कर्ष यह है कि संस्कृत महाकाव्यों में प्रतिपादित धर्म,अर्थ और काम - ये पुरुषार्थत्रय वेदस्मृति धर्म से समर्थित हैं क्योंकि धर्म ही ऋत है, सत्य है, नियामक है, सर्वाभिभावी है और सनातन है । औपचारिक दृष्टि से भले ही संस्कृत के महाकाव्य कादाचित्केन धर्म, अर्थ और काम को लक्ष्य बनाते हैं परन्तु सच बात तो यह है कि प्रत्येक महाकाव्य के प्रतिपाद्य में इन तीनों का परस्पर मंजुल समन्वय है । फलतः संस्कृत का प्रत्येक महाकाव्य प्रतिपाद्य की त्रिवेणी प्रस्तुत करता है । इस प्रसंग का समापन आचार्य कौटिल्य की इन पंक्तियों में किया जाता है, समं वा त्रिवर्गं अन्योन्यानुबन्धम् । एको हि अत्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मानमितरौ च पीडयति ।[2]

भारतीय दर्शन जीवन और मृत्यु में कोई अन्तर नहीं मानता । जीव की दृष्टि से शरीर त्याग को मृत्यु अथवा भीषण दुर्घटना की संज्ञा

१- द्रष्टव्य रघुवंश का पंचम सर्ग ।

२- कौटिल्य का अर्थशास्त्र १।६।१

दी जा सकती है । परन्तु आत्मा की दृष्टि से शरीरत्याग एक अत्यन्त साधारण घटना है जिसे कि "गीता" में वस्त्र परिवर्तन जैसा साधारण महत्व दिया गया है ।[1] यदि हम जीव की दृष्टि से जीवन का विश्लेषण करते हैं तो यह हमारा कोरा अज्ञान है क्योंकि जीव की स्वतंत्र सत्ता नहीं है । वस्तुत: स्वतन्त्र सत्ता तो आत्मा की है जो सच्चिदानन्दस्वरूप परब्रह्म से सर्वथा अभिन्न है । तभी तो कहा गया है, 'ब्रह्मजीवैव नापर: ।' इस प्रकार जीवन और मृत्यु आत्मा की दो विभिन्न स्थितियां हैं जो व्यावहारिक दृष्टि से एक विशाल युगान्तकारी परिवर्तन प्रस्तुत करती हुई भी पारमार्थिक दृष्टि से परस्पर अनवच्छिन्न हैं ।

यह तो हुआ दार्शनिक दृष्टिकोण । परन्तु इस तथ्य को किसी भी तरह झुठलाया नहीं जा सकता कि जिस शरीर का आश्रय लेकर नामरूप के सहारे जीवात्मा संसार में प्रवेश करता है, मृत्यु के साथ उस शरीर का नाश तो हो ही जाता है और शरीरनाश के साथ ही साथ उसके पुरुषार्थ भी नष्ट हो जाते हैं, जब पुरुष ही नहीं तो पुरुषार्थ कहां से होगा -- छिन्ने मूले नैव पत्रं न शाखा ।

पुरुषार्थ चतुष्ट्य में निरूपित मोक्ष तत्व का सम्बन्ध ऐहलौकिक जीवन से न होकर पारलौकिक जीवन से है चूंकि पारलौकिक जीवन बिना शरीर परिवर्तित किए हुए (मृत्यु) प्राप्त कर सकना सर्वथा असम्भव है और चूंकि "मोक्ष" एकमात्र पारलौकिक रहस्य है अतएव ऐहलौकिक जीवन में मोक्ष के लिए केवल तैयारी की जा सकती है उस पर किसी प्रकार अमल नहीं किया जा सकता ।

१- वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा, न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।
--श्रीमद्भगवद्गीता २।२२

यही कारण है कि संस्कृत महाकाव्यों में मोक्ष को अंगी प्रतिपाद्य नहीं बनाया गया । महाकाव्य किसी प्रख्यात लोकपुरुष का जीवन चरित होता है न कि उसके मृत्यु के अनन्तर की यशोगाथा । महाकाव्य एक प्रवृत्तिमूलक तत्व है जबकि मोक्ष निवृत्तिमूलक । धर्म, अर्थ और काम प्रवृत्तिमूलक तत्वों के अन्तर्गत आते हैं परन्तु मोक्ष इनसे सर्वथा पृथक् है । पुरुषार्थत्रय का मोक्ष के साथ आत्यन्तिक विरोध देखते हुए ही 'मोक्ष' को महाकाव्य का प्रतिपाद्य बनाया जाना सम्भव नहीं हो सका । परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि संस्कृत महाकाव्यों के प्रतिपाद्य में पारलौकिक जीवन की सर्वथा उपेक्षा की गयी है बल्कि सच तो यह है कि धर्म, अर्थ और काम के माध्यम से संस्कृत महाकाव्यकारों ने अपनी रचनाओं में मोक्ष की पृष्ठभूमि तैयार की है । अर्थ और काम को थोड़ी देर के लिए हम मोक्ष-विरोधी मान भी सकते हैं परन्तु धर्म का तो पर्यवसान मोक्ष में ही होता है । अत: हम कह सकते हैं कि 'बुद्ध चरित का प्रतिपाद्य निर्वाण तत्व की, कफिफणाभ्युदय का प्रतिपाद्य 'जिन' क भावना की और शंकर दिग्विजय का प्रतिपाद्य मोक्ष तत्व की भूमिका के अतिरिक्त और कुछ नहीं है । इस प्रकार कुछ मौलिक विसंगतियों के कारण भले ही बहिरंग दृष्टि से मोक्ष तत्व को संस्कृत महाकाव्यों में प्रतिपाद्यता नहीं मिली परन्तु आन्तरिक दृष्टि से मोक्ष तत्व भी धर्मादि के माध्यम से उनमें अनुस्यूत है ।

यदि विश्लेषणात्मक दृष्टि से देखा जाय तो यह सिद्ध होता है कि पुरुषार्थत्रय अर्थात् धर्मार्थ एवं काम इन तीनों में काम ही प्रधान है । यदि अर्थ काम का एक साधन है तो धर्म ठीक उसी प्रकार उसका एकमात्र साध्य । यहां 'काम' शब्द का अत्यन्त विस्तृत भाव है । वह केवल संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होने वाली पत्नी विषयक रति-भावना का ज्ञापक मात्र न होकर समस्त सृष्टि के मूल में विद्यमान एक अप्रतिम उत्प्रेरणा शक्ति के पर्याय रूप में समझा जाना चाहिए । इस प्रकार काम के व्याख्या-क्षेत्र में जड़ और चेतन ब्रह्माण्ड की वे समस्त प्रवृत्तियां आ जाती हैं जिनसे वह गतिमान होता है । मनुष्य के जीवन में विशेषरूप से

'अर्थ ' कामसिद्धि के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण करता है तथा अपेक्षित साधन जुटाता है । दूसरी ओर गार्हस्थ्य का प्रतीक होने के कारण यही काम गुरु, देव तथा पितृ ऋण रूपी महान् जीवन धर्म के सम्पादन का वह स्वयं एकमात्र स्रोत बन जाता है । इस प्रकार धर्मार्थकाम की त्रिवेणी मानव के ऐहलौकिक जीवन की रीढ़ बन जाती है ।

गार्हस्थ्य जीवन की सर्वनिष्ठता समझने के लिए आवश्यक है कि हम प्राचीन भारत की जीवन-पद्धति का रहस्य समझें । वैदिक युग से ही तप: पूत क्रान्तिदर्शी भारतीय ऋषियों का जीवन-विषयक एक सुनिश्चित दृष्टिकोण रहा है 'जीवेम शरद: शतम् ' अर्थात् हम सौ वर्ष तक जिएं । विश्वेदेव सूक्त का द्रष्टा ऋषि भी इसी प्रकार की आकांक्षा व्यक्त करता हुआ कहता है, "हे देवताओं । हमें आपने सौ वर्ष की अवस्था दी है । इसी आयुष्य-अवधि में आप लोगों ने हमारे शरीरों के वृद्ध हो जाने का भी विधान किया है । इसी अवस्था के बीच हमारे पुत्रगण अपने पुत्रों के पिता बनने को हैं इसलिए आपसे विनम्र निवेदन है कि हमें पूर्णायु के बीच में ही स्वर्गगामी न बनाएं ।" [१] इस कथन से वैदिक ऋषियों का जीवन-विषयक दृष्टिकोण सुस्पष्ट हो जाता है । कालान्तर में जब महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास ने वेदों का चतुर्धा विभाजन करके उन्हें सुव्यवस्थित किया, जब उन्होंने पुरुषार्थ-चतुष्टय की कल्पना की और जब प्राचीन ऋषियों तथा स्मृतिकारों ने मानव-जीवन की पूर्णायु में चार आश्रमों

१- शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा
यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम् ।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति
मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तो: ।।
-- ऋ० वे० १।८९।९

की व्यवस्था की तब समूचा लोकजीवन एक वैज्ञानिक श्रृंखला से नियमित हो उठा ।[१]
मानव-जीवन का प्रत्येक आश्रम अपने ही अनुकूल पुरुषार्थ से बंध गया और उसी
के अनुकूल उसके नियामक वाङ्मय भी सुनिश्चित हो गए । यह वैज्ञानिक श्रृंखलाबद्ध
जीवन भले ही किसी व्यक्ति विशेष को अभिप्रेत न हो परन्तु संस्कृति-अनुरागी

१- प्राय: सभी धर्मशास्त्रकारों ने मनुष्य की शतवर्षीया आयु को चतुर्धा विभाजित
करके आश्रम चतुष्टय की परिकल्पना की है किन्तु आचार्य वात्स्यायन इसे ३
ही भागों में बांटकर ३ आश्रमों को ही मान्यता देते हैं । इनके अनुसार मनुष्य को जन्म
से सोलह वर्ष की आयु तक ब्रह्मचर्याश्रम, सोलह से सत्तर वर्ष तक गृहस्थाश्रम
एवं सत्तर वर्ष के अनन्तर सन्यासआश्रम का पालन करना चाहिए --

आषोडशाद् भवेद्बालो यावत्क्षीरान्नवर्तन: ।
मध्यम: सप्तति यावत्परतो वृद्ध: उच्यते ।।
जयमंगला--कामसूत्र १।३।२

वात्स्यायन के अनुसार उसे बाल्यावस्था में विद्योपार्जन (अर्थ) करना चाहिए --

'बाल्ये विद्याग्रहणादीनर्थान् '
-- का० सू० १।२।२

युवावस्था में काम का सेवन करना चाहिए --
'कामं च यौवने ।
-- का० सू० १।२।३
और वृद्धावस्था में धर्म और मोक्ष का अनुष्ठान करना चाहिए --
'स्थविरे धर्मं मोक्षं च ।
-- का० सू० १।२।४
किन्तु वात्स्यायन आगे चलकर कहते हैं कि चूंकि जीवन का कोई ठिकाना नहीं
है इसलिए मनुष्य को यथावसर पुरुषार्थत्रयों की प्राप्ति में दत्तचित्त होना चाहिए--
'अनित्यत्वादायुषो यथोपपादं वा सेवेत '--का० सू० १।२।५

आचार्य वात्स्यायन के उपर्युक्त आश्रम विभाजन का मुख्य कारण
यही प्रतीत होता है कि चूंकि ये जीवन में काम को महत्वपूर्ण मानते थे अत:
उसके पूर्ण सम्भोग के लिए २५ वर्ष का अल्पकाल इन्हें सन्तोषप्रद न लगा और
उधर १६ वर्ष की अवस्था से ही चूंकि व्यक्ति में काम-भावना का विकास होने
लगता है अत: उन्होंने ब्रह्मचर्याश्रम का समय पच्चीस वर्ष से घटाकर सोलह वर्ष
कर दिया और उसके अनन्तर सत्तर वर्ष तक गार्हस्थ्य आश्रम का विधान किया ।
इस प्रकार इन्होंने वानप्रस्थ को कोई मान्यता नहीं दी ।

भारतीय जीवनपद्धति के पक्षपाती किसी व्यक्ति को उसकी सुव्यवस्था में सन्देह न होगा । इस तथ्य को हम एक रेखाचित्र के सहारे इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं :--

" वैदिक ऋषियों का जीवन विषयक दृष्टिकोण "

जीवेम शरदः शतम्

	पुरुष जीवन	पुरुषार्थ	पुरुषार्थ ज्ञापक वाङ्मय
१-	ब्रह्मचर्य (२५ वर्ष)	अर्थ (विद्यार्जन)	संहिता
२-	गार्हस्थ्य (२५ वर्ष)	काम (गुरु, देव तथा पितृ ऋण से मुक्ति)	ब्राह्मण
३-	वानप्रस्थ (२५ वर्ष)	धर्म	आरण्यक
४-	संन्यास (२५ वर्ष)	मोक्ष	उपनिषदें

उपर्युक्त विभाजनक्रम में यद्यपि प्रत्येक आश्रम एक पुरुषार्थ विशेष से आबद्ध है परन्तु इसका आशय यह नहीं है कि ब्रह्मचर्याश्रम में अर्थ ही लक्ष्य होता है । सच्चाई तो यह है कि कभी-कभी धर्म भी लक्ष्य बनता है । आस्तीक, शृंगी, ध्रुव और प्रह्लाद[१] आदि के दृष्टान्त इसके प्रमाण हैं । इसी प्रकार गार्हस्थ्य का लक्ष्य मुख्यतः काम है परन्तु कभी-कभी उसमें धर्म अथवा मोक्ष की

१- विस्तृत कथा के लिए देखें - प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का परिशिष्ट १ ।

भी प्रधानता देखी गयी है । मिथिलाधिपति महाराज जनक, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ और अगस्त्य[1] सरीखे गृहस्थों के दृष्टान्त इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं । ठीक इसी प्रकार श्रीमद्भागवत में उल्लिखित संन्यासी भरत मुनि की मृग-शावक के प्रति आसक्ति[2] उनकी काम-भावना का प्रतीक है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि आश्रमों और पुरुषार्थों में एक आनुक्रमिक सुदृढ़ सम्बन्ध अवश्य है परन्तु वह निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता । तात्पर्य यह है कि एक ही आश्रम में कई पुरुषार्थ समन्वितरूप से भी लक्ष्य बन सकते हैं । वस्तुत: उपर्युक्त रेखाचित्र "प्राधान्येन व्यपदेशा: भवन्ति " के आधार पर कल्पित किया गया है । यह एक सुखद आश्चर्य है कि प्रत्येक वेद का प्रतिपाद्य की दृष्टि से किया गया चतुर्धा विभाजन भी आश्रमों एवं पुरुषार्थों की समन्वित शृंखला का ही क्रमिक अनुसरण करता है । उदाहरणार्थ वेदों का संहिताभाग ज्ञानार्जनरूपी अर्थ का साधक है जिसकी सम्भावना ब्रह्मचर्य आश्रम में होती है । कर्मकाण्ड का प्रतीक ब्राह्मण भाग योगसाधना का स्रोत बनकर गार्हस्थ्य को श्रीमण्डित करता है । आरण्यक भाग धर्म का साधक बनकर वानप्रस्थियों के लिए उपयोगी है और अन्तत: ज्ञानकाण्ड का प्रतीक बनने वाली उपनिषदें मोक्ष-पक्ष की संकेतयित्री बनकर सन्यास आश्रम को सफल बनाती हैं । इस प्रकार प्रत्येक आश्रम जहां प्रधानरूप से किसी एक पुरुषार्थ को अपना लक्ष्य बनाता है वहीं उस लक्ष्यविशेष के प्रतिपादक ग्रन्थ भी प्राचीन ऋषियों द्वारा सुनिश्चित कर दिए गए हैं ।

यदि उपर्युक्त व्यवस्था का अपेक्षाकृत अधिक सूक्ष्म निरीक्षण किया जाय तो दो तथ्य दृष्टिगोचर होते हैं, एक तो यह कि प्रथम तीन आश्रम,

---

१- विस्तृत कथा के लिए देखें- प्रस्तुत शोधप्रबन्ध का परिशिष्ट १ ।

२- ,, ,, ,, ,, ,, ।

तल्लक्ष्यभूत पुरुषार्थ और तत्प्रतिपादक वांगमय ऐहलौकिक जीवन से सम्बद्ध हैं तथा अन्तिम एक आश्रम,(सन्यास) तल्लक्ष्यभूत पुरुषार्थ (मोक्ष) और तत्प्रतिपादक ग्रन्थ (उपनिषदें) पारलौकिक जीवन से सम्बद्ध हैं। दूसरा तथ्य यह है कि प्रथम तीन श्रृंखलाओं में भी गार्हस्थ्य जीवन ही सर्वोपरि, सर्वातिशायी, सर्वनिष्ठ और केन्द्रभूत है। रेखाचित्र के सहारे इस तथ्य को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है :--
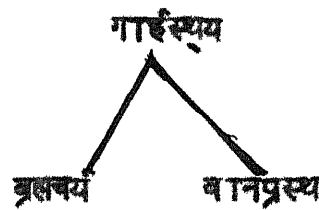
उपर्युक्त ,त्रिभुज द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि जीवन में गार्हस्थ्य तथा उसका लक्ष्यभूत पुरुषार्थ 'काम' ही सर्वोपरि है। ब्रह्मचर्य मानवजीवन का आरोह है तथा वानप्रस्थ उसी का अवरोह। इस दृष्टि से गार्हस्थ्य को हम मानव-जीवन के शिखर की संज्ञा दे सकते हैं। जैसे गार्हस्थ्य का साधक ब्रह्मचर्य है और साध्य वानप्रस्थ (प्रकारान्तर से सन्यास) ठीक उसी प्रकार पुरुषार्थ की दृष्टि से अर्थ काम का साधक है और धर्म उसका साध्य। दूसरे शब्दों में ब्रह्मचर्य आश्रम में मनुष्य गृहस्थ जीवन से सम्बद्ध होने का प्रयत्न करता है और वानप्रस्थ में सम्बद्ध बने रहने का प्रयत्न करता है। ब्रह्मचर्य से गार्हस्थ्य की ओर हम प्रवृत्ति मार्ग पाते हैं और गार्हस्थ्य से वानप्रस्थ की ओर निवृत्ति मार्ग। इस प्रकार प्रवर्तन और निवर्तन इन दो जीवन-विधानों के बीच गार्हस्थ्य आश्रम मानव-जीवन का शीशमुकुट बन जाता है। प्राचीन विविध वांगमयों में इन्हीं दृष्टियों से गार्हस्थ्य का प्रशस्ति गान किया गया है।

विभिन्न धर्मशास्त्रों[1], पुराणों[2] एवं संस्कृत के महाकाव्यों में[3] इसे आश्रम चतुष्टय में सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोपरि माना गया है ।

महाकाव्यों के प्रतिपाद्य रूप में चित्रित गार्हस्थ्य जीवन का यदि काव्यशास्त्रीय दृष्टि से विश्लेषण किया जाय तो उसके दो स्वरूप प्राप्त होते हैं-- प्रबन्ध तथा मुक्तक । प्रबन्ध का तात्पर्य यह है कि जिस ग्रन्थ में गार्हस्थ्य जीवन अपनी परिधि में प्रारम्भ से अन्त तक साकल्येन प्रस्तुत किया जाय,

---

१- सर्वेषां चैतेषां वेदस्मृतिः विधानतः ।
गृहस्थः उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान बिभर्ति हि ।।
-- मनु ६।८९

इसी प्रकार मनु ३।७८ ; दक्ष २।५२ ; वशिष्ठ गृ० ध० प्र० २३१, शङ्ख० ५।६ ; छ० आ० स्मृ० वि० प्र० १ ; गौ० ध० सू० १।३।३ एवं बौ० ध० सू० २।११।२९ आदि में भी गार्हस्थ्य को सर्वोच्च स्थान दिया गया है ।

२- देखें : पद्म पुराण 3·27·65/10 एवं ब्रह्म वैवर्तपुराण 1/23/6-12 आदि ।

३-(अ) चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम् ।
-- वा० रा० अयोध्या १०६।२२

(ब) गार्हस्थ्यं च महाश्रमम् ।
-- म० भा० शा० प० ६१।२

(स) सर्वाश्रमपदे ह्याहुर्गार्हस्थ्यं नात्र संशयः ।
पावनं पुरुषव्याघ्र यं वयं पर्युपास्महे ।।
-- म० भा० (स्वा०भ०) शा० प० ६६।२९

उदाहरणार्थ 'कुमारसम्भव' में पार्वतीजन्म से लेकर शिवविवाह तथा कुमारजन्म तक की कथा का वर्णन मिलता है । यह देवाधिदेव शंकर के गार्हस्थ्य जीवन की एक परिधि है और इस परिधि में उनका गार्हस्थ्य जीवन सर्वांगीण रूप से चित्रित हुआ है । पार्वती का जन्म, काम का विनाश, पार्वती की तपस्या, शंकर की विवाहोन्मुखता, शंकर पार्वती विवाह और स्वामि कार्तिकेय का जन्म ये समस्त घटनाएं साकल्येन क्रमशः प्रस्तुत की गई हैं । गार्हस्थ्य चित्रण की यह प्रबन्धात्मकता महाकाव्यों की ही भांति खण्डकाव्यों में भी उपलब्ध होती है । इन सन्दर्भों में हम देखते हैं कि गार्हस्थ्य चित्रण का प्रतिपादन करने वाले पद्य वर्णनाक्रम के अनुसार परस्पर संग्रथित रहते हैं । संस्कृत के अधिकांश महाकाव्य प्रबन्धात्मक गार्हस्थ्य चित्रण के ही पक्षधर हैं ।

परन्तु गार्हस्थ्यचित्रण का एक और भी लोकप्रिय रूप हम संस्कृत वांगमय में पाते हैं और वह रूप है मुक्तक । यह स्वरूप तभी उपलब्ध होता है जब ग्रन्थ का प्रतिपाद्य गार्हस्थ्यजीवन के चित्रण से सर्वथा असम्बद्ध हो फिर भी यथाप्रसंग गार्हस्थ्यजीवन की झांकियां उसमें क्वाचित्क उपलब्ध हो जायं । उदाहरणार्थ बल्लालसेन विरचित 'भोजप्रबन्ध निश्चितरूप से महाराज भोज से सम्बन्धित संस्मरणों का एक विवरणमात्र है । परन्तु उस विवरण में भी जब कोई दीनहीन कंगाल कवि राजा के समक्ष आकर अपनी उजड़ी गृहस्थी का हृदयोद्वेधक चित्र प्रस्तुत कर जाता है तो अनायास मूल कथाक्रम में एक युगान्तर प्रस्तुत हो जाता है --

'धान की लाई बेचने वाला कोई व्यक्ति ज्यों ही राजपथ पर 'लाई लो' इस प्रकार की उद्घोषणा करता हुआ आगे बढ़ा कि कवि की दरिद्र गृहिणी ने बड़े यत्न से अपने बच्चे के कान बन्द कर लिए (ताकि कहीं लाई की बात सुनकर बच्चा हठ न करने लगे) उसका मुख मलिन हो गया और आंखों में आंसू भरकर उसने क्षीण साधन वाले अपने पति पर दृष्टि डाली।

पत्नी की वह दृष्टि आज भी कवि के हृदय में तीर के समान चुभी हुई है ।"[1]

बूढ़ा पति खाट पर पड़ा हुआ है, घर में अब केवल खम्भा ही बचा हुआ है (सारी छत गिर गई है) वर्षा-ऋतु सिर पर आगई है, परदेशी बेटे का कोई समाचार नहीं मिला है, बड़े यत्न से सम्भालकर रखा हुआ तेल का घड़ा भी फूट गया और इधर पुत्रवधू गर्भ के भार से अलसाई हुई है बेचारी सास इन्हीं व्यथाओं से व्याकुल होकर बहुत देर से रो रही है ।[2]

इसी प्रकार विद्याकर पण्डित कृत "सुभाषित रत्नकोश" (११वीं शती) श्रीधरदास कृत "सदुक्तिकर्णामृत" (१३ वीं शती) जल्हण कृत "सूक्तिमुक्तावली" शार्गधरप्रणीत "शार्गधरपद्धति" और वल्लभदेवकृत "सुभाषितावली" (१५वीं शती तक) आदि संस्कृत के सुप्रसिद्ध संग्रह ग्रन्थों में हजारों रससिद्ध कवियों के नाम से गार्हस्थ्य-प्रतिपादक पद्य उपलब्ध होते हैं । भले ही कालिदास, भारवि, माघ और श्रीहर्ष आदि के समक्ष इन लोककवियों का व्यक्तित्व तिरोहित हो गया और भले ही वे कवि संस्कृत जगत् को कोई प्रबन्धकाव्य नहीं दे सके परन्तु इन कवियों का संस्कृत कविता के लिए प्रस्तुत किया गया योगदान भुलाया नहीं जा

१- अये लाजा उच्चैः पथि वचनमाकर्ण्य गृहिणी

शिशोः कर्णौ यत्नात्सुपिहितवती दीनवदना ।

मयि क्षीणोपाये यदकृत दृशावश्रुबहुले

तदन्तः शल्यं मे त्वमसि पुनरुद्धर्तुमुचितः ।।

--भोजप्रबन्ध २३८

२- वृद्धो मत्पतिरेष मञ्चकगतः स्थूणावशेषं गृहं

कालोऽयं जलदागमः कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो ।

यत्नात्सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला

दृष्ट्वा गर्भभरालसां निजवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति ।।

--भोजप्रबन्ध २५५

सकता । संग्रह ग्रन्थों में उपलब्ध इन गार्हस्थ्यमुक्तकों में विविध प्रकार की लोक-भावनाएं लोकोत्तरवर्णना के रूप में मुखरित हुई हैं । दैन्य, दुराशा, पीड़ा, व्यथा, आकांक्षा, उद्वेग और इसी प्रकार के हजारों अन्य मानवीय भाव गार्हस्थ्य-मुक्तकों में देखने को मिलते हैं ।[१]

गार्हस्थ्यमुक्तकों का तीसरा रूप हम काव्यशास्त्रीय अथवा नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में पाते हैं । इन ग्रन्थों में आचार्यों ने अपने विभिन्न काव्यतत्वों अथवा नाट्यतत्वों का व्याख्यान करते हुए उदाहरणरूप में ऐसे रमणीय पद्य प्रस्तुत किए हैं जिनमें गार्हस्थ्य चित्रण प्रतिपादित हुआ है । उदाहरणार्थ दशरूपक के चतुर्थ प्रकाश में आचार्य धनञ्जय ने 'सुप्त ' नामक व्यभिचारी भाव का उदाहरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है --जौ के खेत में एक कोने पर बनी हुई घास फूस की एक छोटी सी झोपड़ी है, नए प्रवाल का बिछौना बिछा हुआ है जिस पर प्रवाल का ही तकिया भी लगा है । कृषक दम्पति सोए हुए हैं । बाहर से ठंडी हवा चल रही है परन्तु झोपड़ी में आलिंगनबद्ध होने के कारण कृषकसुन्दरी के कुचकलश की गर्मी से दोनों प्राणी ताप का अनुभव कर रहे हैं । इस विपरीत स्थिति में बाहर की ठंडी हवा और भी वेग से प्रभाव डालती है फलत: दोनों जग जाते हैं ।[२]

१- विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य- डा० राजेन्द्र प्रसाद मिश्र की लिखित 'अन्योक्ति वांगमय ' शीर्षक शोधप्रबन्ध के 'संग्रहग्रन्थों के कवि' नामक अध्याय ।

२- लघुनि तृणकुटीरे क्षेत्रकोणे यवानां
नवकलमपलालस्त्रस्तरे सोपधाने ।
परिहरति सुषुप्तं हालिकद्वन्द्वमारात्
कुचकलश महोष्माबद्धरेखस्तुषारः ।।
--दशरूपक ४।२४६

इस प्रकार के मुक्तकों के रूप में भी विभिन्न वांगमयों में गार्हस्थ्य-चित्रण उपलब्ध होता है। अमरुशतक जैसे काव्यों में तो अधिकांश पद्य गार्हस्थ्य जीवन से ही सम्बन्धित हैं। इस विवरण से इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि गार्हस्थ्य-चित्रण का सीमांकन कर सकना सहज नहीं है।

५- प्रस्तुत शोधकार्य की आवश्यकता

भारतीय संस्कृति अपने वैशिष्ट्यों के कारण आज भी समूचे विश्व में सर्वोपरि है। इस संस्कृति के स्पृहणीय मानवीय आदर्शों ने युग-युग से समूचे विश्व को विश्वजनीन मानवतावादिता का सन्देश दिया है। महाराज हर्ष के बाद (सातवीं शताब्दी) से उन्नीस सौ सैंतालिस ई० तक यह देश अपनी आन्तरिक उलझनों अथवा बाह्य आक्रमणों के कारण कभी भी प्रकृतिस्थ नहीं रह सका। पृथ्वीराज चौहान (बारहवीं सदी) के बाद से तो यह निरन्तर दासता की बेड़ियों में जकड़ा रहा है। दासता के बन्धन ने इसके प्राचीन सामाजिक,आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक, भौगोलिक एवं सांस्कृतिक मानदण्डों का निरन्तर विनाश किया है। परन्तु इन दारुण वात्याचक्रों में रहकर भी इस देश ने अपनी आत्मा को सुरक्षित रखा। आज जब कि विश्व के अन्यान्य परतन्त्र देशों की तरह इस देश पर भी पाश्चात्य सभ्यता की कृत्रिमता अपना रंग जमा चुकी है, यह एक सुखद आश्चर्य है कि तब भी यह देश जाने-अनजाने अपनी प्राचीन परम्पराओं में बंधा रहना ही श्रेयस्कर समझ रहा है। आज जहां पाश्चात्य देशों में संयुक्त कुटुम्ब प्रणाली आत्यन्तिक रूप से छिन्न-भिन्न हो गई है, यह देश तब भी पारिवारिक बन्धनों में बंधा हुआ है। यह संस्कृति आज भी "मातृ देवो भव", "पितृ देवो भव", "आचार्य देवो भव" सरीखे वैदिक आदर्शों की अर्चना में लगी हुई है। वस्तुत: गार्हस्थ्य जीवन ही समूचे जन-जीवन का मूल स्तम्भ है। इतना ही नहीं समस्त अलौकिक मूल्यों की भी एकमात्र आधार-शिला है। सृष्टि के अनन्त यात्री के रूप में भले ही मानव-जीवन का

प्रारम्भ माँ की कोख से बाहर आते ही प्रारम्भ हो जाता है परन्तु एक पार्थिव मनुष्य के रूप में तो उसके जीवन का प्रारम्भ विवाह से ही होता है । इस प्रकार गार्हस्थ्य जीवन मानव-जीवन का केन्द्र बिन्दु है ।

ऐसे महनीय आश्रम को लक्ष्य बनाकर शोधकार्य करना समूची भारतीय संस्कृति के लिए निश्चय ही एक गौरव का विषय होगा -- बस इसी शुभ संकल्प के साथ इस विषय को अभिमण्डित करने का शोधकर्ता ने निश्चय किया है । 'गृह्यसूत्रों, स्मृतियों तथा अवान्तर रूप से समस्त वेदवेदांगों में गार्हस्थ्य जीवन का क्या स्वरूप है, इसकी परिधि कितनी है, इसका सैद्धान्तिक और व्यावहारिक रूप क्या है और विशेषरूप से संस्कृत के महाकाव्यों में इसका किस रूप में चित्रण हुआ है इन्हीं सब तथ्यों के प्रश्नगर्भकौतूहल में इस शोधकार्य का शुभारम्भ हुआ है ।

-0-

द्वितीय-अध्याय

-o-

गार्हस्थ्य-वृत्ति का शास्त्रीय व्याख्यान एवं उसकी पृष्ठभूमि

द्वितीय-अध्याय

-0-

गार्हस्थ्य-वृत्ति का शास्त्रीय व्याख्यान एवं उसकी पृष्ठभूमि

१-क-'गार्हस्थ्य' शब्द का अर्थ एवं गृह, गृहस्थ तथा गार्हस्थ्य शब्दों की विविध व्याख्याएं

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'गार्हस्थ्य' शब्द गृह एवं गृहस्थ शब्दों से निष्पन्न माना जाता है । प्राचीन कोशों, स्मृतियों, गृह्यसूत्रों और आधुनिक कोश-ग्रन्थों में इन तीनों शब्दों की विस्तृत तथा सारवती व्याख्याएं देखने को मिलती हैं । 'गृह' शब्द साधारणतया नपुंसक लिंग में प्रयुक्त होता है । इसकी निष्पत्ति हलायुधकोश में 'ग्रह्' धातु से क प्रत्यय लगाकर निर्दिष्ट की गयी है ।[१] इस कोश की व्याख्या के अनुसार 'जो जीवन-यापन में उपयोगी धान्यादिक पदार्थों को ग्रहण करता है वही 'गृह' है ।'[२] इसी सन्दर्भ में कोशकार ने ईंट इत्यादि से विरचित निवास-स्थान को भी गृह बताया है ।[३] 'वाचस्पत्यम्' कोश के चतुर्थ भाग में 'गृह'

१- 'ग्रह् + 'गेहे क:' इत्यनेन क प्रत्यय : ।'

--हलायुध कोश, पृ० २८० ।

२- 'गृह्णाति धान्यादिकम् जीवनार्थम् (इति गृहम्) ।

-- वही

३- 'इष्टकादिरचितवासस्थानम् (इति गृहम्) ।

-- वही

शब्द की व्याख्या 'ग्रह्' धातु से (कर्मणि) 'अच' प्रत्यय लगाकर भी प्रस्तुत की गयी है ।[१] इस सन्दर्भ में एक अवधेय तथ्य यह है कि 'गृह' शब्द केवल निवास-स्थान का ही नहीं परिणीता भार्या का भी पर्याय है । हलायुध कोश में इसी दृष्टि से यह व्याख्या की गयी है कि 'जो धर्माचरण के लिए स्वीकार की जाय उसे गृह कहते हैं ।[२] इस व्याख्या के समर्थन में कोशकार ने मनुस्मृति का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है :--

'न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ।
तया हि सहित: सर्वान् पुरुषार्थान् समश्नुते ।।[३]

'शब्दरत्नावली' नामक कोश-ग्रन्थ में भी स्पष्टत: लिखा गया है कि 'जो धर्माचरण के लिए स्वीकार की जाय वही गृह (पत्नी) है ।[४]

कोश-ग्रन्थों में गृह शब्द उभयलिंगी स्वीकार किया गया है । 'वाचस्पत्यम्' में ऐसा निर्देश किया गया है कि एक गृह के अर्थ में यह शब्द क्लीबान्त और अनेक गृहों के अर्थ में नित्य पुल्लिंग तथा बहुवचनान्त होता है ।[५]

१- 'ग्रह्' ग्रहणे कर्मणि अच ।
--वाचस्पत्यम् (भाग चतुर्थ) पृ० २६३२ ।

२- 'गृह्यते स्वीक्रियते धर्माचरणाऽऽसौ इति गृहम् ।
--हलायुधकोश, पृ० २८०

३- देखें : - वही

४- गृह्यते स्वीक्रियते धर्माचरणाऽऽसौ इति गृहं कलत्रम् ।
-- देखें शब्दकल्पद्रुम (भाग द्वितीय), पृ० ३४६ ।

५- 'बहुत्वर्च्चादित्वादयमुभयलिंग: तत्र एकगृहे नपुंसकलिंगे पुल्लिंगस्तु बहुवचनान्त एव ।'
--वाचस्पत्यम् (भाग चतुर्थ), पृ० २६३२

'उत्तर मेघ में यक्षों के अनेक भवनों का उल्लेख करते हुए कविकुलगुरु कालिदास ने [1] तथा द्वारकापुरी के असंख्य भवनों का वर्णन करते हुए महाकवि माघ ने गृह शब्द का पुलिंग बहुवचनान्त प्रयोग ही किया है ।[2] अमरकोश में स्पष्टत: कहा गया है कि भूमा (अनेक) के अर्थ में गृह शब्द पुल्लिंग बहुवचनान्त ही होता है ।[3] शब्दकल्पद्रुमकार ने भी विकल्प से गृह शब्द को पुल्लिंग मानते हुए उपर्युक्त मन्तव्य का ही समर्थन किया है ।[4] इस स्थिति में भी 'गृह' शब्द पत्नी का वाचक होता है । शब्दकल्पद्रुम में उद्धृत अमरकोश की निम्नलिखित टीका इसका प्रमाण है -- 'गृहा: दारा: विद्यन्तेऽस्य इति इनि:- गृहस्थ:- इत्यमर: २।७।३।'[5] इसी कोश में गृहस्थ शब्द की व्याख्या करते हुए निर्देश किया गया है कि 'जो गृह (पत्नी) में रमण करे वह गृहस्थ है ।'[6]

१- देखें--मेघदूत (उत्तर) १४ ।

२- देखें-- शिशुपाल-वध ३।५० ।

३- निशान्तवस्त्यसदनं, भवनागारमन्दिरम् ।
गृहा: पुंसि च भूम्न्येव, निकाय्यनिलयालया: ।।
--अमरकोश २।२।५

४- 'अर्द्धर्चादित्वादेतायं शब्दो विभाषया पुंसि च वर्त्तते ।
तत्र बहुवचनान्त एव ।'
--शब्दकल्पद्रुम (द्वितीय भाग), पृ० ३४६

५- देखें- वही पृ० ३५१ ।

६- गृहेषु दारेषु तिष्ठति अभिरमते इति गृहस्थ: गृह + स्था + 'सुपिस्थ:' ३।२।४ इति क: ।'
-- वही, पृ० ३५०

'पारिजातहरणम्' नामक महाकाव्य में 'गृह' शब्द को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'गृह शब्द का अर्थ गृहीत होने वाला या ग्रहण करने वाला होता है। जिसे सज्जन अनुग्रहीत करते हैं या अपने सेवा-सत्कारादि गुणों से जो स्वयं महात्माओं को अपनी ओर खींच लेता है वही वास्तव में गृह है। अपने निवास-स्थान मात्र को गृह नहीं कहते।[1]

इस प्रकार उपर्युक्त व्याख्याओं से गृह शब्द की उभयलिंगता, उसके विभिन्न अर्थ और विभिन्न व्युत्पत्तियां स्पष्ट हो जाती हैं।

'गृहस्थ' शब्द का 'गृह' शब्द से घनिष्ठ सम्बन्ध है। धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में इस शब्द का पौन:पुन्येन उल्लेख हुआ है[2] परन्तु इस शब्द की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या किसी भी सूत्र अथवा स्मृतिकार द्वारा स्पष्ट नहीं की गयी है। सम्भवत: उन सूत्रकारों की दृष्टि में गृह शब्द की तुलना में गृहस्थ शब्द व्याख्यान सापेक्ष्य न रहा होगा, इसीलिए उन्होंने गृहस्थ शब्द का उल्लेख मात्र कर दिया।

साधारण शब्दों में जो गृह में रहता है वही गृहस्थ कहा जाता है। परन्तु महर्षि दक्ष ने अपना विचार प्रकट करते हुए इस शब्द की

१- 'यत् सन्तोऽनुगृह्णन्ति यच्च गृह्णाति सत्मान ।
तद् तद् गृहं मेऽन्यथा न गृहं स्वाश्रयास्पदम् ॥
--उमापति द्विवेदी विरचित 'पारिजातहरणम्'-४।११२

२- देखें - बौ० ध० सू० २।११।१४ ; मनु ३।२१-२२ ;
वसिष्ठ २३१-२३२ ; दक्ष० २।४१-४२ ; वेदव्यास- ४।२ ;
शङ्ख० ५।५-६ तथा लघ्वाश्वलायन ० वि० प्र० १ आदि ।

एक विशेष व्याख्या की है । उनकी दृष्टि में "गृह" मात्र होने से कोई गृहस्थ नहीं होता बल्कि गृहस्थ वह है जो क्रियाओं (पंचमहायज्ञों का सम्पादन, ऋतुकालाभिगमनादि शास्त्रीय आदेशों का पालन) से युक्त हो ।[1]

गृहस्थ शब्द की व्युत्पत्ति हलायुध कोश में गृह और स्था शब्दों से क प्रत्यय जोड़ कर बतायी गयी है ।[2] इस कोश के अनुसार गृहस्थ वह है जो पत्नी में अभिरमण करे ।[3] यहां गृही, गृहमेधि, गृहपतिः, गृहयायुय, गृहाधिप और गृहायनिक शब्द गृहस्थ शब्द के पर्याय बताए गए हैं ।[4] आचार्य हेमचन्द्र ने भी गृहस्थ के लिए गृहमेधी, स्नातक एवं गृही शब्दों का प्रयोग किया है ।[5] सिद्धान्त कौमुदी की उणादि वृत्ति में इसके पर्याय-रूप में गृहयायुय[6] एवं शब्दरत्नावली में गृहायनिक शब्द का प्रयोग किया गया है ।[7] अमरकोश में गृहस्थ के अर्थ में गृहपतिः शब्द का प्रयोग मिलता है ।[8] श्रीमद्भागवत में गृहस्थ को गृही कहा गया है ।[9]

१- गृहस्थोऽपि क्रियायुक्तो न गृहेण गृहाश्रमी ।
-- दक्ष स्मृति २।४५

२- देखें - हलायुध कोश, पृ० २८० ।

३- गृहेषु दारेषु तिष्ठति अभिरमते इति गृहस्थः ।
--वही

४- देखें - वही

५- देखें - शब्द कल्पद्रुम पृ० ३५० में उद्धृत हेमचन्द्रः शब्दानुशासन ३।४७२

६- देखें - सिद्धान्तकौमुदी २।६५।३८४

७- देखें - शब्दकल्पद्रुम (भाग द्वितीय) पृ० ३५० ।

८- ताम्बिकी ज्ञातसिद्धान्तः सत्री गृहपतिः समौ ।
लिपिकरोऽक्षरचणोऽक्षरचुञ्चुश्च लेखके ॥
--अमरकोश २।८।१५

९- गृहेषु कूटधर्मेषु दुःखतन्त्रेष्वतन्द्रितः ।
कुर्वन् दुःखप्रतीकारं सुखवन्मन्यते गृही ॥
--श्रीमद्भागवत ३।३०।९

गृहस्थ की पत्नी को प्राचीन कोशकारों ने 'गृहिणी' नाम दिया है। रघुवंश में कालिदास ने अज-विलाप के प्रसंग में रानी इन्दुमती को गृहिणी कहा है।[१] शाकुन्तल के चतुर्थ अंक में शकुन्तला के गृहिणी-पद प्राप्त करने की आशंसा व्यक्त की गयी है।[२] गृहिणी शब्द की व्याख्या करते हुए हलायुध कोश में कहा गया है कि 'जिसके पास गृह अर्थात् गृहस्वामित्व हो उसे गृहिणी या भार्या कहते हैं। गृह शब्द से मत्वर्थक इनि प्रत्यय और उसके बाद ङीप् प्रत्यय जोड़कर गृहिणी शब्द बनता है।[३] शब्दकल्पद्रुम कोश में उद्धृत 'त्रिकाण्डशेष' नामक कोश-ग्रन्थ में गृहिणी शब्द की व्याख्या इस प्रकार दी गयी है, 'जो घर में ले आयी जाय वही गृहिणी है।'[४] आचार्य हेमचन्द्र ने भी गृहस्वामित्व से अलंकृत भार्या को ही गृहिणी माना है।[५] शब्दकल्पद्रुम कोश में उल्लिखित एक अन्य व्याख्या के अनुसार 'गृहिणी वह है जिसके पास साध्यतया गृहकार्य हों।'[६]

१- गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥
--रघु० ८।६७

२- देखें-- शाकुन्तलम् ४।१८

३- गृहं गृहस्वामित्वमस्ति अस्याः इति गृहिणीः, गृह + इनि + ङीप च
-- हलायुधकोश, पृ० २८०

४- 'गृहे नीयते क्रियते इति । नी + क्विप् संज्ञाया 'णत्वम्' इति त्रिकाण्डशेषः ।
-- शब्दकल्पद्रुम (भाग द्वितीय), पृ० ३५०

५- गृहं गृहस्वामित्वमस्त्यस्याः इनिः ङीप च ।
- शब्दकल्पद्रुम पृ० ३५१ में उद्धृत --हेमचन्द्र-शब्दानुशासनम् : ३।१७६

६- गृहं गृहकार्यं साध्यतयाऽस्त्यस्याः इति इनिः ङीप च ।
--शब्दकल्पद्रुम (द्वितीय भाग), पृ० ३५१

गृह, गृहस्थ एवं गृहिणी शब्दों के अनन्तर सर्वाधिक महत्वपूर्ण व्याख्येय शब्द 'गार्हस्थ्य' है जिसका सर्वतोमुखी चित्रण प्रस्तुत शोध का विषय है। वाल्मीकि रामायण[1] एवं महाभारत[2]आदि अनेक काव्य ग्रन्थों में 'गार्हस्थ्य' शब्द का पौनः पुन्येन उल्लेख हुआ है। कोशग्रन्थों में गृहस्थ के भाव अथवा कर्म को ही 'गार्हस्थ्य' नाम दिया गया है और गृहस्थ के कर्म पंचमहायज्ञादि बताए गए हैं।[3] गृहस्थ शब्द से भाव के अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय लगाकर 'गार्हस्थ्य' शब्द बनता है। चूंकि गार्हस्थ्य शब्द मूलतः गृह और गृहस्थ शब्दों से सम्बद्ध है इसलिए उन शब्दों का सम्पूर्ण व्याख्यान गार्हस्थ्य की परिधि में आ जाता है। इस दृष्टि से गार्हस्थ्य का तात्पर्य बहुमुखी सिद्ध होता है। हलायुध कोश में तो समस्त आश्रमों को ही गार्हस्थ्य-मूलक स्वीकार किया गया है।[4]

१- चतुर्णामाश्रमाणां हि गार्हस्थ्यं श्रेष्ठमुत्तमम् ।

--वा० रा० अयोध्या १०६।२२

२-(अ) गार्हस्थ्यमेव याज्याश्च सर्वा गृह्याश्च देवता: ।

-- म० भा० (रवा०भा०) आरव० ८।१०

(ब) गार्हस्थ्यं धर्ममास्थाय ह्यसितो देवल: पुरा ।

-- म०भा० शल्य ५०।१

३- गृहस्थस्य भाव: कर्म वा । गृहस्थकर्तव्ये पंचयज्ञादौ कर्मणि ।

--वाचस्पत्यम्(भाग चतुर्थ), पृ० २५६८६

इसी प्रकार देखें शब्दस्तोम महानिधि, पृ० १५५

४- गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुका: ।
चत्वार: आश्रमा: प्रोक्ता: सर्वे गार्हस्थ्यमूलका: ।।

--हलायुधकोश, पृ० २८०

ख. गार्हस्थ्य की विस्तृत परिधि

वस्तुत: गृहस्थाश्रम की विस्तृत परिधि गार्हस्थ्य नाम से अभिहित होती है । इस परिधि में पति-पत्नी, कुटुम्बीजन, स्नातक, सत्री, परिजन गण और गृह से सम्बन्धित समस्त उपादान आ जाते हैं । आचार्य जटाधर ने गृहस्थ के लिए कुटुम्बी शब्द का प्रयोग किया है ।[१] निश्चय ही कुटुम्ब में अनेक सम्बन्धों से सम्बन्धित आत्मीय अथवा परकीय बन्धु-बान्धव तथा परिजन गण आते हैं । अमरकोश में गृहस्थ के लिए "सत्री" शब्द का प्रयोग हुआ है ।[२] इस दृष्टि से निश्चय ही गृहस्थ द्वारा सम्पादित किए जाने वाले सत्रों अथवा यज्ञों का सम्पूर्ण सम्भार गार्हस्थ्य के क्षेत्र में आ जाता है ।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह सुनिश्चित हो जाता है कि गृहिणी अथवा गृहस्थ से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु गार्हस्थ्य के प्रभावक्षेत्र में आ जाती है ।

ग- गार्हस्थ्य की मूलभित्ति-परिणय संस्कार-- मानव-जीवन में उसकी महत्ता एवं अनिवार्यता :

भारतीय सामाजिक मान्यताओं के अनुसार व्यक्ति का गार्हस्थ्य जीवन में प्रवेश परिणय संस्कार के अनन्तर ही होता है और इस दृष्टि से परिणय संस्कार को गार्हस्थ्य जीवन का प्रवेश द्वार कहा जा सकता है । इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम यह भी कह सकते हैं कि परिणय

१- देखें - शब्दकल्पद्रुम - भाग द्वितीय, पृ० ३५१ ।

२- देखें - अमरकोश - २।८।१५ ।

संस्कार मानव-जीवन का एक महत्वपूर्ण अध्याय है । नर-नारी दोनों ही अपने जीवन के इस द्वितीय अध्याय से एक नए जीवन का प्रारम्भ करते हैं और ये दोनों शक्तियां सम्मिलित रूप से समाज में अपना अस्तित्व स्थापित करती हैं । यदि भारतीय आश्रम-व्यवस्था का विश्लेषण करें तो यह ज्ञात होता है कि अन्य तीन आश्रमों में मानव-जीवन नीरसता एवं विभिन्न नियमों में बंधा होता है । जीवन के इन तीन भागों में सुख या सांसारिक विषयों के आस्वादन का कोई अवसर मनुष्य को नहीं प्राप्त होता परन्तु जीवन के इस द्वितीय भाग में व्यक्ति सीमित अनुशासित जीवन व्यतीत करते हुए विभिन्न सांसारिक सुखों के भोग का अवसर प्राप्त करता है ।

प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार विद्याध्ययन की समाप्ति के अनन्तर शिष्य का समावर्तन संस्कार होता था और इसके पश्चात् वह गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य करके, गुरुकुल जीवन छोड़कर सामाजिक दायित्व निभाने के लिए समाज के मध्य प्रवेश करता था ।[१] यहां आकर वह अपने गृह का निर्माण करता था, क्योंकि गृहस्थ होने के पूर्व गृह का होना आवश्यक है । गृहस्थ का तात्पर्य ही है --गृहमस्त्यस्य इति गृहस्थ:-- अर्थात् जिसके पास गृह है वही घर है । गृह वही होता है जिसमें गृहिणी विद्यमान हो । बिना गृहिणी के गृह को गृह नहीं कहा जा सकता । तभी

१- वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविलुप्तब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ।।
गुरुणानुमत: स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत् द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।।
--मनु० ३।२-४

तो महाभारत-प्रणेता महर्षि व्यास ब यह उद्घोष करते हैं कि केवल ईंट आदि से रचित वास-स्थान ही गृह नहीं है । गृह तो वह है जहां गृहिणी विद्यमान हो ।[१] इस प्रकार गृहस्थ होने की पहली आवश्यकता गृहिणी की प्राप्ति सिद्ध होती है । इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए परिणय संस्कार को गृहस्थाश्रम की मूलभित्ति कहा गया है क्योंकि गृहिणी की प्राप्ति स्नातक को परिणय संस्कार द्वारा ही होती है । इस संस्कार के अनन्तर गृहिणी एवं गृह से युक्त स्नातक समाज में अपना एक स्वतन्त्र परिवार निर्मित करता था और इसी परिवार के अन्तर्गत वह अपने जीवन के द्वितीय अध्याय को पूर्ण करता था । इसीलिए हम परिणय संस्कार को पारिवारिक ढांचे की आधार-शिला भी कह सकते हैं ।

प्राचीन समाज में प्रत्येक स्नातक के लिए उपर्युक्त व्यवस्था अनिवार्य थी ।[२] इस व्यवस्था को अनिवार्य करने के मूल में अनेक ठोस कारण विद्यमान थे ।

१- न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते ।

--म० भा० शा० प० १४४।६

२- यद्यपि धर्मशास्त्रों ने ब्रह्मचर्याश्रम के अनन्तर प्रत्येक स्नातक के लिए गृहस्थाश्रम को अनिवार्य कहा है फिर भी यहां उन व्यक्तियों का स्वागत किया गया जो ब्रह्मचर्याश्रम के अनन्तर अपना सारा जीवन मोक्ष-तत्व के विश्लेषण में ही लगाना चाहते थे । ऐसे स्नातकों के लिए 'नैष्ठिक ब्रह्मचर्य' की व्यवस्था स्थापित की गयी और यह विधान किया गया कि नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्यतीत करने वाला स्नातक आजीवन गुरुकुल में ही रहते हुए मोक्ष-प्राप्ति का प्रयास करे ।

यदि मानव-मन का विश्लेषण किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि सामान्यत: प्रत्येक मनुष्य की प्रवृत्ति काम एवं ऐश्वर्योपभोग की ओर उन्मुख रहती है । काम एक ऐसा तत्व है जो प्रत्येक मनुष्य में विद्यमान होता है । इसीलिए कामोपभोग की इच्छा को मानव की प्रकृति कहा जाता है । मनुष्य अपनी प्रकृति के साहचर्य में ही आगे बढ़ता है । उसे उसकी प्रकृति से हटाना यदि असम्भव नहीं तो दुष्कर अवश्य है क्योंकि स्वाभाविक प्रकृति से हटाने के लिए चाहे जितना प्रयास किया जाय मनुष्य सहज रूप से उस मार्ग से नहीं हट पाता । श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह विचार प्रकट करते हैं कि प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रकृति के अनुसार ही चलता है । वह निग्रह या किसी आदेश को मानकर अपनी प्रकृति को नहीं छोड़ सकता ।[१] भारतीय महर्षियों ने मानव-मन की इस दुर्बलता को बहुत पहले से ही जान लिया था, तभी तो ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में महर्षि लोपामुद्रा कहते हैं कि 'काम का प्रभाव इतना तीक्ष्ण है कि उसके प्रभाव से कोई अछूता नहीं रहा । बड़े-बड़े महर्षि भी ब्रह्मचर्य का पालन करने में असमर्थ रहे । तब साधारण मनुष्यों की बात ही क्या ? उन समर्थ ऋषियों से उनकी पत्नियां मिलीं ।[२]

१- प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रह: किं करिष्यति ।

-- श्रीमद्भगवद्गीता ३।३३

२- ये चिद्धि पूर्व ऋतसाप आसन्त्साकं देवेभिरवदन्नृतानि ।
ते चिदवासुर्नह्यन्तमापु: समू नु पत्नीर्वृषभिर्जगम्यु: ।।

--ऋ० १।१७९।२

काम के इसी सार्वकालीन प्रभाव को ध्यान में रखते हुए हमारे यहां मनुष्य के लिए परिणय संस्कार को एक अनिवार्य कर्तव्य कहा गया क्योंकि कामोपभोग का अवसर व्यक्ति परिणय संस्कार के अनन्तर ही प्राप्त करता है। यहां यह तथ्य अवधेय है कि कामोपभोग का उचित अवसर युवावस्था ही होती है इसीलिए वात्स्यायन भी व्यक्ति की पूर्णता के लिए युवावस्था में काम के उपभोग को आवश्यक मानते हैं।[१] यदि किसी व्यक्ति ने युवावस्था में काम का उपभोग नहीं किया है तो आगे चलकर उसके आचरण-भ्रष्ट एवं पतित होने की पूर्ण सम्भावना विद्यमान रहती है। इस तथ्य के उदाहरण के रूप में ऋष्यशृंग, विश्वामित्र सरीखे विभिन्न ऋषियों-मुनियों के जीवन को लिया जा सकता है। वाल्मीकि के अनुसार ऋष्यशृंग विभाण्डक के पुत्र थे।[२] विभाण्डक के आश्रम में स्त्रियों का प्रवेश सर्वथा निषिद्ध था। अतः ऋष्यशृंग पिता के कठोर निर्देशन में ब्रह्मचर्य एवं तपोमय जीवन व्यतीत करने के लिए बाध्य थे। इस परिपक्व तपोमय जीवन के होते हुए भी सुन्दरी वारांगनाओं को देखकर उनका मन कामोपभोग के प्रति आकर्षित हो गया था और अन्ततः उन्हें अंगदेश की राजकुमारी शान्ता से परिणय करके गृहस्थ होना पड़ा था।[३]

१- देखें - का० सू० १।२।३

२- विस्तृत कथानक के लिए देखें - वा० रा० बाल० सर्ग ६ एवं १०।

३- यदि वाल्मीकि रामायण के उपर्युक्त कथानक का विश्लेषण करें तो यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज किसी व्यक्ति को बलपूर्वक नैष्ठिक ब्रह्मचर्य के जीवन को व्यतीत करने के लिए बाध्य नहीं करता था। तत्कालीन धारणा के अनुसार यह एक अप्राकृतिक कार्य था, तभी तो अंगदेश के लोग सम्भवतः अपने राज्य की अनावृष्टि एवं दुर्भिक्ष का कारण ऋष्यशृंग द्वारा बलपूर्वक ब्रह्मचर्य-जीवन व्यतीत करना, मानते थे। इसी परिस्थिति को समाप्त करने के लिए विभाण्डक के आश्रम में वारांगनाओं का प्रवेश कराया

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)...

विश्वामित्र जैसे तप: पूत एवं अखण्ड ब्रह्मचर्य-जीवन व्यतीत करने वाले ऋषि का मन भी अनिन्द्य सुन्दरी मेनका को देखकर विचलित हो उठा था और उन्हें भी मेनका के साथ अनेक वर्ष जंगलों के प्राकृतिक वातावरण में व्यतीत करना पड़ा था एवं तप: भंग के कारण इन्द्र-पद से हाथ धोना पड़ा था ।[१] इसी प्रकार पराशर, गौतम एवं भारद्वाज जैसे महर्षि भी काम के इसी दुर्दमनीय प्रभाव के कारण क्रमश: सत्यवती, जालपदी तथा घृताची नाम्नी महिलाओं से सम्भोग के लिए बाध्य हुए थे और इस प्रकार असमय काम के शिकार होने के कारण ये अपनी तप: राशि से भी वंचित हुए थे ।[२] सम्भवत: है कि यदि ये ऋषिगण प्राचीन आश्रम व्यवस्था का अनुसरण किए होते तो इनका तपोमय जीवन भी सुरक्षित रहता तथा साथ ही कामोपभोग का उचित सुअवसर भी इन्हें प्राप्त हो जाता और इस प्रकार वे कुसमय (अर्थात् वृद्धावस्था या प्रौढ़ावस्था) में काम के शिकार होकर जग-हंसाई के पात्र न बनते । जब ऋषियों-मुनियों का मन भी दुर्दमनीय काम के आवेग में पड़ सकता है तो साधारण मानव उसका विरोध कैसे कर सकता है ? इसी यथार्थ को ध्यान में रखकर प्राचीन समाज-विधायकों ने प्रत्येक स्नातक के लिए परिणय संस्कार को एक आवश्यक कर्तव्य के रूप में निश्चित् करके उसे सहज रूप से काम के उपभोग करने का सुअवसर प्रदान किया ।

गया और ऋष्यशृंग को कामोन्मुख देखकर शान्ता से उनका विवाह कराया गया ।

--द्रष्टव्य : डा० शान्ति कुमार नानूराम व्यास : रामायण-कालीन समाज, पृ० १४१ ।

१- विस्तृत कथानक के लिए देखें- म० भा० आदि. अ.७१ एवं ७२ ।

२- उपर्युक्त ऋषियों से सम्बद्ध कथानक के लिए देखें - प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का परिशिष्ट-१ ।

संस्कृत महाकाव्यकारों ने 'काम' के इस दुर्धर्ष प्रभाव को जानते हुए ही अपने नायकों का युवावस्था में कामोपभोग का चित्रण ही किया है।[१] भारतीय संस्कृति के पक्षपाती महाकवि कालिदास के नायक युवावस्था में काम का ही उपभोग करते हैं।[१] महाकवि माधवाचार्य भी युवावस्था में कामोपभोग को आवश्यक मानते हुए कहते हैं कि उचित समय पर बोए गए बीज से जैसे खेती उत्पन्न होती है वैसी विपरीत काल में बोए गए बीज से नहीं। उसी प्रकार से विवाहादि संस्कार भी उचित समय पर (अर्थात् युवावस्था में) किए जाने पर ही फल देते हैं अन्यथा वे निरर्थक होते हैं।[२]

पुत्र का भारतीय समाज में हमेशा से ही एक महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यहां प्रत्येक नर-नारी के लिए पुत्रोत्पादन एक आवश्यक एवं महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व के रूप में सदा से ही प्रतिष्ठित रहा है। भारतीय मान्यता के अनुसार पुत्र के अभाव में न तो पुरुष को स्वर्ग प्राप्त हो सकता है[३] और न ही

१- देखें - रघु १।८

२- कालोप्तबीजादिह यादृशं स्यात्, सस्यं न तादृग् विपरीतकालात् ।
तथा विवाहादि कृतं स्वकाले, फलाय कल्पेत् न चेद् वृथास्यात् ।।
--शंकर. २।११

३-(अ) अप्रजस्य महाभाग न द्वारं परिचक्षते ।
स्वर्गेतेनाभितप्तोऽहमप्रजस्तद् ब्रवीमि व : ।।
--म० भा० आदि ।११९। १५ एवं १६

(ब) नानपत्यस्य लोका: सन्तीति ।
-- म० भा० (स्वा०म०) आदि ६०।६७

नारी के जन्म को सफल कहा जा सकता है[1] क्योंकि प्राचीन ऋषियों की दृष्टि में स्त्री एवं पुरुष के जन्म का एकमात्र लक्ष्य पुत्रोत्पादन ही था ।[2] इस तथ्य को ही ध्यान में रखकर पुत्रोत्पादन के आगे तपस्या एवं विभिन्न यागादि विधानों को निस्सार एवं व्यर्थ कहा गया ।[3] महाभारतकार महर्षि व्यास की स्पष्ट सम्मति है कि यागादि धार्मिक कर्म पुत्रदान को ही फल देते हैं व्यर्थ और इस तथ्य के उदाहरण के रूप में उन्होंने महर्षि मन्दपाल के चरित्र को प्रस्तुत किया है । महाभारत के अनुसार महर्षि मन्दपाल एक उग्र तपस्वी थे लेकिन उनके कोई पुत्र नहीं था । मृत्यु के अनन्तर पितृलोक में उन्हें उनकी तपस्या का कोई फल नहीं मिल रहा था । देवताओं द्वारा इसका कारण पूछे जाने पर उन्हें यह ज्ञात हुआ कि पुत्र के अभाव में व्यक्ति की तपस्या फलवती नहीं होती ।[4]

भारतीय समाज में पुत्र की इतनी महत्ता का मूल कारण था यहां के समाज में प्रचलित त्रिऋण की कल्पना । सनातन परम्परा के अनुसार

१- नारी परमधर्मज्ञ सर्वा पुत्रविनाकृता ।
--म० भा०(स्वा०म०) आदि १२२।६

२- प्रजनार्थं स्त्रिय: सृष्टा: सन्तानार्थं च मानवा: ।
--मनु० ६।६६

३-(अ) तपो वाप्यथवा यज्ञो यच्चान्यत् पावनं महत् ।
तत् सर्वमपरं तात् न संतत्या सतां मतम् ॥
--म० भा० आदि ४५।३०-३१

(ब) पुत्र की महत्ता के अन्य उल्लेखों के लिए देखें -- म० भा० आदि ७४।६७, १०२ एवं ४५।१४ आदि ।

४- विस्तृत कथा के लिए देखें- म० भा० आदि अ.२२८ ।

प्रत्येक व्यक्ति गुरु, ऋषि एवं पितृ इन तीन व्यक्तियों का ऋणी होता है और बिना इनसे अनृण हुए वह मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता ।[1] इनमें से पितृऋण से व्यक्ति पुत्रोत्पादन के द्वारा ही मुक्त होता है । पुत्र परलोकवासी पितरों के उद्धार के लिए आवश्यक होता है ।[2] अतः पितरों के

१- ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत ।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ।।
-- मनु० ६।३५

महाभारत में इन तीन ऋणों के अतिरिक्त एक चतुर्थ ऋण "मनुष्य ऋण" का भी उल्लेख हुआ है - इन चार ऋणों से अनृण हुए बिना सुगति सम्भव नहीं है । इन ऋणों से अनृण होने का उपाय महाभारत में इस प्रकार बताया गया है -- यज्ञों द्वारा मनुष्य देव ऋण से, स्वाध्याय एवं तपस्या द्वारा ऋषि ऋण (या गुरु ऋण) से, पुत्रोत्पादन एवं श्राद्ध कर्मों के सम्पादन द्वारा पितृ-ऋण से और दयापूर्ण व्यवहार द्वारा मनुष्य ऋण से अनृण होता है --

ऋणैश्चतुर्भिः संयुक्ता जायन्ते मानवा भुवि ।
पितृदेवर्षिमनुजैर्देयं तेभ्यश्च धर्मतः ।।
एतानि तु यथाकालं यो न बुध्यति मानवः ।
न तस्य लोकाः सन्तीति धर्मविद्भिः प्रतिष्ठितम् ।।
यज्ञैस्तु देवान्प्रीणाति स्वाध्यायतपसा मुनीन् ।
पुत्रैः श्राद्धैः पितृंश्चापि आनृशंस्येन मानवान् ।।
-- म० भा० आदि ११६।१७,१८,१६ एवं २०

२- यदागमवतः पुत्रस्तदपत्यं प्रजायते ।
तत्तारयति संतत्या पूर्वप्रेतान् पितामहान् ।।
--म० भा० आदि ७४।३८

उद्धार कार्य के लिए अर्थात् पितृ-ऋण से मुक्ति के लिए पुत्र के उत्पादन का दायित्व व्यक्ति के ऊपर रहता है । इस दायित्व को न निभाकर, इससे विमुख होकर व्यक्ति पितरों को सन्तोष नहीं दे सकता और वह उनके कोप का पात्र बन सकता है । इस सन्दर्भ में महाभारत के महर्षि जरत्कारु एवं अगस्त्य का कथानक द्रष्टव्य है । जरत्कारु एक उग्र तपस्वी थे और उन्होंने ब्रह्मचर्याश्रम के अनन्तर सीधे सन्यास-आश्रम को स्वीकार कर लिया था । एक बार मार्ग में अपने पितरों की दुर्दशा देखकर एवं उनके आदेश को शिरोधार्य करके उन्हें सन्यास का परित्याग करके नागनाथ वासुकि की जरत्कारु नाम्नी भगिनी से परिणय करके आस्तीक नामक पुत्र को उत्पन्न करना पड़ा था । और इस प्रकार गृहस्थ होकर उन्होंने पुन: सन्यास ग्रहण कर लिया था ।[१] इसी प्रकार अगस्त्य को भी पितरों के उद्धार-कार्य के लिए लोपामुद्रा से विवाह करना पड़ा था ।[२]

इस प्रकार पुत्रोत्पादन चूंकि पितरों के परितोष या पितृऋण से मुक्ति के लिए आवश्यक है और पुत्र परिणय-संस्कार द्वारा ही सम्भव है [३]

१- विस्तृत कथा के लिए देखें म० भा० आदि अ १३, १४ एवं १५ एवं ४५ तथा ४६ ।

२- विस्तृत कथा के लिए देखें म० भा० व.अ० ९६-९९

३- महाभारत में पुत्रोत्पादन सम्बन्धी एक विचित्र वर्णन मिलता है । इस महाकाव्य के अनुसार सत्ययुग में मनुष्य के संकल्प करते ही सन्तान की उत्पत्ति हो जाती थी, उसके लिए सम्भोग-कार्य आवश्यक नहीं था । इसी प्रकार त्रेता युग में नारी के संस्पर्श से ही पुत्र हो जाया करते थे । द्वापर युग से पुत्रोत्पादन के लिए स्त्री-पुरुष का संयोग सर्वप्रथम प्रारम्भ हुआ --

'यावद्यावदभूच्छ्रद्धा देहं धारयितुं नृणाम् ।
तावद् तावदजीवंस्ते नासीद् यमकृतं भयम् ।।

(कृपया आगे के पृष्ठ पर देखें)....

अत: इस दृष्टि से भी इस संस्कार की अनिवार्यता स्पष्ट हो जाती है। संस्कृत महाकाव्यकारों ने इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए अपने नायकों के वर्णन क्रम में उन्हें सन्तान-प्राप्ति के लिए ही परिणय करने वाला बताया है। भारतीय संस्कृति के पुजारी महाकवि कालिदास रघुवंशीय नरेशों को सन्तति परम्परा के निर्वाह के लिए ही परिणय करने वाला बताते हैं।[1] महाकवि माघवाचार्य भी इसी दृष्टि से परिणय संस्कार की अनिवार्यता को स्वीकार करते हैं।[2] इसी प्रकार महाकवि बिल्हण भी अश्वमेधादि

न चैतेषां मैथुनो धर्मो बभूव भरतर्षभ ।
संकल्पादेव चैतेषामपत्यमुपपद्यते ।।
ततस्त्रेतायुगे काले संस्पर्शाज्जायते प्रजा ।
न ह्यभून्मैथुनो धर्मस्तेषामपि जनाधिप।।
द्वापरे मैथुनो धर्मः प्रजानामभवन्नृप ।
तथा कलियुगे राजन् द्वन्द्वमापेदिरे जनाः ।।

-- म० भा० शा० २०७।३७-४०

यदि उपर्युक्त विवरण का वैज्ञानिक आधार पर विश्लेषण करें तो स्पष्ट है कि यह पूर्णतया असत्य है यतस्तु प्रजनन-शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार सन्तान तभी होती है जबकि ऋतुमती स्त्री द्वारा गर्भ में धारण किए गए पुरुष के वीर्य और स्त्री के रज का परस्पर संयोग होता है --

'क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूत: स्मृत: पुमान्
क्षेत्रबीजसमायोगात्सम्भव: सर्वदेहिनाम् ।।
-- मनु ९।३३

१- देखें- रघु० १।७

२- तत्तत्कुलीनपितर: स्पृहयन्ति कामं, तत्तत्कुलीनपुरुषस्य विवाहकर्म ।
पिण्डप्रदातृपुरुषस्य सन्ततित्वे , पिण्डाविलोपमुपरि स्फुटमीहमाना:
-- शंकर १।१२

यज्ञों की तुलना में पुत्रोत्पादन को ही महत्व देते हुए यह विचार प्रकट करते हैं कि गृहस्थों के कल्याण के लिए पुत्र आवश्यक है ।[1]

भारतीय संस्कृति में वैदिक काल से ही विभिन्न यज्ञों का सम्पादन प्रत्येक स्नातक गृहस्थ के अनिवार्य कर्तव्य के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुका था । यहां प्रत्येक स्नातक के लिए यज्ञाग्नि को अपने घर में प्रज्वलित करना एक शास्त्र सम्मत विधान था । यज्ञीय अवसरों पर स्नातक के साथ ही पत्नी भी आवश्यक एवं अनिवार्य होती थी । पत्नी की परिभाषा ही है जो पति के साथ यज्ञ में बैठे ।[2] ऐसे यज्ञीय अवसरों पर पत्नी की अपूर्णता यज्ञ की पूर्णता को ही समाप्त कर देती है । तभी तो यज्ञ की पूर्णता के लिए अश्वमेध यज्ञ के समय राम को सीता की स्वर्ण-प्रतिमा को प्रतिष्ठित करना पड़ा था ।[3]

इस प्रकार यज्ञ-सम्पादन की आवश्यकता से भी परिणय संस्कार की अनिवार्यता स्पष्ट हो जाती है । संस्कृत के महाकाव्यों की परम्परा में इसी दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए महाकवि कालिदास धर्म की आवश्यकता (यज्ञ, धर्म-पालन का ही एक अंग है) के कारण पत्नी (प्रकारान्तर से परिणय) को एक अनिवार्य कर्तव्य मानते हैं ।[4] महाकवि

१- किमश्वमेधप्रभृतिक्रियाक्रमैः कुतोऽस्ति वैन्मोभयलोकबान्धवः ।
ऋणं पितृणामपनेतुमक्षमाः कथं लभन्ते गृहमेधिनः शुभम् ।।
--विक्रमांक २।३४

२- पत्युर्नो यज्ञसंयोगे ।
-- अष्टाध्यायी ४।१।३३

३- देखें - वा० रा० उत्तर. ९१।२५

४- क्रियाणां खलु धर्म्याणां सत्पत्न्यो मूलकारणम् ।
--कुमार. ६।१३

माधवाचार्य भी यज्ञीय समारोहों के पूर्ण फल-लाभ के लिए परिणय का आवश्यक रूप से विधान करते हैं ।[१]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष-रूप में हम कह सकते हैं कि स्त्री एवं पुरुष के, व्यक्तिगत आत्मोत्थान (कामोपभोग से सन्तुष्टि रूप), धार्मिक कार्यानुष्ठान (यज्ञादि से सम्बन्धित) एवं आर्थिक आवश्यकता (पुत्र-प्राप्ति-रूप) आदि सभी कारणों से इन दोनों की पूर्णता के लिए परिणय एक अनिवार्य संस्कार है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में यह कहा जा चुका है कि मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य होता है मोक्ष की प्राप्ति । अतः प्रस्तुत प्रकरण की समाप्ति के पूर्व यह विचार कर लेना अपेक्षित है कि परिणय-संस्कार मनुष्य की मोक्ष की प्राप्ति में सहायक है या बाधक अथवा क्या इस संस्कार के अभाव में भी पुरुष एवं स्त्री अलग-अलग रहते हुए मोक्ष-प्राप्त कर सकते है या नहीं ? पहले प्रश्न के प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि चूंकि परिणय संस्कार द्वारा स्त्री एवं पुरुष धर्म, अर्थ एवं काम इन तीन पुरुषार्थों को प्राप्त करते हैं और इन तीन पुरुषार्थों का सम्यक् अनुष्ठान ही व्यक्ति को मोक्ष का अधिकारी बनाता है । अतः स्पष्ट है कि परिणय संस्कार मनुष्य के मोक्ष की प्राप्ति में एक सहायक तत्व है । जहां तक दूसरे प्रश्न की समस्या है भारत की सनातनी परम्परा से इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर ही हमें प्राप्त होता है । भारतीय परम्परा के अनुसार व्यक्ति चाहे कितना ही तपस्वी क्यों न हो वह पुत्र के अभाव में, मृत्यु के अनन्तर मोक्ष न प्राप्त कर

१- अथविषोत्रफलो हि विचार एष, तत्रापि चित्रबहुकर्मविधानहेतो ।
अत्राधिकारमभिवाञ्छति स द्वितीयः,कृत्वा विवाहमिति वेदविदाम् प्रवादः।।
-- शंकर. २।१४

पुत् नामक नरक की यातना का ही भोग करता है । पुत्र ही उसे इस नरक से बचा सकता है इसीलिए पुत्र को पुत्र कहा जाता है ।[१] इस प्रकार चूंकि पुत्र स्वर्ग-प्राप्ति में सहायक है और वह व्यक्ति को धर्मपत्नी से ही प्राप्त होता है अत: यह सुस्पष्ट है कि व्यक्ति स्वतंत्ररूप से या अकेले ही मोक्ष की प्राप्ति नहीं कर सकता । स्त्री भी बिना विवाहित हुए मोक्ष की अधिकारिणी नहीं होती यह तथ्य महाभारत के कुणिगर्ग की कन्या के कथानक से स्पष्ट है ।[२]

अन्त में हम यह कह सकते हैं कि स्त्री एवं पुरुष के सुखमय एवं पूर्ण जीवन के लिए परिणय एक आवश्यक एवं अनिवार्य संस्कार है । परिणय संस्कार ही वह अमोघ अस्त्र है जो स्त्री एवं पुरुष को सम्मिलित रूप से मोक्ष का अधिकारी बना देता है । यदि पति-पत्नी दोनों ही शास्त्र-सम्मत रीति से गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत कर लेते हैं तो मोक्ष उन्हें सरलता से ही प्राप्त हो जाता है । उसके लिए आपको वानप्रस्थी या सन्यासी होने की आवश्यकता नहीं है । आवश्यकता है समुचित रीति से गार्हस्थ्य के निर्वाह की। श्वेतकेतु एवं सुवर्चला के समान ही[३] यदि आप शास्त्र-सम्मत रीति से गार्हस्थ्य धर्म व्यतीत कर लेते हैं तो मोक्ष गृहस्थ रहकर ही आप प्राप्त कर सकते हैं ।

१- पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात्पितरं त्रायते सुत: ।
तस्मात्पुत्र इति प्रोक्त: स्वयमेव स्वयंभुवा ।।
-- म० भा० आदि ६८ ।३८

२- विस्तृत कथा के लिए देखें - म० भा० शल्य० अ० ५१ ।

३- ,, ,, ,, - म० भा० शान्ति पर्व अ० २२० ।

इसी प्रकार महाकवि अश्वघोष ने भी गृहस्थ धर्म को मोक्ष-प्राप्ति का उपाय मानते हुए 'बुद्धचरितम्' महाकाव्य में पुरोहित के मुख से यह कहलाया है कि --

"व्यक्ति गृहस्थ रहकर भी मोक्ष प्राप्त कर सकता है ।"[१]
इस प्रसंग में अश्वघोष ने मोक्ष की प्राप्ति के लिए गृहस्थ धर्म का त्याग करने वालों की मीठी चुटकी लेते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि मोक्ष की प्राप्ति में वन-निवास या भिक्षु-वास मात्र सहायक नहीं है, अपितु इसके वास्तविक सहायक हैं बुद्धि एवं प्रयत्न । सांसारिक जीवन से भाग कर सन्यास लेना तो कायरों का धर्म है ।[२] आगे चलकर वे पुन: कहते हैं कि बलि,वज्रबाहु, वैभ्राज, आषाढ़, अन्तिदेव, जनक, राम, द्रुम तथा सेनजित आदि राजाओं ने गृहस्थ रहकर ही मोक्ष प्राप्त किया था ।[३]

उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य सुनिश्चित हो जाता है कि संस्कृत-महाकवियों की दृष्टि में मोक्ष-प्राप्ति का सर्वोत्तम उपाय है -- गृहस्थ धर्म का सम्यक् पालन और यही कारण है कि लगभग प्रत्येक महाकवि ने अपने काव्य-नायकों द्वारा सम्यक् रूप से गृहस्थ धर्म का निर्वाह कराया है ।

१- प्राप्तो गृहस्थैरपि मोक्षधर्म: ।

-- बुद्ध ६।१९

२- न चैष धर्मो वन एव सिद्ध: पुरेऽपि सिद्धिर्नियता यतीनाम् ।
बुद्धिश्च यत्नश्च निमित्तमत्र वनं च लिंग च हि भीरुचिह्नम ।।

-- वही ६।१८

३- देखें - बुद्ध ६।१९-२१

२- पाणिग्रहण के विविध प्रकार तथा संस्कृत महाकाव्यों में उनके उदाहरण

क- पाणिग्रहण की विविध प्रणालियों का उद्भव एवं विकास

परिणय संस्कार सम्बन्धी उपर्युक्त स्थापना के अनन्तर यहां यह जान लेना आवश्यक है कि भारतीय समाज में पाणिग्रहण का क्या स्वरूप था ? और उसके कितने प्रकार थे ? तथा संस्कृत-महाकाव्यों में उनकी अन्विति हमें किस रूप में उपलब्ध होती है ?

यदि विश्व की सामाजिक व्यवस्था का विश्लेषण किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि संसार का प्रत्येक मानव-समाज विभिन्न भागों एवं उपभागों में विभाजित रहता है और समाज के ऐसे प्रत्येक भाग या उपभाग में रहन-सहन की विधियों एवं सामाजिक रीति-रिवाजों आदि में भिन्नता विद्यमान रहती है । इस दृष्टि को ध्यान में रखते हुए यदि हम भारतीय समाज का विश्लेषण करें तो यह ज्ञात होता है कि यहां का समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इन चारों भागों में विभाजित था । इन चार भागों में भी प्रत्येक भाग के अनेक भाग एवं उपभाग थे और प्रत्येक भाग के सामाजिक स्तर, रहन-सहन की विधियों एवं रीति-रिवाजों आदि में भी भिन्नता विद्यमान थी । परिणय संस्कार का क्षेत्र समाज ही होता है और चूंकि समाज यहां कई भागों में विभाजि था अत: पाणिग्रहण की भी यहां कई प्रणालियां प्रचलित थीं ।

भारतीय समाज में पाणिग्रहण की विविध प्रणालियों के उद्भव एवं विकास को जानने के लिए यदि हम वैदिक साहित्य का आश्रय लें तो यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज मुख्य रूप से गान्धर्व या स्वयंवर विधि से ही परिचित था क्योंकि इस प्रथा का ऋग्वेद में पौन: पुन्येन उल्लेख हुआ है । ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का एक ऋषि अश्विनी देवों का वर्णन करता हुआ कहता है कि अश्विनी देवों ने स्वयं अपना रथ जोता था, उस पर चढ़कर बैठने से वे बड़े सुशोभित लगने लगे, केवल शब्दों के इशारे से ही वे रथ को चलाने लगे ।

पहुंचने के स्थान पर वे सब देवों से पहले पहुंचे । इसलिए सूर्य की पुत्री ने स्वयंवर में उनको पति रूप से स्वीकार किया ।[1] स्वयंवर के अतिरिक्त ऋग्वेद के दशम मण्डल के एक सूक्त से (जहां कन्या दान आदि का वर्णन हुआ है) ब्राह्म विवाह,[2] प्रथम मण्डल से[3] (जहां कन्या विक्रय की ओर संकेत मिलता है) आसुर विवाह एवं पंचम मण्डल से[4] (जहां कहा गया है कि आत्रेय अर्चनाना ने राजा रथवीति के यज्ञ में यज्ञ करते हुए अपने पुत्र श्यावाश्व के परिणय हेतु राजा के कन्या की याचना की थी) दैव विवाह के प्रचलन का भी संकेत हमें प्राप्त होता है ।

ऋग्वेद के उपर्युक्त स्थलों के आधार पर हम कह सकते हैं कि यद्यपि तत्कालीन समाज में ब्राह्म, दैव एवं आसुर विवाहों का प्रचलन हो चुका था फिर भी उस युग के लोग गान्धर्व या स्वयंवर को ही परिणय की सर्वश्रेष्ठ विधि मानते थे ।

कालक्रम की दृष्टि से वैदिक साहित्य के अनन्तर वाल्मीकि-रामायण का क्रम आता है । यदि वाल्मीकि रामायण का विवेचन किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज पाणिग्रहण की विविध

१- युवोरश्विना वपुषे युवायुजं रथं वाणी येमतुरस्य शर्ध्यम् ।
आ वां पतित्वं सख्याय जग्मुषी योषावृणीत जेन्या युवां पतिम् ।।
-- ऋ० १।११९।५

गान्धर्व या स्वयंवर के अन्य उल्लेखों के लिए देखें -- ऋ० १०।२७।१२; अथर्व० २।३६।५-६, यजु० ३४।१० आदि ।

२- देखें - ऋ० १०।८५
३- देखें - ऋ० १।१०९।२
४- देखें - ऋ० ५।६१

प्रणालियों से परिचित था । इस युग में स्वयंवर प्रणाली के अतिरिक्त पाणिग्रहण की छ: अन्य विधियों का भी समाज में प्रचलन हो चला था ।

वाल्मीकि रामायण में पाणिग्रहण की प्रथम विधि का दर्शन हमें कुशनाम कन्याओं एवं राजा ब्रह्मदत्त के परिणय में देखने को मिलता है । राजा ब्रह्मदत्त को भूपति कुशनाम ने अपने "महोदय" नामक नगर में बुलाकर, वैदिक विधि के अनुसार अपनी कन्याओं का पाणिग्रहण ब्रह्मदत्त से स्वयं करा दिया ।[१] रोमपाद की पुत्री शान्ता एवं ऋष्यश्रृंग[२], उत्तरकाण्ड में वर्णित विश्रवा एवं महर्षि भारद्वाज की कन्याओं का[३] तथा रावण मन्दोदरी, कुम्भकर्ण-वज्रज्वाला एवं विभीषण-सरमा आदि का परिणय भी उपर्युक्त विधि से ही हुआ था ।[४] यदि स्मृतिकालीन ब्राह्म विवाह की विधि को ध्यान में रखें तो यह सुस्पष्ट हो जाता है कि पाणिग्रहण की उपर्युक्त सभी विधियां ब्राह्म विवाह के पूर्वरूप मात्र हैं, अत: इन्हें ब्राह्म विवाह का उदाहरण मानना चाहिए ।

पाणिग्रहण की दूसरी विधि हमें राम एवं सीता के परिणय में देखने को मिलती है । धनुष तोड़ देने के अनन्तर राम से सीता का विवाह निश्चित हो जाने पर जनक ने विविध आभूषणों से भूषित सीता को विवाह-मण्डप में लाकर अग्नि के समक्ष श्री राम के सम्मुख बैठा दिया और "यह हमारी पुत्री सीता तुम्हारी सहधर्मिणी होवे " यह कहकर सीता का हाथ

१- देखें - वा० रा० बाल० स० ३३ ।
२- ,, ,, ,, ,, ,, ११ ।
३- ,, ,, ,, उत्तर ,, ३।४ ।
४- ,, ,, ,, ,, ,, १२ ।

उनके हाथ में पकड़ा दिया ।[1] लक्ष्मण-उर्मिला, भरत एवं माण्डवी तथा शत्रुघ्न-श्रुतकीर्ति के विवाह भी इसी विधि से सम्पन्न हुए ।[2] चूंकि यहां जनक ने सीता आदि को रामादि की एक सहधर्मचरी के रूप में प्रस्तुत किया है इसीलिए उपर्युक्त पाणिग्रहण के उदाहरणों को, स्मृतिकालीन 'प्राजापत्य प्रणाली' के परिणय ही मानना चाहिए ।[3] यहां यह तथ्य अवधेय है कि यद्यपि ऐतिहासिकों ने राम एवं सीता के विवाह को प्राजापत्य विवाह माना है फिर भी वाल्मीकि रामायण में ही कुछ ऐसे प्रमाण प्राप्त होते हैं जो इनके परिणय को 'स्वयंवर' प्रणाली का परिणय सिद्ध करते हैं । अयोध्याकाण्ड में सीता अनुसूया से अपने विवाह का वर्णन करते हुए कहती हैं कि मेरे पिता ने अभिरूप वर पाने के उद्देश्य से एक वृहद् स्वयंवर का आयोजन किया और तब उस स्वयंवर में यह शर्त घोषित की कि जो व्यक्ति शिव-धनुष को उठाकर उस पर प्रत्यंचा चढ़ा देगा वही सीता के साथ विवाह का अधिकारी

१- ततः सीतां समानीय सर्वाभरणभूषिताम् ।
समक्षमग्नेः संस्थाप्य राघवाभिमुखे तदा ।।
अब्रवीज्जनको राजा कौसल्यानन्दवर्द्धनम् ।
इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव ।।
प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृहणीष्व पाणिना ।
पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा ।।
-- वा० रा० बाल ७३।२५,२६ एवं २७

२- देखें - वही ७३ ।३०-३३

३- देखें - डा० शान्ति कुमार नानूराम व्यास : 'रामायण कालीन समाज', पृ० १२० ।

होगा । स्वयंवर की निश्चित तिथि पर विभिन्न भूपति आए लेकिन वे स्वयंवर की शर्त पूरी न कर सके और शिव-धनुष को प्रणाम करके लौट गए । तदुनन्तर दीर्घकाल के पश्चात् श्री राम मेरे यहां लक्ष्मण सहित आए और उन्होंने धनुष तोड़कर मुझे प्राप्त किया ।[१] इस प्रकार अन्त में सीता ने अपने परिणय को स्वयंवर विधि का ही बताया है ।[२]

वाल्मीकि रामायण के उपर्युक्त कथानक के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राम जनक द्वारा स्वयंवरायोजन के बहुत बाद में मिथिला पहुंचे थे और उनका जब सीता से विवाह हुआ था तो उस समय स्वयंवर की स्थिति ही नहीं थी, क्योंकि राम एवं सीता के विवाह को स्वयंवर तभी माना जा सकता है जबकि या तो सीता ने स्वेच्छया राम का वरण कर लिया होता या विभिन्न राजाओं के मध्य राम ने शिव-धनुष को तोड़कर सीता को प्राप्त किया होता । निष्कर्ष यह कि राम एवं सीता का पाणिग्रहण प्राजापत्य प्रणाली से ही हुआ था ।

पाणिग्रहण की तीसरी विधि हमें अयोध्याधिपति महाराज दशरथ एवं कैकेयी के परिणय में देखने को मिलती है । वाल्मीकि रामायण के अनुसार केकय देश के राजा ने दशरथ से कैकेयी का परिणय इस शर्त पर किया था कि वह अपना उत्तराधिकारी कैकेयी-पुत्र को ही बनाएगें ।[३]

१- देखें -- वा० रा० अयोध्या ११८ ।३८-५०

२- एवं दत्तास्मि रामाय तथा तस्मिन् स्वयंवरे ।
अनुरक्तास्मि धर्मेण पतिं वीर्यवतां वरम् ।।
-- वही ११८।५४

३- देखें -- वा० रा० अयोध्या १०७ ।३

चूंकि यहां हमें परिणय संस्कार में एक व्यापार या लेनदेन (भले ही राज्यरूप में) की गन्ध मिलती है अत: हम दशरथ एवं कैकेयी के परिणय को धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित आसुर विधि का परिणय मान सकते हैं ।

रामायण युग में स्त्रियां किसी व्यक्ति विशेष के सौन्दर्य एवं शौर्यादि पर मुग्ध होकर उसे अपना पति बना लेती थीं । लंका काण्ड के अनुसार रावण के सौन्दर्य एवं शौर्यादि को देखकर कामाभिभूत कई रमणियां स्वेच्छा से उसकी पत्नी बन गयी थीं ।[१] उत्तरकाण्ड के अनुसार बुध और इला एक दूसरे पर आकर्षित होने के अनन्तर ही परिणय में आबद्ध हुए थे ।[२] उपर्युक्त दोनों उदाहरणों में चूंकि प्रेम या आकर्षण के अनन्तर परिणय सम्पादित होता है । अत: इन दोनों उदाहरणों को हम धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित गान्धर्व विवाह मान सकते हैं । यहां यह तथ्य अवधेय है कि इस युग में भी गान्धर्व विवाह तभी होता था जब नायक एवं नायिका दोनों ही परिणय में आबद्ध होना चाहते थे । एकपक्षीय आकर्षण से गान्धर्व विवाह सम्भव नहीं था । राम को देखकर शूर्पणखा सर्वात्मना समर्पित हो उन्हें अपना पति चुनना चाहती थी परन्तु राम इसके लिए तैयार नहीं थे फलत: उसे निराश होना पड़ा ।[३] सर्वांगसुन्दरी कुशनाभ-कन्याओं पर आकर्षित होकर वायुदेव ने उनसे प्रणय निवेदन करके उन्हें पत्नी बनाना चाहा था और अन्त में निराश हुए थे ।[४]

१- देखें - वा० रा० लंका ६।९८-९९

२- ,, ,, ,, उत्तर सर्ग ८९

३- ,, ,, ,, अरण्य १७।२५

४- ,, ,, ,, बाल ३२

वाल्मीकि रामायण के अनुसार रावण ने सीता का हरण करके उनसे अपनी भार्या बन जाने का निवेदन किया था[1] तथा विभिन्न देव-कन्याओं का अपहरण करके उन्हें अपनी पत्नियां बनाया था।[2] अरण्यकाण्ड के इन घटनाओं से ऐसा प्रतीत होता है कि तत्कालीन समाज सम्भवत: युवती कन्याओं का अपहरण करके उन्हें बलपूर्वक अपनी पत्नी बनाता था। परिणय की इस विधि को हम धर्मशास्त्रों में विवेचित `राक्षस विवाह` का पूर्वरूप मान सकते हैं। यहां यह तथ्य अवधेय है कि वाल्मीकि रामायण में कुछ ऐसे प्रमाण भी प्राप्त होते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि रावण ने सीता का अपने साथ विवाह आर्ष पद्धति का कहा है। उसने सीता को अपनी पत्नी बनाने के प्रसंग में प्रयास करते हुए यह निवेदन किया था कि हे देवि! मेरे साथ परिणय करने के कारण अपने पति के त्याग एवं परपुरुष के अंगीकार से तुम्हें धर्मलोप की आशंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि तुम्हारे साथ मेरा जो परिणय होगा वह धर्मशास्त्रों द्वारा समर्थित आर्ष पद्धति से होगा।[3]

डा० व्यास ने यहां आर्ष शब्द से अभिप्राय उस विवाह पद्धति से लगाया है जिसमें लेन देन होता था।[4] वाल्मीकि रामायण के उपर्युक्त

१- देखें - वा० रा० अरण्य स० ४७-५५।

२- ,, ,, ,, उत्तर स० २४

३- अलं व्रीडेन वैदेहि धर्मलोपकृतेन ते।
आर्षोऽयं देवि निष्पन्दो यस्त्वामभि भविष्यति॥
वा० रा० अरण्य ५५।३४-३५

४- देखें - डा० शा० कु० ना० व्यास : `रामायण कालीन समाज`, पृ० १२१।

स्थल की समीक्षा से यही स्पष्ट होता है कि वहां लेनदेन का कोई प्रश्न ही नहीं था। सम्भवत: इसी कारण को ध्यान में रखते हुए टीकाकारों ने आर्ष से अभिप्राय यहां "राक्षस विवाह" ही लगाया है।[१]

इसी प्रकार तत्कालीन समाज में कामोन्मत्त शक्तिशाली व्यक्ति अनुत्सुक एवं स्वरक्षा में असमर्थ युवती-कन्याओं का बलपूर्वक उपभोग करके उन्हें दूषित कर देते थे। रावण ने पुंजिकस्थला एवं रम्भा आदि का बलपूर्वक उपभोग किया था।[२] रावण की यह प्रवृत्ति धर्मशास्त्रीय पैशाच विवाह मानी जा सकती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वाल्मीकि कालीन समाज धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित परिणय की अष्टविधियों में से, ब्राह्म, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस एवं पैशाच, इन छ: विधियों से परिचित हो चुका था। यहां यह तथ्य अवधेय है कि वाल्मीकि के युग तक परिणय की विभिन्न प्रणालियों का नामकरण नहीं हो पाया था। हां उनके स्वरूप निर्धारित हो चुके थे। आगे चलकर धर्मशास्त्रीय लेखकों ने परिणय की उपर्युक्त विधि को देखते हुए उनके उदाहरण के स्वरूप के आधार पर ही उनका नाम निर्धारित करके परिणय की अष्टविधियों का व्याख्यान प्रस्तुत किया।[३]

१- देखें -- श्री जानकी नाथ शर्मा : वा० रा० अरण्य ५५।३४ की व्याख्या।

२- देखें -- वा० रा० उत्तर सर्ग २६।

३- इस स्थल पर यह तथ्य ध्यान में रखना आवश्यक है कि रामायण के युग तक सूत्र साहित्य का उद्भव नहीं हो पाया था। वैदिक वाङ्मय का अन्तिम भाग अर्थात् सूत्र साहित्य कालक्रम की दृष्टि से सर्वाधिक नवीन माना जाता है। यद्यपि आज भी रामायण, महाभारत एवं सूत्र साहित्य के बीच कोई लक्ष्मण रेखा नहीं खींची जा सकती फिर भी कुछ अनुमान तो लगाया ही

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)...

प्रस्तुत प्रसंग में हमारे मन में दो स्वाभाविक प्रश्न ये उपस्थित होते हैं कि धर्मशास्त्रीय लेखकों ने रामायण-काल में प्रचलित परिणयों का नामकरण

जा सकता है। सूत्र साहित्य के निर्माण काल की चर्चा करते हुए डा० गोरख प्रसाद जी ने इस साहित्य का निर्माण काल ईसा से लगभग १३३० वर्ष पूर्व माना है। देखें- भारतीय ज्योतिष शास्त्र का इतिहास, पृ० ५२-५५)। जहां तक गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों का प्रश्न है काणे महोदय ने आपस्तम्ब एवं आश्वलायनादि सर्व प्राचीन गृह्यसूत्रों एवं गौतम, आपस्तम्ब तथा बौधायन आदि सर्व प्राचीन धर्मसूत्रों का समय क्रमशः ८०० ई० पू० से ४०० ई० पू० तथा ६०० ई० पू० से ३०० ई० पू० निर्धारित किया ग है -- देखें- धर्मशास्त्र का इतिहास `प्रथम भाग`, भूमिका पृ० १४। एक अन्य साहित्यिक प्रमाण भी काणे महोदय के उपर्युक्त मत को ही पुष्ट करता है। संस्कृत साहित्य के प्राचीनतम प्रहसन "भगवदज्जुकीयम्" के रचनाकार बोधायन को धर्मसूत्रकार बोधायन से अभिन्न मानते हुए ग्रन्थ के सम्पादक, श्री अनुजन अच्चन महोदय ने प्रो० विण्टरनित्ज का यह मन्तव्य प्रस्तुत किया है कि बोधायन का समय पांचवीं शती ई० पू० है, देखें--"भगवदज्जुकीयम्" की भूमिका।

इस प्रकार हमें गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों के निर्माण-काल की ऊपरी सीमा १३३० ई० पू० एवं निचली सीमा ३०० ई० पू० प्राप्त होती है। वाल्मीकि रामायण के रचनाकाल के विषय में भी विद्वानों में अत्यधिक मतभेद है फिर भी अनेक पाश्चात्य एवं पौरस्त्य विद्वानों के अनुसार गौतम बुद्ध (ई० पू० ६००) से पूर्व प्रणीत महाभारत और (वन पर्व में वर्णित होने के कारण) उससे भी पूर्ववर्ती रामायण की प्राचीनता तो असन्दिग्ध है लेकिन इसके लेखन काल के विषय में पर्याप्त मतभेद है।

(कृपया दूसरे पृष्ठ पर देखें)..

किस आधार पर किया और समाज में परिणय की विविध विधियों का प्रचलन क्रमिक विकास के रूप में हुआ या ये सभी विधियां एक साथ समाज में प्रचलित हुई ।

पाश्चात्य विद्वानों में अग्रगण्य याकोबी, मैकडानल, मोनियर विलियम्स और पौरस्त्य विद्वानों में श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य आदि के अनुसार चूंकि वा० रा० में बौद्ध धर्म का उल्लेख नहीं मिलता (इन लेखकों के अनुसार मूल रामायण में बालकाण्ड एवं उत्तरकाण्ड नहीं थे) इससे ऐसा प्रतीत होता है कि उसकी रचना गौतम बुद्ध से बहुत पहले हुई रही होगी । यदि मोटे तौर पर महाभारत का रचनाकाल गौतम बुद्ध से सौ वर्ष पूर्व मान लिया जाय तो रामायण का रचनाकाल भी इसके बाद का ही होना चाहिए । इस प्रकार यदि रामायण का रचनाकाल ईसा से पांच या छः सौ वर्ष पूर्व माना जाय तो हमें उसमें विभिन्न परिणयों का नामतः उल्लेख मिलना चाहिए क्योंकि इस युग तक विभिन्न गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों का निर्माण हो चुका था परन्तु रामायण में चूंकि परिणय की विधियों का नामतः उल्लेख नहीं हुआ है इससे ऐसा आभास मिलता है कि रामायण ईसा से कई सौ वर्ष पूर्व लिखी जा चुकी थी । डा० व्यास ने पाश्चात्य जगत के प्रसिद्ध समीक्षक पार्जिटर महोदय का एक मत उद्धृत करते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि रामायण का रचनाकाल कम से कम ईसा से १६०० वर्ष पूर्व होना चाहिए । पार्जिटर महोदय ने वंशावलियों के आधार पर यह निश्चित् किया है कि राम-रावण एवं कौरव-पाण्डव युद्ध के बीच पांच शताब्दियों का अन्तर है । महाभारत युद्ध ११०० ई० पू० में हुआ था । इस प्रकार राम का समय १६०० ई० पू० निश्चित् हो जाता है -- देखें- डा० शा० कु० ना० व्यास : `रामायणकालीन समाज`, पृ० १० ।

(कृपया दूसरे पृष्ठ पर देखें)...

इन दोनों प्रश्नों में से प्रथम प्रश्न के समाधान में प्राय: अधिकांश प्राचीन लेखकों ने यह मन्तव्य प्रकट किया है कि धर्मशास्त्रीय लेखकों ने पूर्व समाज में प्रचलित परिणय के विभिन्न प्रणालियों का नामकरण उनकी श्रेष्ठता के आधार पर किया है। मनुस्मृति के तृतीय अध्याय के इक्कीसवें श्लोक की व्याख्या करते हुए टीकाकार कुल्लूक भट्ट कहते हैं कि ब्राह्म, राक्षस आदि परिणय-विधियों के विभिन्न नाम शास्त्र के व्यवहार तथा स्तुति और निन्दा प्रदर्शित करने के लिए किए गए हैं।[1] यहां यह स्पष्ट है कि कुल्लूक भट्ट

. रामायण के अन्त: साक्ष्य के अनुसार वाल्मीकि ने रामायण की रचना राम के राज्यारूढ़ होने के कुछ वर्ष बाद की थी --

'प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवान् ऋषि: ।
चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमर्थवत् ।।

-- वा० रा० बाल० ४।१

इन दोनों प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि रामायण की रचना अवश्य ही १६०० ई० पू० के आस पास हुई होगी। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि रामायण निश्चय ही आश्वलायनादि गृह्यसूत्रकारों एवं धर्मसूत्रकारों से पूर्व की कृति थी। अत: रामायण युग में प्रचलित विविध रूप वाले विवाह-बन्धनों को ध्यान में रखकर ही सूत्र युग में इन आचार्यों ने अष्टविधि-परिणयों का व्याख्यान प्रस्तुत किया।

१- ब्राह्मराक्षसादिसंज्ञाश्चेयं शास्त्रसंव्यवहारार्था स्तुतिनिन्दा-प्रदर्शनार्था च । ब्रह्मण इवायं ब्राह्म: । रक्ष इवायं राक्षस: । न तु ब्रह्मादिदैवतात्वं विवाहानां सम्भवति ।

-- मनु० ३।२१ पर कुल्लूक भट्ट की टीका ।

की दृष्टि में इन विवाहों का नामकरण उनकी श्रेष्ठता एवं उच्चस्तरीय विचारों को ही ध्यान में रखकर किया गया है । जैसे ब्राह्म, प्राजापत्य या आर्ष आदि नामों से स्पष्ट है कि ये विवाह श्रेष्ठ हैं तभी तो ब्रह्मा, प्रजापति या ऋषि के नाम पर इनका नामकरण हुआ है ।

आधुनिक आलोचक कुल्लूक भट्ट के इस मन्तव्य से सहमत न होते हुए यह विचार प्रकट करते हैं कि परिणय की विविध प्रणालियों का नामकरण जातीय आधारों पर किया गया है । बम्बई हाईकोर्ट के भूतपूर्व न्यायाधीश श्री वेस्ट महोदय का कथन है कि "हिन्दू शास्त्रों द्वारा स्वीकृत विवाह के विभिन्न रूप ऐतिहासिक दृष्टि से उन विभिन्न समुदायों और जातियों के आधार पर थे जो समुदाय बाद में एक हिन्दू जाति के रूप में परिणत हो गए । आसुर नाम यह सूचित करता है कि इस देश के मूल निवासियों या आर्यों के आक्रमण से पहले यहां बसने वाले लोगों में यह प्रचलित था ।" श्री वेब महोदय असीरिया के रहने वालों को आसुर बताते हैं और यह कहते हैं कि उनमें यह रिवाज था कि वर कन्या के पिता को कुछ शुल्क देकर कन्या के साथ शादी करता था । अतः ऐसे विवाह को आसुर कहते हैं ।[१] श्री वेस्ट महोदय के उपर्युक्त कथन के आधार पर कहा जा सकता है कि गन्धर्व, असुर, राक्षस या पैशाच आदि जातियों के आधार पर ही क्रमशः गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच आदि परिणयों के ये विविध नामकरण किए गए ।

१- उपर्युक्त उद्धरणों के लिए देखें : श्री हरिदत्त वेदालंकार : "हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास", पृ० १६७ ।

वस्तुत: अष्टविधि-परिणयों के नामकरण में उपर्युक्त दोनों ही कारणों का योगदान रहा है अत: किसी कारण विशेष को ही उचित मानना ठीक नहीं है ।[१]

सम्भवत: परिणय के उपर्युक्त नामकरण एक लम्बे अन्तराल के मध्य निश्चित् हुए होंगे । जैसा कि हम जानते हैं कि प्राचीन समय में भारत में अनेक जातियों का अस्तित्व विद्यमान था । ऐसी जातियों में गन्धर्व, पैशाच या राक्षस तथा असुर आदि जातियां भी थी । रामायण एवं महाभारत में इन जातियों का पौन: पुन्येन उल्लेख हुआ है । सम्भवत: इन विभिन्न जातियों के रीति-रिवाजों में पर्याप्त अन्तर भी रहा होगा, अत: हमें यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि इन जातियों के परिणय की विधि में भी पर्याप्त अन्तर रहा होगा । कालान्तर में इन्हीं जातियों को आधार बनाकर लेखकों ने इन विवाह की विधियों का भी नामकरण कर दिया होगा । जहां तक ब्राह्म, दैव, आर्ष या प्राजापत्य के नामकरण का प्रश्न है तो यहां ऐसा लगता है कि प्राचीन भारत में ये नाम ब्राह्मणों की विभिन्न उपजातियों के रहे होंगे । सम्भवत: प्राचीन युग में ब्राह्मणों का एक भाग ऐसा रहा होगा जो ब्रह्म या प्रजापति को ही अपना कुल देव या इष्टदेव मानता रहा होगा । अत:

१- श्री वेदालंकार जी कुल्लूक भट्ट की उपर्युक्त व्याख्या को आधार मानते हुए यह विचार प्रकट करते हैं कि "आधुनिक विद्वानों की अपेक्षा कुल्लूक की यह व्याख्या सच्ची प्रतीत होती है कि ये नाम विवाहों की निन्दा या प्रशंसा को सूचित करने के लिए रखे गए हैं ।"
देखें : श्री हरिदत्त वेदालङ्कार हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास पृ. १

इन उपवर्गों या उपजातियों को ध्यान में रखकर इनके परिणय की विधियों का नामकरण भी क्रमशः ब्राह्म, प्राजापत्य या दैव विवाह किया गया होगा। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि प्राचीन लेखकों ने विभिन्न परिणयों का नामकरण जातीय आधार पर किया था। कालान्तर में परिणयविशेष किसी जातिविशेष में ही व्यवहृत न होकर विभिन्न जातियों में ही प्रचलित होने लगा। उदाहरणार्थ महाबली रावण ने त्रिलोकविजयी, शिवभक्त, वेदवेदांगपारंगत ब्राह्मण होते हुए भी अनेक गान्धर्व विवाह किए। उसने वेदवती के शीलभंग एवं वैदेही के हरण से[1] अपने व्यक्तित्व में तिरोहित पैशाच एवं राक्षस प्रवृत्तियों का परिचय भी दिया। महाभारत-काल में चन्द्रवंशी सम्राट भीष्म ने काशिराज की कन्याओं का विवाह अपने भाई विचित्रवीर्य के साथ राक्षस विधि से ही कराया था।[2] दूसरी ओर रुरु एवं प्रमद्वरा का विवाह ब्राह्मण होने के बावजूद भी गान्धर्व विधि से ही हुआ था।[3] मणिपुर-नरेश ने अपनी कन्या चित्रांगदा का विवाह अर्जुन से इस शर्त पर किया था कि चित्रांगदा का पुत्र उसे शुल्करूप में प्राप्त होगा।[4] इस प्रकार यह विवाह आसुर विधि से ही हुआ था। ऐसी परिस्थिति में पश्चातकालीन लेखकों ने यह विचार प्रकट किया कि विभिन्न परिणयों का नामकरण उनकी श्रेष्ठता के आधार पर ही किया गया है। और इस नामकरण के मूल में उस परिणय विशेष की मूलप्रवृत्ति मात्र ही आधार है। जैसे प्रेम मूलक होने के कारण एक विवाह का गान्धर्व, राक्षसी प्रवृत्ति का होने के कारण दूसरे विवाह का नामकरण राक्षस किया गया है।

१- देखें वा० रा० उत्तर स० १७ ; अरण्य स० ४७-४९ ।

२- ,, म० भा० आदि अ० १०२ ।

३- ,, म० भा० आदि अ० ८-९ ।

४- ,, म० भा० आदि अ० २१४ ।

निष्कर्ष यह कि अष्टविधि परिणयों के नामकरण के मूल में पहले तो सम्भवत: जातीय कारण ही उत्तरदायी थे परन्तु कालान्तर में मानव-मन की विभिन्न प्रवृत्तियों के आधार पर उनका नामकरण हुआ । जहां तक हमारी दूसरी समस्या का प्रश्न है तो इसके समाधान में अनेक पाश्चात्य एवं पौरस्त्य विद्वानों ने यह विचार प्रकट किया है कि इन परिणयों का प्राय: क्रमिक विकास हुआ है । श्री स्टर्नबैक महोदय ने यह कल्पना की है कि प्रारम्भिक समय में समाज में राक्षस एवं पैशाच विधियों का ही प्रचलन हुआ था । आगे चलकर इनसे आसुर तथा आर्ष विवाह-विधियां उद्भूत हुईं । समाज के और सुसंस्कृत होने पर दैव या प्राजापत्य प्रणालियां व्यवहार में आयीं और फिर अन्त में स्वयंवर या गान्धर्व का प्रचलन हुआ ।[१] पौरस्त्य विद्वानों में श्री

१- Although the development of the forms of marriage quoted above can not be proved, owing to the lack of sources, the impression can be reached that, per analogiam with the general development of the institution of marriage according to sociological literature and taking into account certain rules which did not recognise some forms of marriage and even prohibited them as archaic, the development of the forms of marriage from marriage by capture (Rākṣasa and Paiśāca) to marriage by purchase (Āsura) and the marriage by sham-purchase (Ārṣa Vivaha), further to marriage based on the choice of husband by the father at the girl independently of her consent (Brāhma Daiva and Prajapatya Vivaha) and lastly to marriage by free consent of the bride and the bridegroom (Gandharva-Vivaha and ordinary svayamvara) is likely to have occurred in ancient India."

—Mr. L. Sternback : Juridical studies in Ancient Indian Law, (Part I), P.P. 442-425.

वेदालंकार जी भी अष्टविधि परिणयों में एक निश्चित विकास-क्रम मानते हैं । इनके अनुसार पहले समाज में ब्राह्म विवाह प्रचलित था और कालान्तर में आसुर, राक्षस, पैशाच, गान्धर्व तथा आर्ष दैव एवं प्राजापत्य नामक परिणय की विधियां समाज में आईं ।[१]

यदि आलोचनात्मक दृष्टि से देखा जाय तो यह ज्ञात होता है कि उपर्युक्त दोनों ही मत सत्य नहीं हैं, क्योंकि किसी भी समाज की परम्पराओं का विकास गणितीय पद्धति पर नहीं होता । कहने का आशय यह कि यह आवश्यक नहीं है कि प्रारम्भ में समाज में परिणय की एक ही विधि प्रचलित थी और अन्य विधियों का विकास उसके अनन्तर हुआ । अधिक सम्भावना यह है कि प्रारम्भिक समाज में गान्धर्व, राक्षस एवं पैशाच इन तीन विधियों का प्रचलन हुआ और कालान्तर में अन्य विधियां भी प्रचलित हुईं । वैदिक साहित्य के विवेचन से यह स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज मुख्यरूप से स्वयंवर या गान्धर्व विधि से ही परिचित था । अतः हमें यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि भारतीय समाज में सर्वप्रथम गान्धर्व विधि प्रचलित हुई । वाल्मीकि रामायण में रावण आदि द्वारा विभिन्न स्त्रियों के अपहरण एवं बलात्कार से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ये विधियां भी प्राचीन समाज में प्रचलित हो चुकी थीं ।

वाल्मीकि रामायण के अनन्तर कालक्रम के अनुसार साहित्यिक प्रमाण के रूप में हमारे समक्ष महाभारत का युग आता है । महाभारत युग तक आर्य संस्कृति काफी विस्तृत हो चुकी थी और वह अनार्य संस्कृति से भी प्रभावित हो चुकी थी तथा इस युग तक धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ भी लिखे जा चुके थे इसीलिए

१- देखें - श्री हरिदत्त वेदालंकार : 'हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास', पृष्ठ १४८ ।

यहां अष्टविधि विवाहों का स्वरूप विवेचन, उनका नामत: उल्लेख एवं उनके प्रचुर उदाहरणों का पौन: पुन्येन उल्लेख हुआ है ।[1] आगे चलकर संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में मुख्य रूप से स्वयंवर-प्रणाली का ही चित्रण हुआ है । इस विषय का विस्तृत विवेचन आगे के पृष्ठों में किया जाएगा । यहां तो यही बताना अपेक्षित है कि विभिन्न धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में पाणिग्रहण की कितनी विधियों का वर्णन हुआ है एवं उनका धर्मशास्त्रीय स्वरूप क्या है ?

ख- धर्मशास्त्रों में विवेचित पाणिग्रहण के विविध प्रकार एवं संस्कृत महाकाव्यों में उनके उदाहरण

उपर्युक्त प्रसंग में यदि विभिन्न गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों का विवेचन किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि इन ग्रन्थों में पाणिग्रहण की विभिन्न विधियों की संख्या के विषय में पर्याप्त मतभेद है । प्राचीन गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में जहां पाणिग्रहण की अष्ट विधियों को मान्यता प्राप्त हुई है[2] वहीं कुछ लेखकों ने पाणिग्रहण की कुछ कम विधियों को ही मान्यता दी है । इन लेखकों के उपर्युक्त संख्या विषयक मतभेद को लेकर यहां यह निश्चित कर लेना अनिवार्य है कि पाणिग्रहण की

१- देखें : म० भा० आदि अ० ७३।८-६ एवं अ० १०२।१२-१५ आदि ।

२- अष्ट-विधि परिणयों के उल्लेख के लिए देखें : आश्व० गृ० सू० १।४।२१-३२ ; गौ० ध० सू० १।४।६-१३ ; बौधा० ध० सू० १।११।२-६ ; विष्णु ध० सू० २४।१८-२६ ; मनु० ३।२१ ; याज्ञ १।३।५८-६१ ; नारद० स्त्री पुंस० ३८-३६ श्लोक ४।२ ; बौधा० वि० प्र० खं० १-६ ; बृध० पा० ध० अ० २० एवं विष्णु २४।१७ आदि ।

आठ विधियों को मान्यता दी जाय या नहीं । पाणिग्रहण की अष्टविधियों के विरोध में हम सर्वप्रथम लौगाक्षि एवं मानव गृह्य सूत्रकारों को पाते हैं । इन दोनों लेखकों ने पाणिग्रहण के केवल दो भेद माने हैं --ब्राह्म एवं आसुर[1]। मानव गृह्यसूत्रकार ने आसुर को ही शौल्क की संज्ञा दी है । परन्तु यदि हम इन गृह्य-सूत्रों पर उपलब्ध टीकाओं का आश्रय लें तो यह ज्ञात होता है कि इन गृह्यसूत्रकारों की दृष्टि में यद्यपि पाणिग्रहण की अष्टविधियां ही मान्य थीं परन्तु अन्य षड्विधियों के अनौचित्य, उनकी निकृष्टता, सर्व सामान्य के लिए दुर्लभता या इनकी अत्यधिक प्रसिद्धता के कारण इन लेखकों ने उन्हें व्याख्या सापेक्ष्य नहीं समझा ।[2] आपस्तम्ब एवं वसिष्ठ आदि लेखकों ने ब्राह्म-प्राजापत्य एवं राक्षस-पैशाच को समान मानते हुए परिणय की केवल

१- देखें - लौ० गृ० सू० १।१५।१ एवं १।१६।१ तथा मा० गृ० सू० १।१७।११ ।

२- "ब्राह्मो दैव, आर्ष: प्राजापत्यासुरौ, गान्धर्वौ, राक्षस: पैशाच: इत्यष्टौ विवाहा: । तत्र ब्राह्मासुरव्यतिरेकिणां षण्णां विधानं सुप्रथितं नैवावचनमर्हति । तेन ब्राह्मासुरयोरेवेतिकर्तव्यतोक्ता । तथाहि प्रसह्यापहरात् राक्षसो विवाह: तत्र किं प्रकाराभिधानेन । एवमसंविज्ञातोपगमात् पैशाचोऽपि प्रकाशवचनामर्होऽतिपापत्वात् । स्वयमिच्छन्त्या सहेच्छावत: संयोगो गान्धर्व:, तत्रापि असाधारणेतिकर्तव्यता । सहधर्मंचर्यतां-सहापत्यमुत्पादकतां धर्मे चार्थे च कामे च न व्यभिचरितव्यमिति प्राजापत्य विधि: प्रथित: । अलंकृत्यकन्यान्तर्वेदि ऋत्विजे प्रदीयते इति दैवो विवाह: उक्त: स्मृतिकारै: । गोमिथुनं कन्यावते दत्वादित्यार्षस्य विधानम् ।"

-- लौ० गृ० सू० १।१५।१ पर देवपालकृत भाष्य

छः विधियां ही मानी हैं।[1] ऐसे लेखकों के अनुसार ब्राह्म एवं प्राजापत्य तथा राक्षस एवं पैशाच विधियों में कोई अन्तर नहीं है, अतः प्राजापत्य एवं पैशाच का पृथक रूप से परिगणन न करके इनको क्रमशः ब्राह्म एवं राक्षस के अन्तर्गत ही मानना चाहिए।[2]

इस प्रसंग में यदि हम प्राजापत्य एवं ब्राह्म, परिणय की इन दोनों प्रणालियों के धर्मशास्त्रीय स्वरूप का विश्लेषण करें तो ऊपरी तौर पर ये दोनों ही परिणय की समान विधियां सिद्ध होती हैं क्योंकि इन दोनों ही विधियों में कन्या का पिता वर को अपने निवास-स्थान पर बुलाकर सुसज्जिता कन्या उसे समर्पित कर देता है। इन दोनों विधियों में एकमात्र अन्तर यह है कि ब्राह्म विवाह में कन्या का पिता वर को सुसज्जिता कन्या समर्पित कर देता है जबकि प्राजापत्य में वह इस आदेश के साथ कन्यादान करता है कि विवाह हो जाने के अनन्तर वर अपने सभी धार्मिक कार्य-कलाप उसी विवाहिता पत्नी के साथ सम्पादित करेगा। प्राचीन लेखकों ने इसी तथ्य को दोनों के भिन्नतः प्रचलन का कारण मान लिया। गौतम धर्मसूत्र के व्याख्याकार भी हरदत्त जी के अनुसार प्राजापत्य प्रणाली के अन्तर्गत प्रयुक्त शब्दों का एक विशेष अर्थ तथा महत्व है और वही इसे प्रमुखतया ब्राह्म विवाह से पृथक् करता है। उन विशिष्ट शब्दों के अनुसार इस प्रणाली द्वारा परिणीत होने वाले पति के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह आजन्म इस विधि

१- देखें - आप० ध० सू० २।१२।२ ; वसिष्ठ १।२८-२६

२- तौ (प्राजापत्यपैशाचौ) इह पृथङ्नोक्तौ ब्राह्मराक्षसयोरन्तर्भावादिति।
--आप० ध० सू० २।१२।२ पर 'उज्ज्वला' टीका।

द्वारा परिणीता भार्या के साथ ही सभी धार्मिक क्रियाएं करता रहे और उसकी सम्मति एवं साहचर्य के अनुरूप ही गृह-त्याग या अन्य विवाह करे । 'सहधर्मचारी' इस विशेषण का यही तात्पर्य है ।[१]

श्री हरदत्त जी द्वारा प्रदत्त उपर्युक्त विभाजक तत्व के मान्य होने में बाधा यह है कि परिणय की ब्राह्म प्रणाली का यदि विश्लेषण किया जाय तो यह विभाजक तत्व ब्राह्म विवाह में भी तो समाविष्ट सिद्ध होता है । अपनी वैवाहिक प्रणालियों के विश्लेषण-क्रम में आपस्तम्ब ने यह विचार व्यक्त किया है कि विवाह के अनन्तर होने वाले सभी धार्मिक कार्यकलापों में पत्नी का सहयोग आवश्यक है [२] और धर्म-प्रजासम्पन्न पत्नी के विद्यमान रहने पर दूसरी पत्नी अनावश्यक है ।[३] आपस्तम्ब के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हरदत्त जी का मत सत्य नहीं है । क्योंकि प्राजापत्य एवं ब्राह्म इन दोनों विवाह-विधियों में पति-पत्नी का सम्बन्ध यावज्जीवन का सम्बन्ध होता है और व्यक्ति यावज्जीवन सभी धार्मिक कार्यकलाप एक ही पत्नी के साथ करने को बाध्य रहता है । अर्वाचीन लेखकों में श्री स्टर्नबैक महोदय ने उपर्युक्त

१- 'प्राजापत्यसंज्ञके विवाहे सहधर्मश्चर्यतामिति प्रजानमन्त्रः यद्यपि ब्राह्मादिष्वपि सहधर्मचर्या भवति तथाऽप्याऽनयाऽदनया सह धर्मश्चरितव्यः नाऽऽश्रमान्तरं प्रवेष्टव्यं नापि स्त्र्यन्तरमुपयन्तमिति मन्त्रेण समयः क्रियते । एष ब्राह्मादेः प्राजापत्यस्य विशेषः ।

-- गौ० ध० सू० १।४। ५ पर उज्ज्वला वृत्ति ।

२- पाणिग्रहणाद्धि सहत्वं सर्वकर्मसु ।

-- आप० ध० सू० २।१४।१७

३- धर्मप्रजासम्पन्ने दारे नाऽन्यां कुर्वीत ।

-- वही २।११।१२

विधियों में अन्तर प्रदर्शित करते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि प्राजापत्य विवाह एकपत्नीव्रत लेने वालों के लिए था जबकि ब्राह्म विवाह में ऐसा कोई बन्धन नहीं था ।[1]

स्टर्नबेक महोदय के उपर्युक्त कथन के औचित्य का जहां तक प्रश्न है तो यहां विचारणीय यह है कि ब्राह्म विवाह के वर्णन में किसी भी धर्मशास्त्रीय लेखक ने यह नहीं कहा है कि इस विधि द्वारा परिणीत होने वाला कई विवाह कर सकता है और प्राजापत्य से परिणीत होने वाला केवल एक । अतः ब्राह्म एवं प्राजापत्य में स्पष्ट अन्तर निरूपित न कर पाने के कारण स्टर्नबेक महोदय का कथन भी मान्य नहीं हो सकता ।

भारतीय समीक्षक श्री जी० बनर्जी महोदय ने यह विचार व्यक्त किया है कि प्राजापत्य विधि द्वारा परिणीत होने वाले दम्पती एक दूसरे के सहयोगी होते हैं और यही वैशिष्ट्य इसे ब्राह्म विवाह से पृथक् करता है ।[2]

---

1. "The difference which appears from the texts between this form of marriage and the Brāhma-Vivaha as follows. In this form of marriage contrary to the Brāhma-Vivaha the bridegroom was the suppliant and was invited by the father of the bride. The Prajapatya-Vivaha was probably used only for monogamic marriages."

   —Mr. L. Sternback : Juridical Studies In Ancient Indian Law (Part I), P.P. 376.

2. " In this form of marriage the bridegroom was an applicant for the bride's hand. That was the distinction of this form from the Brāhma-Vivaha and made it inferior to the later in which the bridegroom was

(Contd. on next page). . .

श्री बनर्जी महोदय का यह कथन भी मान्य नहीं हो सकता क्योंकि यदि भारतीय विवाह-पद्धति का विश्लेषण किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि उसका उद्देश्य है युवकों एवं युवतियों को इस संस्कार द्वारा एक दूसरे से आबद्ध करके उन्हें जीवन में एक दूसरे का सहयोगी बनाना । अत: इस वैशिष्ट्य को केवल प्राजापत्य-प्रणाली का वैशिष्ट्य कैसे माना जा सकता है ।

प्रस्तुत प्रसंग में डा० राम जी उपाध्याय महोदय ने एक नवीन परिकल्पना प्रस्तुत करते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि `प्राचीन समाज में कुछ महर्षियों के कुल प्राजापत्य व्रत का पालन करते थे [प्रश्नोपनिषद् में प्रजापति-व्रत की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि इस व्रत को लेने वाले पुत्र और कन्या आदि सन्तति परम्परा उत्पन्न करते हैं] । इस व्रत का पालन करने वाले अपना पूरा जीवन प्राय: गृहस्थाश्रम में ही व्यतीत करते थे और इनका समाज में अपना एक भिन्न परिवार रहता था । इसी परिवार के अन्तर्गत उनके विवाह आदि सम्बन्ध स्थापित होते थे ।[१]

डा० उपाध्याय के उपर्युक्त मन्तव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनके अनुसार परिणय संस्कार की प्राजापत्य प्रणाली समाज के एक ऐसे

---

voluntarily invited by the father to accept the bride. Marriage, being according to Hindu notions a gift, lost a portion of its merit if the gift was not voluntary, but had to be applied for.

— Mr. G. Banerjee : 'The Hindu Law of Marriage and Stridhana

(टैगोर व्याख्यान माला १८७८ ई०)

१- देखें : डा० राम जी उपाध्याय : `प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका`, अ० ७, पृ० २४५ ।

वर्ग विशेष से सम्बन्ध रखती थी जिसमें प्रजापति-व्रत का पालन होता था। यह वर्ग विशेष ही इस विधि से विवाह करता था इसीलिए इसे प्राजापत्य प्रणाली कहा गया। और ब्राह्म विवाह किसी समाज विशेष या वर्ग विशेष का न होकर पूरे समाज में व्यवहृत होता था।

ब्राह्म एवं प्राजापत्य में अन्तर घोतित करने वाला डा० उपाध्याय का उपर्युक्त मत भी मान्य नहीं हो सकता क्योंकि प्राजापत्य प्रणाली के साहित्यिक उदाहरणों से उनके मत की पुष्टि नहीं होती। संस्कृत महाकाव्यों में प्राजापत्य प्रणाली से विवाहित होने वाले उदाहरण के रूप में हमारे समक्ष वाल्मीकि रामायण के राम एवं सीता तथा कुमार-सम्भव के शिव एवं पार्वती आते हैं। यदि उपर्युक्त महाकाव्यों के इन कथानकों का अध्ययन किया जाय तो यह ज्ञात हो जाता है कि वाल्मीकि या कालिदास ने यह कहीं भी नहीं कहा है कि राम या सीता अथवा शिव या पार्वती प्राजापत्य व्रत का पालन करने वाले थे।

वस्तुतः प्रस्तुत प्रसंग की यथार्थ स्थिति के ज्ञान के लिए हमें अर्वाचीन स्मृति लेखकों का आश्रय लेना होगा। अर्वाचीन स्मृति लेखकों (जैसे विष्णु एवं शङ्ख) के अनुसार 'यदि कोई वर किसी कन्या के पिता से उसकी कन्या अपनी पत्नी बनाने के लिए मांगे और कन्या-पिता उसकी याचना स्वीकृत करके अपनी कन्या उसे 'सहधर्मिणी' के रूप में सौंप दे तो यह प्राजापत्य विवाह कहा जाएगा।[१] अब हमें यह देखना है कि उपर्युक्त लेखकों के इस मत की

१- प्रार्थितप्रदानेन प्राजापत्यः।

--विष्णु २४।२२

'प्रार्थितायाः याचितायाः कन्यायाः यत् पित्रा प्रकर्षेणोक्तविधिना दानं तेन प्राजापत्यः।' -- विष्णु २४।२२ पर केशववैजयन्ती

इसी प्रकार देखें -- शङ्ख ४।५ आदि।

पुष्टि, संस्कृत महाकाव्यों में प्राप्त प्राजापत्य प्रणाली से विवाहित होने वाले उदाहरणों से होती है नहीं ?

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है प्राजापत्य प्रणाली का पहला उदाहरण हमें वाल्मीकि के राम एवं सीता का प्राप्त होता है ।[१] यदि वाल्मीकि रामायण के उपर्युक्त प्रसंग का विवेचन करें तो हमें यह ज्ञात होता है कि यद्यपि राम या विश्वामित्र ने जनक से सीता की स्पष्ट शब्दों में याचना नहीं की थी पुनरपि उनमें सीता को प्राप्त करने की प्रच्छन्न याचना का भाव तो था ही । वाल्मीकि रामायण के अनुसार जब राम एवं विश्वामित्र जनक के यहां पहुंचे तो उन्हें यह ज्ञात होता है कि जो व्यक्ति शिव-धनुष को तोड़ देगा उसी के साथ सीता का विवाह होगा । यहां यह विचारणीय है कि यदि राम सीता से विवाह के इच्छुक न होते तो वह धनुर्भंग के लिए क्यों उद्यत होते या फिर विश्वामित्र उन्हें इस कार्य के लिए क्यों आदेश देते । वाल्मीकि के इस वर्णन से ऐसा आभास होता है कि धनुर्भंग की कल्पना द्वारा सम्भवत: कवि ने यहां प्रच्छन्न कन्या-याचना का ही चित्रण किया है । यद्यपि परम्परावादी विद्वान् राम द्वारा धनुर्भंग का कारण गुरु का आदेश ही मानेंगे परन्तु इस आदर्श से निकलकर यदि यथार्थ के धरातल पर आएं तो यह ज्ञात होता है कि विश्वामित्र बिना राम का रुख जाने हुए उन्हें धनुर्भंग का आदेश न दिए होंगे ।

इस विवेचन से निष्कर्ष यही निकलता है कि राम ने (प्रच्छन्न रूप से ही) जनक से सीता की याचना अवश्य की थी । प्राजापत्य प्रणाली से परिणीत होने वाले दूसरे उदाहरण के रूप में हमारे सामने देवाधिदेव

१- देखें : वा० रा० बाल स० ६६-६७ ७२ ।

शंकर एवं शैलाधिराजतनया पार्वती का उदाहरण आता है और कुमार सम्भव के इस वैवाहिक प्रकरण के वर्णन के प्रसंग में स्पष्टरूप से कहा गया है कि शंकर ने शैलाधिराज हिमालय से पार्वती की सहधर्मचरी के रूप में याचना करने के लिए सप्तर्षियों को हिमालय के पास भेजा था ।[१]

प्राजापत्य प्रणाली के उपर्युक्त उदाहरणद्वय एवं विष्णु तथा शंख आदि के विचारों को ध्यान में रखते हुए अब हम यह कह सकते हैं कि प्राजापत्य प्रणाली के अन्तर्गत वर-पक्ष कन्यापक्ष के लोगों से कन्या की याचना करता था जबकि ब्राह्म विवाह में कन्या-पिता स्वयं ही किसी वर विशेष को आदरपूर्वक अपने निवास स्थान पर बुलाकर उसे अपनी कन्या समर्पित करता था। इस प्रकार इन दोनों में पर्याप्त अन्तर होने के कारण इन्हें भिन्न-भिन्न परिणय की प्रणालियां ही मानना ठीक है न कि वसिष्ठ आदि की तरह प्राजापत्य एवं ब्राह्म को समान मानना ।

गत पृष्ठों में कहा जा चुका है कि वसिष्ठ एवं आपस्तम्ब आदि ऋषियों ने राक्षस एवं पैशाच, परिणय की इन दो विधियों को समान माना है परन्तु इनमें भी पर्याप्त पार्थक्य-द्योतक लक्षणों के विद्यमान होने के कारण इन्हें एक दूसरे में समाहित करते हुए समान मानना ठीक नहीं है । राक्षस विवाह के अन्तर्गत, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे कि जहां कन्या का बलपूर्वक अपहरण किया जाता था[२] वहीं पैशाच विवाह के अन्तर्गत कन्या का

१- देखें - कुमार : छठां सर्ग

२- इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए देवल इसे वीरता का कारण मानते हैं:-

विक्रमेण प्रसह्य स्यात् कुमारीहरणं पुनः ।
वीर्यवृत्तिर्विवाहः स राक्षसो सप्तमो मतः ।।
देखें: ग॰ र॰ वि॰ भो॰ पृ॰ 66

वसिष्ठ भी राक्षस विवाह को बलप्रधान मानते हुए और उसे क्षात्त्र संज्ञा देते हुए लिखते हैं --

यस्मिन् बलेन प्रमथ्य हरेत् स क्षात्त्रः ।
--वसिष्ठ १।२४

बलपूर्वक अपहरण किया जाता था ।[१] राक्षस विवाह बल-प्रधान होने के कारण जहाँ वर की बहादुरी, उसके शौर्य का प्रदर्शन करता था वहीं पैशाच छल-कपट प्रधान होने के कारण वर की कायरता एवं उसकी नपुंसकता को । छलप्रदर्शन से बलप्रदर्शन श्रेष्ठ होता है और वह समाज में सदा से समादृत होता आया है । अत: बल एवं छल इन दो भिन्न-भिन्न आधारों पर आधारित होने के कारण राक्षस एवं पैशाच में भी अन्तर है ही और इस अन्तर के कारण उन्हें समान कैसे माना जा सकता है ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अब हम कह सकते हैं कि आपस्तम्ब एवं वशिष्ठ आदि द्वारा परिणय की छ: विधियों को ही मान्यता प्रदान करना ठीक नहीं है । वस्तुत: परिणय की अष्टविधियों को ही मान्यता प्रदान करना चाहिए ।

अर्वाचीन विचारकों में श्री स्टर्नबक महोदय ने अष्टविधि परिणय की विधियों की मान्यता के साथ ही कुछ और विधियों का विवेचन करते हुए परिणय की ग्यारह प्रणालियाँ को मान्यता दी है । इनके अनुसार प्राचीन भारत में गान्धर्व के दो प्रकार प्रचलित थे - राक्षस विवाह मिश्रित गान्धर्व और राक्षस से अमिश्रित गान्धर्व । तथा परिणय का एक नवीन प्रकार भी प्रचलित था जो कि स्वयंवर के नाम से जाना जाता था ।[२] लेकिन जैसा

१- ऋषि याज्ञवल्क्य ने उसे स्पष्टरूप से छल प्रधान माना है --

' पैशाच: कन्यकाछलात् ।'

--याज्ञ० १।३।६१

२- "When however, these forms of marriage are closely examined the conclusion can be reached that from the legal point of view there existed in ancient India not eight but eleven forms of marriage. These are two forms of the Gāndharva-Vivaha i.e.

(Contd. on next page) . . .

कि हम आगे चलकर देखेंगे कि इस स्वयंवर के भी तीन भेद थे । अत: इन भेदों को ध्यान में रखते हुए हमें परिणय की ग्यारह विधियों के स्थान पर तेरह भेदों को मानना होगा ।

प्रस्तुत प्रसंग में इतना ध्यातव्य है कि परिणय की मूल विधियां आठ ही थीं अन्य भेदोपभेदों का विकास इन विधियों के अनन्तर ही हुआ । अत: हमें यहां यह जान लेना आवश्यक है कि प्राचीन भारत में आठ प्रकार के परिणय कौन-कौन से थे और उनका धर्मशास्त्रीय स्वरूप क्या था ? प्रस्तुत प्रसंग के विवेचन के पूर्व हमें यहां यह तथ्य ध्यान में रखना आवश्यक है कि यद्यपि अधिकांश प्राचीन धर्मशास्त्रीय लेखकों ने अष्टविधि परिणयों का प्रतिपादन अवश्य किया है तथापि उनके प्रतिपादन क्रम में कुछ परिवर्तन भी हुआ है । प्राय: अधिकांश धर्मशास्त्रियों ने प्रतिपादन-क्रम में ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस एवं पैशाच को वर्णित किया है ।[१] महर्षि आश्वलायन ने इस प्रतिपादन क्रम को न मानकर, ब्राह्म, दैव, प्राजापत्य, आर्ष, आसुर, गान्धर्व, पैशाच एवं राक्षस, प्रतिपादन का यह क्रम प्रस्तुत किया है ।[२] महर्षि बौधायन ने ब्राह्म, प्राजापत्य, आर्ष, दैव, गान्धर्व, आसुर,

---

the Gāndharva-Vivāha combined with the Rākṣasa-Vivāha and the Gāndharva-Vivāha not combined with the Rākṣasa-Vivāha and a new form of marriage the *Svayamvara*."

— Mr. L. Sternback : Juridical studies in Ancient Indian Law, (Part I), P.P.347.

१- देखें - मनु० ३।२१ ; याज्ञ० १।३।५८-६१ ; शङ्ख स० ४।२ ;

२- आश्व० गृ० सू० १।४।२१-३२ ;

राक्षस तथा पैशाच इस क्रम में अष्टविधि परिणयों का वर्णन प्रस्तुत किया है ।[1] इसी प्रकार अन्यान्य धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में भी अष्टविधि-परिणयों के विवेचन-क्रम में भिन्नता देखने को मिलती है ।[2]

अष्टविधि परिणयों के प्रतिपादन-क्रम के उपर्युक्त भेदों को देखकर यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि इन आचार्यों द्वारा वर्णन-क्रम के विभिन्न स्वरूप प्रदर्शित करने के पीछे उनका क्या उद्देश्य था ? इसके प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि उपर्युक्त लेखकों के विभिन्न प्रतिपादन क्रमों में अन्तर का कारण उस आचार्य विशेष की दृष्टि में विवाहों की श्रेष्ठता का तारतम्य मात्र था । जैसे आश्वलायन ब्राह्म विवाह को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए उससे कम श्रेष्ठ परिणयों का क्रम क्रमशः दैव, प्राजापत्य, आर्ष, आसुर, गान्धर्व, पैशाच एवं राक्षस इस प्रकार मानते थे । अतः प्रतिपादन क्रम में उन्होंने विभिन्न विवाहों की श्रेष्ठता के आधार पर ही उनका क्रमिक वर्णन प्रस्तुत किया । अन्य आचार्यों द्वारा वर्णन-क्रम की भिन्नता के मूल में भी यही कारण विद्यमान था ।

धर्मशास्त्रों द्वारा वर्णित अष्टविधि परिणयों के वर्णन-क्रम में नीचे शोधकर्ता ने मनुस्मृति को आधार बनाया है क्योंकि अधिकांश धर्मग्रन्थों ने परिणय की श्रेष्ठता के तारतम्य को ध्यान में रखते हुए यही क्रम अपनाया है । प्रतिपादन-क्रम के अतिरिक्त विभिन्न परिणयों के स्वरूप-विवेचन में भी यहाँ मनुस्मृति को ही आधार बनाया गया है तथापि जहां अन्य धर्मशास्त्रियों ने अपना मन्तव्य मनुस्मृतिकार से भिन्न प्रकट किया है वहां उस स्थल विशेष पर उसका उल्लेख कर दिया गया है ।

१- बौ० ध० सू० १।२०।२-६ ;

२- देखें - बौधा० वि० प्र० ध० १-६ एवं बृध० धा० ध० ध० २ आदि ।

मनुस्मृतिकार ने जिन आठ प्रकार के विवाहों का विवेचन प्रस्तुत किया है उनका स्वरूप इस प्रकार है ।[1]

(1) ब्राह्म विवाह

परिणय की इस प्रणाली के अन्तर्गत कन्या का पिता, वेद का अध्ययन पूर्ण कर चुकने वाले एवं सदाचार से सम्पन्न वर को अपने निवास

१- यहां यह तथ्य अवधेय है कि धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में अष्टविधि-परिणयों को दो श्रेणियों में विभाजित किया गया है । प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत श्रेष्ठ परिणयों को रखा गया है और इन श्रेष्ठ परिणयों में ब्राह्म, दैव, आर्ष एवं प्राजापत्य को परिगणित किया गया है । अश्रेष्ठ परिणयों की श्रेणी में गान्धर्व , आसुर, राक्षस एवं पैशाच का परिगणन किया गया है । -- देखें : मनु० ३।२४ ; गौ० ध० सू० १ ।४ । १२ आदि । श्रेष्ठ परिणय की श्रेणी में आने वाले परिणयों में भी सर्वश्रेष्ठता के अनुसार पुनः विभाजन किया गया है और इस पद्धति से ब्राह्म विवाह को सर्वश्रेष्ठ कहते हुए अन्य विवाह-विधियों को उससे कम श्रेष्ठ कहा गया है। --देखें : बौ० ध० सू० १। ११ । १० आदि ।

भारतीय समाज में विवाह संस्कार की अनिवार्यता के कारणों का निरूपण करते हुए प्रस्तुत अध्याय के प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि परिणय का प्रमुख उद्देश्य सन्तति-परम्परा को बनाए रखना है । इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए शास्त्रकारों ने यहां यह मन्तव्य प्रकट किया है कि व्यक्ति का जैसा विवाह होता है वैसी ही उसकी सन्तानें भी -- देखें : आप० ध०सू० २।५।१२।४ एवं बौधा०ध० सू० १।२१। १ आदि ।

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)...

स्थान पर बुलाकर वर एवं कन्या दोनों को ही वस्त्राभूषणादि से अलंकृत करके

धर्मशास्त्रियों के इस विचार से प्रकारान्तर से यह सिद्ध होता है कि इनकी दृष्टि में यदि किसी व्यक्ति का परिणय "श्रेष्ठ परिणय" की परिधि में आने वाले किसी परिणय विशेष के अनुसार हुआ है तो उसकी सन्तानें भी श्रेष्ठ होंगी और यदि अश्रेष्ठ की परिधि में आने वाले किसी परिणय विशेष के अनुसार उसका परिणय हुआ है तो उसकी सन्तानें भी अश्रेष्ठ होंगी । मनुस्मृतिकार इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए यह विचार प्रकट करते हैं कि अनिन्दित या अश्रेष्ठ विवाहों से अनिन्दित एवं निन्दित विवाहों से निन्दित सन्तानें होती हैं । इसलिए निन्दित विवाहों से व्यक्ति को बचना चाहिए - देखें : मनु० ३। ४२ । आगे चलकर वे पुन: कहते हैं कि प्रारम्भ के श्रेष्ठ चार परिणयों में से किसी एक विधि विशेष से परिणीत होने वाले दम्पती की सन्तानें क्रमश: ब्रह्म के समान तेजस्वी, रूप-सौन्दर्य से युक्त, सतोगुणी, धनवान, यशस्वी एवं पर्याप्त भोग सामग्रियों का आस्वादन करने वाली, धार्मिक बुद्धियुक्त एवं शतंजीवी होती हैं । इसके विपरीत अश्रेष्ठ परिणयों की किसी विधि-विशेष से परिणीत होने वालेके व्यक्तियों की सन्तानें असत्यवादिनी, क्रूरकर्मा एवं ब्रह्मद्वेषिणी होती हैं -- देखें : मनु० ३। ३९-४१ ।

धर्मशास्त्रीय लेखकों ने उपर्युक्त परिणयों का जातीय आधार पर भी विवेचन किया है । प्रारम्भिक धर्मशास्त्रीय लेखकों के अनुसार ब्राह्मण को ब्राह्म एवं दैव, क्षत्रिय को गान्धर्व एवं राक्षस तथा वैश्य को आसुर पद्धति का आश्रय लेना चाहिए । अवशिष्ट तीन विधियों का कोई विधान नहीं है --देखें : आश्व० गृ० सू० १।४।२१ पर अनाविला ।

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)....

दोनों का पाणिग्रहण सम्पादित करा देता था ।[१] प्रस्तुत परिणय के प्रारम्भिक स्वरूप को स्पष्ट करते हुए डा० राम जी उपाध्याय लिखते हैं कि

महर्षि बौधायन ने ब्राह्मणों के लिए ब्राह्म, दैव, आर्ष एवं प्राजापत्य, क्षत्रिय के लिए राक्षस एवं आसुर तथा वैश्यों एवं शूद्रों के लिए पैशाच एवं गान्धर्व का विधान किया --देखें बौधा० ध० सू० १।२०।१० से १५। मनु ने इन विधानों से सहमत न होते हुए ब्राह्मण वर्ग के लिए ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर एवं गान्धर्व इन छ: परिणयों का, क्षत्रिय के लिए आसुर, गान्धर्व, राक्षस एवं पैशाच तथा वैश्य एवं शूद्र के लिए आसुर, गान्धर्व तथा पैशाच का विधान किया है --देखें :मनु० ३।२३ ।

यदि धर्मशास्त्रों के उपर्युक्त जातीय विभाजन को ध्यान में रखते हुए संस्कृत-महाकाव्यों का अध्ययन किया जाय तो हमें यह ज्ञात होता है कि उनमें अक्षरश: इस विधान का पालन नहीं किया गया है । उदाहरणार्थ वाल्मीकि के राम एवं सीता आदि या कालिदास के विभिन्न रघुवंशीय नरेश क्षत्रिय थे परन्तु उनका विवाह जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे ब्राह्म विधि से हुआ है । इसी प्रकार वाल्मीकि के कुम्भकर्ण आदि राक्षस थे परन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, वे भी ब्राह्मविधि से परिणीत हुए थे ।

यहां धर्मशास्त्रीय विधान एवं साहित्यिक उदाहरणों के इस विरोध को देखकर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि संस्कृत के महाकाव्यों में अष्टविधि-परिणयों के चित्रण में उपर्युक्त धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त का पालन क्यों नहीं किया गया ? इस प्रश्न का तर्कसंगत उत्तर यही हो सकता है कि चूंकि संस्कृत कवियों की दृष्टि में ब्राह्म विवाह सर्वश्रेष्ठ था अत: उन्होंने

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)...

'ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति के अनन्तर स्नातक समाज में पदार्पण करता था । कभी-कभी कोई उद्भट ब्रह्मचारी अपने अध्ययन काल में ही ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेता था । ऐसे ब्रह्मज्ञानी जब समाज में आते थे तो उनके ब्रह्मज्ञान से प्रभावित होकर नागरिक अपनी कन्याओं का विवाह उनसे कर देते थे । इस प्रकार चूंकि यह प्रणाली ब्रह्मज्ञानियों से सम्बन्धित थी अत: इसे ब्राह्म विवाह कहा गया ।[१]

डा० उपाध्याय के उपर्युक्त मत को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन समय में ब्राह्म विवाह का प्रचलन केवल ब्रह्मज्ञानी समाज में ही था । परन्तु ब्रह्म की प्राप्ति इतनी सरल नहीं होती कि उसे सभी प्राप्त कर लें अत: कालान्तर में सम्भवत: उपर्युक्त विधान मान्य न हुआ होगा । सम्भवत: इसीलिए बाद के लेखकों ने ब्राह्म विवाह का प्रचलन एवं इसके नामकरण को स्पष्ट करते हुए यह कहा कि 'ब्रह्म का अर्थ होता है धर्म'। अत्यन्त धर्म-विहित एवं अष्टविधि-परिणयों में सर्वश्रेष्ठ होने के कारण ही इसे ब्राह्म कहा जाता है ।[२]

अपने नायक एवं नायिकाओं के परिणय के लिए धर्मशास्त्रीय मर्यादा का उल्लंघन करते हुए उन्हें ब्राह्म विधि से विवाहित ही चित्रित किया ।

१- आच्छाद्य चार्चयित्वा च श्रुतशीलवते स्वयम् ।
आहूय दानं कन्याया: ब्राह्मो धर्म: प्रकीर्तित: ।

--मनु० ३।२७, इसी प्रकार देखें : याज्ञ० १।३।५८ ;वसिष्ठ १।३० ; शङ्ख स० ४।४ ; बौधा० वि०प्र०व० २ ; विष्णु०२४।१६ ; आश्व० गृ० सू० १।४।२१ ; गौ० ध० सू० १।४।४ ; बौधा० ध० सू० १।२०।२ आदि ।

१- देखें : डा० राम जी उपाध्याय: 'प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका', अ० ७,पृ० २४४ ।

२- देखें : स्मृति मुक्ताफल (भाग द्वितीय), पृ० १४० ।

धर्मशास्त्रीय लेखकों ने ब्राह्म विवाह को एक स्वर से सर्वश्रेष्ठ विधि निरूपित किया है । ऋषि सम्वर्त इस विधि की सर्वश्रेष्ठता का निरूपण करते हुए यह विचार प्रकट करते हैं कि इस विधि से कन्यादान करने वाला कन्या-पिता समाज में अत्यधिक आदर प्राप्त करता है ।[१] आगे चलकर उन्होंने पुन: यह कहा है कि इस विधि से कन्यादन करने वाला व्यक्ति स्वर्गलोक प्राप्त करता है ।[२] महर्षि आश्वलायनादि ने इसकी सर्वश्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि इस विवाह से विवाहित होने वाली दम्पती का पुत्र अपने परिवार की कुल पच्चीस या इक्कीस पीढ़ियों का पवित्र करता है ।[३] विष्णु स्मृति के टीकाकार श्री केशव ने इस पद्धति का वर्णन

१- अलंकृत्य तु य: कन्यां वराय सदृशाय वै ।
ब्राह्मीयेण विवाहेन दद्यात्तान्तु सुपूजिताम् ।।
स कन्याया: प्रदानेन श्रेयो विन्दति पुष्कलम् ।
साधुवादं लभेत् सद्भि: कीर्तिं प्राप्नोति पुष्कलाम्
--सम्वर्त० ६१ एवं ६२

२- ज्योतिष्टोमादियज्ञाणां शतं शतगुणीकृतम् ।
प्राप्नोति पुरुषो दत्वा होममन्त्रैस्तु संस्कृताम् ।।
अलंकृत्य पिता कन्यां भूषणाच्छादनासनै :
दत्वा स्वर्गमवाप्नोति पूजितस्तु सुरादिभि ।।
--वही ६३ एवं ६४

३- देखें - आश्व० गृ० सू० १।४।२२ ; मनु० ३। ३७ ; याज्ञ० १।३।५८ एवं विष्णु २४ ।२६ आदि ।

करते हुए यह विचार प्रकट किया है कि इस विधा द्वारा कन्यादान करने वाला कन्या पिता अपने इक्कीस पूर्वजों को ब्रह्मलोक प्राप्त कराता है और स्वयं तो जाता ही है ।[1]

ब्राह्म विवाह की इसी सर्वश्रेष्ठता को देखते हुए संस्कृत के महाकवियों ने अपने नायक एवं नायिकाओं के परिणय प्रायः इसी विधि से सम्पादित करवाए हैं । रघुवंश के दिलीप एवं सुदक्षिणा[2] रघु एवं नृपेन्द्र-कन्या,[3] दशरथ एवं कौशल्या, सुमित्रा तथा कैकेयी,[4] लक्ष्मण एवं उर्मिला, भरत एवं माण्डवी, तथा शत्रुघ्न एवं श्रुतकीर्ति ;[5] कुश एवं कुमुद्वती[6] तथा अतिथि[7] आदि विभिन्न रघुवंशीय नायक एवं नायिकाओं के विवाह ब्राह्म विधि से ही

१- देखें : विष्णु २४ ।३३ पर केशव वैजयन्ती

२- देखें : रघु०, प्रथम सर्ग

३- देखें : रघु० ३।३३

४- ,, ,, ६।१७

५- ,, ,, ११।५४

६- ,, ,, १६।८७

७- ,, ,, १७।३

सम्पन्न हुए हैं[1]। अश्वघोष के नन्द एवं सुन्दरी[2] तथा बुद्ध एवं यशोधरा[3] का पाणिग्रहण भी सम्भवतः ब्राह्म विधि से ही हुआ था।

संस्कृत महाकाव्यों के इन प्रचुर उदाहरणों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि प्राचीन कवियों की दृष्टि में यह विधि श्रेष्ठ एवं लोकप्रिय थी। इसी लोकप्रियता एवं श्रेष्ठता के कारण इन कवियों ने अपने काव्य के नायक एवं नायिकाओं के परिणय के लिए ब्राह्म विधि का आश्रय लिया।

(ii) दैव विवाह

पाणिग्रहण की इस विधि के अन्तर्गत कन्या का पिता यज्ञ कराने के उद्देश्य से गृहागत पुरोहित विशेष को, उसकी योग्यता से प्रभावित

१- यहां यह विचारणीय है कि महाकवि कालिदास ने उपर्युक्त प्रसंगों में कहीं भी स्पष्टतः यह निर्देश नहीं किया है कि उपरि कथित नायक एवं नायिकाओं के विवाह ब्राह्म विधि से ही सम्पन्न हुए थे। इस विषय में मल्लिनाथ जैसे टीकाकारों ने भी कुछ प्रकाश नहीं डाला है। फिर भी यदि उपर्युक्त स्थलों का समीक्षात्मक अध्ययन किया जाय तो यही सिद्ध होता है कि इनके विवाह ब्राह्म विधि से ही सम्पन्न हुए थे। क्योंकि क्षत्रिय होने के कारण तथा पौरोहित्य से रहित होने के कारण दैव, गोदान रहित होने के कारण आर्ष, कन्या-याचना से रहित होने के कारण प्राजापत्य, क्रय-विक्रय रहित होने के कारण आसुर, पूर्व प्रेम विहीन होने के कारण गान्धर्व, अपहरण या बलात्कार से रहित होने के कारण क्रमशः राक्षस एवं पैशाच इन सात प्रकारों से इनका विवाह सम्भव नहीं हो सकता। सम्भवतः इन्हीं कारणों को ध्यान में रखते हुए डा० मिराशी ने भी उपर्युक्त भूपतियों को ब्राह्म विधि से ही विवाहित माना है। — देखें: DR. V. V. Mirashi: Kalidas P. 427

२- देखें : सौन्दर०

३- ,, बुद्ध० २।२६

होकर, वस्त्राभूषणादि से अलंकृत कन्या उसे प्रदान करता है ।[1] डा० विमल चन्द्र पाण्डेय 'दैव' इस संज्ञा को स्पष्ट करते हुए यह विचार प्रकट करते हैं कि चूंकि इस पाणिग्रहण के अवसर पर वर यज्ञादि देव सम्बन्धी कार्यों में व्यस्त रहता है इसीलिए इस प्रणाली को दैव प्रणाली कहना चाहिए ।[2]

यदि प्राचीन भारतीय समाज का अध्ययन किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि यहां पहले (विशेषत: क्षत्रिय कुलों में) ज्योतिष्टोम, अश्वमेध एवं राजसूय जैसे विभिन्न दीर्घकालीन यज्ञों का आयोजन किया जाता था । ऐसे यज्ञों को पूर्ण करने के लिए विभिन्न पुरोहितों का आगमन होता था । इन्हीं दीर्घकालीन यज्ञीय अवसरों पर कभी-कभी यजमान किसी ऋत्विक् विशेष के आचरण, उसकी योग्यता या सौन्दर्यादि पर मुग्ध होकर अपनी वैवाह्य कन्या का विवाह उससे सम्पादित करा देता था ।

उपर्युक्त विवेचन से एक तथ्य यह स्पष्ट हो जाता है कि इस प्रणाली द्वारा क्षत्रियकुलों की कन्याओं का पाणिग्रहण ब्राह्मणों से होता था ।

दैव प्रणाली के विवेचन-क्रम में धर्मशास्त्रों में एक रोचक प्रसंग यह उपस्थित किया गया है कि इस विवाह-पद्धति में यजमान ऋत्विक् विशेष

१- यज्ञे तु वितते सम्यगृत्विजे कर्म कुर्वते ।
अलंकृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते ।।

--मनु० ३।२८

इसी प्रकार देखें - याज्ञ० १।३।५९ ; वसिष्ठ १।३१ ; शङ्ख० ४।४ ; बौधा० वि०प्र०ध० ५ ; विष्णु २४।२० ; आश्व० गृ० सू० १।४।२३ ; गौ० ध० सू० १।४।७ एवं बौधा० ध० सू० १।२०।५ आदि ।

२- देखें : डा० विमल चन्द्र पाण्डेय : 'भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास', पृ० १४२ ।

को जिस कन्या का दान करता है व उसे कन्यादान माना जाय या उस ऋत्विक् विशेष का यज्ञीय पारिश्रमिक ? मनुस्मृति के टीकाकार मेधातिथि महोदय ने यह विचार प्रकट किया है कि यहां कन्या का दान-दानस्वरूप ही होता है । उनके अनुसार प्राचीन युग में मिलने वाले दैव विवाह के उदाहरणों में कन्या दान स्वरूप ही कही गयी है न कि पारिश्रमिक रूप में । क्योंकि पारिश्रमिक रूप में कन्या का दान मानने पर उसमें विक्रय की गन्ध मिलती है ।[1] महर्षि बोधायन ने यहां कन्या को यज्ञीय पारिश्रमिक स्वरूप माना है ।[2] बोधायन धर्मसूत्र के टीकाकार गोविन्दस्वामी की स्पष्ट सम्मति है कि ऋत्विक् के वरण के समय ही किसी- वर-सम्पत्ति से युक्त ऋत्विक का वर रूप में वरण करके उसके यज्ञीय पारिश्रमिक के रूप में कन्या दी जाती है ।[3]

उपर्युक्त समस्या पर यदि भारतीय परम्परा को ध्यान में रखते हुए विचार किया जाय तो मेधातिथि का मत ही उचित प्रतीत होता है, क्योंकि बोधायन या गोविन्द स्वामी के आधार पर कन्या को पारिश्रमिक रूप में मानने पर, इसमें कन्या-विक्रय का भाव ध्वनित होता है । प्राय: किसी व्यक्ति को पारिश्रमिक अर्थ रूप में ही दिया जाता है । अत: पारिश्रमिक रूप में कन्या-दान मानने पर चूंकि भारतीय भावना को ठेस पहुंचती है अत: दैव विवाह में होने वाले कन्यादान को शुद्ध दानस्वरूप ही मानना चाहिए ।

१- देखें - मनु० ३।२८ पर मेधातिथि की टीका ।

२- दक्षिणासु नीयमानास्वन्तर्वेदि ऋत्विजे स दैव: ।

द्र- बौधा० ध० सू० १।२०।५

३- ऋत्विग्वरणवेलायामेव कश्चिद्वरसम्पद्भिर्युक्तमृत्विग्त्वेन वृत्वा दक्षिणाकाले तदीयभागेन सह कन्यां तस्मै दद्यात् । स च तां प्रतिगृह्य समाप्ते यज्ञे "प्रजापतिस्त्रियां यश:" इति षड्भिर्मन्त्रै: पुन: प्रतिगृह्य शुभे नक्षत्रे विवाहहोमं कुर्यात् । सह स दैवो नाम ।

-- बौधा० ध० सू० १।२०।५ पर गोविन्द स्वामी की टीका ।

धर्मशास्त्रीय लेखकों ने विभिन्न परिणयों के विवेचन के प्रसंग में इस प्रणाली को भी श्रेष्ठ निरूपित किया है । महर्षि आश्वलायन ने इस प्रथा से उत्पन्न पुत्र को इक्कीस (दस पूर्व की एक वर्तमान की एवं दस भविष्य की) पीढ़ियों को पवित्र करने वाला निरूपित किया है ।[१] मनु, याज्ञवल्क्य एवं विष्णु आदि स्मृतिकारों ने भी इस पद्धति से उत्पन्न होने वाले पुत्रों को क्रमश: पन्द्रह एवं चौदह पीढ़ियों को पवित्र करने वाला निरूपित किया है ।[२] विष्णु स्मृति के टीकाकार केशव का विचार है कि इस विधि से कन्यादान करने वाला व्यक्ति अपनी पन्द्रह पीढ़ियों को स्वर्ग का अधिकारी बना देता है ।[३]

आश्चर्य का विषय है कि इतनी महत्वपूर्ण एवं पवित्र वैवाहिक प्रणाली का हमें संस्कृत-महाकाव्यों में एक भी उदाहरण नहीं प्राप्त होता । अत: यहां विचारणीय यह है कि संस्कृत-महाकाव्यों में इस वैवाहिक प्रणाली का उपयोग क्यों नहीं किया गया । प्रस्तुत प्रसंग में डा० पाण्डेय ने यह विचार व्यक्त किया है कि वैदिक यज्ञों की समाप्ति के अनन्तर समाज में दैव विवाह का प्रचलन भी समाप्त हो गया ।[४] इस कथन के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि चूंकि महाकाव्यों के युग तक आते-आते विभिन्न वैदिक-यज्ञों का प्रचलन समाज से उठ गया था अत: सम्भव है कि इसी कारण संस्कृत महाकाव्यों में इस प्रथा का चित्रण न किया गया हो । परन्तु उपर्युक्त विचार पूर्णत: सत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि यदि हम संस्कृत

१- देखें - आश्व० गृ० सू० १।४।२४ ।

२- देखें - मनु० ३।३८ ; याज्ञ० १।३।५६ एवं विष्णु० २४।३० ।

३- देखें - विष्णु० २४।३४ ।

४- देखें - डा० विमल चन्द्र पाण्डेय : 'भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास', पृ० १४२ ।

महाकाव्यों का आश्रय लें तो यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में भी विभिन्न वैदिक यज्ञों का प्रचलन विद्यमान था। अश्वमेध एवं विश्वजित् आदि दीर्घकाल तक चलने वाले विभिन्न यज्ञ महाकाव्यों में पूर्णरूप से प्रचलित थे और ऐसे यज्ञों के अवसर पर विभिन्न पुरोहितों का आगमन भी होता था। अत: ऐसे अवसरों पर संस्कृत महाकवियों के समक्ष दैव विवाह के चित्रण का पूरा अवसर विद्यमान रहता था। अत: स्पष्ट है कि संस्कृत महाकाव्यकारों द्वारा इस परिणय के चित्रण न करने के मूल में वैदिक यज्ञों की समाप्ति महत्वपूर्ण कारण नहीं था।

वस्तुत: संस्कृत महाकवियों द्वारा इस प्रथा के चित्रण न करने का कारण यह है कि चूंकि संस्कृत-महाकाव्यों का वर्णन क्षेत्र अधिकांशत: उच्चवर्गीय क्षात्रिय राजाओं-महाराजाओं तक ही सीमित था। ऐसे राजाओं द्वारा यद्यपि विभिन्न यज्ञों का आयोजन तो किया जाता था और विभिन्न ऋत्विकों का आगमन भी होता था परन्तु इन अवसरों पर सम्भवत: क्षात्रिय राजाओं द्वारा कन्या-दान उनकी राजकीय मर्यादा के विरुद्ध सिद्ध होता, अत: संस्कृतमहाकाव्यकारों ने अपने नायक एवं नायिकाओं के पाणि-ग्रहण के लिए इस विधि का आश्रय नहीं लिया।

(III) **आर्ष विवाह**

पाणिग्रहण की इस विधि के अन्तर्गत कन्या का पिता वरपक्ष से एक गाय एवं एक बैल (या दो) को लेकर उसे अपनी कन्या समर्पित कर देता है।[१]

१- एकं गोमिथुनं द्वे वा वरादादाय धर्मत: ।
कन्याप्रदानं विधिवदार्षो धर्म: स उच्यते ॥
-- मनु० ३।२९। इसी प्रकार देखें याज्ञ० १।३।५९ ; वसिष्ठ १।३२ ; शङ्ख स० ४।४ ; बौधा० वि०प्र० व० ४ ; विष्णु २४।२१ ; आश्व० गृ० सू० १।४।२७ ; गौ० ध० सू० १।४।६ एवं बौधा० ध०सू०१।२०।४ आदि ।

परिणय संस्कार की आर्ष प्रणाली के उपर्युक्त धर्मशास्त्रीय स्वरूप को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह पद्धति कन्या-विक्रय पर आधृत है । कन्या-विक्रय से सम्बद्ध 'आसुर' नाम की एक अन्य प्रणाली भी धर्मशास्त्रों में विवेचित हुई है । ऐसी परिस्थिति में यहां यह प्रश्न उठता है कि क्या परिणय की ये दोनों प्रणालियां समान हैं या इनमें कुछ अन्तर भी है ? इस प्रश्न का तर्कसंगत उत्तर यह है कि आसुर विवाह में, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, कन्या-विक्रय की कोई निश्चित् राशि निर्धारित नहीं थी जबकि आर्ष पद्धति में वह एक गाय एवं एक बैल की जोड़ी के रूप में निश्चित है । अत: स्पष्ट है कि ये दोनों परिणय की भिन्न-भिन्न विधियां हैं । सम्भवत: इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए डा० विमल चन्द्र पाण्डेय इसे आसुर विवाह के अनन्तर उद्भूत मानते हुए, आसुर प्रणाली का ही एक परिवर्तित एवं अवशिष्ट रूप मानते हैं ।[1]

संस्कृत-महाकाव्यों की संस्कृति में महाभारत युग में आसुर विवाह, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, काफी लोकप्रिय था और जन-सामान्य की कौन कहे राजा-महाराजा भी कन्याओं के क्रय-विक्रय में अपने को आत्म-गौरवान्वित महसूस करते थे ।[2] लेकिन आसुर पद्धति की इस लोकप्रियता के साथ ही आगे चलकर महाभारतकालीन समाज में इस प्रथा का

१- देखें - डा० विमल चन्द्र पाण्डेय : 'भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास', पृष्ठ, १४३ ।

२- महाराज भीष्म ने कन्याओं के क्रय-विक्रय को (प्रकारान्तर से आसुर पद्धति) को सनातनी परम्परा एवं निर्दोष मानते हुए कहा है :--

'धर्म एष परो राजन् स्वयमुक्त: स्वयम्भुवा ।
नात्र कश्चन दोषोऽस्ति पूर्वैर्विधिरयं कृत: ।।

-- म० भा० आदि ११२।१२-१३

एक स्तर से विरोध भी होने लगा और कन्या-विक्रय को घोर पाप मानते हुए उसकी निन्दा की गयी । महाभारत के अनुशासन पर्व में भीष्म इस प्रथा की निन्दा करते हुए कहते हैं कि यदि शुल्क मात्र से ही विवाह सम्भव है तो फिर पाणिग्रहण का विधिविधान ही व्यर्थ है । जो लोग क्रय-विक्रय से कन्या ग्रहण करते हैं वे धर्मज्ञ नहीं हैं । शुल्क के साथ कन्या का दान कभी नहीं करना चाहिए और न ही पत्नी का क्रय करना चाहिए ।[१] महाभारत के अतिरिक्त धर्मशास्त्रीय लेखकों ने भी आसुर विवाह में कन्या के विक्रय एवं क्रय कर्ता दोनों की ही घोर निन्दा की एवं उन्हें पाप का भागी एवं नरक-गामी कहा ।[२] ऐसी परिस्थिति में सम्भवत: महाभारत युग में ही पाणि-ग्रहण की यह प्रथा शनै: शनै: समाज से उठने लगी, लेकिन इस विरोध के बावजूद भी आसुर पद्धति उस युग में समाज के कुछ वर्गों में एक कुल परम्परा बन चुकी थी । ऐसे वर्ग के लोग यद्यपि कन्या-विक्रय के दुर्गुणों से परिचित होने

१- ये मन्यन्ते क्रयं शुल्कं न ते धर्मविदो नरा: ।
न चैतेभ्य: प्रदातव्या न वोढव्या तथाविधा: ।।
न ह्येव भार्या क्रेतव्या न विक्रेया कथंचन ।
ये च क्रीणन्ति दासीं च विक्रीणन्ति तथैव च ।।

-- म० भा० (स्वा०म) अनु० ४४।४५-४६

महाभारत युग में आसुर विवाह की निन्दा के अन्य उल्लेखों के लिए देखें- म० भा० (स्वा०म०) अनु० ४५।१७-२२ ; ६३।१३३ एवं ६४।३१ आदि ।

२- आसुर विवाह की निंदा के लिए देखें :-- बौधा० ध० सू० १।२१।४-५ ; बौधा० वि० प्र० म० २१ एवं २२ एवं० मनु० ३।५१ आदि ।

के कारण उसके विरोधी थे, परन्तु उनमें इतना साहस नहीं था कि वे इस प्रथा को तोड़ सकें ।[१]

उपर्युक्त स्थिति को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मशास्त्रीय लेखकों के ने आसुर विवाह के विरोध एवं उसकी लोकप्रियता में सामंजस्य उपस्थित करते हुए समाज में आर्ष पद्धति को स्थापित किया । और इस प्रकार गाय एवं बैल की जोड़ी, कन्या विक्रय की राशि के रूप में निश्चित करके तथा उसे भी यज्ञीय आवश्यकता बताते हुए[२] उन्होंने यहां

१- उपर्युक्त कथन की पुष्टि के प्रमाणरूप में महाभारत के आदि पर्व के शल्य एवं भीष्म की वार्ता को लिया जा सकता है । महाभारत के अनुसार जब महाराज भीष्म पाण्डु से माद्री के विवाह के सम्बन्ध में शल्य के यहां पहुंचे तो शल्य ने अत्यन्त संकोचवश उनसे कन्या विक्रय को अपनी कुल-प्रथा बताते हुए कहा था :--

"पूर्वैः प्रवर्तितं किंचित् कुलेऽस्मिन् नृपसत्तमैः ।
साधु वा यदि वा साधु तन्नातिक्रान्तुमुत्सहे ।।
-- म० भा० आदि ११२ ।६

यहां शल्य द्वारा "साधु या असाधु" कन्या विक्रय के प्रसंग के इन दो विशेषणों से स्पष्ट है कि तत्कालीन जनमानस में इसके समर्थक एवं विरोधी ये दोनों ही समुदाय उत्पन्न हो चुके थे ।

२- मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने गाय बैल की जोड़ी को यज्ञीय आवश्यकता मानते हुए लिखा है :-- "आर्षे विवाहे गोमिथुनं शुल्कमुत्कोचकमिति केचिदाचार्याः वदन्ति मनोस्तु मतभेदं, शास्त्र-नियमितजातिसंख्याकं ग्रहणं न शुल्करूपं शुल्कत्वे मूल्याल्पत्वमहत्वेऽनुपयोगिनी विक्रय एव तदास्यात्, किं त्वार्षविवाहसम्पत्त्यावश्यकर्तव्यया-गादिसिद्धये कन्यायै वा दातुं शास्त्रीयं धर्मार्थमेव गृह्यते ।

(अगले पृष्ठ पर देखिए)....

कन्या के क्रय-विक्रय के पक्षपातियों की भावना का सम्मान किया वहीं क्रय-विक्रय के विरोधी धर्मशास्त्रियों की भावना का भी आदर किया ।

धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में श्रेष्ठ परिणयों की श्रेणी में आर्ष पद्धति का भी परिगणन किया गया है परन्तु इस प्रणाली की श्रेष्ठता के तारतम्य के विषय में धर्मशास्त्रीय लेखकों में हमें मतभेद भी देखने को मिलता है । मनु आदि ने इसे जहां श्रेष्ठ परिणयों के क्रम में तृतीय स्थान दिया है[1] वहीं आश्वलायन एवं आपस्तम्ब आदि ने इसे क्रमश: चतुर्थ एवं द्वितीय स्थान दिया है ।[2] आश्वलायन इस पद्धति की प्रशंसा के रूप में यह विचार व्यक्त करते हैं कि इस प्रणाली से विवाहित होने वाली दम्पती का पुत्र कुल पन्द्रह पीढ़ियों को पवित्र करता है ।[3] मनु एवं याज्ञवल्क्य भी इस पद्धति से उत्पन्न पुत्र को सात पीढ़ियों को पवित्र करने वाला मानते हैं ।[4] महर्षि विष्णु का

अतएवार्षलक्षणश्लोके वरदादायधर्मतश्चेति धर्मतो धर्मार्थमिति तस्यार्थ:। भोग लोभेन तु धनग्रहणं शुल्कमधर्मशास्त्रीयम् । अतएव गृह्णन् शुल्कं हि लोभेनेति निन्दामुक्तवान् । तस्मात् पौर्वापर्यालोचनादार्षे धर्मार्थं गोमिथुनं ग्राह्यं न तु भोगार्थमिति मनुना स्पष्टमनुवर्णितम् ।

--मनु० ३।५३ पर कुल्लूक भट्ट की टीका ।

इसी प्रकार देखें : आप० ध० सू० २।१३।११ पर उज्ज्वला एवं बौधा० ध० सू० १।२०।४ पर "विवरण" नाम्नी टीकाएं ।

१- देखें : मनु० ३।२१ ; बौधा० ध० सू० १।२०।४ एवं गौ० ध० सू० १।४।६ आदि ।

२- आश्व गृ० सू० १।४।२७ ; एवं आप० ध० सू० २।११।१८

३- "सप्तावरान् सप्तापरान् पुनात्युभयत: ।"

--आश्व० गृ० सू० १।४।२८

४- देखें : मनु० ३।३८ एवं याज्ञ० १।३।५९

मत है कि इस पद्धति से कन्या दान करने वाला अपने सात पूर्वजों को वैष्णव-लोक पहुंचाता है ।[1]

संस्कृत महाकाव्यों में इस प्रणाली का हमें एक भी उदाहरण नहीं प्राप्त होता । अतः यहां यह विचारणीय है कि श्रेष्ठ परिणय के रूप में मान्य होने पर भी यह प्रथा संस्कृत महाकाव्यों में वैवाहिक प्रसंगों में क्यों नहीं प्रयुक्त हुई ? इस सन्दर्भ में यदि हम प्राचीन साहित्य का आश्रय लें तो इसके दो प्रमुख कारण ज्ञात होते हैं :--

प्रथम कारण के अन्तर्गत हम धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों को ले सकते हैं । ऊपर हम देख चुके हैं कि धर्मशास्त्रीय लेखकों ने इस प्रथा में विक्रय मूल्य के रूप में निर्धारित गाय-बैल की जोड़ी को यज्ञीय आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु बताया था परन्तु अधिकांश धर्मशास्त्रीय लेखक इस व्यवस्था से सहमत न होते हुए इसे शुद्ध कन्या-विक्रय ही मानते थे ।[2] ऐसी स्थिति में यह

1- "आर्षेण वैष्णवम्" -- विष्णु २४।३५ एवं इसी पर केशववैजयन्ती

2- मनु ने आर्ष विवाह में ग्रहण की जाने वाली गाय-बैल की जोड़ी को कन्या का विक्रय मूल्य मानते हुए लिखा है :--

"आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव तत् ।
अल्पोऽप्येवं महान्वापि विक्रयस्तावदेव सः ।।
-- मनु० ३।५३

इसी प्रकार महाभारत के अनुशासन पर्व में भी गाय बैल की जोड़ी को कन्या का विक्रय मूल्य माना गया है । देखें - म०भा०(स्वा०प०) ४५।२०
आगे चलकर कुछ धर्मशास्त्रीय लेखकों एवं टीकाकारों ने आर्ष विवाह में ग्रहण की जाने वाली गाय-बैल की जोड़ी कन्या-विक्रय का मूल्य है या

(अगले पृष्ठ पर देखें)...

कहा जा सकता है कि चूंकि विवाह की आर्ष पद्धति कन्या विक्रय पर आधारित थी और कन्या-विक्रय धर्मशास्त्रों की दृष्टि में पाप है । अत: संस्कृत महाकाव्यकारों ने अपने काव्य के नायक एवं नायिकाओं के परिणय के लिए आर्ष प्रणाली को उचित नहीं समझा । फलत: इस प्रणाली का हमें संस्कृत महाकाव्यों में एक भी उदाहरण नहीं प्राप्त होता ।

प्रस्तुत पद्धति का विवेचन करते हुए डा० उपाध्याय ने यह कल्पना की है कि परिणय की उपर्युक्त विधि वैदिक ऋषियों के उन कुलों में प्रयुक्त होती थी जहां कृषि और पशुपालन ही उनकी समृद्धि का द्योतक होती थी ।[१]

डा० उपाध्याय के उपर्युक्त मत के आधार पर हम कह सकते हैं कि चूंकि आर्ष पद्धति का प्रयोग या व्यवहार केवल ऋषियों के कुल में होता था और इधर संस्कृत-महाकाव्यों का वर्णन क्षेत्र प्राय: क्षात्रियवर्गीय राजघरानों तक ही सीमित था । अत: इस कारण से भी संस्कृत-महाकाव्यकारों ने अपने नायक एवं नायिकाओं के परिणय के लिए इस प्रणाली का आश्रय नहीं लिया । फलत: संस्कृत महाकाव्यों में इस प्रणाली का हमें एक भी उदाहरण नहीं प्राप्त होता ।

उसके पीछे यज्ञीय आवश्यकता का भाव है ? इस झगड़े में न पड़कर यह विचार व्यक्त किया कि आर्ष पाणिग्रहण की वह पद्धति है जिसके अन्तर्गत कन्या का पिता पाणिग्रहण के समय लाजाहुति के अनन्तर वर से एक गाय एवं एक बैल को लेकर पुन: वर को ही समर्पित कर देता है ।
--देखें ; बौधा० ध० सू० १।२०।४ एवं इस पर `विवरण` नाम्नी टीका

१- देखें ; डा० राम जी उपाध्याय : `प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका`, अ० ७, पृष्ठ २४५ ।

(१४) प्राजापत्य विवाह

पाणिग्रहण की इस विधि के अन्तर्गत कन्या का पिता, वस्त्रादि से अलंकृत कन्या को, वर के समक्ष लाकर इस आदेश के साथ उसे समर्पित करता था कि वह अपने प्रत्येक धार्मिक कार्य में उसकी कन्या को साथ रखेगा ।[१]

प्राजापत्य प्रणाली का विस्तृत विवेचन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है और उस विवेचन को ध्यान में रखते हुए यदि हम प्राजापत्य प्रणाली के उपर्युक्त धर्मशास्त्रीय स्वरूप का विश्लेषणात्मक अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राजापत्य प्रणाली की उपर्युक्त परिभाषा सदोष है, क्योंकि गत पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि इस पणाली के अन्तर्गत वर पक्ष कन्या पक्ष से कन्या की याचना करता था ।[२]

श्रेष्ठ परिणयों के कम में प्राजापत्य प्रणाली भी धर्मशास्त्रों की दृष्टि में एक महत्वपूर्ण प्रणाली है । महर्षि आश्वलायन इस प्रणाली की प्रशंसा के सम्बन्ध में यह विचार व्यक्त करते हैं कि इस प्रणाली से विवाहित दम्पती का पुत्र अपने कुल की कुल सत्रह पीढ़ियों को पवित्र करता है ।[३] इसी प्रकार मनु, याज्ञवल्क्य एवं विष्णु आदि ने भी इस पद्धति से

१- सहोभौ चरतां धर्ममिति वाचाऽनुभाष्य च ।
कन्याप्रदानमभ्यर्च्य प्राजापत्यो विधिः स्मृतः ।।
--मनु० ३।३०
इसी प्रकार देखें - याज्ञ० १।३।६० ; बौधा० वि०प्र० ४०३ ; आश्व० गृ०सू० १।४।२५ ; गौ० ध० सू० १।४।५ ; बौधा० ध० सू० १।२०।३ आदि।

२- देखें - विष्णु २४।२२ ; एवं अड़ सं०, ४।५

३- "अष्टावरानष्टपरान् कुलात्पुनयत: ।"
--आश्व० गृ० सू० १।४।२६

विवाहित दम्पती के पुत्र को क्रमशः सत्रह, तेरह एवं चार पीढ़ियों को पवित्र करने वाला बताया है ।[1] महर्षि विष्णु ने इस पद्धति की प्रशंसा में आगे चलकर पुनः यह कहा है कि इस पद्धति से कन्या दान करने वाला व्यक्ति अपने चार पूर्वजों को देवलोक प्राप्त करा देता है ।[2]

जैसा कि विगत पृष्ठों में कहा जा चुका है कि संस्कृत महाकाव्यों में परिणय की यह प्रणाली भी प्रयुक्त हुई है । वाल्मीकि एवं भट्टि के राम एवं सीता[3] तथा कालिदास के शिव एवं पार्वती इसी पद्धति से विवाहित हुए हैं ।[4]

महाकवि भट्टि के पश्चात् संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में हमें इस प्रथा का एक भी उदाहरण नहीं प्राप्त होता और इसका सम्भवतः यह कारण प्रतीत होता है कि चूंकि भारतीय समाज में वरपक्ष के द्वारा कन्या की याचना एक अजीब घटना थी क्योंकि यहां प्राचीनकाल से ही वैवाहिक सम्बन्धों का दायित्व कन्या के पिता के ऊपर सौंप दिया गया है और वही अपनी कन्या के विवाह के लिए वर-पक्ष के पास जाता है ।

(V) आसुर विवाह

परिणय संस्कार की इस विधि के अन्तर्गत वर कन्या के पिता या चाचा आदि कन्यापक्षीयों को या स्वयं कन्या को ही यथाशक्ति

१- देखें -- मनु० ३।३८ ; याज्ञ० १।३।६० एवं विष्णु० २४।३२ ।

२- "प्राजापत्येन देवलोकम्"

--विष्णु २४।२६

३- देखें -- वा० रा० बाल० स० ७३ एवं रामचरित २।४२-४७ ।

४- देखें -- कुमार० ७ ।८३

धन देकर स्वेच्छापूर्वक उससे विवाह कर लेता है ।[१]

संस्कृत के उपजीव्य महाकाव्यों की परम्परा में पाणिग्रहण की आसुर पद्धति अत्यधिक लोकप्रिय थी और यही कारण है कि वाल्मीकि एवं महर्षि व्यास के महाकाव्यों में इस प्रथा के हमें अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं । जैसा कि हम विगत पृष्ठों में देख चुके हैं वाल्मीकि के दशरथ ने कैकेयी को प्राप्त करने के लिए राज्य रूपी शुल्क दिया था ।[२] इसी प्रकार महाभारत के महाराज शान्तनु को भी निषाद-कन्या सत्यवती की प्राप्ति के लिए राज्यरूपी शुल्क चुकाना पड़ा था ।[३] इसके अतिरिक्त महाभारत में विभिन्न धनसामग्रियों द्वारा कन्या के क्रय-विक्रय के उदाहरण भी हमें प्राप्त होते हैं । जैसे भीष्म पितामह ने पाण्डु की पत्नी माद्री को प्राप्त करने के लिए महाराज शल्य को प्रचुर धन सामग्री दी थी ।[४] महर्षि ऋचीक ने भी गाधि-कन्या को प्राप्त करने के लिए गाधि को एक हजार द्रुतगामी श्वेत अश्वों को दिया था ।[५]

१- ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्वा कन्यायै चैव शक्तितः ।
कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते ।।
-- मनु ३।३१

इसी प्रकार देखें : याज्ञ० १।३।६१ ; वसिष्ठ १।३५ ; शङ्ख० ४।५ ; बौधा० वि० प्र० अ० ६ ; विष्णु २४।२४ ; आश्व० गृ० सू० १।४।३० ; गौ० ध० सू० १।४।६ एवं बौधा० ध० सू० १।२०।७ आदि ।

२- देखें : वा० रा० बाल० १०७ ।३

३- देखें : म० भा० आदि १००।५५-१००

४- देखें : म० भा० आदि अ० ११२

५- देखें : म० भा० (स्वा० भ०) वन. ११५

संस्कृत महाकाव्यों के उपर्युक्त उदाहरणों से हमारे समक्ष दो महत्वपूर्ण तथ्य उपस्थित होते हैं :-

१- आसुर विवाह के अन्तर्गत कन्या का कोई विक्रय-मूल्य निश्चित् नहीं था ।

२- यह कहीं राज्यरूपी शुल्क में विद्यमान था तो कहीं धन सामग्री के रूप में । यहां राज्यरूपी शुल्क से क्या तात्पर्य है ? यह जान लेना आवश्यक है । यदि वाल्मीकि रामायण के दशरथ एवं कैकेयी तथा महाभारत के शान्तनु एवं सत्यवती के वैवाहिक प्रसंगों का हम अध्ययन करें तो यह ज्ञात होता है कि कैकेयी एवं सत्यवती के पिता ने दशरथ एवं शान्तनु के साथ अपनी कन्याओं का विवाह इस शर्त के साथ किया था कि दशरथ एवं शान्तनु अपने राज्य-काल के अनन्तर उनकी कन्याओं से उत्पन्न पुत्र को ही राजा बनाएंगे । इस प्रकार चूंकि यहां दशरथ एवं शान्तनु को अपना राज्य ही कन्या के विक्रय मूल्य के रूप में अर्पित करना पड़ा था इसीलिए इसे राज्य शुल्क की संज्ञा दी गयी है ।

पाणिग्रहण की आर्ष पद्धति के विवेचन के प्रसंग में गत-पृष्ठों में यह कहा जा चुका है कि वह आसुर पद्धति का ही एक अवशिष्ट एवं परिवर्तित विधि थी और उसमें कन्या के विक्रय मूल्य के रूप में निर्धारित गाय-बैल की जोड़ी का ग्रहण करना एक धार्मिक उद्देश्य था । इस प्रसंग को देखते हुए हमारे मन में एक स्वाभाविक जिज्ञासा यह उठती है कि आसुर पद्धति में कन्या-पिता द्वारा जो मूल्य लिया जाता है उसका क्या उद्देश्य है ? इस प्रश्न के उत्तर में यदि हम प्राचीन धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों का आश्रय लें तो यह ज्ञात होता है कि वे प्राय: अधिकांश धर्मशास्त्रीय लेखक इस विषय पर मौन रहे हैं । अर्वाचीन लेखकों ने इस प्रश्न के बहु प्रत्युत्तर में यह विचार व्यक्त किया है कि

प्राचीन समय से ही कन्याएं किसी कुटुम्ब की एक विशिष्ट सम्पत्ति होती थीं। ऐसी स्थिति में चूंकि विवाह के अनन्तर कन्या दूसरे कुटुम्ब की हो जाती थी है। अत: कन्या-पिता ऐसे समय पर कन्या के विवाह से होने वाली अपने कुटुम्ब के क्षति की पूर्ति के रूप में वर से प्रभूत धन, सामग्री लेता था।[१]

धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में आसुर विवाह प्राय: एक स्वर से अश्रेष्ठ परिणय घोषित किया गया है। और इस प्रथा से विवाहित होने वाले दम्पती की निन्दा भी गयी है। महर्षि बौधायन ने तो क्रय-विक्रय द्वारा पत्नी का पद प्राप्त करने वाली महिला को दासी का पद प्राप्त करने वाली कहा है। और इसी कारण से वे उसे देवताओं या पितृकार्यों में पति के साथ सम्मिलित होने का अधिकार नहीं देते।[२] यहां इतना ध्यातव्य है कि बौधायन ने यह कथन अपना व्यक्तिगत न कहकर कश्यप का कहा है। आगे चलकर वे अपना मत प्रस्तुत करते हुए कन्याविक्रयी को आत्मविक्रयी मानते हुए कहते हैं कि ऐसे व्यक्ति नरकगामी होते हैं।[३] इसी प्रकार मनु ने भी कन्या विक्रय का विरोध करते हुए शूद्र तक को भी उससे विरत रहने का आदेश

१- देखें -- डा० विमल चन्द्र पाण्डेय : 'भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास',
पृ० १४६।

२- क्रीता द्रव्येण या नारी सा न पत्नी विधीयते।
सा न दैवे न सा पित्र्ये दासीं तां कश्यपोऽब्रवीत्॥
--बौधा० ध० सू० १।२१।४

३- शुल्केन ये प्रयच्छन्ति स्वसुतां लोभमोहिता:।
आत्मविक्रयिण: पापा: महाकिल्बिषकारका:॥
पतन्ति नरके घोरे घ्नन्ति चाऽऽसप्तमं कुलम्।
गमनागमनं चैव सर्वं शुल्को विधीयते॥
-- वही १।२१।५ एवं बौधा० पि० प्र० च०
२१ एवं २२।

दिया है ।[१]

उपर्युक्त धर्मशास्त्रीय लेखकों के विचारों को देखने से यह तथ्य सुनिश्चित हो जाता है कि कन्याविक्रय एक महान् पाप है और इस प्रकार कन्या-विक्रय पर आधारित आसुर प्रणाली परिणय की एक निकृष्ट प्रणाली है । यहां एक महत्त्वपूर्ण तथ्य विचारणीय है और वह यह कि यद्यपि उपर्युक्त महर्षियों की दृष्टि में आसुर विवाह परिणय की एक निकृष्ट प्रणाली थी फिर भी कुछ वर्ग विशेषों में वह व्यवहृत हो सकती थी या कुछ विशेष परिस्थितियों में वह ग्राम्य थी । इस सन्दर्भ में बौधायन धर्मसूत्र एवं मनुस्मृति का मन्तव्य द्रष्टव्य है । बौधायन ने अष्टविधि परिणयों के विवेचन के अनन्तर उनका जातीय आधार पर विभाजन प्रस्तुत करते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि क्षत्रिय वर्ण के लोगों को अपने विवाह के लिए राक्षस एवं आसुर इन दो प्रणालियों का आश्रय लेना चाहिए ।[२] और यहां इस विधान का कारण यह बताया गया है कि चूंकि क्षत्रिय बलप्रधान होते हैं और परिणय की आसुर पद्धति भी बलप्रधान होती है । अत: क्षत्रियों को इस प्रणाली का आश्रय

१- न कन्याया: पिता विद्वान्गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि ।
गृह्णंच्छुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी ॥
आददीत न शूद्रोऽपि शुल्कं दुहितरं ददत ।
शुल्कं हि गृह्णन्कुरुते छन्नं दुहितृविक्रयम् ॥
--मनु० ३।५१ एवं ९८

२- अत्राऽपि षष्ठसप्तमौ क्षात्रधर्मानुगतौ तत्प्रत्ययत्वात् क्षात्रस्येति ।
-- बौधा० ध० सू० १।२०।१२ एवं
बौधा० वि० प्र० ध० १३ आदि ।

लेना चाहिए ।[1] यहां स्पष्ट है कि बौधायन की दृष्टि में आसुर विवाह क्षात्रियों के लिए परिणय की एक निर्दोष पद्धति थी ।

इसी प्रकार यदि मनुस्मृति का विवेचन किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि एक ओर मनु जहां आसुर-पद्धति के विरोधी थे वहीं कुछ विशेष परिस्थितियों में उसे क्षम्य एवं निर्दोष मानते थे । उपर्युक्त कथन के सन्दर्भ में मनुस्मृतिकार के निम्नलिखित विचार द्रष्टव्य हैं :--

मनुस्मृति के नवम अध्याय में कन्या-विक्रय के सन्दर्भ में अपना विचार प्रस्तुत करते हुए मनु ने कहा है कि यदि कोई व्यक्ति ऋतुमती कन्या से परिणय करता है तो उसे कन्या-पिता को कुछ भी धनराशि नहीं देनी चाहिए, क्योंकि ऋतुयुक्ता होने से कन्या-पिता का कन्या पर कोई अधिकार नहीं रह जाता[2] और सम्भवत: इसीलिए ऋतुयुक्ता कन्या को उन्होंने स्वयंवरण का अधिकार दिया है ।[3]

१- तत्प्रत्ययत्वं तत्प्रधानत्वम् । बलं हि राज्ञां प्रधानम् । तथा चोक्तम् --"क्षात्रियस्य बलान्वितम् ।" आसुरेऽपि धनं बलहेतुतयाऽभिप्रेतम्।
--बौधा० ध० सू० १।२०।१२ पर "विवरण"नाम्नी टीका ।

२- पित्रे न दद्याच्छुल्कन्तु कन्यामृतुमतीं हरन् ।
स हि स्वाम्यादतिक्रामेदृतूनां प्रतिरोधनात् ।।
--मनु ०९।९३

३- त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्मात् विन्देत सदृशं पतिम् ।।
-- वही ९।९०

अष्टम अध्याय में दण्ड विवेचन के प्रसंग में मनु ने सजातीय कन्या को दूषित (बलात्कार पूर्वक उपभोग) करने वाले युवक का दण्ड निर्धारित करते हुए कहा है कि यदि कन्या-पिता उस युवक विशेष को पसन्द करे तो युवक को उस कन्या से विवाह करना होगा और इस सन्दर्भ में उसे कन्या-पिता को शुल्क भी देना होगा ।[१]

इसी अध्याय में आगे चलकर वैवाहिक प्रसंगों में धूर्तता की चर्चा करते हुए उन्होंने यह विचार व्यक्त किया है कि यदि किसी कन्या का पिता कन्या-विक्रय का शुल्क निश्चित् करते समय किसी दूसरी कन्या को दिखाता है और विवाह के समय किसी दूसरी कन्या को प्रस्तुत करता है तो वर को चाहिए कि वह शुल्क की उसी तय की गयी राशि से ही दोनों कन्याओं से विवाह कर ले ।[२]

मनु के उपर्युक्त विचारों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी दृष्टि में कन्या-विक्रय घोर पाप एवं नरक-द्वार होते हुए भी कुछ विशेष परिस्थितियों में ग्राह्य था ।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि मनु के युग तक सम्भवतः आसुर विवाह कुछ परिस्थितिविशेषों में वर्ग विशेष के लिए मान्य था लेकिन मनु के परवर्ती लेखकों ने आसुर विवाह की खुले शब्दों में निन्दा की । मनु

१- उत्तमां सेवमानस्तु जघन्यो वधमर्हति ।
शुल्कं दद्यात्सेवमानः समामिच्छेत्पिता यदि ।।
-- वही ८।३६६

२- अन्यांचेद्दर्शयित्वान्यावोढुः कन्या प्रदीयते ।
उभे त एक शुल्केन वहेदित्यब्रवीन्मनुः ।।
-- मनु० ८।२०४

मनु के पश्चात् के लेखक याज्ञवल्क्य ने कन्या-विक्रय की गणना उपपातकों के अन्तर्गत की है ।[1] यम ने कन्या विक्रयी पिता को घोर नरक पाने वाला कहा है ।[2] पाणिग्रहण की उपर्युक्त पद्धति में यह तथ्य अवधेय है कि धर्मशास्त्रों की दृष्टि में आसुर विवाह द्वारा परिणीत होने वाले युवक एवं युवती पूर्ण पति-पत्नी तभी माने जाते हैं जबकि क्रय-विक्रय के अनन्तर उनका शास्त्रीय विधि से संस्कार सम्पन्न किया जाय ।[3] केवल क्रय मात्र कर लेने से ही कोई कन्या किसी की पत्नी नहीं बन सकती ।[4]

सम्भवत: कन्या-विक्रय के इन्हीं दुर्गुणों को ध्यान में रखते हुए संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में महाभारत के अनन्तर हमें इस पद्धति का एक भी उदाहरण नहीं प्राप्त होता ।

१- देखें : याज्ञ० ३। २३६ ।

२- यो मनुष्यो मनुष्यस्य विक्रयाद्धनमिच्छति ।
तस्य मूत्रं पुरीषं च स परत्रोपजीवति ।।
कन्याविक्रयिणो मूढा इह किल्बिषकारिणः ।
पतन्ति नरके घोरे दहत्या सप्तमं कुलम् ।।
-- स्मृ० च० पृ० २३१ पर उद्धृत यम का कथन ।

३- 'गान्धर्वासुरपैशाचविवाहो राक्षसश्च यः ।
पूर्वं परिणयस्तेषां पश्चाद्धोमो विधीयते ।।
-- गृ० र० वि० भे० परिशिष्ट ।

४- महर्षि व्यास ने इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए कहा है :--
'यदि वः शुल्कतो निष्ठा न पाणिग्रहणात्तथा ।
लाजान्तरमुपासीत प्राप्तशुल्कः इति स्मृति : ।।
-- म० भा० (स्वा० म०) अनु ४४।४४

(vi) गान्धर्व विवाह

पाणिग्रहण की इस प्रणाली के अन्तर्गत कन्या एवं वर स्वेच्छया परस्पर स्नेहानुराग में बंधकर एक दूसरे पर सर्वात्मना समर्पित होते हुए (मैथुन्यादि रूप) वैवाहिक बन्धन में बंध जाते हैं ।[1]

गान्धर्व विवाह के उपर्युक्त स्वरूप के सन्दर्भ में यहां यह ध्यातव्य है कि प्राय: सभी धर्मशास्त्रीय लेखकों ने इसे "मैथुन्य: कामसम्भव:" कहा है । अत: यहां प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस परिणय की प्रणाली के अन्तर्गत वैवाहिक धार्मिक कार्य कलाप वर एवं कन्या के सहवास के पूर्व ही हो जाते हैं या उनमें धार्मिक क्रियाओं की पूर्ति के अनन्तर सहवास होता है ? इस सन्दर्भ में मनुस्मृति के टीकाकार सर्वज्ञ नारायण एवं स्मृतिकार देवल तथा शौनक आदि के अनुसार गान्धर्व विवाह के अन्तर्गत धार्मिक क्रियाओं का सम्पादन वर एवं कन्या के सहवास के बाद ही होता है ।[2]

१- इच्छयाऽन्योन्यसंयोग: कन्यायाश्च वरस्य च ।
गान्धर्व: स तु विज्ञेयो मैथुन्य: कामसम्भव: ।।
--मनु० ३।३२

इसी प्रकार देखें -- याज्ञ० १।३।६१ ; वशिष्ठ० १।३३ ; शङ्ख० ४।५; बौधा० धि० प्र० ब० ७ ; विष्णु २४।२३ ; आश्व० गृ० सू० १।४।२६ ; गौ० ध० सू० १।४।८ एवं बौधा० ध० सू० १।२०।६ आदि ।

२- "मैथुन्यो मैथुनमात्रोद्देशप्रवृत्त: प्रथमं यत: कामसम्भव: पश्चात होमादिना भार्यात्वसिद्धौ समर्थितापि तस्य भवति । तथा हि सर्वेषु एव द्विजातिविवाहेषु होमादिनैव भार्यात्वसिद्धि: । यद् वक्ष्यति-

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)...

यदि उपर्युक्त विषय के व्यावहारिक ज्ञान के लिए हम साहित्यिक उदाहरणों का आश्रय लें तो भी यही मत पुष्ट होता है। महाभारत के दुष्यन्त एवं शकुन्तला[1], भीम एवं हिडिम्बा

'पाणिग्रहणिकामन्त्रा नियतं दारलक्षणम् ।
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भिः सप्तमे पदे ।। इति ।
तथा च देवल :--
'गान्धर्वादि विवाहेषु पुनर्वैवाहिको विधिः ।
कर्तव्यस्तु त्रिभिर्वर्णैः समयेनाग्निसाक्षिकः ।।'
तथा शौनक परिशिष्टविशेषोऽप्युक्त: --
'गान्धर्वासुरपैशाचाः विवाहाः राक्षसश्च यः ।
पूर्वं परिणयस्तेषां पश्चाद्धोमो विधीयते ।। इति'
--मनु० ३।३२ पर सर्वज्ञ नारायण की टीका ।।

१- देखें : म० भा० आदि ७३ ।

दुष्यन्त एवं शकुन्तला के गान्धर्व विवाह के प्रसंग में यहां इतना ध्यातव्य है कि महाभारतकार ने दुष्यन्त एवं शकुन्तला को धार्मिक कार्य-कलापों की पूर्ति के अनन्तर सहवास की ओर अग्रसर दिखाया है :--

'जगाम विधिवत्पाणावुवास च तया सह ।
विश्वास्य चैनां स प्रायादब्रवीच्च पुनः पुनः ।।
-- म० भा० आदि ७३ ।२०

परन्तु यह मत महाभारत के अग्रिम कथानक से खण्डित हो जाता है। महाभारत के अनुसार जिस समय दुष्यन्त कण्व के आश्रम में आते हैं उन्हें यह ज्ञात होता है कि कण्व फल चयन के लिए आश्रम से बाहर गए हुए हैं। अतः इस अल्प काल में अधिक सम्भावना यह है कि दुष्यन्त ने

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)

राक्षसी[1] तथा कृष्ण एवं नरकासुर के यहां बन्दिनी बनायी गयी देवकन्याओं के पाणिग्रहण में [2]सम्भवत: उपर्युक्त धर्मशास्त्रीय विधान का ही पालन हुआ था ।

सर्वप्रथम शकुन्तला से सहवास ही किया होगा । यह सम्भावना कण्व के निम्नलिखित कथन से और भी पुष्ट हो जाती है --फल-चयन के अनन्तर जब कण्व आश्रम में लौटते हैं तो उन्हें शकुन्तला एवं दुष्यन्त के गान्धर्व विवाह का ज्ञान होता है और इस अवसर पर वह शकुन्तला को आश्वासन देते हुए कहते हैं कि उसने दुष्यन्त का हाथ पकड़कर ठीक ही किया क्योंकि क्षत्रियों में गान्धर्व विवाह श्रेष्ठ होता है जो सकामी पुरुषों एवं स्त्रियों द्वारा एकान्त में मन्त्र-रहित विधि से किया जाता है :--

> "क्षत्रियस्य हि गान्धर्वो विवाह: श्रेष्ठ उच्यते ।
> सकामाया: सकामेन निर्मन्त्रो रहसि कृता ।।"
> --म० भा० आदि ७३।२७

कण्व के उपर्युक्त कथन एवं दुष्यन्त शकुन्तला के तत्कालिक मिलन के समय को ध्यान में रखते हुए यहां यह स्पष्ट है कि दुष्यन्त एवं शकुन्तला सर्वप्रथम सहवास को ही पूर्ण किए थे । गान्धर्व विवाह के सम्बन्ध में धर्मशास्त्रीय लेखकों ने भी सहवास के अनन्तर ही धार्मिक विधि विधानों की पूर्णता का विधान किया है -- देखें : गृ० र० वि० में परिशिष्ट ; आप० ध० सू० २।११।२० पर "उज्ज्वला" आदि ।

१- देखें : म० भा० आदि अ० १५४ ।

२- देखें : म० भा० सभा० धर्माभिहरणपर्व ।

धर्मशास्त्रीय लेखकों ने गान्धर्व विवाह को क्षत्रियों के लिए सर्वश्रेष्ठ माना है ।[1] कुछ लेखकों ने गान्धर्व विवाह को सार्ववर्णिक मानते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि चूंकि यह प्रेम-प्रधान होता है, अतः सभी वर्णों के लोगों के लिए यह श्रेष्ठ होता है ।[2]

संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, महाभारत के युग में इस प्रथा के हमें अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं । महाभारत के अनन्तर के संस्कृतमहाकाव्यकारों ने भी इस प्रथा का एक परिष्कृत रूप में उपयोग किया है । इस विषय का विस्तृत विवेचन आगे के पृष्ठों में किया जाएगा ।

(VII) राक्षस विवाह

पाणिग्रहण की इस विधि के अन्तर्गत कन्यापक्षीयों का हनन करके या उनका अंगच्छेदनादि करके तथा कन्या के आवास-द्वारादि को तोड़कर, चिल्लाती तथा रुदन करती हुई कन्या का अपहरण किया जाता है ।[3]

१- देखें : मनु० ३।२३ ; बौधा० ध० सू० १।२०।१३-१५ आदि ।

२- देखें : बौधा० ध० सू० १।२०।१६ ; का० सू० ३।५।२६-३० आदि ।

३- हत्वा छित्वा च भित्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात् ।
प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधि रुच्यते ॥
--मनु० ३।३३।

इसी प्रकार देखें : याज्ञ० १।३।६१ ; वसिष्ठ० १।३४ ; शङ्ख० ४।६ ; बौधा० पि० पु० ध० ८ ; विष्णु० २४।२५ ; आश्व० गृ० सू० १।५।३२ ; गौ० ध० सू० १।४।१० एवं बौधा० ध० सू० १।२०।८ आदि ।

परिणय के उपर्युक्त स्वरूप को स्पष्ट करते हुए मन्वर्थ-मुक्तावली नाम्नी टीका में कहा गया कि इस प्रणाली में जब हरण करने वाले व्यक्ति की शक्ति को देखकर कन्यापक्षीय पिता आदि वर का विरोध नहीं करते तो वरपक्ष द्वारा उनका हननादि आवश्यक नहीं है परन्तु कन्या-पक्ष यदि विरोध करता है तो वर पक्ष द्वारा उसका हननादि आवश्यक है।[1]

धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों ने राक्षस विवाह को अश्रेष्ठ परिणय घोषित किया है। परन्तु इसकी अश्रेष्ठता के बावजूद इसे क्षत्रियों के लिए मान्य ठहराया है क्योंकि यह बल-प्रधान है।[2] पाणिग्रहण की इस विधि के अन्तर्गत भी कन्या हरण के अनन्तर वर एवं कन्या का पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न होता था और तभी वह पूर्ण माना जाता था।[3]

संस्कृत-महाकाव्यों की परम्परा में आर्ष महाकाव्य महाभारत में हमें इस प्रथा के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। महाभारत के

१- '- - - - - - - - - यदा तु हर्तुः शक्त्यतिशयं ज्ञात्वा पित्रादिभिरुपेक्ष्यते तदा नावश्यकं हननादि। यदि कन्यापक्षः प्रतिपक्षतां याति तदा हननादिकमपि कर्तव्यमित्यर्थप्राप्तमनूद्यते - - - - -।'

--मनु० ३।३३ पर मन्वर्थमुक्तावली नाम्नी टीका

२- देखें : बौधा० ध० सू० १।२०।१२एवं इसी पर विवरण नाम्नी टीका आदि।

३- गान्धर्वासुरपैशाचविवाहो राक्षसश्च यः।
पूर्वं परिणयस्तेषां पश्चाद्धोमो विधीयते ।।

-- गृ० र० वि० मे० परिशिष्ट

विचित्रवीर्य एवं अम्बिका तथा अम्बालिका,[1] अर्जुन तथा सुभद्रा[2] तथा दुर्योधन एवं कलिंगराज की कन्या[3] के परिणय विवाह की राक्षस पद्धति से ही सम्पादित हुए थे ।

महाभारत के बाद की संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में, हमें केवल "रुक्मिणीहरण" महाकाव्य में ही कृष्ण एवं रुक्मिणी के विवाह में इस पद्धति का उल्लेख देखने को मिलता है वह भी गान्धर्व मिश्रित रूप में ।[4]

महाभारतकालीन राक्षस विवाह के प्राप्त होने वाले उदाहरणों का यदि विवेचन किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि उस युग में राक्षस विवाह क्षत्रियों के लिए सम्मान का विषय था और उनके परिणय की वही एक श्रेष्ठ पद्धति थी ।[5] किन्तु आश्चर्य का विषय है कि

१- विस्तृत कथानक के लिए देखें : म० भा० आदि अ० १०२ ।
२- ,, ,, ,, म० भा० आदि अ० २१८-२२० ।
३- ,, ,, ,, ,, ,, शान्ति अ० ४ ।
४- ,, ,, ,, रुक्मिणी. ।

५- महाभारत के भीष्म इसी मन्तव्य की पुष्टि करते हुए कहते हैं कि यद्यपि क्षत्रिय स्वयंवर की प्रशंसा करते हैं और उसमें जाते हैं परन्तु उसमें भी समस्त राजाओं को परास्त करके जिस कन्या का अपहरण किया जाता है धर्मवादी विद्वान् क्षत्रिय के लिए उसे सर्वश्रेष्ठ मानते हैं :--

"स्वयंवरं तु राजन्याः प्रशंसन्त्युपयान्ति च ।
प्रमथ्य तु हृतामाहुर्ज्यायसीं धर्मवादिनः ।।"
--म० भा० आदि १०२।१६

यद्यपि महाभारत के अनन्तर भी संस्कृत-महाकाव्यकारों ने अपने काव्यों का नायक क्षत्रियवर्ग से ही चुना परन्तु उसके परिणय के लिए इस विधि का आश्रय नहीं लिया क्योंकि उनकी दृष्टि में बलात् कन्यापहरण एक अनैतिक कार्य था और इस अनैतिक कार्य का करने वाला भी समाज में निन्दा का पात्र होता था । वस्तुत: श्रेष्ठ परिणय तो वही होता है जिसमें कन्या एवं वर की अभिरुचि का समानरूप से आदर किया जाय । राक्षस विवाह में कन्या की अभिरुचि का प्रश्न ही नहीं उठता । सम्भवत: इन्हीं कारणों को ध्यान में रखते हुए संस्कृत के महाकाव्यकारों ने अपना नायक क्षत्रिय वर्ग से चुनते हुए भी उनके परिणय के लिए इस विधि को उचित नहीं समझा ।

(viii) पैशाच विवाह

परिणय संस्कार की इस प्रणाली के अन्तर्गत सोई हुई, या मदिरा पान आदि से व्याकुल तथा अपने शील की रक्षा करने में असमर्थ कन्या का बलपूर्वक उपभोग करने के अनन्तर उससे विवाह किया जाता था ।[१]

पैशाच विवाह के उपर्युक्त धर्मशास्त्रीय स्वरूप को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसके अन्तर्गत किसी कन्या से बलात्कार करके तब उससे विवाह किया जाता था । इस सन्दर्भ में इतना ध्यातव्य है कि धर्मशास्त्रों के अनुसार पैशाच विवाह भी पूर्ण तभी माना जाता था जबकि सम्भोग के अनन्तर वर एवं कन्या का विधिवत पाणिग्रहण संस्कार सम्पादित हो जाता है ।

१- सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति ।
स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधम: ।।
--मनु० ३।३४ । इसी प्रकार देखें : याज्ञ० १।३।६१ ; शङ्ख० ४।६ ; बौधा० वि० प्र० म० ६ ; विष्णु० २४।२६; आश्व० गृ० सू० १।६।११ ; गौ० ध० सू० १।४।११ ; बौधा० ध० सू० १।२०।६ आदि ।

यदि उनका संस्कार नहीं हो पाता तो कन्या का विवाह किसी अन्य व्यक्ति से कर देना चाहिए । और सम्भोग कर्ता पुरुष को दण्डित करना चाहिए ।[1]

संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में हमें पैशाच विवाह का एक भी उदाहरण नहीं प्राप्त होता और इसका प्रमुख कारण यह है कि यदि पैशाच विवाह के उपर्युक्त स्वरूप को ध्यान में रखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह किसी भी आदर्श समाज में परिणय की यह प्रणाली प्रयुक्त नहीं हो सकती ।

उपर्युक्त विवेचन को देखते हुए निष्कर्ष रूप में अब हम कह सकते हैं कि संस्कृत महाकाव्यों में धर्मशास्त्रों में विवेचित अष्टविधि-परिणयों में से ब्राह्म, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व एवं राक्षस पाणिग्रहण की इन पांच विधियों के उदाहरण हमें प्राप्त होते हैं । इन पांच विधियों के अतिरिक्त संस्कृत महाकाव्यों "स्वयंवर" नाम की एक अन्य पाणिग्रहण की विधि हमें देखने को मिलती है । अत: यहां अब यह विवेचन करना आवश्यक है कि स्वयंवर प्रणाली का क्या स्वरूप है एवं संस्कृत महाकाव्यों में उसके कितने उदाहरण हमें उपलब्ध होते हैं ?

(IX) <u>स्वयंवर विवाह</u>

स्वयंवर का साधारण अर्थ है स्वयं वरण करने वाली -- "स्वयं वृणोतीति स्वयंवर:" । अर्थात् जब कन्या किसी वर का स्वेच्छया वरण कर ले और उससे परिणय कर ले तो वह परिणय की "स्वयंवर" विधि होती है । स्वयंवर पद्धति के उपर्युक्त व्युत्पत्यात्मक स्वरूप को देखने

१- देखें : गृ० र० वि० मे० परिशिष्ट पृ.८०; मनु० ८।३६४-३६६ ; याज्ञ० २ । २४ । २८७-८८ ।

से यह प्रतीत होता है कि परिणय की यह प्रणाली गान्धर्व विवाह से काफी मिलती-जुलती है क्योंकि दोनों में वर-चयन में कन्या स्वतन्त्र होती है। सम्भवत: इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए कुछ लेखकों ने गान्धर्व एवं स्वयंवर को परिणय की समान विधि माना है।[१]

परन्तु उपर्युक्त कथन सत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि इन दोनों ही प्रणालियों में पर्याप्त अन्तर है। गान्धर्व विवाह के प्रसंग में ऊपर हम देख चुके हैं कि इस पद्धति में विवाहित होने वाले वर एवं कन्या दोनों ही एक दूसरे को समान रूप से चाहने वाले होते हैं और उनमें काम-वासना का भाव सर्वप्रमुख होता है परन्तु स्वयंवर विवाह में, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे कन्या को वर-चयन की पूरी स्वतंत्रता रहती है, यद्यपि वर का भी उसमें समर्थन रहता है।

श्री वेदालंकार जी ने स्वयंवर विवाह के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए यह विचार प्रकट किया है कि यह राक्षस विवाह से विलोम पाणिग्रहण की पद्धति थी, क्योंकि राक्षस विवाह में जहां पति को चुनाव करने का अधिकार था वहीं स्वयंवर में कन्या स्वयं पति चयन करती थी।[२]

श्री वेदालंकार जी का उपर्युक्त मन्तव्य भी सत्य नहीं माना

१- वीर मित्रोदय के लेखक ने इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए गान्धर्व एवं स्वयंवर को समान माना है :--

'एवं च स्वयंवरोऽपि विवाह: ।'

-- वी० मि० भाग १, पृ० ६१ ।

२- देखें : श्री हरिदत्त वेदालंकार : 'हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास', पृष्ठ १८० ।

जा सकता क्योंकि स्वयंवर में भी जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे कन्या मात्र को ही वरण करने का एकाधिकार नहीं था अपितु वर की अभिरुचि भी इसमें समादृत थी ।

वस्तुत: संस्कृत महाकाव्यों में विवेचित स्वयंवर प्रणाली अपने आप में परिणय की कोई स्वतन्त्र प्रणाली नहीं मानी जा सकती । यदि हम संस्कृत महाकाव्यों में उपलब्ध इसके स्वरूप को ध्यान में रखें तो यह ज्ञात होता है कि इसके अन्तर्गत वर एवं कन्या एक दूसरे से परिचित होते थे और वे एक दूसरे को पति-पत्नी रूप में चाहते थे ।[1] माता-पिता भी उनकी इस इच्छा को जानते हुए उन्हें पति-पत्नी के रूप में देखना चाहते थे[2] और यदा कदा स्वयंवर के अवसरों पर विजित राजकुमार को विभिन्न राजाओं से युद्ध करना पड़ता था ।[3] इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि संस्कृत महाकाव्यों में प्रयुक्त स्वयंवर प्रणाली, धर्मशास्त्रों में विवेचित

१- श्रीहर्ष के नल एवं दमयन्ती चारणों एवं द्विजों आदि के मुख से एक दूसरे का वर्णन सुनकर एक दूसरे के प्रति कामासक्त हो चुके थे और इस प्रकार वे एक दूसरे को पति-पत्नी के रूप में प्राप्त करना चाहते थे --
देखें : नैषध० १।३७, २।५३-६० एवं ३।७६-८० ।

२- दमयन्ती को नल पर आसक्त जानकर महाराज भीम ने भी उसे नल से पाणिग्रहण करने की अनुमति दे दी थी --
देखें : नैषध० ४।११६

३- जैसे कि अज को इन्दुमती के साथ लौटते हुए विभिन्न राजाओं से युद्ध करना पड़ा था ।
-- देखें : रघु० ७।३५-७० ।

गान्धर्व (नायक एवं नायिका के पूर्व प्रेम एवं एक दूसरे को पति-पत्नी रूप में प्राप्त करने की इच्छा प्रधान होने के कारण) ब्राह्म (माता-पिता की आज्ञा प्रधान होने के कारण) एवं राक्षस (युद्ध प्रधान होने के कारण) इन तीन प्रणालियों का मिश्रित स्वरूप लिए हुए थी[१]।

ऐतिहासिकों का मत है कि संस्कृत महाकाव्यों में प्रयुक्त स्वयंवर-प्रणाली को अपना उपरि कथित स्वरूप प्राप्त करने में एक दीर्घ समय लगा है और इस प्रकार यह प्रणाली समाज की विभिन्न स्थितियों को पार करने के अनन्तर अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त हुई है । इस सन्दर्भ में यदि हम महाभारत का आश्रय लें तो उससे हमें स्वयंवर-प्रणाली के उद्भव की एक हल्की झलक देखने को मिलती है । महाभारत की प्रारम्भिक संस्कृति में समाज में राक्षस विवाह का बोलबाला था और उस युग में क्षत्रिय समाज में राक्षस पद्धति द्वारा विवाह करना उनकी प्रतिष्ठा को बढ़ाने वाला कृत्य माना जाता था[२]। तत्कालीन धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ भी क्षत्रियों के इस कृत्य को मर्यादित एवं शास्त्रानुकूल सिद्ध करने लगे थे[३]। लेकिन राक्षस विवाह की इस लोकप्रियता एवं समादृत स्थिति के बावजूद क्षत्रियों के कुछ कुल, राक्षस पद्धति के दुर्गुणों

१- डा० विमल चन्द्र पाण्डेय ने भी 'स्वयंवर' को गान्धर्व, राक्षस एवं ब्राह्म प्रणालियों का मिश्रित रूप माना है -- देखें : डा० विमल चन्द्र पाण्डेय ; भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास, पृ० १५५ ।

२- महाराज भीष्म ने क्षत्रियों के परिणय के लिए कन्यापहरण को ही (राक्षस पद्धति) सर्वोत्तम मानते हुए कहा है --

'प्रमथ्य तु हृतामाहुर्ज्यायसीं धर्मवादिनः ।।

-- म० भा० आदि १०२।१६।

इसी प्रकार देखें : म० भा० आदि - २१८ ।२२

३- देखें : बौधा० ध० सू० १।२०।१२

के कारण उसका विरोध भी करने लगे थे[1] और वे बलात् कन्यापहरण की एक स्वर से निन्दा करने लगे थे।[2] ऐसी परिस्थिति में क्षत्रियों का समुदाय गान्धर्व विवाह की ओर आकृष्ट हुआ और परिणय के लिए उसे श्रेष्ठ मानने लगा।[3]

कालान्तर में महाभारतयुगीन समाज में, सम्भवत: गान्धर्व विवाह की असफलता देखकर[4] कन्या के विवाह के विषय में पिता का उत्तरदायित्व प्रधान माना जाने लगा। और इस युग में एक दूसरे को चाहते हुए भी

१- उपर्युक्त कथन की पुष्टि में भीष्म एवं शिशुपाल के कथानक को देखा जा सकता है। शिशुपाल ने भीष्म के अन्य दुर्गुणों की चर्चा करते हुए उनके द्वारा किए जाने वाले कन्यापहरण की भर्त्सना करते हुए कहा है :--

अन्यकामा हि धर्मज्ञ कन्यका प्राज्ञमानिना।
अम्बा नामेति भद्रं ते कथं सापहृता त्वया ।।

-- म०भा०(स्वा०म०) आदि ६४।२२

२- महाभारत में कन्यापहरण कर्ता को नरकगामी बताते हुए कहा गया है--

वश्या कुमारी बहतो ये तां समुपभुंजते।
एते पापस्य कर्तार: तमस्यन्धे च शेरते ।।

-- म० भा०(स्वा० म०) अनु० ४५।२२

३- दुष्यन्त ने शकुन्तला से गान्धर्व विधि का आश्रय लेने का निवेदन करते हुए एवं उसे ही श्रेष्ठ परिणय मानते हुए कहा है :--

'विवाहानां हि रम्भोरु गान्धर्व: श्रेष्ठ उच्यते ।।

-- म० भा० आदि ७३।४। गान्धर्व विवाह की श्रेष्ठता से सम्बद्ध अन्य उल्लेखों के लिए देखें : म० भा० आदि १७१।१६ आदि।

४- दुष्यन्त ने शकुन्तला से गान्धर्व विवाह किया था परन्तु शकुन्तला द्वारा

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)...

वर एवं कन्या, बिना पिता की अनुमति के विवाह नहीं करना चाहते थे ।[१] इस प्रकार समाज अब ब्राह्म विवाह की ओर उन्मुख हो चला था । परन्तु ब्राह्म विवाह की इस लोकप्रियता के साथ ही क्षत्रियों का एक ऐसा समुदाय भी था जो दान के रूप में कन्या ग्रहण करना अपना अपमान समझता था ।[२]

पत्नीत्व की याचना किए जाने पर दुष्यन्त ने उसे स्वीकार नहीं किया था । यद्यपि आगे चलकर आकाशवाणी को प्रमाण मानकर दुष्यन्त ने शकुन्तला को ग्रहण किया-- देखें : म० भा० आदि अ० ७४ । महाभारत की इस घटना से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि आगे चलकर गान्धर्व विवाह पूर्ण स्वतन्त्र न रहा और उसमें पिता की अनुमति भी आवश्यक मानी जाने लगी ।

१- उपर्युक्त कथन की पुष्टि के लिए सूर्यकन्या तपती एवं महाराज सम्वरण के कथानक को देखा जा सकता है । महाभारत के अनुसार अनिन्द्य सुन्दरी तपती पर कामासक्त होकर महाराज सम्वरण उससे विवाह करना चाहते थे । परन्तु राजा सम्वरण के प्रति आसक्त होते हुए भी तपती बिना पिता की अनुमति प्राप्त किए सम्वरण से विवाह के लिए राजी नहीं हुई और उनसे अपने पिता (सूर्य) से ही निवेदन करने को कहा ।

--विस्तृत कथा के लिए देखें : म० भा० आदि अ० १७०-१७२ ।

२- इस तथ्य के प्रमाण रूप में हम महाभारत के अर्जुन एवं सुभद्रा के पाणिग्रहण को ले सकते हैं-- महाभारत के अनुसार जब अर्जुन सुभद्रा का हरण करके चले गए तो उनके इस कृत्य से क्रुद्ध हुए बलराम आदि को समझाते हुए श्री कृष्ण ने अर्जुन द्वारा सुभद्रा हरण को उचित सिद्ध करते हुए तथा क्षत्रियों के प्रसंग में ब्राह्म विवाह की निन्दा करते हुए कहा है कि भला कौन ऐसा शूरवीर होगा जो जग में पशुवत् कन्या-दान को अच्छा समझेगा -

"प्रदानमपि कन्यायाः पशुवत् कोऽनुमन्यते ।"

-- देखें : म० भा० आदि अ० २१८ श्लो० २१६ ।

ऐसी परिस्थिति में तत्कालीन जन-नायकों ने क्षत्रियों के परिणय के लिए इन तीनों विवाहों के सम्मिलित स्वरूप को मान्यता देते हुए यह विचार प्रकट किया कि क्षत्रिय कुल के लोग अपने परिणय के लिए ब्राह्म, गान्धर्व एवं राक्षस, विवाह की इन तीनों प्रणालियों का आश्रय ले सकते हैं ।[1] कालान्तर में यही प्रणाली "स्वयंवर" के नाम से विख्यात हुई[2] और क्षत्रिय समाज में यह काफी लोकप्रिय भी हुई क्योंकि इस प्रणाली के अन्तर्गत उनके वीर कर्मों का प्रदर्शन (युद्ध सम्भव होने के कारण) कन्याओं की अभिरुचि का समादर एवं वर के प्रेम को मान्यता तथा वर एवं कन्या के पिता का उत्तरदायित्व, इन तीनों तत्वों को समान मान्यता दी गयी थी । उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर निष्कर्षरूप में अब हम कह सकते हैं कि संस्कृत-महाकाव्यों में वर्णित "स्वयंवर" प्रणाली पाणिग्रहण की वह प्रणाली है जिसके अन्तर्गत पूर्व-परिचित एवं एक दूसरे पर काम-भाव से आसक्त युवक एवं युवतियों का, माता-पिता की अनुज्ञा से, पाणिग्रहण संस्कार सम्पादित होता था और इस प्रसंग में वर को यदा-कदा युद्ध भी करना पड़ता था ।

१- अनुशासन पर्व में भीष्म ने इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहा है --

"ब्राह्मः क्षात्रोऽथ गान्धर्व एते धर्म्या नरर्षभ ।
पृथग्वा यदि वा मिश्राः कर्तव्याः नात्र संशयः ।।"

--म० भा० (स्वा० म०) अनु० ४४।१०

२- डा० विमल चन्द्र पाण्डेय ने भी स्वयंवर प्रणाली के प्रचलन का कारण महाभारत की उपर्युक्त परिस्थितियों को ही माना है ।

-- देखें : डा० विमल चन्द्र पाण्डेय : "भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास", पृ० १५५ ।

महाभारत-युग में स्वयंवर प्रणाली के उपरि विवेचित प्रसंगों से ऐसा प्रतीत होता है कि "स्वयंवर प्रणाली" को अपना उपर्युक्त स्वरूप प्राप्त करने में एक लम्बा समय लगा है । सम्भवत: यही कारण है कि महाभारत-युग में ही हमें इस स्वयंवर प्रणाली के तीन स्वरूप देखने को मिलते हैं :--

स्वयंवर की प्रथम कोटि के अन्तर्गत कन्या को स्वेच्छया अपना अनुरूप पति चुनने की पूरी स्वतंत्रता दी जाती थी । महाभारत-युग में इस कोटि के स्वयंवर के उदाहरण के रूप में हमारे समक्ष पाण्डु एवं कुन्ती तथा नल एवं दमयन्ती के स्वयंवर आते हैं ।

महाभारत के अनुसार महाराज कुन्तिभोज ने कुन्ती के परिणय के लिए एक वृहद् स्वयंवर का आयोजन किया और कुन्ती ने स्वयंवर-मण्डप में आए हुए विभिन्न नरेशों के मध्य में से महाराज पाण्डु का चयन करके उनसे अपना पाणिग्रहण सम्पादित किया ।[१]

इसी प्रकार विदर्भराज भीम ने अपनी कन्या दमयन्ती के लिए एक वृहद् स्वयंवर का आयोजन किया और उसमें विभिन्न राजाओं एवं देवताओं के मध्य में से दमयन्ती ने महाराज नल का पति रूप में चयन कर लिया और इस प्रकार वह नल से विवाहित हुई ।[२]

महाभारत के पाण्डु एवं कुन्ती तथा नल एवं दमयन्ती के के उपर्युक्त कथानकों से हमारे समक्ष इस प्रथम कोटि के स्वयंवर के तीन वैशिष्ट्य स्पष्ट हो जाते हैं ।

१- विस्तृत कथा के लिए देखें : म० भा० आदि अ० १११ ।

२- ,, ,, ,, ,, ,, ,, वन अ० ५६ ।

(अ) कन्या पिता द्वारा स्वयंवर का आयोजन तभी किया जाता था जब कन्याएं युवती हो जाती थीं ।[१]

(ब) स्वयंवर में वृणीत होने वाले युवक एवं युवतियां एक दूसरे से पूर्व परिचित (कर्णपरम्परया ही सही) एवं एक दूसरे पर कामासक्त होते थे ।[२]

(स) ऐसे स्वयंवरों में यदा-कदा स्वयंवरा-कन्या का अपहरण भी कर लिया जाता था ।[३]

(द) स्वयंवर में कन्या द्वारा वर चयन के अनन्तर उनका शास्त्रीय विधि-विधानों के आधार पर पाणिग्रहण संस्कार सम्पादित होता था[४] और इस प्रकार तभी ऐसे चयन पूर्ण माने जाते थे ।

१- कुन्ती एवं दमयन्ती अपने-अपने स्वयंवरों के अवसर पर पूर्णवयस्का हो चुकी थीं --देखें : म० भा० आदि १११।२ एवं वन० ५३।११

२- नल एवं दमयन्ती एक दूसरे से कर्णपरम्परया परिचित थे एवं एक दूसरे के सौन्दर्य को सुनकर अन्योन्यासक्त भी थे ।

--देखें : म० भा० वन० ५३।१६-१६।

३- महाभारत के अनुसार महाराज भीष्म ने अम्बा ; अम्बिका एवं अम्बालिका, काशिराज की इन तीन कन्याओं को उनके स्वयंवर-मण्डप से ही हरण कर लिया था । --- देखें : म० भा० आदि अ० १०२ ।

इसी प्रकार दुर्योधन ने भी कलिंगराज की कन्या का अपहरण उसके स्वयंवर-मण्डप से ही किया था ।

-- देखें : म० भा० शान्ति अ० ४ ।

४- देखें : म० भा० आदि १११।८-६ एवं वन० ५८।४०$\frac{1}{2}$

स्वयंवर की द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत कन्या की इच्छा की प्रधानता के साथ ही स्वयंवर के अवसर पर कन्या-पिता कोई शर्त रखता था और यह घोषणा करता था कि उसकी शर्त को पूरा करने वाले युवक का ही उसकी कन्या द्वारा चयन किया जाएगा ।

स्वयंवर की इस श्रेणी के उदाहरण के रूप में हमारे समक्ष अर्जुन एवं द्रौपदी का स्वयंवर आता है । महाभारत के अनुसार महाराज द्रुपद ने द्रौपदी को प्राप्त यौवना देखकर उसके पाणिग्रहण के लिए स्वयंवर के आयोजन करने का निश्चय किया ।[१] वह स्वयंवर में अपनी कन्या पाण्डु-पुत्र अर्जुन को देना चाहते थे एतदर्थ उन्होंने एक दृढ़ धनुष बनवाया था । स्वयंवर की निश्चित तिथि पर विभिन्न भूपाल आए और स्वयंवर के समय राजकुमार धृष्टद्युम्न ने द्रौपदी के स्वयंवर की शर्त को रखते हुए एक लक्ष्य निर्धारित करके कहा कि जो राजा पांच बाणों से लक्ष्य-वेध कर देगा द्रौपदी उसी का वरण करेगी ।[२] अन्ततः अर्जुन ने लक्ष्य-वेध किया और इस प्रकार द्रौपदी ने उनका वरण किया ।

अर्जुन एवं द्रौपदी के इस स्वयंवर से हमारे समक्ष द्वितीय कोटि के स्वयंवरों के निम्नलिखित वैशिष्ट्य स्पष्ट हो जाते हैं :--

(अ) ऐसे स्वयंवरों के अन्तर्गत यद्यपि यह विधान किया गया

१- विस्तृत वर्णन के लिए देखें : म० भा० आदि अ० १८३-१८८ ।

२- इदं धनुर्लक्ष्यमिमे च बाणाः
श्रृण्वन्तु मे भूपतयः समेताः ।
छिद्रेण यन्त्रस्य समर्पयध्वं
शरैः शितैर्व्योमचरैर्दशार्धैः ।।
--म० भा० आदि १८४।३५

था कि जो व्यक्ति स्वयंवर की निश्चित शर्त को पूर्ण करेगा कन्या उसी का वरण करेगी किन्तु ऐसी स्थिति में भी कन्या की अभिरुचि ही सर्वप्रधान मानी जाती थी । यही कारण है कि उपर्युक्त स्वयंवर में जब कर्ण भी लक्ष्य-वेध के लिए आगे बढ़ा था तो द्रौपदी ने उसका वरण करने से इन्कार कर दिया था और अन्ततः कर्ण लक्ष्य-वेध न कर सके ।[1]

(ब) यद्यपि स्वयंवर में सभी व्यक्ति उपस्थित होते थे परन्तु स्वयंवर की शर्त को पूरा करने का अधिकार केवल उच्चकुलीय, पराक्रमी एवं रूपसम्पन्न युवक को ही मिलता था और इस तथ्य की घोषणा भी स्वयंवर की निश्चित शर्त के साथ ही कर दी जाती थी ।[2]

१- दृष्ट्वा तु तं द्रौपदी वाक्यमुच्चै

जगाद नाहं वरयामि सूतम् ।

सामर्षहासं प्रसमीक्ष्य सूर्यं

तत्याज कर्णः स्फुरितं धनुस्तत् ।।

-- म० भा० आदि १८६।२३

२- राजकुमार धृष्टद्युम्न ने द्रौपदी के स्वयंवर में लक्ष्य-वेध की शर्त के साथ लक्ष्य-वेधक में उपर्युक्त गुणों को आवश्यक मानते हुए कहा था :--

'एतन्महत् कर्म करोति यो वै

कुलेन रूपेण बलेन युक्तः ।

तस्याद्य भार्या भगिनी ममेयं

कृष्णा भवित्री न मृषा ब्रवीमि ।

-- म० भा० आदि १८४।३६

और सम्भवतः इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए द्रौपदी ने कर्ण को लक्ष्य-वेध से विरत रहने का आदेश दिया था -- देखें : म० भा० आदि १८६। २३

(स) ऐसे स्वयंवरों में प्राय: ब्राह्मण एवं क्षत्रिय ये दोनों ही भाग लेते थे परन्तु तत्कालीन समाज क्षत्रिय मात्र को ही इसका अधिकारी मानता था ।[1] इस सन्दर्भ में इतना ध्यातव्य है कि अर्जुन आदि पंच पाण्डव स्वयंवर मण्डप में ब्राह्मण-वेश में थे और अर्जुन ने लक्ष्य-वेध भी ब्राह्मण-वेश में ही किया था, परन्तु इससे उपर्युक्त मत की स्थापना में कोई बाधा नहीं पड़ती क्योंकि अर्जुन आदि भी अन्तत: क्षत्रिय थे ।

(द) ऐसे स्वयंवरों में भी कन्या द्वारा शर्त को पूरा करने वाले वर का चयन कर लेने पर उन दोनों का विधिवत् पाणिग्रहण संस्कार सम्पादित होता था ; और तभी यह विवाह पूर्ण माना जाता था ।[2]

स्वयंवर की तृतीय श्रेणी के अन्तर्गत किसी स्वयंवर विशेष का आयोजन न करके जब कोई व्यक्ति अपनी कन्या का युवावस्था में विवाह नहीं कर पाता था तो अन्त में लाचार होकर वह स्वयं कन्या को पति-चयन का आदेश देता था । इस स्वयंवर के उदाहरण के रूप में हमारे समक्ष सावित्री एवं सत्यवान का कथानक आता है ।[3] महाभारत के अनुसार सावित्री के पिता जब चिरकाल तक उसके लिए पति न ढूंढ सके तो उन्होंने स्वयं सावित्री को अपना पति चुनने का अधिकार दिया और इस प्रकार सावित्री ने देश के विभिन्न भागों में भ्रमण करके अन्तत: सत्यवान को अपना पति चुना ।

१- न च विप्रेष्वधिकारो विद्यते वरणं प्रति ।
स्वयंवर: क्षत्रियाणामितीयं प्रथिता श्रुति: ।।
-- म० भा० आदि १८८ ।७

२- देखें : म० भा० आदि अ० १९७ । १०-१२

३- देखें : म० भा० वन. अ २९३-९४।

सावित्री एवं सत्यवान के उपर्युक्त स्वयंवर से हमारे समक्ष इस कोटि के स्वयंवरों के निम्नलिखित वैशिष्ट्य स्पष्ट हो जाते हैं :--

(अ) ऐसे स्वयंवरों में कन्या को वर चयन की पूरी छूट रहती थी और कन्या द्वारा चुना गया पति कन्या-पिता को अवश्य ही मान्य होता था । तभी तो सावित्री के पिता ने सत्यवान को अल्पायु जानते हुए भी सावित्री की जिद् के कारण उससे सत्यवान का विवाह किया था ।

(ब) ऐसे स्वयंवरों की पूर्णता भी धार्मिक विधि-विधानों के अनन्तर ही मानी जाती थी ।

यहां यह विचारणीय है कि महाभारत युग में यद्यपि इस प्रकार का स्वयंवर प्रचलित अवश्य था परन्तु इसमें कन्या की स्वेच्छाचारिता का भाव प्रमुख होने के कारण तत्कालीन जन-मानस में इसके विरोध का स्वर भी मुखरित होने लगा था । महाभारत के अनुशासन पर्व में महाराज भीष्म ने इस स्वयंवर की निन्दा करते हुए कहा था कि यद्यपि सावित्री ने सत्यवान का वरण किया था परन्तु वह वृद्धजनों से अनुमोदित नहीं था और वृद्धजनों का अनुमोदन प्राप्त न करने का कारण था इसमें कन्या की स्वेच्छाचारिता का प्राधान्य होना ।[१] इसी प्रसंग में आगे चलकर महाराज भीष्म ने महर्षि सुक्रतु का वचन उद्धृत करते हुए कहा है कि सज्जनों को स्वयंवर की इस कोटि

१- 'स्वयं वृतेन साऽऽज्ञप्ता पित्रा वै प्रत्यपद्यत ।
तदस्यान्ये प्रशंसन्ति धर्मज्ञा नेतरे जनाः ॥
एतत्तु नापरे चक्रुरपरे जातु साधवः ।
साधूनां पुनराचारो गरीयान्धर्मलक्षणः ॥'
-- म० भा० (स्वा० म०) अनु० ४५।४-५

का आश्रय नहीं लेना चाहिए क्योंकि यह असज्जनों का व्यवहार है ।[१]

परन्तु महाभारत की इस निन्दा के बावजूद धर्मशास्त्रीय लेखकों ने जहां अन्य दोनों स्वयंवर की कोटियों का विवेचन नहीं किया वहीं स्वयंवर की इस तृतीय कोटि को अपने विवेचन का लक्ष्य बनाया और इस स्वयंवर के विधान को स्पष्ट करते हुए कहा कि यदि कोई कन्या पिता की असमर्थता के कारण युवावस्था में (अर्थात् ऋतुकाल प्रारम्भ हो जाने पर) अविवाहित रह जाती है तो वह ऋतुकाल के प्रारम्भ से लेकर तीन वर्षों के अनन्तर अपने स्वयंवर के लिए स्वतंत्र हो जाती है[२]। परन्तु ऐसे स्वयंवरों में कन्या या वर किसी भी उपहार के

१- 'अस्मिन्नेव प्रकरणे कुरुतुर्वामयमब्रवीत् ।
नप्ता विदेहराजस्य जनकस्य महात्मन: ।।
असदाचरिते मार्गे कथं स्यादनुकीर्तनम् ।।
-- वही ६ एवं ७

२- 'त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती ।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्मात् विन्देत सदृशं पतिम् ।।
-- मनु० ९।९० इसी प्रकार देखें : बौधा० ध० सू० ४।१।१३ एवं वसिष्ठ ध० सू० १७।६७-६८ आदि । यहां यह तथ्य अवधेय है कि कुछ धर्मशास्त्रियों ने ऋतुमती कन्या को पति-चयन का अधिकार उसके ऋतुकाल से लेकर तीन महीने के पश्चात् ही दे दिया है देखें : गौ० ध० सू० १८।२० एवं विष्णु ध० सू० २४।४०-४१ । याज्ञवल्क्य ने इस झगड़े में न पड़कर यह विचार प्रकट किया है कि यदि किसी कन्या का कोई कन्या-दाता न हो तो वह अपने स्वयंवर के लिए स्वतन्त्र है -- 'गम्यं त्वभावे दातॄणां कन्या कुर्यात्स्वयंवरम् ।'
--याज्ञ० १।३।६४

अधिकारी नहीं रखते । यहां तक कि पिता को ऐसे स्वयंवर में भाग लेने वाली कन्या को आभूषण आदि भी नहीं देना चाहिए ।[1]

संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में महाभारत के अनन्तर उपर्युक्त त्रिविध कोटियों में से केवल प्रथम कोटि का स्वयंवर ही मान्य हुआ और वही लोकप्रिय भी,[2] क्योंकि स्वयंवर की यही एक ऐसी कोटि थी जो

१- 'अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद्यदि स्वयम् ।
नैनः किंचिदवाप्नोति न च यं साऽधिगच्छति ।।
अलंकारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयंवरा ।
मातृकं भातृदत्तं वा स्तेना स्याद्यदि तं हरेत् ।।
--मनु० ९।९१ एवं ९२

२- यहां यह तथ्य अवधेय है कि संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में महाकवि पद्मगुप्त विरचित 'नवसाहसांक चरित' नामक महाकाव्य में महाभारतयुगीन द्वितीय कोटि के स्वयंवर का भी एक अस्पष्ट उदाहरण हमें देखने को मिलता है । प्रस्तुत महाकाव्य के अनुसार परमार नरेश सिन्धुराज एवं शशिप्रभा एक दूसरे के रूप का श्रवण करके एक दूसरे को पति-पत्नी रूप में पाना चाहते थे किन्तु नागराज शङ्खपाल ने यह निश्चित् कर रखा था कि जो व्यक्ति असुरनृपति वज्रांकुश के उद्यान से सुवर्ण कमलों को लाकर उसे समर्पित करेगा, शशिप्रभा का उसी के साथ विवाह होगा । अन्ततः सिन्धुराज वज्रांकुश के सरोवर से सुवर्ण कमलों को लाकर शङ्खपाल को समर्पित करता है और इस प्रकार उसका शशिप्रभा से पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न होता है ।

सिन्धुराज एवं शशिप्रभा के परिणय के उपर्युक्त विवेचन से ऐसा लगता है कि उनका विवाह अर्जुन एवं द्रौपदी के स्वयंवर पद्धति के

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)..

संस्कृत महाकवियों के आदर्श नायकों एवं नायिकाओं के लिए उपयुक्त थी । महाभारतयुगीन स्वयंवर की द्वितीय श्रेणी में चूंकि संघर्ष का वातावरण उपस्थित होने का भय रहता था और कन्या की अभिरुचि या पिता की इच्छा का कोई विशेष महत्व नहीं रहता था, क्योंकि शर्त को पूरा करने वाला व्यक्ति ही कन्या के साथ विवाह का अधिकारी हो सकता था । सम्भवत: इन्हीं कारणों को ध्यान में रखते हुए आगे के संस्कृत महाकाव्यों में यह प्रणाली प्रयुक्त नहीं हुई ।

स्वयंवर की तृतीय कोटि जैसा, कि हम देख चुके हैं, कन्या पिता की लाचारी में सम्पन्न होते थे और ऐसे स्वयंवरों में कन्या पिता प्राय: निष्क्रिय एवं तटस्थ रहा करते थे । सम्भवत: पिता की उपेक्षा को ध्यान में रखते हुए ही संस्कृत के अन्य महाकाव्यों ने इस प्रणाली का भी आश्रय नहीं लिया ।

ऊपर कहा जा चुका है कि संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में परिणय की स्वयंवर प्रणाली काफी लोकप्रिय थी, अत: अब यहां इस तथ्य का विवेचन किया जाएगा कि परिणय की यह प्रणाली संस्कृत के किन-किन काव्यों में प्रयुक्त हुई है एवं उसका काव्यशास्त्रीय स्वरूप क्या है तथा उसकी लोकप्रियता के कारण क्या हैं ?

अनुसार ही हुआ था, अत: इसे स्वयंवर का उदाहरण माना जाना चाहिए परन्तु नवसाहसांकचरित के विश्लेषण से यह भी प्रतीत होता है कि यह आसुर विवाह का उदाहरण है । वस्तुत: सिन्धुराज एवं शशिप्रभा के उपर्युक्त उदाहरण को आसुर एवं स्वयंवर इन दोनों प्रणालियों का मिश्रित रूप माना जाना चाहिए क्योंकि न तो यह शुद्ध रूप से स्वयंवर (विभिन्न राजाओं की उपस्थिति का उल्लेख न होने से) का ही उदाहरण है और न ही आसुर (नायक एवं नायिका के पूर्व परिचित एवं पूर्वप्रेमी होने से) का ।

ग- पाणिग्रहण के विविध प्रकारों में सर्वाधिक लोकप्रिय प्रकार-पृष्ठभूमि एवं कारण

संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में महाभारत के अनन्तर मुख्यरूप से रघुवंश, नैषधीयचरित, विक्रमांक देवचरित एवं धर्मशर्माभ्युदय इन चार महाकाव्यों में स्वयंवर का विस्तृत वर्णन हुआ है ।[१] इन महाकाव्यों के विश्लेषणात्मक अध्ययन से संस्कृत महाकाव्यों में प्रयुक्त स्वयंवर-प्रणाली का हमें निम्नलिखित स्वरूप प्राप्त होता है --

प्रत्येक भूपति या कन्याप्रदाता अपनी कन्या या भगिनी को प्राप्त यौवना एवं किसी नरेश विशेष पर आसक्त देखकर उसके स्वयंवर का निश्चय करता था ।[२] स्वयंवर की तिथि निश्चित हो जाने पर वह उसमें भाग लेने के लिए विभिन्न नरेशों के यहां निमन्त्रण भेजता था ।[३] इस स्वयंवर

१- स्वयंवर-प्रणाली के विस्तृत विवेचन के लिए देखें : रघु० सर्ग ५-६-७; नैषध० सर्ग ६-१५, विक्रमांक० सर्ग ८-१० एवं धर्मशर्मा० सर्ग ६-१७ ।

२- इन्दुमती, दमयन्ती, चन्द्रलेखा एवं शृंगार वती इन सभी राज-कन्याओं के स्वयंवर का आयोजन उनकी युवावस्था में ही किया गया था ।

--देखें : क्रमशः रघु० ५।३६ ; नैषध० चतुर्थ सर्ग ; विक्रमांक अष्टम सर्ग एवं धर्मशर्मा० ६-१० ।

उपर्युक्त कन्याओं में से दमयन्ती एवं चन्द्रलेखा ये दोनों क्रमशः नल एवं विक्रमांकदेव के प्रति पहले से ही आसक्त हो चुकी थीं और उन्हें पति-रूप में पाना चाहती थीं ।

--देखें : क्रमशः नैषध० १।३७ आदि विक्रमांक ८।२७-२८ ।

३- देखें : रघु० ५।३६ नैषध० ५।१

विक्रमांक ६। धर्मशर्मा० ६।३१

में भाग लेने के लिए यदा-कदा कन्या का बलात् अपहरण करने वाले भी आते थे, ऐसे लोग शक्तिशाली तो बहुत होते थे परन्तु नीच वंश के होते थे ।[१] यदा-कदा इन स्वयंवरों में देवलोक के व्यक्ति भी उपस्थित रहते थे ।[२] कन्या-पिता स्वयंवर मण्डप का निर्माण नगर से बाहर करवाता था[३] और स्वयंवर-मण्डप के अतिरिक्त आमन्त्रित प्रत्येक नरेश के आवास के लिए भिन्न शिविरों का निर्माण भी करवाता था ।[४] इस अवसर पर कन्या-नगर में भी समागत युवक समाज के स्वागत के लिए विभिन्न द्वार बनाए जाते थे[५] एवं नगर के प्रत्येक

१- महाकवि श्री हर्ष के अनुसार दमयन्ती के स्वयंवर में आमन्त्रित एवं दर्शक राज-समुदाय के अतिरिक्त दमयन्ती का बलात् अपहरण करने वाले भी आए थे --

'योग्यैर्व्रजद्भिर्नृपजां वरीतुं वीरैरनर्हैः प्रसभेन हर्तुम् ।
द्रष्टुं परैस्तानुपरोद्धुमन्यैः स्वभावलोलाः ककुभो बभूवुः ॥

-- नैषध १०।३

२- दमयन्ती के स्वयंवर में देवराज इन्द्र, अग्नि, वरुण एवं यम ये चार देवता भी उपस्थित थे ।

-- देखें : नैषध० १०।१०

३- देखें : रघु० ७।१ नैषध० १५।१ एवं ६-१० ;
विक्रमांक स· ६ धर्मशर्मा० १७।१०३

४- अज, नल, विक्रमांक एवं धर्मशर्मा के स्वयंवर-वर्णन प्रसंग से यह ज्ञात होता है कि प्रत्येक युवराज के लिए भिन्न-भिन्न स्वयंवर शिविर बनाए जाते थे । -- देखें : रघु० ५।६३ एवं ७।२ ; नैषध० १५।१ एवं ६।१० ।

५- देखें : रघु० ७।४ एवं नैषध० १०।३१ ।

घर सुरुचिपूर्ण चित्रों से सुसज्जित किए जाते थे ।[1] स्वयंवर की निश्चित तिथि पर आमन्त्रित नरेश ससैन्य स्वयंवर मण्डप में भाग लेने के लिए उपस्थित होते थे और उन्हें भिन्न-भिन्न शिविरों में ठहराया जाता था । इन शिविरों में कन्या-पिता की ओर से प्रत्येक आगत नरेश के स्वागत का पूर्ण प्रबन्ध रहता था ।[2] स्वयंवर की निश्चित तिथि पर कन्या-पिता आगत-नरेशों को स्वयंवर-मण्डप में उपस्थित होने की सूचना दूतों द्वारा भेजता था ।[3]

१- दमयन्ती के स्वयंवर के अवसर पर भीम के नगर के सभी घर सुरुचिपूर्ण चित्रों से विभूषित किए गए थे तथा नागरिक भी सुन्दर वस्त्रों से युक्त थे --

'विभूषणैः कंचुकिता बभुः प्रजा विचित्रचित्रैः स्नपितास्त्विषो गृहाः

--नैषध० १५।१५

इसी प्रकार देखें : धर्मशर्मा० १६।८३-८८ आदि ।

२- महाराज भीम ने स्वयंवर में भाग लेने आने वाले प्रत्येक भूपति का विधिवत्सत्कार किया था --

'रम्येषु हर्म्येषु निवेशनेन सपर्यया कुण्डिननाकनाथः ।

प्रियोक्तिदानादरनम्रताभिरुपाचरन्नाह च राजकम् ।।

-- वही १०।२७ इसी प्रकार देखें : रघु० ७।२६

३- महाराज भीम ने स्वयंवर मण्डप में उपस्थित होने की सूचना दूतों द्वारा ही विभिन्न राजशिविरों में प्रेषित की थी --

'वैदर्भदूतानुनयोपहूतैः शृंगारभंगीष्वनुभाववत्सु ।

स्वयंवरस्थानजनाश्रयस्तैर्दिने परत्रालमकारि वीरैः ।।

-- वही १०।३७

इस स्वयंवर-मण्डप में भी प्रत्येक नरेश के आसीन होने का स्थान नियत रहता था ।[1] दूत द्वारा सन्देश प्राप्त कर सभी आगत नरेश स्वयंवर मण्डप में अपने निश्चित स्थानों पर बैठ जाते थे । सभी नरेशों के आसन ग्रहण कर लेने पर वरणीया राजकुमारी, पालकी या हाथी पर सवार होकर या पैदल ही अपनी सखियों सहित प्रवेश करती थी ।[2] इसके अनन्तर राजकुमारी को उसकी चतुर सहेली या दासी या साक्षात् सरस्वती ही स्वयंवर-मण्डप में उपस्थित विभिन्न नरेशों का विस्तृत परिचय देती थी ।[3] और इस परिचय-क्रम में राजकुमारी जब अपने मनोवांछित पति के पास पहुंचती थी तो क्रमशः स्वयं या दासी द्वारा उस नरेश

१- महाराज भोज ने स्वयंवर-मण्डप में अज को उनके निश्चित् आसन की ओर ही संकेत करके उन्हें बैठाया था --

"वैदर्भनिर्दिष्टमसौ कुमारः क्लृप्तेन सोपानपथेन मंचम् ।
शिलाविभंगैर्मृगराजशावस्तुंगं नगोत्संगमिवारुरोह ॥

--रघु० ६।३

२- इन्दुमती एवं दमयन्ती ने पालकी एवं चन्द्रलेखा तथा शृंगारवती ने क्रमशः पैदल तथा हाथी पर आरूढ़ होकर स्वयंवर-मण्डप में प्रवेश किया था -- देखें : रघु० ६।१०; नैषध० १०।१०८ ; विक्रमांक ९।५२-६५ एवं कर्णसु० १७।११

३- इन्दुमती को उसकी पुंवत्प्रगल्भा सहेली सुनन्दा ने, दमयन्ती को साक्षात् सरस्वती ने एवं चन्द्रलेखा एवं शृंगारवती को उनकी कोकिलकण्ठा दासियों ने स्वयंवर-मण्डप में उपस्थित विभिन्न नरेशों का परिचय दिया था ।

-- देखें : रघु० ६।२० ; नैषध० १०।७०-७१ ; विक्रमांक० ९। ८७ एवं कर्णसु० १७।३२ ।

के कण्ठ में पहना देती थी ।[1] इस प्रकार राजकुमारी द्वारा चयन किए गए वर को लेकर कन्या-पिता नगर में प्रवेश करता था और वहां उसका विधिवत् पाणिग्रहण संस्कार सम्पादित होता था ।[2] इसके अनन्तर कुछ दिन श्वसुर कुल-निवास के पश्चात् वर-वधू को लेकर अपने नगर को प्रस्थान करता था और कन्या-पिता वर एवं कन्या को विभिन्न उपहार देकर विदा करता था ।

१- महाकवि हर्ष, बिल्हण एवं हरिश्चन्द्र ने अपनी नायिकाओं दमयन्ती, चन्द्रलेखा एवं शृंगारवती द्वारा ही वरणीत राजकुमारों के कण्ठों में माल्यार्पण करवाया है -- देखें : नैषध० १४।४८, विक्रमांक ९।१४७ एवं धर्मशर्मा० १७।८० ।

परन्तु कालिदास की छबीली नायिका इन्दुमती ने स्वयं अज के गले में माल्यार्पण न करके धात्री द्वारा उन्हें माला पहनवायी है --

'सा चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरूः।
आसंजयामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्तमिवानुरागम् ॥

--रघु० ६।८३ ।

रघुवंश के टीकाकार मल्लिनाथ ने इन्दुमती के इस कृत्य का कारण अनौचित्य मानते हुए लिखा है -- 'धात्र्या उपमातुः सुनन्दायाः कराभ्यां रघुनन्दनस्याजस्य कण्ठे यथाप्रदेशं यथास्थानमासंजयामास आसक्तं कारयामास न तु स्वयमासंजन अनौचित्यात् ।' परन्तु यहां अनौचित्य नहीं अपितु इन्दुमती की अत्यधिक लज्जालुता को ही कारण मानना चाहिए । भला अपने पति को माला पहनाने में अनौचित्य क्या है ?

२- देखें : रघु० ७।१ एवं १९-२८ ; नैषध० १५।७ ; विक्रमांक० ९।१५१ एवं १०।१-३ एवं धर्मशर्मा० १७। १०५ ।

वर के मार्ग में यदा-कदा स्वयंवर-मण्डप में उपस्थित अन्य नरेश आक्रमण भी कर देते थे।[1] अन्ततः वर की विजय होती थी और इस प्रकार विजित नरेश-राजकन्या के साथ अपने नगर में प्रवेश करता था।[2]

प्रस्तुत प्रबंध के प्रारम्भ में यह कहा जा चुका है कि संस्कृत-महाकाव्यों की परम्परा में परिणय की स्वयंवर-प्रणाली काफी लोकप्रिय थी। अतः यहां प्रश्न यह उठता है कि इसकी लोकप्रियता के कारण क्या थे ?

यदि संस्कृत महाकाव्यों के उपर्युक्त स्वयंवर-स्थलों का समीक्षात्मक अध्ययन किया जाय तो इन महाकाव्यों में स्वयंवर प्रणाली की लोकप्रियता के मूलभूत कारण निम्नलिखित प्रतीत होते हैं :--

संस्कृत-कवियों की दृष्टि में विवाह-संस्कार द्वारा परिणीत पति-पत्नी का सम्बन्ध यावज्जीवन का सम्बन्ध होता है, अतः जीवन से संबन्ध रखने वाले ऐसे महत्वपूर्ण संस्कार से परिणीत होने वाले पति-पत्नी के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे परिणय से पूर्व ही एक दूसरे से परिचित हों और वे एक दूसरे को अच्छी तरह से समझ लें। स्वयंवर प्रणाली में चूंकि

१- देखें : रघु० ७।३५-७१।

यहां यह तथ्य अवधेय है कि युद्ध का वातावरण तो राजकुमारी द्वारा किसी वर विशेष का चयन कर लिए जाने पर स्वयंवर-मण्डप में ही उपस्थित हो जाता था परन्तु स्वयंवर-मण्डप में इन्द्राणी की उपस्थिति के कारण युद्ध नहीं होने पाता था। स्वयंवर-मण्डप में युद्ध बचाने के लिए ही प्रत्येक महाकवि ने इनमें शची को उपस्थित करा रखा है -- देखें : रघु० ७।३ एवं नैषध० ६।७८।

२- देखें : रघु० ७।७० ; नैषध० १६। १२४ ;

गान्धर्व विवाह (जिसमें वर एवं कन्या का सम्बन्ध परिणय के पूर्व प्रेम से ही सम्भव होता है) का तत्व भी समाहित होता है । अतः हम कह सकते हैं कि संस्कृत-महाकाव्यों में स्वयंवर-प्रणाली की लोकप्रियता का प्रथम कारण था इसका गान्धर्व विवाह से युक्त होना ।

भारतीय समाज चिन्तकों का प्रारम्भ से ही यह मन्तव्य रहा है कि पुत्र या कन्या के विवाह का उत्तरदायित्व पूर्णरूप से माता-पिता पर होता है । और इस दृष्टि से उनकी दृष्टि में ब्राह्म विवाह प्रारम्भ से ही श्रेष्ठ था । स्वयंवर विवाह में भी चूंकि ब्राह्म विवाह का तत्व समाहित था और वर एवं कन्या आपस में एक दूसरे को परिणय से पूर्व अच्छी तरह से जानते हुए भी पिता की अनुज्ञा प्राप्त करके विवाहित होते थे एतदर्थ हम कह सकते हैं कि संस्कृत-महाकाव्यों में स्वयंवर-प्रणाली की लोकप्रियता का दूसरा कारण था इसका ब्राह्म विवाह से मिश्रित होना ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में महाकाव्य लक्षण-प्रसंग में यह कहा जा चुका है कि प्रत्येक-महाकाव्य में युद्ध का वर्णन होना चाहिए । स्वयंवर-प्रणाली में जैसा कि हम देख चुके हैं, युद्ध भी होते थे । इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में स्वयंवर-प्रणाली की लोकप्रियता का तृतीय कारण था इसका युद्ध प्रधान होना ।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि संस्कृत-महाकाव्यों में परिणय की स्वयंवर प्रणाली की लोकप्रियता के प्रमुख कारण थे इस प्रणाली का गान्धर्व एवं ब्राह्म, परिणय की इन दो प्रणालियों से मिश्रित एवं युद्ध-प्रधान होना ।

आश्चर्य का विषय है कि संस्कृत महाकाव्यों में स्वयंवर प्रणाली की इस लोकप्रियता के बावजूद तत्कालीन किसी भी धर्मशास्त्रीय लेखक

ने अष्टविधि परिणयों के प्रतिपादन क्रम में स्वयंवर-प्रथा का उल्लेख तक नहीं किया ? ऐसी स्थिति में यहां एक स्वाभाविक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आखिर धर्मशास्त्रीय लेखकों ने इस प्रथा का स्वरूप विवेचन क्यों नहीं किया ? प्रस्तुत विषय में पौरस्त्य एवं पाश्चात्य जगत के अग्रगण्य विद्वानों ने अनेक तरह की विचार धाराएं प्रस्तुत की है । पाश्चात्य जगत के प्रसिद्ध कानून मर्मज्ञ श्रीस्टर्नबैक महोदय का विचार है कि `चूंकि स्मृतिकारों की दृष्टि में उत्तम परिणय वही था जिसमें कन्यादान का सम्पादन हो । कन्या द्वारा स्वयमेव पति ढूंढ लेने में ऐसा सम्भव नहीं था अत: उन्होंने इस प्रकार के विवाह का उल्लेख करना उचित नहीं समझा ।[१]

श्री स्टर्नबैक महोदय के उपर्युक्त मन्तव्य को सत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि गान्धर्व, आसुर, राक्षस एवं पैशाच परिणय की यह चार प्रणालियां भी तो कन्यादान से रहित होती हैं ? फिर धर्मग्रन्थों ने इनका विवेचन क्यों किया ?

श्री वेदालंकार जी का मन्तव्य है कि `स्वयंवर की पद्धति क्षत्रिय राजाओं में विशेषरूप से प्रचलित थी । सावित्री, सीता, दमयन्ती राजाओं की कन्याएं थीं । ब्राह्मणों में इस पद्धति का रिवाज बहुत कम था अत: ब्राह्मणों द्वारा लिखी गयी स्मृतियों में स्वयंवर का उल्लेख भी नहीं है ।[२]

श्री वेदालंकार जी द्वारा प्रदत्त उपर्युक्त कारण भी मान्य

१- देखें : Mr. L. Stern back : Juridical studies in Ancient Indian Law, P.P. 387.

२- देखें : प्रो० हरिदत्त वेदालंकार : `हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास`, पृष्ठ १८९ ।

नहीं हो सकता क्योंकि गत पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि धर्मशास्त्रीय लेखकों ने चारों ही वर्णों में प्रचलित परिणय की विभिन्न विधियों को अपने विवेचन का लक्ष्य बनाया है और इस प्रसंग में क्षत्रिय वर्ग के लिए गान्धर्व एवं राक्षस परिणय को मान्य निरूपित किया है । अत: यह कैसे कहा जा सकता है कि चूंकि स्वयंवर का प्रचलन क्षत्रिय वर्ग में था और स्मृति लेखक ब्राह्मण वर्ग के थे इसीलिये उन्होंने स्वयंवर का उल्लेख नहीं किया ।

धर्मशास्त्रीय लेखकों द्वारा स्वयंवर प्रणाली का उल्लेख न करने का एक महत्वपूर्ण कारण है जो कि उपर्युक्त लेखकों के भिन्न दृष्टिकोण पर आधारित है । स्वयंवर प्रणाली के काव्यशास्त्रीय स्वरूप-विवेचन के प्रसंग में ऊपर हम देख चुके हैं कि संस्कृत-महाकाव्यों की परम्परा में प्रयुक्त, परिणय संस्कार की स्वयंवर प्रणाली अपने आप में कोई स्वतन्त्र या नवीन विवाह-विधि न होकर ब्राह्म, गान्धर्व एवं राक्षस इन तीन पाणिग्रहण की विधियों से युक्त थी । धर्मशास्त्रीय लेखक इन तीन विधियों का अपने ग्रन्थों में विस्तृत विवेचन कर चुके थे । ऐसी परिस्थिति में हम यहां यह मान सकते हैं कि चूंकि "स्वयंवर" प्रणाली परिणय की कोई स्वतन्त्र प्रणाली न होकर ब्राह्म, गान्धर्व एवं राक्षस इन तीन प्रणालियों से युक्त थी इसीलिए धर्मशास्त्रीय लेखकों ने इसे अपने विवेचन का लक्ष्य नहीं बनाया क्योंकि वे ब्राह्म, गान्धर्व एवं राक्षस इन तीन विधियों का विस्तृत विवेचन कर चुके थे ।

3- पाणिग्रहण के घटक अंग

गत पृष्ठों में मानव-जीवन में परिणय संस्कार की उपयोगिता एवं उसकी महत्ता का विशद विवेचन किया जा चुका है और यह स्पष्ट रूप से कहा जा चुका है कि परिणय संस्कार के अनन्तर व्यक्ति एक सहयोगिनी भार्या के साथ गृहस्थ जीवन को व्यतीत करता है और इन दोनों के सहयोग से ही दोनों का गृहस्थ जीवन सफल होता है । इस प्रसंग में यदि गृहस्थ जीवन को एक गाड़ी माना जाय तो पति-पत्नी ये दोनों इसके

दो पहिए के रूप में मान्य होते हैं । जैसे गाड़ी के संचालन में दोनों ही पहियों का समान स्थान होता है एक दूसरे के अभाव में दोनों ही स्वत: अपूर्ण एवं निरर्थक होती हैं, ठीक वैसे ही मानव-जीवन रूपी गाड़ी के सम्यक् संचालन में पति एवं पत्नी रूपी दोनों ही पहियों का सहयोग अपेक्षित होता है और अपने आप में वे दोनों अपूर्ण होते हैं । इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए भारतीय मनीषियों ने विवाह के पूर्व ही युवक एवं युवतियों के कुछ विशिष्ट गुणों का वर्णन करते हुए यह विचार प्रकट किया कि गुणी युवकों का गुणयुक्ता युवतियों से ही विवाह हो क्योंकि तभी दोनों का जीवन सफल हो सकता है । संस्कृत महाकवियों ने भी इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए योग्य युवक-युवतियों का ही परिणय सम्पन्न कराया है । संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में अज-इन्दुमती[1] राम-सीता,[2] विक्रमांकदेव चन्द्रलेखा,[3] धर्मशर्मा-शृंगारवती,[4] नल-दमयन्ती[5] आदि नायक एवं नायिकाएं गुणों, वय एवं सौन्दर्य आदि में एक दूसरे के अनुरूप ही थीं ।

१- कुलेन कान्त्या वयसा नवेन गुणैश्च तैस्तैर्विनयप्रधानैः ।
त्वमात्मनस्तुल्यममुं वृणीष्व रत्नं समागच्छतु काञ्चनेन ।।
-- रघु० ६।७९

२- लब्ध्वां ततो विश्वजनीनवृत्तिस्तामात्मनीनामुदवोढ़ रामः ।
सद्रत्नमुक्ताफलमर्मशोभां सम्भावयन्ती रघुवर्यलक्ष्मीम् ।।
-- भट्टि० २।४८

३- निवेश्यतां किन्नरकण्ठि कण्ठे मालस्य दोर्वन्यविलासवुली ।
कीर्तिर्विधेरस्तु समानयोगात् कामस्य कामं फलतु प्रयासः ।।
--विक्रमांक ६।९४६

४- देखें : धर्मशर्मा० १७।८२

५- देखें : नैषध० ३।४६-४८ आदि

प्रस्तुत प्रसंग में यहां सर्वप्रथम वैवाहिकी कन्या के अपेक्षित गुणों एवं उसकी विवाह योग्य वय का निरूपण किया जाएगा। तदनन्तर वर के अपेक्षित गुणों एवं उसकी विवाह-योग्य अवस्था आदि का वर्णन करते हुए, वैवाहिक सम्बन्धों में वर एवं कन्या इन दोनों को समान रूप से प्रभावित करने वाले कुल, गोत्र एवं पिण्ड तथा प्रवर आदि का विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा।

क- कन्या की योग्यताएं, सद्गुण एवं विवाह-योग्य अवस्था आदि

भारतीय वैवाहिकी परम्परा के अनुसार पति, पत्नी का सम्बन्ध यावज्जीवन का सम्बन्ध होता है। विवाह संस्कार के अनन्तर कन्या पत्नी के रूप में एक नए परिवार में प्रवेश करती है जहां पति के अतिरिक्त एक विशाल परिवार की देखभाल का उत्तरदायित्व एवं विभिन्न सामाजिक उत्तरदायित्वों का भार भी उसके ऊपर आ जाता है।[१] पत्नी के इस महत्वपूर्ण

१- ऋग्वेद के दशम मण्डल में एक स्थान पर कहा गया है कि हे स्त्री! तू श्वसुर, सास, ननंद, देवर आदि के साथ ससुराल में जाकर साम्राज्ञी जैसी रह --

'साम्राज्ञी श्वसुरे भव, साम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि साम्राज्ञी भव साम्राज्ञी अधिदेवृषु'॥
--ऋ० १०।८५।४६

ऋग्वेद के इस मन्त्र से प्रकारान्तर से ध्वनि यह निकलती है कि नव-वधू के ऊपर, पति के अतिरिक्त श्वसुर, सास एवं ननन्द तथा देवर आदि के सम्यक् पालन का उत्तरदायित्व भी रहता है और उसका यह परम कर्तव्य होता है कि वह अपने इस दायित्व को एक रानी की तरह पूर्ण करे। नव-वधू के इस कर्तव्य को हम उसका पारिवारिक

दायित्व को देखते हुए, विवाह के पूर्व किसी भी कन्या की सम्यक् परीक्षा करके इस तथ्य का विचार कर लेना आवश्यक हो जाता है कि विवाह के अनन्तर पत्नी के रूप में आने वाली कन्या अपने इस दायित्व को अच्छी तरह से निभा सकेगी या नहीं ? इस सन्दर्भ में यदि हम वैदिक साहित्य का आश्रय लें तो यह ज्ञात होता है कि उस युग में भी वैवाहिकी कन्या के अन्तर्गत, विभिन्न गुणों का होना आवश्यक माना जाता था । यदि हम अथर्ववेद के प्रथम काण्ड के चौदहवें सूक्त का विश्लेषण करें तो यह ज्ञात होता है कि उस युग में वैवाहिकी कन्या के अन्तर्गत कन्यात्व (अर्थात् कन्या ऐसी होनी चाहिए कि जिसको देखने से मन में प्रेम उत्पन्न हो । रूप, तेज एवं विभिन्न शारीरिक

इसी प्रकार ऋग्वेद में एक स्थान पर नव-वधू के आदर्शात्मक मार्ग का निरूपण करते हुए कहा गया है कि "हे स्त्री ! तू पति को कष्ट न दे, घर के पशुओं का कल्याण करने वाली बन तथा उत्तम मन वाली तथा उत्तम तेजस्विनी होकर रह । वीर पुत्रों को उत्पन्न करने वाली हो, घर में पति के भाई हों ऐसी कामना करने वाली हो, सुख देने वाली हो, हमारे दो पैरों वाले एवं चार पैर वाले जीवों के लिए आनन्द देने वाली हो --

अघोर चक्षुरपतिघ्न्येधि
शिवा पशुभ्यः सुमनः सुवर्चाः ।
वीरसूर्देवृकामा स्योना
शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ।।
--ऋ० १०।८५।४४

इस मन्त्र में गृहिणी के विस्तृत उत्तरदायित्व का वर्णन किया गया है ।

गृहिणी के अन्य कर्त्तव्यों के लिए देखें : ऋ० १०।८५।१७-१८ आदि ।

अंगों का सौन्दर्य आदि सभी तथ्यों का समावेश 'कन्या' शब्द में निहित है) वधूत्व (अर्थात् जो विवाह के अनन्तर पति के घर जाकर रहना पसन्द करे) एवं कुलपात्व (कुल का पालन करने वाली) गुण आवश्यक माने जाते थे । इन तीन गुणों के अतिरिक्त कन्या में पति के भाग्य को बढ़ाने वाली भावना आदि भी आवश्यक मानी जाती थी ।[१] इसी प्रकार अथर्ववेद के द्वितीय काण्ड के छत्तीसवें सूक्त का यदि विश्लेषण किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि वैवाहिकी कन्या में उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त कुमारीत्व एवं सुमति आदि भी होना चाहिए ।[२]

वैवाहिकी कन्या में आवश्यक उपर्युक्त गुणों के विवेचन के अतिरिक्त वैदिक साहित्य में ही कुछ विशेष गुणों से युक्त कन्या को विवाह के अयोग्य निरूपित किया गया है । अथर्ववेद की प्रथम कण्डिका में एक स्थान पर एक नवयुवक ने कहा है कि हरिण के समान पैरों वाली, बैल के समान

१- विस्तृत विवेचन के लिए देखें : अथर्व० १।१४

म० म० ब्रह्मर्षि पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी ने भी उपर्युक्त सूक्त को आधार बनाकर यही विचार व्यक्त किया है - देखें : "श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा लिखित, 'अथर्ववेद में गृहस्थाश्रम' नामक ग्रन्थ में संग्रहीत उपर्युक्त सूक्त के पूर्व की टिप्पणी ।

२- आ नो अग्ने सुमतिं संभलो गमेदिमां कुमारीं सह नो भगेन ।
जुष्टा वरेषु समनेषु वल्गुरोषं पत्या सौभगमस्त्वस्यै ॥

-- अथर्व० २।३६।१

इस मन्त्र से प्रकारान्तर से यही स्पष्ट होता है कि वैवाहिकी कन्या में कुमारीत्व एवं सुमतित्व आवश्यक रूप से विद्यमान होना चाहिए ।

दांतों वाली, गाय की चाल वाली, क्रोध में फुंकार करने वाली, ताना मारने की आदत वाली एवं अधिक सुन्दर बनने की कुप्रवृत्ति वाली कन्याओं को हम अपने से पृथक् करते हैं ।[1] अथर्ववेद के इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त गुणों से युक्त कन्या विवाह के अयोग्य समझी जाती थीं ।

कालक्रम के अनुसार वैदिक साहित्य के अनन्तर वाल्मीकि रामायण का युग आता है । और यदि वाल्मीकि रामायण का विश्लेषण किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि उस युग में भी वैवाहिकी कन्या में कुछ विशेष गुणों का होना आवश्यक माना जाता था । यहां यह अवधेय है कि वाल्मीकि ने इस विषय पर कहीं भी स्पष्ट प्रकाश नहीं डाला है परन्तु लंका काण्ड में सीता विलाप के प्रसंग में उन्होंने कुछ ऐसी बातें कही हैं जिनसे प्रकारान्तर से यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक कन्या में उन-उन गुणों की स्थिति अवश्य ही होनी चाहिए और विवाह से पूर्व उस तथ्य की परीक्षा भी होनी चाहिए कि उसमें ये गुण विद्यमान हैं या नहीं । लंकाकाण्ड में राम की कथित मृत्यु को सुनकर बिलखती सीता कहती हैं कि सामुद्रिक शास्त्र-ज्ञाता विद्वानों ने मुझे सधवा और पुत्रवती बताया था । इसके विपरीत जिन कुलक्षणों के कारण स्त्रियों को वैधव्य प्राप्त होता है वे मेरे शरीर पर नहीं हैं । आगे चलकर सौभाग्य-द्योतक लक्षणों का ब्योरा देते हुए सीता ने कहा है कि मेरे केश सूक्ष्म, समान एवं काले हैं । नेत्रभ्रू जुड़े हुए नहीं हैं, जांघें गोल एवं रोमहीन हैं तथा दांत आपस में सटे हुए हैं । आंखों के प्रान्त भाग, नेत्र, हाथ, पैर, टखने और जांघें ये सब समान और उभरे हुए हैं । नख उतार-चढ़ाव वाले और चिकने हैं तथा उंगलियां भी समान हैं । मेरे उरोज मोटे और

१- ऋश्यपदीं वृषदतीं गोषेधां विधमामुत ।
विलीढ्यं ललाम्यं ता अस्मन्नाशयामसि ॥
--अथर्व० १।१८।४

सटे हुए हैं, उनके चूचक धंसे हुए हैं । मेरी नाभि गहरी है तथा पार्श्व भाग और छाती उभरी हुई है । मेरी अंगकान्ति खरादी हुई मणि के समान उज्ज्वल है तथा शरीर के रोएं कोमल हैं तथा पैरों की दसों उंगलियां और तलवे पृथ्वी से अच्छी तरह सट जाते हैं । मेरे हाथ-पैर लाल हैं, उनके पोरों में यव की समूची रेखाएं हैं ।[१]

सीता के इस वक्तव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि वाल्मीकि-युग में विवाह के पूर्व प्रत्येक कन्या में विभिन्न गुणों की परीक्षा की जाती थी और सूक्ष्म समान एवं अश्वेत केश, सटे दांत, उन्नत उरोज, गहरी नाभि आदि वैवाहिकी कन्या के आवश्यक लक्षण माने जाते थे ।

वाल्मीकि रामायण के अनन्तर धर्मशास्त्रीय लेखकों का युग आता है । इस युग में कन्या के विभिन्न गुणों का वर्णन करते हुए यह विचार प्रकट किया गया कि गुणसम्पन्ना कन्या से ही विवाह करना चाहिए । धर्म-शास्त्रीय ग्रन्थों की परम्परा में हमें सर्वप्रथम गृह्यसूत्रों में वैवाहिकी कन्या के विभिन्न लक्षणों का वर्णन प्राप्त होता है । इस सन्दर्भ में यदि प्राचीन गृह्यसूत्रों का आश्रय लिया जाय तो यह ज्ञात होता है कि उस युग में बुद्धि (शास्त्राविरुद्धदृष्टादृष्टबुद्धिः) रूप (रूपं वराय रुचितम्) शील एवं विभिन्न लक्षणों से सम्पन्न तथा रोग विहीना कन्या ही विवाह के उपयुक्त मानी जाती थी ।[२] देश, काल एवं समाज की अभिरुचि के अनुसार कन्या में

१- देखें : वा० रा० लंका० ४८।७-१४

२- गृह्यसूत्रकार आश्वलायन का मन्तव्य है कि कन्या को उपयुक्त चार गुणों से युक्त होना चाहिए --'बुद्धिरूपशीललक्षण-सम्पन्नामरोगामुपयच्छेत ।'
--आश्व० गृ० सू० १।५।१०

उपर्युक्त गुणों में परिवर्तन भी होता रहा। यही कारण है कि आगे के गृह्यसूत्रों में हमें इस प्रसंग में कुछ भिन्नता भी देखने को मिलती है।[1] आगे के कुछ आचार्यों ने कन्या में सर्वप्रमुख विभिन्न लक्षणों की उपस्थिति को ही आवश्यक माना है। गृह्यसूत्रकार शांख्यायन का मन्तव्य है कि कन्या को लक्षणों से युक्त होना चाहिए।[2] कुछ आचार्यों ने उपर्युक्त चार गुणों में से केवल रूप को ही सर्वाधिक महत्व दिया था।[3] परन्तु यह तत्कालीन सभी विचारकों को मान्य नहीं था क्योंकि उनकी दृष्टि में कन्या में विद्या या बुद्धि का होना अत्यावश्यक था।[4]

१- गृह्यसूत्रकार भारद्वाज बुद्धि अथवा प्रज्ञा एवं रूप के अतिरिक्त वित्त एवं कुल की प्रचुरता आवश्यक मानते थे --"चत्वारि विवाहकारणानि वित्तं रूपं प्रज्ञा बान्धवमिति।"

--भार० गृ० सू० १।१६ इसी प्रकार देखें आप गृ० सू० १।३।१६

२- या लक्षणसम्पन्ना स्यात् -- शांख्या० गृ० सू० १।५।६

३- भारद्वाज गृह्यसूत्रकार के अनुसार कुछ लोग कन्या के रूप को ही सर्वाधिक महत्व देते थे। ऐसे लोगों का मन्तव्य था कि पुरुष को उस कन्या के साथ विवाह करना चाहिए जिसमें उसका मन रम जाय तथा नेत्र बराबर कन्या के सौन्दर्यपान में ही लिप्त रहे हैं। ऐसी कन्या ही सर्वोत्तम होती है --"यस्यां मनोऽनुरमते चक्षुश्च प्रतिपद्यते तां विवाहेत् पुण्यलक्ष्मीकां किं ज्ञानेन करिष्यतीति।

--भार० गृ० सू० १।१२। इसी प्रकार देखें : आप० गृ० सू० १।३।२१

४- गृह्यसूत्रकार भारद्वाज इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि कन्या में बुद्धि अथवा विद्या सर्वाधिक महत्वपूर्ण होती है क्योंकि विद्या या बुद्धि विहीना कन्या के साथ जीवन-निर्वाह कठिन होता है --"अप्रज्ञया हि कथं संवासः।

-- भार० गृ० सू० १।१६

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि गृह्यसूत्रों की दृष्टि में वैवाहिकी कन्या को विभिन्न लक्षणों एवं रूप से युक्त होना चाहिए । लक्षण दो प्रकार के होते हैं -- बाह्य लक्षण जो कन्या की हस्तरेखा आदि देखकर जाने जाते हैं, और आन्तरिक लक्षण - जिन्हें जानना कठिन है ।[1] आन्तरिक लक्षणों की इस दुर्ज्ञेयता को ध्यान में रखकर गृह्यसूत्रकार आश्वलायन ने इन्हें जानने के लिए एक विधि का निर्देश किया है । उनके अनुसार व्यक्ति को, जिसमें दोनों फसलें बोयी जाती हों, ऐसे खेत से, गोस्थान से, वेदी से, जलपूर्ण सरोवर से, द्यूत स्थान से, चौराहे से, ऊसर प्रदेश से और श्मशान से एक-एक मिट्टी का ढेला लाना चाहिए और उन्हें "ऋतमग्रे प्रथमं जज्ञे ऋते सत्यं प्रतिष्ठितं यदियं कुमार्यभिजाता तदियमिह प्रतिपद्यतां यत् सत्यं तद् दृश्यतामिति" इस मन्त्र से अभिमन्त्रित करके, कन्या से यह कहे कि वह इनमें से एक ढेले को उठा ले । यदि कन्या दोनों फसलों को उत्पन्न करने वाले खेत का पिण्ड ग्रहण करती थी तो यह माना जाता था कि वह विवाह के अनन्तर अवश्य ही सन्तान को उत्पन्न करेगी । इसी प्रकार कन्या द्वारा गोस्थान के पिण्ड का ग्रहण उसके पशुमती होने का, वेदी का पिण्ड उसके ब्रह्मवर्चस्विनी होने का, जलयुक्त सरोवर का पिण्ड उसकी सर्वसम्पन्नता का, द्यूतस्थान का पिण्ड उसके द्यूतपरा होने का, चतुष्पथ का पिण्ड उसके स्वैरिणी होने का, ऊसर प्रदेश का पिण्ड उसकी निर्धनता का एवं श्मशान का पिण्ड उसके पतिहन्त्री होने के प्रतीक माने जाते

१- आश्व० गृ० सू० की अनाविला नाम्नी टीका में आन्तरिक लक्षणों की दुर्ज्ञेयता का कारण बताते हुए कहा गया है कि "शास्त्राणां बहुत्वात् परस्परविरोधाच्च दुर्ज्ञेयत्वं लक्षणानाम् ।"

-- आश्व० गृ० सू० १।४।११ पर अनाविला ।

थे ।[1] आश्वलायन के उपर्युक्त वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें से, दोनों फसलों को उत्पन्न करने वाले खेत के पिण्ड, गो स्थान के पिण्ड, वेदी का पिण्ड एवं जलपूर्ण सरोवर के पिण्ड को ग्रहण करने वाली कन्या से ही विवाह किया जाता था ।[2]

आगे चलकर विभिन्न धर्मसूत्रकारों एवं स्मृतिकारों ने कन्या के आन्तरिक लक्षणों को दुर्जेय मानते हुए,[3] वैवाहिक सन्दर्भों में कन्या के बाह्य

१- देखें : आश्व० गृ० सू० १।५।१२ से २० । गोभिल, आपस्तम्ब एवं लौगाक्षि एवं मानव गृह्यसूत्रों में भी थोड़ी बहुत भिन्नता के साथ, कन्या के आन्तरिक लक्षणों की परीक्षा के लिए इसी विधि का उल्लेख किया गया है -- देखें गो० गृ० सू० २।१ ; आप० गृ० सू० १।३।१५-१८ ; लौ० गृ० सू० १।१४।४-६ एवं मा० गृ० सू० १।७।६-१० ।

२- यहां यह तथ्य अवधेय है कि आश्वलायन ने पिण्डचयन के वर्णन क्रम में यही नहीं कहा है कि किन-पिण्डों का ग्रहण करने वाली कन्या विवाह के योग्य है । परन्तु लौगाक्षि एवं मानव गृह्यसूत्रकारों ने इस सन्दर्भ में कहा है कि वेदी, खेत, गो स्थान एवं जलपूर्णसरोवर से लाए गए पिण्डों को ग्रहण करने वाली कन्या से ही विवाह करना चाहिए - देखें लौ० गृ० सू० १।१४।६ एवं मा० गृ० सू० १।७।१० इतर पिण्डों का ग्रहण करने वाली को नहीं ।

३- यहां यह तथ्य अवधेय है कि यद्यपि आश्वलायनादि गृह्यसूत्रकारों ने कन्या के आन्तरिक लक्षणों के परिज्ञान की विधि प्रस्तुत कर दिया था परन्तु उनकी वह विधि किसी वैज्ञानिक धरातल पर आधृत न होने के कारण केवल कपोल-कल्पना की भित्ति पर ही अवलम्बित थी । सम्भवत: इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए आगे के धर्मशास्त्रीय लेखकों ने इस प्रथा का उल्लेख तक नहीं किया ।

एवं आन्तरिक गुणों की ही चर्चा की है । बाह्य गुणों की चर्चा के प्रसंग में इन लेखकों ने उसके शारीरिक सौन्दर्य एवं आन्तरिक गुणों के सन्दर्भ में उसके स्वभाव का वर्णन किया है । कन्या के बाह्य गुणों का विधिवत वर्णन हमें विभिन्न स्मृतियों में देखने को मिलता है । स्मृतियों की परम्परा में मनु सर्व प्रथम विवाह योग्य कन्या के बाह्य स्वरूप का वर्णन करते हुए यह विचार व्यक्त करते हैं कि व्यक्ति को उसी कन्या से विवाह करना चाहिए जो सुन्दर अंगों, सौम्य नाम, गज या हंस की चाल से युक्त हो तथा जिसके रोम तथा केश हों, जिसके दांत, छोटे तथा विभिन्न अवयव मृदु या कोमल हों ।[1] ऋषि शातातप का मन्तव्य है कि व्यक्ति को उसी कन्या से विवाह करना चाहिए जिसकी वाणी हंस की वाणी की तरह ही मधुर, वर्ण मेघ-तुल्य श्यामल एवं नेत्र मधुर एवं विशाल हों ।[2] कामसूत्र-प्रणेता आचार्य वात्स्यायन का मन्तव्य है कि उपर्युक्त गुणों के साथ ही कन्या को, आभिजात्य गुणों से सम्पन्न, माता-पिता से युक्त, श्लाघ्य आचरण-युक्त, धन-धान्य सम्पन्न, लोकप्रिय एवं प्रतिष्ठित परिवार से युक्त होना चाहिए तथा जिसके सम्बन्धी भी श्लाघ्य कुलों

१- अव्यंगांगीं सौम्यनाम्नीं हंसवारणगामिनीम् ।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वंगीमुद्वहेत्स्त्रियम् ॥
-- मनु० ३।१०

२- हंसस्वनां मेघवर्णां मधुपिंगललोचनाम् ।
तादृशीं वरयेत्कन्यां गृहस्थस्सुखमेधते ॥
-- स्मृ० च० सं० का० प्र० भा० पृ० २०० पर उद्धृत शातातप का वचन । कन्याओं के अन्य बाह्य सौन्दर्योल्लेखों के लिए देखें : वेद व्यास० २।१-४, हारीत० ४।२ ; ल० आ० स्मृ० वि० प्र० २ एवं याज्ञ० १।३।५२ आदि ।

से सम्बद्ध हो ऐसी कन्या से ही विवाह करना चाहिए । स्वयं कन्या को रूप, गुण शील एवं सौन्दर्यसम्पन्ना, रूप, दन्त, नख, केश, कान एवं स्तन सम्पन्ना होना चाहिए ।[१] उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त कुछ विचारकों ने कन्या के गुणों के विवेचन के प्रसंग में यह विचार व्यक्त किया है कि कन्या को समानवर्णा, अस्पृष्ट मैथुन वाली एवं भाई से युक्त तथा वर से आयु में छोटी होना चाहिए ।[२]

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों की दृष्टि में उसी कन्या से विवाह करना चाहिए जो सम्पूर्ण शारीरिक अंगों से युक्त, सुन्दर, नाम से युक्त, हंस या हाथी के समान चाल से युक्त, हंस की बोली के समान स्वर वाली, मेघ के समान श्यामल वर्ण वाली, विशाल नेत्रों वाली, विभिन्न बन्धु-बान्धवों वाली, अस्पृष्ट मैथुन वाली एवं भाई से युक्त हो ।

कन्या में आवश्यक उपर्युक्त गुणों के अतिरिक्त लेखकों ने वैवाहिक सम्बन्धों के लिए त्याज्य कन्याओं का भी वर्णन किया है । मनु ने

१- तस्मात्कन्यामभिजनोपेतां मातापितृमतीं त्रिवर्षात्प्रभृति न्यूनवयसं श्लाघ्याचारे धनवति पक्षवति कुले सम्बन्धिप्रिये सम्बन्धिभिराकुले प्रसूतां प्रभूतमातृपितृपक्षां रूपशीललक्षणसम्पन्नामन्यूनाधिकाविनष्ट-दन्तनखकर्णकेशादिस्तनीमरोगिप्रकृतिशरीरां तथाविध एव श्रुतवांशीलयेत् ।
-- का० सू० ३।१।२

२- देखें : भा० गृ० सू० १।७।८ ; आप० गृ० सू० १।४।१ ; वा० गृ० सू० १०।१ ; बै० गृ० सू० १।२० ; मनु० ३।११ ; वसिष्ठ० २।१८ ; हारीत० ४।१-२ ; शङ्ख० ४।१ आदि ।

इस सम्बन्ध में निम्नलिखित कन्याओं को त्याज्य बताया है[१]--

(१) कपिल वर्ण वाली
(२) रोगिणी
(३) अधिक अंगों से युक्त[२]
(४) रोम रहित शरीर वाली
(५) बहुत रोमों से युक्त
(६) बहुत अधिक बोलने वाली
(७) पिंगला (जिसके आँखें पिंगल वर्ण की हों)
(८) नक्षत्रों पर आधारित नाम वाली
(९) वृक्षों पर आधारित नाम वाली
(१०) नदियों पर आधारित नाम वाली
(११) म्लेच्छ जाति पर आधारित नाम वाली
(१२) पक्षियों पर आधारित नाम वाली
(१३) सांप पर आधारित नाम वाली
(१४) सेवक का अर्थ द्योतित करने वाले नाम वाली
(१५) भयानक नाम वाली

१- नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकांगीं न रोगिणीम् ।
नालोमिकां नातिलोमां न वाचाटां न पिंगलाम् ।।
नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम् ।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम् ।।
--मनु० ३।८-९

२- भारतीय चिन्तकों ने सन्तुलित शरीर वाली कन्या को ही व्यक्ति के

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)....

यहां एक रोचक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि मनु ने उपर्युक्त कन्याओं का निषेध क्यों किया है ? इस सन्दर्भ में यदि हम मनु द्वारा प्रदत्त त्याज्य कन्याओं की सूची का आलोचनात्मक अध्ययन करें तो यह ज्ञात होता है कि मनु की उपर्युक्त त्याज्य कन्याओं की यह सूची अनेक कारणों पर अवलम्बित है :--

भारतीय सौन्दर्यशास्त्रियों की दृष्टि में कन्या का सर्वोत्तम शारीरिक वर्ण होता है श्याम (कुछ लेखकों ने गौर वर्ण भी सर्वोत्तम माना है) । अत: यहां चूंकि भूरा वर्ण भारतीय सौन्दर्य-शास्त्र से मेल नहीं खाता अत: मनु ने कपिलवर्णा कन्या का निषेध किया है ।

शरीर-विज्ञान की दृष्टि से विभिन्न रोग वंशानुक्रम से एक दूसरे में संक्रमित होते रहते हैं । अत: यदि कन्या किसी रोग से ग्रस्त हो तो अधिक सम्भावना यह है कि वह रोग उसकी सन्तति में भी हो सकता है । अत: इस सम्भावना को ध्यान में रखते हुए मनु ने रोगिणी कन्या को विवाह के अयोग्य बताया है ।

शारीरिक सौन्दर्य की दृष्टि से कन्या के सभी अंगों को पूर्ण होना चाहिए । ऐसी परिस्थिति में अधिक या कम अंग सौन्दर्य में

लिए लाभप्रद एवं सुखकर बताया है । असन्तुलित शरीर वाली कन्या उनकी दृष्टि में साक्षात् मृत्यु का कारण होती है । इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए यम ने कहा है :--

"ह्रस्वा, दीर्घा, कृशा, स्थूला पिंगाक्षी गौरपाण्डुरा ।
न पूज्या न च सेव्यास्ता नाशमृत्युकरास्त्रिय: ।।

-- स्मृ० च० सं० का० पृ० भा०

पृ० २०१ पर उद्धृत ।

बाधक होते हैं । इसीलिए मनु ने शारीरिक सौन्दर्य को ध्यान में रखते हुए अधिक अंगों वाली कन्या से विवाह का निषेध किया है । मनु द्वारा प्रदत्त चौथे एवं पांचवे कारण के मूल में भी शारीरिक सौन्दर्य ही है ।

भारतीय चिन्तकों की दृष्टि में स्त्री का सर्वोत्तम आभूषण होता है उसकी लज्जालुता और अधिक बोलना लज्जा का बाधक होता है अतः इस दृष्टि को ध्यान में रखते हुए मनु ने अधिक बोलने वाली कन्या को भी विवाह के अयोग्य माना है ।

चिकित्सा शास्त्र की दृष्टि से पीले नेत्र रोग के प्रतीक होते हैं । इसीलिए मनु ने पीले नेत्रों वाली कन्या को विवाह के अयोग्य निरूपित किया है ।

इसके अनन्तर मनु ने नामकरण के आधार पर विभिन्न कन्याओं को त्याज्य बताया है । उनके इन विभिन्न नामों के निषेध का मूल कारण मनोविज्ञान ही है । यदि हम नामकरण के सिद्धान्त पर विचार करें तो यह ज्ञात होता है कि नाम के विभिन्न अक्षरों का एवं अक्षरों एवं अर्थयुक्त नामार्थ का प्रभाव मनुष्य के शील, स्वभाव एवं सदाचार तथा विवेक पर अवश्य ही पड़ा करता है । अन्य शब्दों में इसी तथ्य को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि व्यक्ति का जो भी नाम होगा उस नाम के बारम्बार उल्लेख आदि से प्रभावित हुए बिना व्यक्ति नहीं रह सकता । इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए मनु ने विभिन्न नामों से युक्त कन्या को त्याज्य बताया है और इस सन्दर्भ में उन्होंने सर्वप्रथम अश्विनी भरणी कृत्तिका आदि नक्षत्रों वाली कन्या को विवाह के अयोग्य बताया है । मनु का यह निषेध ज्योतिष शास्त्र पर आधारित प्रतीत होता है । ज्योतिष शास्त्र के अनुसार विभिन्न नक्षत्रों पर सूर्य और चन्द्रमा भ्रमण करते रहते हैं । सूर्य एवं चन्द्रमा के इस भ्रमण के आधार पर ही सौरमास एवं चन्द्रमास की कल्पना की गयी है । ज्योतिष

के सिद्धान्त के अनुसार किसी दिन विशेष में सूर्य का संचार होने से वह नक्षत्र विशेष जिस पर सूर्य का संचार होता है, याम्योत्तर मण्डल का उल्लंघन करता है, ज्योतिष में इसे परगमन भी कहा जाता है । अत: कन्याओं में नक्षत्रों की ही भांति ही परगमन या पति से इतर पुरुषों की ओर आसक्ति न हो जाय सम्भवत: इसी को ध्यान में रखकर मनु ने नक्षत्र नाम वाली कन्या से विवाह का निषेध किया है ।

वृक्ष, सृष्टि के स्थावर पदार्थ हैं और वे जीवन में अनेकश: पतझड़ का कष्ट एवं बसन्त का उल्लास झेलते रहते हैं । इस प्रकार उनका जीवन सुख-दु:ख के द्वन्द्व में ही व्यतीत होता है । अत: कन्या की भी कहीं ऐसी ही स्थिति न हो इसलिए मनु ने वृक्ष नाम वाली कन्याओं को विवाह के अयोग्य ठहराया है ।

नदियों की गति का यदि आप विश्लेषण करें तो यह ज्ञात होता है कि वे हमेशा निचली जमीन की ओर ही बहती हैं । अत: यदि नदियों के नाम पर कन्याओं का नामकरण किया जाय तो हो सकता है कि वे भी निम्नगा बन जाएं, अथवा जमीन की तरह ही सरलता से प्राप्त होने वाले कुत्सित विचारों में फंस जाएं अत: इस सम्भावना को ध्यान में रखते हुए मनु ने नदियों के नाम पर आधारित कन्या को विवाह के अयोग्य बताया है ।

इसी प्रकार कुत्सित भावना पर आधारित म्लेच्छ जाति के नाम वाली, गर्हणा एवं निन्दा को द्योतित करने वाली विभिन्न पक्षियों के नाम वाली, भयंकरता को द्योतित करने के कारण सर्पों पर आधारित नाम वाली, सेवकत्व या दासीभाव को द्योतित करने के कारण दास नाम वाली एवं अवचेतन मन पर कुप्रभाव छोड़ने के कारण भयंकर नाम वाली कन्याओं को भी मनु ने परिणय के लिए त्याज्य कहा है ।

कुछ लेखकों ने उपर्युक्त नामों के अतिरिक्त देवनाम्नी एवं गन्धर्वनाम्नी कन्याओं को भी परिणय के अयोग्य बताया है ।[१]

इस निषेध का मूल कारण देवताओं की पवित्रता एवं गन्धर्वों की रागासिक्तता या भोगलोलुपता को माना जा सकता है ।

इसके अतिरिक्त आपस्तम्बादि कुछ लेखकों ने उन कन्याओं को भी विवाह के अयोग्य बताया है जिनके नाम के अन्त में र या ल पड़ता हो ।[२]

इस निषेध का मूल जानने के लिए हमें व्याकरणशास्त्र का आश्रय लेना होगा । व्याकरण के अनुसार अक्षरों से ही धातुएं बनती हैं, धातुओं से शब्द बनते हैं और इन्हीं शब्दों से वाक्य बना करते हैं । वाक्य सदा ही अर्थवान हुआ करते हैं अत: स्पष्ट है कि वाक्य के मूल आधार, अक्षरों का भी अर्थ होता ही है । पाणिनि ने अक्षरों के अर्थों को ही ध्यान में रखकर विभिन्न धातुओं एवं उनके अर्थों का विवेचन किया है । पाणिनि के मत से ल एवं र अक्षर का अर्थ क्रमश: लेना, देना और रमण करना होता है । इस आधार पर हम यह कल्पना कर सकते हैं कि ल और र अक्षरों से युक्त कन्या हो सकता है कि लेने, देने और रमण करने में अनियन्त्रित हो जाय ।[३]

उपर्युक्त निषेधों के अतिरिक्त कुछ लेखकों ने अधिक सोने वाली एवं परिणय के समय बहुत अधिक रुदन आदि करने वाली कन्याओं को भी त्याज्य बताया है ।[४]

१- देखें : स्मृ० च० सं० का० प्र० भा० पृ० २०२ पर उद्धृत यम का वचन ।

२- देखें : आप० गृ० सू० १।३।१४ एवं का० सू० ३।१।१२ आदि ।

३- श्री देवदत्त शास्त्री ने भी उपर्युक्त कन्या-निषेधों के मूल कारण के रूप में उपरि वर्णित तथ्यों को ही मान्यता दी है ।
देखें : श्री शास्त्री द्वारा सम्पादित का० सू० ३।१।१०-१२ पर टिप्पणी

४- देखें : आप० गृ० सू० १ । ३ ।११-१२ ; का० सू० ३।१।१०-११ आदि ।

कन्याओं के लक्षणों एवं अलक्षणों के इस विवेचन के अनन्तर अब हमें यह जानना आवश्यक है कि कन्याओं के विवाह की उचित आयु क्या होनी चाहिए ?

इस सन्दर्भ में यदि हम वैदिक साहित्य का आश्रय लें तो यह ज्ञात होता है कि उस युग में कन्याओं के विवाह की उचित अवस्था उनकी युवावस्था ही मानी जाती थी । ऋग्वेद के दशम मण्डल में एक स्थान पर कहा गया है कि जब मनुष्य अपने अनुरूप वधू का चुनाव करे तो सर्वप्रथम वह उसे ऋतुकाल में सौभाग्य से सम्पन्न होता हुआ देखे ।[१] ऋग्वेद के दशम मण्डल के एक सूक्त से यह ज्ञात होता है कि उस युग में किसी भी कन्या का विवाह स्त्रीत्व या यौवन की प्राप्ति के पूर्व नहीं होता था ।[२] ऋग्वेद के सूर्य की पुत्री सूर्या का विवाह सोम के साथ उसी समय किया गया था जबकि सूर्या युवती हो चुकी थी और पति-प्राप्त करने के लिए इच्छुक थी ।[३]

वैदिक साहित्य के अनन्तर वाल्मीकि रामायण के युग में भी युवती कन्याओं का ही विवाह होता था । इस कथन की पुष्टि में हम वाल्मीकि रामायण में विवाहित होने वाली विभिन्न कन्याओं के वर्णन को देख सकते हैं । वाल्मीकि की सीता, उर्मिला, श्रुतकीर्ति एवं माण्डवी ये चारों ही बहनें विवाह के समय युवती ही सिद्ध होती हैं क्योंकि विवाह के अनन्तर वे अपने-अपने पतियों के साथ एकान्त में रमण करने लगी थीं ।[४]

१- देखें : ऋ० १०।१८३।२

२- ,, : ऋ० १० ।८५।२१-२२

३- ,, : ऋ० १०।८५ ।

४- - - - - रेमिरे मुदिता सर्वा भर्तृभिर्मुदिता रहः ।

-- वा० रा० बाल० ७७।१४

इसी प्रकार कुशनाभ कन्याओं के आख्यान से भी यही सिद्ध होता है कि वे ब्रह्मदत्त के साथ विवाह के समय युवती ही थीं क्योंकि युवती कन्या ही अपने परिवार की मान-मर्यादा का ध्यान रखते हुए किसी व्यक्ति विशेष के विवाह के प्रस्ताव को खुले शब्दों में नकार सकती है ।[१]

रामायण के अनन्तर विभिन्न गृह्यसूत्रों का युग आता है । और यदि इन गृह्यसूत्रों का अध्ययन किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि प्राचीन गृह्यसूत्रकारों की दृष्टि में कन्या की विवाह योग्य अवस्था उसकी युवावस्था ही होती थी । गृह्यसूत्रों में वर्णित वैवाहिक कर्मकाण्डों के देखने से यही सूचित होता है कि कन्याओं का विवाह उनके रजोदर्शन के पश्चात् ही होता था क्योंकि वैवाहिक कार्यक्रमों के तुरन्त बाद ही पति-पत्नी सहवास कर सकते थे । पारस्कर गृह्यसूत्र में वैवाहिक विधि-विधानों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि विवाहित दम्पती को तीन दिन तक लवण-क्षार युक्त

१- देखें : वा० रा० बाल० अ० ३२-३३ ।

यहां यह विचारणीय है कि वाल्मीकि रामायण में ही एक ऐसा प्रमाण भी हमें प्राप्त होता है जो उस युग में बाल-विवाह के अस्तित्व को भी सिद्ध करता है । वाल्मीकि रामायण के अरण्यकाण्ड में पंचवटी में रावण को अपना परिचय देते हुए सीता ने कहा है कि विवाह के बाद में बारह वर्ष ससुराल में रही और वनगमन के समय मेरी आयु अठारह वर्ष की थी --

'उषित्वा द्वादशसमा इक्ष्वाकूणां निवेशने ।
अष्टादश हि वर्षाणि मम जन्मनि गण्यते ।।

-- वा० रा० अरण्य ४७-४-११

सीता के इस उल्लेख से प्रकारान्तर से यह स्पष्ट है कि विवाह के

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)..

भोजन नहीं करना चाहिए, भूमि पर शयन करना चाहिए और एक वर्ष, बारह, छः या तीन रात्रि पर्यन्त मैथुन नहीं करना चाहिए ।[1]

आगे चलकर कुछ लेखकों ने वैवाहिक दम्पती को विवाह के ठीक पश्चात् तीन दिन तक उपर्युक्त विधि के पालन के बाद ही उन्हें सहवास का अधिकार दे दिया है ।[2]

समय उनकी अवस्था केवल छः वर्ष की थी परन्तु सीता का यह कथन सत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि वा० रा० के कई अन्य प्रमाण उन्हें विवाह के समय युवती ही सिद्ध करते हैं । अयोध्याकाण्ड में अनुसूया से सीता ने कहा है कि जब मेरी अवस्था विवाह योग्य हुई तब मेरे पिता विवाह के विषय में चिन्तित हुए --

"पतिसंयोगसुलभं वयो दृष्ट्वा तु मे पिता
चिन्तामभ्यगमद्दीनो वित्तनाशादिवा न: ।।"

--अयोध्या० २।११८।३४।

सीता के इस कथन से यही प्रतीत होता है कि वह विवाह के समय युवती ही थीं । इस प्रमाण के अतिरिक्त वा० रा० के अयोध्या ११८।४३-४४ ; ११८।८ ; बाल० ६०।२१-२२, ६६।१५-१६ आदि से भी सीता का विवाह के समय युवती होना ही पुष्ट होता है । अत: यहां हम यह मान सकते हैं कि सीता को विवाह के समय ६ वर्ष की बताने वाला अरण्यकाण्ड का उपर्युक्त स्थल प्रक्षिप्त है ।

१- त्रिरात्रमक्षारालवणाशिनौ स्यातामध: शयीयातां संवत्सरं न मिथुनमुपेयातां द्वादशरात्रं षड्रात्रं त्रिरात्रमन्तत: ।।

-- पार० गृ० सू० १। ८। २१।

इसी प्रकार देखें : आश्व० गृ० सू० १। ८। ११ आदि ।

२- देखें : का० सू० ३। २। १ आदि ।

प्रारम्भिक गृह्यसूत्रों द्वारा विवाह के पश्चात् वधू के पति गृह में जाने के पश्चात् संयम का निर्देश तथा एक निश्चित् समय (तीन दिन) के व्यतीत होने के पश्चात् सहवास के आदेश को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि इस युग में कन्याओं का विवाह उनकी युवावस्था में ही होता था ।

कालान्तर में गृह्यसूत्रों के काल से ही कन्याओं का विवाह बाल्यावस्था में ही कर देने का आदेश दिया गया और यह कहा गया कि नग्निका कन्या ही विवाह के योग्य होती है ।[१] आगे चलकर स्मृतियों के युग में तो स्पष्ट रूप से कन्या का विवाह रजोदर्शन के पूर्व ही करने का विधान किया गया और यह कहा गया कि यदि पिता, माता या भाई कन्या के रजस्वला होने के पूर्व ही उसका विवाह नहीं कर देते तो वे सभी नरकगामी होते हैं ।[२]

निष्कर्ष रूप में हम अब कह सकते हैं कि प्राचीन भारतीय समाज नियामकों की दृष्टि में वैवाहिकी कन्या को विभिन्न लक्षणों से युक्त एवं युवती होना चाहिए ।

इस विवेचन के अनन्तर हमें यहाँ अब यह देखना है कि संस्कृत-महाकाव्यों की परम्परा में कन्याओं के विवाह के प्रसंग में उपर्युक्त नियमों का कहाँ तक पालन हुआ है ।

१- गोभिल तथा मानव गृह्यसूत्रकारों ने नग्निका कन्या को ही विवाह के लिए श्रेष्ठ माना है - देखें : गो० गृ० सू० ३।४ एवं मा० गृ० सू० १।७।८।
यहाँ नग्निका का सामान्य आशय है वह कन्या जिसका ऋतुकाल प्रारम्भ न हुआ हो ।

२- देखें : सम्वर्त० ६५-६७ ; बृहद्व्यास० २।७ आदि ।

इस सन्दर्भ में यदि हम संस्कृत महाकाव्यों का अध्ययन करें तो हमें यह ज्ञात होता है कि उस युग में कन्याओं के सौन्दर्य को द्योतित करने वाले विभिन्न तत्व आवश्यक होते थे और इन विभिन्न तत्वों के अन्तर्गत, कन्या का कुमारी होना, तन्वी एवं गौरवर्णा, युवती एवं रम्भोरु, चकोराक्षि एवं सुकेशा तथा नितम्बगुर्वी होना आदि आवश्यक माना जाता था । इन शारीरिक सौन्दर्यों के अतिरिक्त प्रत्येक कन्या का विवाह के समय युवती होना भी आवश्यक माना जाता था ।

संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में इन्दुमती,[1] पार्वती,[2] सीता,[3] शशिप्रभा,[4] चन्द्रलेखा,[5] शृंगारवती[6] एवं दमयन्ती[7] आदि उपर्युक्त शारीरिक सौन्दर्यों से युक्त थीं और साथ ही वे अपने परिणय के समय पूर्ण युवती भी थीं ।

ख- वर की योग्यताएं, सद्गुण एवं विवाह-योग्य अवस्था आदि

भारतीय समाज चिन्तकों की दृष्टि में वैवाहिक सम्बन्धों के प्रसंग में कन्या की परीक्षा के अतिरिक्त वर की भी विधिवत्परीक्षा आवश्यक होती है । यही कारण है कि यहां वैदिक समय से ही वर की

१- देखें : रघु० ६।२५, ३०, ३५, ३७, ४०, ५३, ५६, ६६, ८३, आदि ।
२- ,, कुमार० १।३१, ३४-४६ ; ६० आदि
३- ,, भट्टि० २।४७-४८ जानकी० ७
४- ,, नवसाहसांक ५।२४-२६; ३१,आदि
५- ,, विक्रमांक ८।५-८६
६- ,, धर्मशर्मा० १७।११-१४, १७, १६, २१, ५२, ६१ एवं ६८
७- ,, नैषध० स० ७

परीक्षा का विधान भी हमें देखने को मिलता है । इस सन्दर्भ में यदि हम वैदिक साहित्य का आश्रय लें तो यह ज्ञात होता है कि उस युग में वर के आवश्यक लक्षणों के प्रसंग में उसका धन सम्पत्ति से युक्त होना, सैकड़ों यज्ञ या उत्तम पुरुषार्थ करने वाला होना, शूरवीर होना आवश्यक माना जाता था । इसके अतिरिक्त विद्वान् होना, यम नियमों का पालन करने वाला होना आदि भी आवश्यक माना जाता था ।[१]

वैदिक साहित्य के अनन्तर वाल्मीकि रामायण के युग में वर के आवश्यक लक्षणों के रूप में उसका मुख्य रूप से शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ होना ही माना जाता था । और उस युग में शारीरिक सौन्दर्य के रूप में, वृषस्कन्ध, सुन्दर, मुख, रक्तिम नेत्र आदि मान्य थे ।[२]

वाल्मीकि रामायण के अनन्तर हमें गृह्यसूत्रों, धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों के युग में वर के लक्षणों के प्रसंग का विधिवत् विवेचन देखने को मिलता है । इस सन्दर्भ में प्राचीन लेखक वर को विनीत-क्रोध एवं उसका प्रसन्न चित्त होना आवश्यक मानते थे ।[३] कुछ लेखकों ने वर का विद्या, चरित्र, बन्धु-बान्धवों

१- विस्तृत विवेचन के लिए देखें "अथर्ववेद में गृहस्थाश्रम" नामक ग्रन्थ में संग्रहीत अथर्ववेद के सूक्त ३६, ८२ एवं १४ तथा इन सूक्तों के पूर्व श्री पाद दामोदर सातवलेकर की भूमिका ।

२- देखें : वा० रा० ३५। १५-२० एवं बाल० ११६। ११

३- वाराह गृह्यसूत्रकार इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं --

"विनीतक्रोध: सहर्ष: सहर्णीं भार्यां विन्देत् ।

-- वा० गृ० सू० १०।१ एवं १०।६

एवं शील से युक्त होना आवश्यक माना है ।[1] ऋषि आपस्तम्ब इसके साथ ही वर की निरोगता भी आवश्यक मानते हैं ।[2] महर्षि यम भी उपर्युक्त तथ्यों को ही मान्यता देते हुए यह विचार व्यक्त करते हैं कि वर को कुल, शील, शरीर, आयु, विद्या, वित्त तथा साधन सम्पन्न होना चाहिए ।[3] महाकवि कालिदास की दृष्टि में भी वर को मुख्य रूप से स्वरूपवान, कुलीन एवं धनयुक्त होना चाहिए ।[4]

वर के उपर्युक्त लक्षणों के अतिरिक्त स्मृतिकारों की दृष्टि में उसका पुरुषत्व या पुंसत्व से युक्त होना अनिवार्य था । स्मृतिकार नारद का मन्तव्य है कि स्त्रियों की सृष्टि सन्तान के लिए हुई है, स्त्री क्षेत्र है तथा पुरुष बीज । इसलिए क्षेत्र को बीजवान को देना चाहिए बीजहीन को

१- महर्षि गौतम ने वर में इन्हीं तथ्यों को आवश्यक मानते हुए लिखा है --

"विद्याचारित्र्यबन्धुशीलसम्पन्नाय कन्यां दद्यात् ।"

-- गौ० ध० सू० १।४।४

२- बन्धुशीललक्षणसम्पन्नः श्रुतवानरोगः इति वरसम्पत् ।

-- आप० गृ० सू० १।३।२०

३- कुलं च शीलं च वपुर्वयश्च विद्यां च वित्तं च सनाथतां च ।
एतान् गुणान् सप्त परीक्ष्य देया कन्या बुधैः शेषमचिन्तनीयम् ।।

-- वी० मि० भा० २, पृ० ७५१

४- वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु ।
वरेषु यद्बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने ।।

-- कुमार० ५।७२

नहीं ।[1] नारद के इस मन्तव्य से स्पष्ट है कि वर में पुंसत्व अवश्य ही होना चाहिए । परन्तु कठिनाई यह है कि पुंसत्व की परीक्षा कैसे की जाय ? इस समस्या का समाधान करते हुए नारद ने यह विचार व्यक्त किया है कि यदि व्यक्ति का वीर्य पानी में डूबे न और उसका मूत्र फेनिल हो तो उसे पुंसत्व से युक्त मानना चाहिए और यदि ऐसा न हो तो पुंसत्व से विहीन मानना चाहिए ।[2] इस प्रसंग में नारद ने चौदह प्रकार के नपुंसकों का उल्लेख किया है ।[3]

प्राचीन धर्मशास्त्रियों के अनुसार उपर्युक्त लक्षणों से विहीन व्यक्ति विवाह के अयोग्य माने जाते थे । इस सन्दर्भ में ऋषि कात्यायन ने, कुल एवं मित्रों द्वारा परित्यक्त, लिंगस्थ (प्रच्छन्नवेशी) उदरी (बड़े पेट वाला) पतित, मृगी रोग से पीड़ित, नपुंसक, कुष्ठरोगी, या अन्धे एवं बहरे को विवाह के अयोग्य माना है ।[4] ऋषि वसिष्ठ ने अत्यन्त समीपस्थ या दूरस्थ, अतिबली या निर्बल, जीविका-साधनविहीन एवं मन्दबुद्धि वाले व्यक्तियों को भी विवाह के अयोग्य बताया है ।[5]

१- अपत्यार्थः स्त्रियः सृष्टाः स्त्री क्षेत्रं बीजिनो नराः ।
क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजी क्षेत्रमर्हति ॥
लेखक द्वारा प्र.स्मृ.म. ३२५.पृ. १५१५८ --नारद० १२।१९

२- यस्याप्सु प्लवते वीर्यं ह्रादि मूत्रं न फेनिलम् ।
पुमान् स्याल्लक्षणैरेतैर्विपरीतस्तु षण्ढकः ॥
--वही १५।१०

३- देखें : वही १२।११-१३

४- देखें : वी० मि० पृ० भाग द्वितीय पृ० ७५८ पर उद्धृत कात्यायन का वचन ।

५- ,, वहीं पर वसिष्ठ का मत

यदि इन लेखकों के उपर्युक्त मन्तव्य को ध्यान में रखा जाय तो यह स्पष्ट है कि इन निषेधों के मूल में अनेक सामाजिक, शारीरिक एवं मानसिक कारण विद्यमान थे ।

जहाँ तक वर की आयु का प्रश्न है तो इस सन्दर्भ में यदि हम धर्मशास्त्रों का आश्रय लें तो यह ज्ञात होता है कि उनकी दृष्टि में वर का युवा होना अनिवार्य था । मनु आदि की स्पष्ट सम्मति है कि व्यक्ति को दो, तीन या एक वेद पढ़ने के अनन्तर ही गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए ।[1] इस प्रकार यहाँ यह स्पष्ट है कि यदि व्यक्ति कम से कम एक वेद का ही अध्ययन करे तो उसकी भी विवाह के समय आयु कम से कम बीस वर्ष की होती है ।[2]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि वैवाहिक सम्बन्धों के प्रसंग में वही वर सर्वोत्तम माना जाता था जो बन्धु-बान्धवों, उत्तम स्वभाव, विद्या एवं वित्त आदि से युक्त होता था तथा युवावस्था से सम्पन्न होता था ।

१- वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वापि यथाक्रमम् ।
अविलुप्त ब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममावसेत् ।।
--मनु० ३।२

२- मनु ने ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के उपनयन का काल क्रमशः आठ एवं ग्यारह वर्षों की अवस्था को माना है -- देखें : मनु० २।३६ साथ ही प्राचीन शिक्षकों ने सामान्यरूप से एक वेद का अध्ययन काल बारह वर्ष माना है - देखें : मनु ३।१ । इस प्रकार यदि व्यक्ति कम से कम एक वेद का ही अध्ययन करके गृहस्थ होना चाहे तो गृहस्थाश्रम में प्रवेश के समय उसकी आयु (८ +१२) बीस वर्ष (ब्राह्मणों के सन्दर्भ में) या (ग्यारह + बारह) = तेईस वर्ष (क्षत्रियों के सन्दर्भ में) सिद्ध हो जाती है ।

संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में इन लक्षणों का कहां तक प्रयोग हुआ है ? इस प्रश्न को ध्यान में रखते हुए यदि हम संस्कृत-महाकाव्यों का विश्लेषण करें तो यह ज्ञात होता है कि उनमें वैवाहिक प्रसंगों में वरों में उपर्युक्त लक्षण ही दर्शाए गए हैं ।

संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में अज,[1] राम,[2] सिन्धुराज,[3] विक्रमांकदेव,[4] धर्मशर्मा[5] एवं नल[6] आदि उपर्युक्त लक्षणों से ही युक्त थे ।

ग- कुल, गोत्र, प्रवर एवं पिण्ड निर्णय

भारतीय समाज चिन्तकों के मन्तव्यानुसार वैवाहिक सम्बन्धों के प्रसंग में कन्या एवं वर के उपर्युक्त लक्षणों की परीक्षा के अनन्तर उन दोनों के कुल, गोत्र, प्रवर एवं पिण्ड की परीक्षा भी आवश्यक होती है । इस सन्दर्भ में गृह्यसूत्रकार आश्वलायन का मन्तव्य है कि वैवाहिक सम्बन्ध के प्रसंग में सर्वप्रथम वर एवं कन्या इन दोनों के परिवार वालों को, एक दूसरे के कुल की, पिता एवं माता दोनों की ओर से परीक्षा करनी चाहिए ।[7] महर्षि मनु ने भी कुल की परीक्षा को आवश्यक मानते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि

१- देखें : रघु० ५।३८, ६५ ; ६।७८-७९, ८१ आदि ।

२- देखें : भट्टि० १।१५-१६ ; २।४१-४३ आदि, जानकी०

३- ,, : नवसाहसांक १।५८-८८

४- ,, : विक्रमांक ६।१३६-१४५

५- ,, : धर्मशर्मा० ६।१५-२६

६- ,, : नैषध० १३।३-३५

७- "कुलमग्रे परीक्षेत मातृतः पितृतश्चेति यथोक्तं पुरस्तात् ।"
-- आश्व० गृ० सू० १। ४। ८

उत्तम कुल के पुरुषों को अपने कुल को उत्कर्ष की ओर ले जाने के लिए सर्वदा उत्तम कुलों से ही सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए तथा अधम कुलों को दूर से ही त्याग देना चाहिए ।[१]

भारतीय चिन्तकों की दृष्टि में कुल की इस महत्ता को देखते हुए यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि आखिर उत्तम कुल का लक्षण क्या है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए प्राचीन विचारकों ने श्रेष्ठ कुल उसे माना है जिसके सदस्य श्रुति एवं स्मृतियों में विहित कार्यों के पालक हों और अपने इस कार्य के लिए विख्यात हों, उत्तम कुलोत्पन्न हों, अविच्छिन्न रूप से व्रतचर्याग्नि के पालक रहे हों, जिनके सम्बन्धी भी उत्तम कुलों के ही हों तथा समाज में प्रतिष्ठित हों, जिस कुल के सदस्य सन्तुष्ट, स्वभाव से नम्र, धर्मबुद्धि एवं कर्तव्याकर्तव्य के विवेकी हों एवं लोभ, क्रोधादि से रहित हों ।[२] महर्षि वात्स्यायन ने श्रेष्ठ कुल उसे माना है जो माता एवं पिता दोनों ओर से विद्या, तप, पुण्य एवं रक्तशुद्धि के लिए दस पीढ़ियों से प्रतिष्ठित रहा हो ।[३] याज्ञवल्क्य ने संक्षेप में अपना मन्तव्य प्रस्तुत करते हुए श्रेष्ठ कुल उसे माना है जो दस पीढ़ियों से वेद के पठन-पाठन की परम्परा वाला रहा हो ।[४]

आचार्य वात्स्यायन ने कुल-परीक्षा के प्रसंग में उपर्युक्त लक्षणों के स्थान पर धन को प्रधान मानते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि वैवाहिक

१- उत्तमैरुत्तमैर्नित्यं सम्बन्धानाचरेत्सदा ।
निनीषुः कुलमुत्कर्षमधमानधमांस्त्यजेत् ।।
--मनु० ४।२४४

२- देखें : संस्काररत्नमाला (आनन्दाश्रम से प्रकाशित) पृ० ५०६ पर उद्धृत मनु का वचन

३- ,, : वात्स्य० कौ० सू० ६।३ - भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास पृ० १२८ पर उद्धृत

४- ,, : याज्ञ० १।३।५४

सम्बन्ध में वर एवं कन्या को धन के प्रसंग में समान होना चाहिए ।[1] इस प्रसंग को और स्पष्ट करते हुए एवं असमान कुलों में होने वाले विवाहों के दुर्गुणों की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा है कि यदि कन्या, वर से अधिक धनवान-कुल की होती है तो वर को जीवन भर उसका दास बनना पड़ता है[2] और यदि वर धनवान कुल का एवं कन्या गरीब कुल की होती है तो उसे वर की दासी बनना पड़ता है ।[3] और इस प्रकार धन की दृष्टि से असमान होने के कारण ऐसे विवाह सफल नहीं हो पाते क्योंकि वात्स्यायन की दृष्टि में श्रेष्ठ विवाह वही है जिसमें पति-पत्नी में दास-दासीत्व भाव न होकर समानता की भावना हो क्योंकि ऐसे सम्बन्ध में ही पति-पत्नी एक दूसरे के पूरक होते हैं ।[4]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भारतीय चिन्तकों की दृष्टि में वैवाहिक सम्बन्धों के प्रसंग में वर एवं

१- समस्यापा: सहक्रीड़ा: विवाहा: संगतानि च ।
समानैरेव कार्याणि नोत्तमैर्नापि वाधमै: ।।
--का० सू० ३।१।२०

२- कन्यां गृहीत्वा वर्तेत प्रेष्यवद्यत्र नायक: ।
तं विद्यादुच्चसम्बन्धं परित्यक्तं मनस्विभि: ।।
-- वही ३।१।२१

३- स्वामिवद्विचरेद्यत्र बान्धवै: स्वै: पुरस्कृत: ।
अश्लाघ्यो हीनसम्बन्ध: सोऽपि सद्भिर्विनिन्द्यते ।।
-- वही ३।१।२२

४- परस्परसुखास्वादा क्रीड़ा यत्र प्रयुज्यते ।
विशेषयन्ती चान्योन्यं सम्बन्ध: स विधीयते ।।
-- वही ३।१।२३

कन्या दोनों को ही माता-पिता दोनों की ओर से ऐसे कुलों का होना चाहिए जो अपनी विद्या, चरित्र, स्वभाव एवं कर्तव्य आदि के लिए कम से कम दस पीढ़ियों से, समाज में प्रतिष्ठित रहा हो और धन के सन्दर्भ में दोनों कुल समान हों।

यहां यह तथ्य अवधेय है कि धर्मशास्त्रियों द्वारा कुल की सम्यक् परीक्षा का कारण प्रजनन-शास्त्रीय था। भारतीय धर्मशास्त्र की परम्परा यह मानकर चलती है कि सन्तान पर कुल का प्रभाव अवश्य ही पड़ता है।[1] ऐसी परिस्थिति में यह स्पष्ट है कि यदि वर एवं कन्या दोनों ही विद्या, चरित्र एवं आचार-विचार की दृष्टि से श्रेष्ठ कुल के होंगे तो निश्चित है कि उनकी सन्तानें भी श्रेष्ठ ही होंगी।

१- "कुलानुरूपाः प्रजाः सम्भवन्ति।"
–संस्काररत्नमाला पृ० ५०८पर हारीत का वचन

इस सिद्धान्त को ही आधार बनाकर मनु ने भी यह विचार व्यक्त किया है कि सन्तान या तो माता के शील को प्राप्त करती है या पिता के। यह दोनों के शील एवं स्वभाव को समान रूप से भी प्राप्त कर सकती है किन्तु अन्त में योनि की प्रधानता मानते हुए यह विचार व्यक्त करते हैं कि दुर्योनि से उत्पन्न सन्तति अपना स्वभाव कभी नहीं छोड़ती --

"पितुर्वा भजते शीलं मातुर्वोभयमेव वा।
न कथंचन दुर्योनिः प्रकृतिं स्वां नियच्छति॥"
-- मनु० १०।५९

इसी प्रकार देखें : मनु० ९।३४, ३५, ३६

सन्तति-परम्परा पर कुल-परम्परा का प्रभाव मानने के कारण ही धर्मशास्त्रीय लेखकों ने अनेक कुलों को वैवाहिक सम्बन्धों के अयोग्य निरूपित किया है। इस प्रसंग में मनु ने उत्तम क्रियाओं से हीन, पुरुष-सन्तति से रहित, वेदशास्त्रादि के पठन-पाठन की परम्परा से रहित, बड़े-बड़े रोमों से युक्त सदस्यों से युक्त एवं मृगी आदि संक्रामक रोगों से युक्त सदस्यों वाले कुल को विवाह के अयोग्य बताया है।[1] यम ने उपर्युक्त कुलों के अतिरिक्त ऐसे कुलों को भी विवाह के अयोग्य बताया है जिनके सदस्य बहुत लम्बे या बहुत छोटे हों, बहुत गोरे या काले हों, विकलांग या अधिकांग हों तथा अत्यन्त विलासी हों।[2] कुछ लेखकों ने चोर, ठग, नपुंसक, एवं नास्तिक सदस्यों वाले, निन्द्य जीविकोपार्जन वाले, मांसभोजी एवं कायरों से युक्त सदस्यों वाले, कुरूप एवं बन्ध्या या कन्योत्पादन की परम्परा तथा पतिघ्नी स्त्रियां वाले कुलों को भी विवाह के अयोग्य बताया है।[3]

वैवाहिक सम्बन्धों में, धर्मशास्त्रियों द्वारा विवेचित कुल-परीक्षा के वर्णन के अनन्तर अब हमें यहां यह देखना है कि संस्कृत-महाकाव्यों

१- महान्त्यपि समृद्धानि गोऽजाविधनधान्यतः ।
स्त्रीसम्बन्धे दशैतानि कुलानि परिवर्जयेत् ॥
हीनक्रियं निष्पुरुषं निश्छन्दो रोमशार्शसम् ।
क्षय्यामयाव्यपस्मारिश्वित्रिकुष्ठिकुलानि च ॥
— मनु० ३।६-७

२- देखें : स्मृ० च० सं० का० प्र० भा० पृ० २०३-२०४ पर उद्धृत यम का वचन ।

३- देखें : वी० मि० (प्र० भा०) पृ० ५८७-८८ ।

में वैवाहिक प्रसंगों में कुल की परीक्षा हुई है या नहीं ? इस प्रश्न के उत्तर में यदि हम संस्कृत-महाकाव्यों का अध्ययन करें तो यह ज्ञात होता है कि यहां प्रारम्भ से ही वैवाहिक सम्बन्धों के प्रसंग में वर एवं कन्या दोनों के कुल की परीक्षा की जाती थी । वाल्मीकि रामायण में राम एवं सीता के वैवाहिक क्रिया-कलापों में सर्वप्रथम वर एवं कन्या दोनों ही पक्षों के लोगों ने अपने कुल का विस्तृत परिचय दिया था ।[१] अज एवं इन्दुमती के वैवाहिक प्रसंग की समीक्षा से यही ज्ञात होता है कि इन दोनों के विवाह के पूर्व, इनके संरक्षकों ने सर्वप्रथम कुल पर ही विचार किया था ।[२] आगे चलकर संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में विक्रमांकदेव एवं चन्द्रलेखा तथा धर्मशर्मा एवं श्रृंगारवती आदि के परिणय-प्रसंगों को देखने से यही ज्ञात होता है कि उस युग में भी वैवाहिक सम्बन्धों के प्रसंग में कुल पर विशेष ध्यान दिया जाता था । यही कारण है कि इन स्थलों पर स्वयंवर-मण्डप में उपस्थित विक्रमांकदेव एवं धर्मशर्मा के कुलों या व्यक्तिगत गुणों का ही विस्तृत परिचय दिया गया है ।[३]

धर्मशास्त्रीय लेखकों ने वर एवं कन्या के कुल-विचार के अतिरिक्त यह मत भी व्यक्त किया है कि वर एवं कन्या को सगोत्रीय सप्रवरीय एवं सपिण्डीय नहीं होना चाहिए । यहां गोत्र, प्रवर एवं पिण्ड का क्या तात्पर्य है ? यह समझ लेना आवश्यक है ।

इस प्रसंग में 'गोत्र' शब्द के विस्तृत व्याख्यान में न जाकर यहां इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि 'गोत्र' किसी व्यक्ति के उस

१- देखें : वा० रा० बाल० ७०। १६-४५ एवं ७१। १-२२

२- ,,: रघु० ५।४० एवं ६।७१-७६

३- ,,: विक्रम० ६।१३६-१४६ एवं धर्मशर्मा० १६।६०-८१

निकटतम पुरुष का नाम होता है जिसके नाम से उसका कुटुम्ब सम्बोधित होता है। यहाँ यह तथ्य अवधेय है कि गोत्रों के आधार पर समाज का विभाजन उन्हीं ऋषियों के नाम पर किया गया है जो कि वेदों के मन्त्रद्रष्टा थे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि एक ही मन्त्रद्रष्टा ऋषि की परम्परागत सन्तानें सगोत्र कही जाती हैं।

धर्मशास्त्रीय लेखकों की परम्परा में गृह्यसूत्रों के काल से ही सगोत्र विवाह का निषेध होने लगा था। गोभिल, हिरण्यकेशी, आपस्तम्ब एवं मनु आदि ने एक स्वर से सगोत्र विवाह को निषिद्ध बताया है।[1] इस प्रसंग में धर्मशास्त्रीय लेखकों ने सगोत्रीय कन्या को धर्मविहित पत्नी नहीं माना है।[2] शातातप ने विवाह के अनन्तर सगोत्रीय कन्या के त्याग एवं वर द्वारा चान्द्रायण व्रत के अनुष्ठान के अनन्तर शुद्धि की व्यवस्था की है।[3] यहाँ यह तथ्य अवधेय है कि वैवाहिक विषयों में सगोत्रता एवं सप्रवरता का बन्धन केवल ब्राह्मण समुदाय पर ही लागू होता है क्योंकि वेदों के मन्त्रद्रष्टा ब्राह्मण थे और इन्हीं के आधार पर विभिन्न गोत्रों का विभाजन एवं नामकरण किया गया है। क्षत्रियादि अन्य वर्ण के लोग अपना गोत्र पुरोहित के गोत्र के

१- देखें : आश्व गृ० सू० १।६।१ ; जै० गृ० सू० १।२० ; गो० गृ० सू० ३।४।४ हिरण्य० गृ० सू० १।१९।१२ ; आप० ध० सू० २।११।१५ एवं मनु० ३।५ वशिष्ठ याज्ञ० १।३।५४ एवं विष्णु २४।९ हारीत० ४।१ ; शङ्खस० ४।१ एवं बुध० धा० ध० म० १ आदि।

२- अतः सगोत्रादिविवाहः कृताप्यकृत एवं सगोत्रायां न भार्यात्वम्।
-- मनु ३।५ पर मेधातिथि।

३- देखें : स्मृ० च० सं० का० प्र० भा० पृ०१८३-१८४ पर उद्धृत शातातप का वचन।

अनुसार ही मानते हैं। अत: यहां सूत्रकारों एवं स्मृतिकारों द्वारा सगोत्र एवं सप्रवर विवाह का निषेध केवल ब्राह्मण वर्ण के लिए ही मानना चाहिए।

भारतीय समाज-नियामकों ने गोत्र के साथ ही "प्रवर" का उल्लेख करते हुए सप्रवरीय विवाह का भी निषेध किया है[1] और इस प्रसंग में उपर्युक्त दण्ड का ही विधान किया है।[2] यहां प्रवर से तात्पर्य उन प्राचीनतम ऋषियों के नाम से है जो स्वयं गोत्रसंस्थापक ऋषियों के भी पूर्वज थे। गोत्र एवं प्रवर की समानता के अतिरिक्त प्राचीन लेखकों के अनुसार वर एवं कन्या को सपिण्डीय भी नहीं होना चाहिए। यहां पिण्ड का अर्थ है शरीर अत: सपिण्ड का तात्पर्य हुआ शरीरवान या शरीरवती। इस प्रकार सपिण्ड से यहां तात्पर्य है ऐसे दो व्यक्ति जिनके पिण्ड समान हों। धर्मशास्त्रों ने ऐसे विवाहों का भी निषेध किया है जिनका पिण्ड समान हो।[3] परन्तु यदि हम भारतीय परम्परा का आश्रय लें तो यह ज्ञात होता है कि हम सभी एक ही ईश्वर की सन्ताने हैं और इस प्रकार सारा मानव-संसार ही सपिण्ड है। अत: इसमें सपिण्ड होने के कारण विवाह सम्बन्ध हो ही नहीं सकते। धर्मशास्त्रियों ने इस स्थिति से बचने के लिए यह विधान किया कि सपिण्ड सम्बन्ध पिता के पक्ष में सात पीढ़ियों तक और माता के पक्ष में पांच पीढ़ियों तक ही रहता है।[4] इसके

१- देखें : स्मृ० च० सं० का प्र० भा० पृ० १८३-१८४

२- देखें : गौ० ध० सू० १।४।२ ; भा० गृ० सू० १।७।८ ; वा० गृ० सू० १०।१ ; वसिष्ठ गृ० ध० व० २।१८ ; वेदव्यासस० २।२ ; हारीत ४।१ ; शङ्ख स० ४।१ आदि।

३- देखें : गौ० गृ० सू० ३।४।५ ; आप० ध० सू० २।११।१६ ; गौ० ध० सू० १।४।२ ; मनु० ३।५ ; याज्ञ० १।३।५२ ; एवं वसिष्ठ० गृ० ध० व० २।१६ आदि।

४- देखें : गौ० ध० सू० १।४।३, याज्ञ० १।३।५३, विष्णु २४।१०

अनन्तर पिण्ड की समानता समाप्त हो जाती है । "सपिण्ड" शब्द की इस सीमा को ही ध्यान में रखते हुए भारतीय चिन्तकों ने मातुल-दुहिता, पितृष्वस्वसा-दुहिता आदि के साथ विवाह का निषेध किया है । आपस्तम्ब ने इन कन्याओं के साथ सम्भोग को पतन का कारण माना है ।[1] बौधायन के अनुसार भारत के दक्षिणी भाग में मातुल एवं पितृष्वसा की पुत्रियों के साथ विवाह का प्रचलन अवश्य था परन्तु स्वयं वह एवं गौतम इस प्रथा के विरोधी थे ।[2] मनु ने भी इन कन्याओं के साथ विवाह को अवैध ठहराते हुए, ऐसी कन्याओं के साथ विवाह करने वाले का दण्ड "चान्द्रायण-व्रत" निर्धारित किया है ।[3]

यहां यह तथ्य अवधेय है कि धर्मशास्त्रीय लेखकों द्वारा सगोत्र, सप्रवर एवं सपिण्ड, वैवाहिक सम्बन्धों में इन तीनों निषेधों का मूल कारण धार्मिक-भावना थी । सगोत्रीय, सप्रवरीय एवं सपिण्डीय वर एवं कन्या किसी एक ही व्यक्ति या ऋषि विशेष की सन्तान होने के कारण आपस में भाई-बहन ही होते थे । और इस प्रकार भाई-बहन होने के कारण ऐसे विवाहों से प्राचीन धार्मिक भावना को ठेस पहुंचती थी इसीलिए धर्मशास्त्रियों ने उपर्युक्त विवाहों का निषेध किया है ।

संस्कृत-महाकाव्यों की परम्परा में इन निषेधों का पालन हुआ है या नहीं ? स्पष्ट प्रमाणों के न होने के कारण इस विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता । हां, जहां तक "सपिण्ड" के निषेध का प्रश्न है

१- देखें : आप० ध० सू० १।२१।८

२- देखें : बौधा० ध० सू० १।२।३-६ एवं गौ० ध० सू० १।४।३

३- ,, : मनु० ११।१७१-१७२ ।

महाभारतयुग में इस नियम का व्यतिक्रम हुआ है । महाभारत के अनुसार अर्जुन ने सुभद्रा के साथ विवाह किया था जबकि सुभद्रा अर्जुन के मामा की कन्या थी। इसी प्रकार कृष्ण ने रुक्मिणी से विवाह किया था जबकि वह भी उनकी मातुल-पुत्री ही थी ।

४- गृह्यसूत्रों में उपलब्ध विवाह-प्रक्रिया और संस्कृत-महाकाव्यों में उसकी चरितार्थता

प्रस्तुत अध्याय के प्रारम्भ में मानव-जीवन में विवाह संस्कार की अनिवार्यता एवं उसकी महत्ता का विशद विवेचन किया जा चुका है । विवाह संस्कार की इस अनिवार्यता के साथ ही यहां यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि कोई भी विवाह पूर्ण तभी माना जाता है जबकि वह कुछ विधि-विधानों के साथ पूर्ण किया जाय । भारतीय-समाज में बिना विवाह के स्त्री-पुरुषों का साहचर्य एवं उनका आपसी सम्बन्ध एक अनैतिक कार्य माना जाता रहा है । यही कारण है कि यहां कोई भी स्त्री-पुरुष तभी साथ-साथ पति-पत्नी के रूप में रहने के अधिकारी माने जाते हैं एवं समाज उन्हें पति-पत्नी की मान्यता देता है जबकि उनका सम्बन्ध एक विस्तृत धार्मिक विधि के सम्पादन के अनन्तर हुआ हो । अतः यहां देख लेना आवश्यक है कि विवाह की विधि क्या है? एवं उसके मुख्य अंग कौन-कौन से हैं ?

विवाह विधि के निरूपण के अवसर पर यहां यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि भारतीय समाज में प्रचलित विवाह विधि के प्रारम्भ से ही अनेक रूप प्रचलित रहे हैं और यह पद्धति दिनोंदिन विस्तृत रूप लेती जा रही है । यहां भारतीय समाज में विवाह की प्रारम्भिक विधि को देख लेना आवश्यक है क्योंकि वही प्रथा आज भी अपने विस्तृत रूप में जीवित है ।

(I) वैदिक युगीन विवाह प्रक्रिया

भारतीय-समाज में विवाह-संस्कार का प्रचलन, जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, वैदिक काल से ही हो चुका था । स्पष्ट है कि विवाह-संस्कार की विधि का प्रचलन भी वैदिक काल से ही समाज में स्थापित हो चुका रहा होगा । इस सन्दर्भ में यदि हम वैदिक साहित्य का आश्रय लें तो यह ज्ञात होता है कि उस युग में विवाह संस्कार की एक विस्तृत विधि स्थापित हो चुकी थी । यदि ऋग्वेद के सूर्या सूक्त (१०।८५) एवं अथर्ववेद के चौदहवें काण्ड क

विश्लेषण किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि उस युग में विवाह संस्कार के मुख्य भाग थे सोम का वर्णन[1] कन्या के आलंकारिक वहेज का वर्णन,[2] वर-वधू का पाणिग्रहण,[3] वर द्वारा वधू के केशों का छुड़ाया जाना [4](केशमोचन), कन्या-पिता द्वारा कन्या का दान,[5] वधू की विदाई एवं उसका श्वशुरालय प्रवेश ।[6] अथर्ववेद में इसके अतिरिक्त कन्या द्वारा प्रस्तर पर आरोहण,[7] (अश्मारोहण) वर द्वारा वधू को वस्त्र प्रदान करना[8] एवं वधू का स्नान करना,[9] ये तीन कार्य भी वैवाहिक विधि के प्रसंग में आवश्यक माने जाने लगे थे ।

इस विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि वैदिक युग में विवाह-विधि के मुख्य रूप से दस घटक अंग थे । सोम रस का पान, (सम्भवत: यही गृह्यसूत्रों के युग में मधुपर्क विधि के रूप में मान्य हुआ) कन्या पिता द्वारा कन्या को उपहार, पाणिग्रहण, केशमोचन, कन्यादान, अश्मारोहण, वधू को वस्त्र दान, उसका स्नान, उसकी विदाई एवं श्वशुर-कुल में प्रवेश ।

१- देखें : ऋ० १०।८५।१-५ एवं अथर्व० १४। १-५

२- ,, : ,, १०।८५।६,८ एवं १३, अथर्व० १४।१।६-२०

३- ,, : ,, १०।८५।३६

४- ,, : ,, १०।८५।२४

५- ,, : ,, १०।८५।३८-४१

६- ,, : ,, १०।८५।४१-४६ ; अथर्व० १४।१।६०-६४

७- ,, : अथर्व० १४।१।४७

८- ,, : ,, १४।१।४५

९- ,, : ,, १४।१।२७

आगे चलकर वैदिक युग की इस विवाह की विधि में कुछ परिवर्तन हुआ और उसके घटक अंग के रूप में कुछ अन्य तथ्य भी मान्य हुए ।

(ii) वाल्मीकि रामायणयुगीन विवाह प्रक्रिया

कालक्रम की दृष्टि से ऋग्वेद के अनन्तर वाल्मीकि रामायण का समय आता है और वाल्मीकि रामायण में राम एवं सीता आदि के विवाह वर्णन में भी हमें एक विस्तृत विवाह-प्रक्रिया देखने को मिलती है[1]। वाल्मीकि रामायण के राम एवं सीता के विवाह वर्णन से यह ज्ञात होता है कि उस युग में यह संस्कार पांच दिनों में सम्पादित होता था और यह संस्कार मुख्य रूप से तीन भागों में बंटा होता था :--

(अ) प्रारम्भिक औपचारिक कृत्य

(ब) मूल विवाह संस्कार

(स) अनुष्ठान अर्थात् पति के गृह में किए जाने वाले विभिन्न धार्मिक कार्य ।

प्रारम्भिक औपचारिक कृत्यों के अन्तर्गत मुख्य कार्य निम्न-लिखित थे --

महर्षि वाल्मीकि के अनुसार राम द्वारा धनुर्भंग के अनन्तर महाराज जनक ने उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में राम एवं सीता के विवाह करने का निश्चय किया[2] और अपनी इस इच्छा की पूर्ति के लिए उन्होंने महाराज दशरथ से अनुमति प्राप्त करने एवं विवाह समारोह में सपुरोहित उपस्थित होने का निवेदन करने के लिए अपने विशिष्ट दूतों को अयोध्या भेजा । महाराज दशरथ

१- देखें : वा० रा० बाल० स० ६६-७३

२- ,, उत्तरे दिवसे ब्रह्मन् फाल्गुनीभ्यां मनीषिण: ।
वैवाहिकं प्रशंसन्ति भगो यत्र प्रजापति: ।।
--वा० रा० बाल० ७२।१३

महाराज जनक के इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वाल्मीकि युग में मूल विवाह संस्कार का शास्त्रानुमोदित समय उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र माना जाता था ।

ने जनक के प्रस्ताव को स्वीकार करके एवं अपने सम्बन्धियों तथा पुरोहितों का अनुमोदन प्राप्त करके मिथिला को प्रस्थान किया ।[1]

इस वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वाल्मीकि युग में विवाह संस्कार का प्रथम औपचारिक कृत्य था कन्या पिता द्वारा वर-पिता से उसका अनुमोदन प्राप्त करना । इस कृत्य का लेखकों ने 'वर-प्रेषण' नामकरण किया है ।[2] यहाँ यह तथ्य अवधेय है कि यह परम्परा आज भी भारतीय समाज में विद्यमान है ।

महाराज दशरथ के दल-बल सहित मिथिला पहुंचने पर जनक ने उनका विधिवत् स्वागत किया और उन्हें सुखपूर्वक ठहराने का प्रबन्ध किया । इसके अनन्तर पुन: स्वयं जनक ने महाराज दशरथ द्वारा अपने पुत्रों का विवाह उनकी पुत्रियों से किए जाने का निवेदन किया और दशरथ ने जनक की इस अनुज्ञा को स्वीकार किया ।[3]

वाल्मीकि युग के इस द्वितीय औपचारिक कृत्य का लेखकों ने 'सीमन्त पूजन' नामकरण किया है ।[4]

महाराज जनक ने दशरथ की दल-बल सहित सेवा शुश्रूषा की

१- देखें : वा० रा० बाल० स० ६७।२५-२७ ; स० ६८ एवं ६९। ७

२- ,, : डा० एस० एन० व्यास : 'रामायण कालीन समाज', पृ० १२२ ।

३- ,, : वा० रा० बाल० स० ६९।८ से १३

४- ,, : डा० एस० एन० व्यास : 'रामायण कालीन समाज', पृ० १२३ ।

विधिवत् व्यवस्था करके एवं उनका अनुमोदन प्राप्त करके अपने यज्ञ की पूर्णाहुति की एवं अपनी पुत्रियों के विवाह से सम्बद्ध मंगलाचार का सम्पादन करके वह रात्रि सुख से व्यतीत की ।[१] इस वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि वाल्मीकि युग में शास्त्रीय विवाह संस्कार के पूर्व भी कोई यज्ञ किया जाता था और कन्या के कल्याण के लिए कन्या-पिता कुछ अन्य कल्याणकारी धार्मिक कार्य भी सम्पन्न करता था, परन्तु इस अवसर पर कन्या-पिता द्वारा कौन सा यज्ञ किया जाता था एवं कल्याणकारी कार्यों के अन्तर्गत वह कौन से कार्य करता था । इस विषय में कुछ भी नहीं कहा गया है । लेखकों ने इस कृत्य का 'अंकुरारोपण या अंकुरार्पण क्रिया' नामकरण किया है[२] क्योंकि इसी कार्य से विवाह संस्कार अंकुर रूप में आगे बढ़ता है ।

यहां तक का कार्य जनक ने पहले दिन में ही पूर्ण किया ।

दूसरे दिन जनक ने दशरथ को सपरिवार अपने आवास पर पधारने का निमन्त्रण दिया । और दशरथ के आ जाने पर दोनों पक्षों की ओर से अपने-अपने कुलों का परिचय प्रस्तुत किया गया । वर पक्ष की ओर से दशरथ-कुल पुरोहित वशिष्ठ ने इक्ष्वाकु कुल का विस्तृत परिचय दिया और कन्या पक्ष की ओर से महाराज जनक ने स्वयं विदेह-वंशावली का पाठ प्रस्तुत किया ।[३] इस प्रकार वाल्मीकि युग में वैवाहिक कार्यक्रम के प्रसंग में दूसरे दिन

१- देखें : वा० रा० बाल० ६९।१८-१९

२- ,, : डा० एस० एन० व्यास : 'रामायण कालीन समाज', पृ० १२३ ।

३- ,, : वा० रा० बाल० ७०।१०-१४ ; ७०।१८-४५ ; ७१।१-२२ ।

के कार्यक्रमों का शुभारम्भ दोनों पक्षों की वंशावलियों के अनन्तर होता था ।[1]

वंशावली-पाठ के अनन्तर कन्या-पिता जनक ने उपस्थित जन-समुदाय के मध्य में अपना यह संकल्प पुनः दोहराया कि मैं राम का सीता के साथ एवं लक्ष्मण का उर्मिला के साथ विवाह करना चाहता हूं ।[2] चूंकि इस कृत्य में कन्या-पिता अपनी कन्याओं के दान का मौखिक रूप से उद्घोष करता है सम्भवतः इसीलिए लेखकों ने इस कृत्य का `वाग्दान` यह नामकरण किया है ।[3]

वाग्दान के अनन्तर महाराज दशरथ ने अपने आवास पर आकर चारों पुत्रों के कल्याण के लिए उसी दिन अपराह्न काल में नान्दी श्राद्ध सम्पन्न किया ।[4] इस प्रकार वाल्मीकि युग में विवाह संस्कार के

१- तत्कालीन जन-मानस कन्या-दान के समय वंश-परिचय का प्रस्तुतीकरण आवश्यक मानता था और यह विवाह का एक मुख्य कृत्य माना जाता था तभी तो जनक ने दशरथ से इस कृत्य की महत्ता को निम्न शब्दों में व्यक्त किया था --

`प्रदाने हि मुनिश्रेष्ठ कुलं निरवशेषतः ।
वक्तव्यं कुलजातेन तन्निबोध महामते ।।

-- वा० रा० बाल० ७१।२

२- देखें : वा० रा० बाल० ७१।२१-२२

३- ,, : डा० एस० एन० व्यास : `रामायण कालीन समाज`, पृ० १२४ ।

४- ,, : वा० रा० बाल० ७२।२०-२१

यहां यह तथ्य अवधेय है कि तत्कालीन समाज वाग्दान के अनन्तर एवं मूल विवाह संस्कार के पूर्व वर के भावी जीवन के कल्याण

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)....

दूसरे दिन के मुख्य कृत्य थे, वर एवं कन्या पक्षों द्वारा अपनी वंशावलियों का परिचय देना, कन्या-पिता द्वारा कन्या के वाग्दान का उल्लेख करना एवं वर-पिता द्वारा पुत्र के कल्याण के लिए नान्दी श्राद्ध को पूर्ण करना ।

विवाह संस्कार के तीसरे दिन महाराज दशरथ ने प्रात:काल ही अपने आवास पर गोदान का एक बृहद् आयोजन किया और इस अवसर पर उन्होंने चारों पुत्रों के कल्याण के लिए चार लाख सुसज्जिता गौवों का दान पूर्ण किया और गोदान के साथ ही ब्राह्मणों को बहुत सी धन सामग्री भी प्रदान की ।[१]

उपर्युक्त कृत्य मूल विवाह संस्कार के पूर्व सम्पादित किए जाते थे इसीलिए इन्हें औपचारिक कृत्य कहा जा सकता है और जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं तत्कालीन समाज (विशेषरूप से उच्चवर्गीय) इन औपचारिक कृत्यों को तीन दिन के भीतर पूर्ण करता था ।

चौथे दिन महाराज दशरथ के चारों पुत्रों ने विभिन्न मंगलात्मक कार्यों के सम्पादन के अनन्तर परिवार सहित सीता के विवाह-मण्डप

के लिए नान्दी श्राद्ध एवं गोदान तथा अन्य दानों का करना आवश्यक मानता था और यह चाहता था कि इन सभी कृत्यों को वर-पिता पूर्ण करे । सम्भवत: इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए जनक ने दशरथ से इन कर्मों को पूर्ण करने का निवेदन करते हुए कहा था --

"रामलक्ष्मणयोराजन् गोदानं कारयस्व ह ।
पितृकार्यं च भद्रं ते ततो वैवाहिकं कुरु ।।

--वा० रा० बाल० ७१। २३

१- देखें : वा० रा० बाल० ७२ । २१ से- २४

में प्रवेश किया[1] और सीता आदि वहां पहले से ही मांगलिक कार्यों को पूर्ण किए हुए उपस्थित थीं ।[2]

इस प्रकार मूल विवाह-संस्कार का प्रारम्भ, चौथे दिन वर एवं कन्या के विवाह-मण्डप में प्रवेश के अनन्तर होता था ।

राम एवं सीता आदि के विवाह-मण्डप में उपस्थित हो जाने के अनन्तर महाराज जनक का निवेदन स्वीकार करके महर्षि वशिष्ठ ने मूल वैवाहिक क्रियाओं का प्रारम्भ किया और इस सन्दर्भ में उन्होंने सर्वप्रथम विश्वामित्र एवं शतानन्द के सहयोग से विवाह-मण्डप के मध्य भाग में विधिपूर्वक वेदी का निर्माण किया और उसे गन्ध तथा फूलों के द्वारा चारों ओर से सुसज्जित किया । इसके साथ ही अनेक सुवर्ण-पालिकाओं, यव के अंकुरों से युक्त चित्रित कलश, अंकुर जमाए हुए सकोरे, धूपयुक्त धूप-पात्र, शंखपात्र, स्रुवा, स्रुक, स्रुक, अर्घ्य आदि पूजापात्र, लाजा-पूर्णपात्र एवं अक्षतादि को भी यथास्थान स्थापित कर दिया ।[3] फिर वशिष्ठ द्वारा मन्त्रोच्चारण पूर्वक वेदी में अग्नि की स्थापना करने और उसी अग्नि में मन्त्रपाठपूर्वक हवन करने के बाद[4] सीता वेदी के निकट लाई गयीं और जनक ने अग्नि को साक्षी बनाकर --

"इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव ।
प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना ।।

-- वा० रा० बाल० ७३।२६

यह कहते हुए राम को सीता प्रदान किया और इसके बाद राम के हाथ में उन्होंने मन्त्रपूत जल छोड़ दिया ।[5]

१- देखें : वा० रा० बाल० ७३। ६-११ एवं १७
२- ,, ,, ,, ,, ७३।१५
३- ,, ,, ,, ,, ७३।१८ १/२ -२३
४- ,, ,, ,, ,, ७३-२४
५- ,, ,, ,, ,, ७३।२५-२८

इसके अनन्तर राम आदि चारों भाइयों ने सीता आदि चारों कन्याओं का हाथ पकड़ा[1] और फिर सम्मिलित रूप से उन लोगों ने अग्नि, वेदी, राजा दशरथ तथा उपस्थित ऋषि मुनियों की परिक्रमा की और वेदोक्त विधि के अनुसार वैवाहिक विधि पूर्ण किया।[2] पुन: उन लोगों ने विभिन्न वाद्य-यन्त्रों के कारण कोलाहलपूर्ण वातावरण में अग्नि की तीन बार परिक्रमा करके अपने विवाह को पूर्ण किया[3] और फिर राम आदि चारों भाई अपनी पत्नियों के साथ जनवासे में चले गए।[4] इस प्रकार इनका मूल विवाह संस्कार पूर्ण हुआ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वाल्मीकि युग में विवाह संस्कार की मूल विधि के अन्तर्गत, वर एवं कन्या का विवाह-मण्डप में

१- देखें : वा० रा० बाल० ७३।३०-३४

२- ,, अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा वेदिं राजानमेव च।
ऋषींश्चापि महात्मान: सभार्या रघूद्वहा: ।।
यथोक्तेन ततश्चक्रुर्विवाहं विधिपूर्वकम् ।।'
-- वा० रा० बाल० ७३।३५ १/२ -३६

यहाँ 'यथोक्तेन' शब्द से ऐसा प्रतीत होता है कि वैवाहिक कार्य-कलापों के प्रसंग में राम एवं सीता आदि ने वैदिक काल में परिणय विधि में प्रचलित केशमोचन एवं अश्मारोहण आदि को भी पूर्ण किया था।

३- 'त्रिरग्निं ते परिक्रम्य ऊहुर्भार्या महौजस: ।
-- वा० रा० बाल० ७३।३८

४- देखें : वा० रा० बाल० ७३।४०

उपस्थिति-करण, वेदी-निर्माण एवं शलशादि की स्थापना, वेदी में अग्नि को प्रज्ज्वलित करना, उसी अग्नि में विधिपूर्वक हवन, हवन के अनन्तर कन्या-पिता द्वारा कन्या-दान की घोषणा, वर एवं कन्या का पाणिग्रहण, उनके द्वारा अग्नि एवं ऋषियों आदि की परिक्रमा एवं अन्त में वर एवं वधू द्वारा तीन बार अग्नि की परिक्रमा, इन नौ घटकों की गणना की जाती थी ।[१]

मूल विवाह संस्कार के सम्पन्न हो जाने के बाद महाराज दशरथ ने पुत्रवधुओं सहित अयोध्या के लिए प्रस्थान करने का निश्चय किया । महाराज जनक ने उनके इस निश्चय को जानकर अपनी पुत्रियों को विपुल उपहार देने के अनन्तर इन्हें अयोध्या के लिए विदा किया ।[२] अयोध्या पहुंचने पर राजप्रसाद में कौसल्या, सुमित्रा एवं कैकेयी ने अपनी पुत्र-वधुओं का मंगल गीतों से स्वागत किया[३] एवं पुत्रवधुओं ने भावी जीवन में कल्याण के लिए होम किया[४] और उनमें होम करने के पश्चात् कौसल्या

१- डा० व्यास ने उपर्युक्त घटकों का क्रमशः, वधू-गृह आगमन, वधू-निष्क्रमण, वेदीकरण, अग्नि स्थापन एवं होम, वध्वागमन, कन्या-दान, पाणिग्रहण एवं अग्नि-परिणयन इन नौ नामों के अन्तर्गत वर्णन किया है । कहने का आशय यह कि उन्होंने मूल विवाह संस्कार के उपर्युक्त नौ घटक अंग मानते हुए ही उनका नामकरण प्रस्तुत किया है ।

-- देखें : डा० एस० एन० व्यास : 'रामायण कालीन समाज', पृष्ठ १२४-१२५ ।

२- देखें : वा० रा० बाल० ७४। २-७ $\frac{१}{२}$

३- ,, ,, ,, ,, ७७।१२

४- ,, ,, ,, ,, वही

आदि ने पुत्रवधुओं को देवमन्दिरों में ले जाकर उनसे विभिन्न देवताओं का पूजन करवाया ।[१] इस देवपूजन के अनन्तर सीता आदि ने सास-श्वसुर के चरणों की वन्दना के अनन्तर अपने-अपने पतियों के साथ एकान्त में रमण प्रारम्भ किया ।

इस प्रकार वाल्मीकि युग में पतिगृह पहुंचने पर किए जाने वाले मांगलिक कार्यों के अन्तर्गत वधुओं का मंगल गीतों से स्वागत, उनके द्वारा होमों का सम्पादन एवं अन्त में देवमन्दिरों में जाकर देवताओं की पूजा इन तीन कार्यों को किया जाता था ।[२]

(iii) गृह्यसूत्रों में उपलब्ध विवाह प्रक्रिया

कालक्रमानुसार वाल्मीकि रामायण के अनन्तर विभिन्न गृह्यसूत्रों का समय आता है और चूंकि गृह्यसूत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय गृहस्थाश्रम का विस्तृत व्याख्यान करना था । अतः प्रत्येक गृह्यसूत्रों में हमें विवाह संस्कार की विस्तृत विधि देखने को मिलती है । यहां यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि यद्यपि विभिन्न गृह्यसूत्रों में विवाह की विस्तृत विधियों का निरूपण तो अवश्य हुआ है परन्तु उनमें विवाह-विधि-निरूपण के प्रसंग में एकरूपता नहीं है । एकरूपता के साथ ही उनमें विवाह-विधि के आवश्यक अंगों के निरूपण के पौर्वापर्य के विषय में भी हमें मतभेद देखने को मिलता है ।

१- देखें : वा० रा० बाल० ७७ ।१३

२- डा० व्यास ने समुद्वाह के उपर्युक्त घटक अंगों का 'वधू-प्रतिग्रह', 'गृह-प्रवेशनीय होम' एवं 'देवकोत्थापन' इन तीन शीर्षकों के अन्तर्गत वर्णन किया है और इस प्रकार उपर्युक्त घटकों के ये तीन नाम निर्धारित किए हैं -- देखें : डा० एस० एन० व्यास : 'रामायण कालीन समाज', पृष्ठ १२६ ।

प्रारम्भिक समय में अर्थात् ऋग्वैदिक युग में जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, विवाह की विधि में एकरूपता थी और साथ ही उनमें विधि निरूपण के प्रसंग में पद्धतियों एवं विधि के घटक अंगों में स्वल्पता भी थी, क्योंकि ऋग्वैदिक समाज केवल आर्यों का समाज था । कालान्तर में आर्यों का आर्येतर संस्कृतियों से भी समागम हुआ[1] और आर्य संस्कृति आर्येतर संस्कृति से काफी प्रभावित हुई । स्पष्ट है कि आर्येतर संस्कृति ने आर्यों की विवाह पद्धति को भी काफी प्रभावित किया होगा । सम्भवतः आर्येतर संस्कृति के प्रभाव के कारण ही वाल्मीकि युग में हमें विवाह-संस्कार की एक विस्तृत विधि देखने को मिलती है ।[2] आगे चलकर गृह्यसूत्रों के युग में वैवाहिक

१- आर्यों एवं अनार्यों की संस्कृतियों का समागम वाल्मीकि युग से ही माना जाता है क्योंकि इसी युग में आर्य अनार्यों के सम्पर्क में आए और वे दक्षिण (जो कि अनार्यों का देश था) की ओर बढ़े ।

२- ऊपर हम देख चुके हैं कि ऋग्वैदिक युग में विवाह संस्कार की विधि के मूल अंग थे -पाणिग्रहण, केशमोचन एवं कन्यादान । आगे चलकर अथर्ववेद में अश्मारोहण, वस्त्रदान एवं वधू स्नान भी विवाह-विधि के आवश्यक अंग के रूप में मान्य हुए । विवाह संस्कार की विधि के इन अंगों को देखने से यह प्रतीत होता है कि उस युग में विवाह-विधि एक दिन में ही पूर्ण हो जाती रही होगी, परन्तु वाल्मीकि युग में जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं राम एवं सीता के विवाह संस्कार में पांच दिनों का समय लगा था । राम एवं सीता के विवाह से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में वैवाहिक विधि के अंगों के प्रसंग में उपर्युक्त ऋग्वैदिक अंगों के अतिरिक्त अन्य अनेक अंग भी मान्य हुए थे ।

विधि के प्रसंग में वैदिक एवं रामायणकालीन विधियों के साथ ही प्रत्येक जनपदों एवं ग्रामों में प्रचलित रीति-रिवाजों का पालन भी आवश्यक माना जाने लगा।[१] यही कारण है कि विभिन्न गृह्यसूत्रों में हमें विवाह संस्कार की विस्तृत, एकरूपता विहीन एवं पौर्वापर्य से रहित विभिन्न विधियां देखने को मिलती हैं।[२] यहां शोधकर्ता विभिन्न गृह्यसूत्रों में उपलब्ध विवाह-संस्कार की विभिन्न विधियों के विस्तृत विवेचन में न जाकर मुख्यरूप से आश्वलायन एवं पारस्कर इन दो गृह्यसूत्रों के आधार पर विवाह-संस्कार की विधि का विवेचन

१- आश्वलायन गृह्यसूत्रकार का स्पष्ट आदेश है कि प्रत्येक व्यक्ति को वैवाहिक विधि के प्रसंग में शास्त्रीय विधि के साथ ही अन्य लोकाचारों एवं देशाचारों का भी पालन करना चाहिए --

अथ खलूच्चावचा जनपदधर्मा ग्रामधर्माश्च तान् विवाहे प्रतीयात् ।
--आश्व० गृ० सू० १।५।१

आश्वलायन के अतिरिक्त आपस्तम्ब, काठक एवं पारस्कर आदि गृह्यसूत्रकारों ने भी विवाह-विधि के प्रसंग में विभिन्न लोकाचारों एवं देशाचारों का पालन आवश्यक माना है।
--देखें : आप० गृ० सू० 1/2/15, का० गृ० सू० २५।७ एवं पा० गृ० सू० १।८।१२-१३ आदि।

२- विवाह के विभिन्न विधियों के वर्णन के लिए देखें : आप० गृ० सू० १।३,४ एवं ५ ; भा० गृ० सू० १।११।१ - १।१२।७ ; आग्नि० गृ० सू० १।५-१।६ ; वा० गृ० सू० १०-१७ ; बौ० गृ० सू० १।२० ; कौ० गृ० सू० १।६- १।१८ ; द्रा० गृ० सू० १।३।१ - १।४।८ ; ला० गृ० सू० १।३।१ - १।४।८ एवं सांख्या० गृ० सू० १।६ - १।१६ आदि।

किया है[१] क्योंकि उनकी दृष्टि इन दोनों गृह्यसूत्रों के सम्मिलित अध्ययन से विवाह संस्कार की विधि के मुख्य अंगों का विवेचन पूर्ण हो जाता है । इन दोनों गृह्यसूत्रों में विवाह प्रक्रिया की मुख्य क्रियाएं इस प्रकार निरूपित की जा सकती हैं --

विवाह का मुहूर्त

भारतीय समाज में विवाह संस्कार व्यक्तिगत एवं सामाजिक इन दोनों ही दृष्टियों से महत्वपूर्ण माना गया है । यही कारण है कि

१- आश्वलायन ने अपने गृह्यसूत्र में वैवाहिक विधि के निरूपण के पूर्व यह विचार व्यक्त किया है कि विवाह की विधि में देशाचारों एवं लोकाचारों का पालन भी आवश्यक होता है परन्तु मैं यहां उन्हीं विधियों का वर्णन करूंगा जो देश के सभी भागों में पायी जाती हैं --"अथ खलूच्चावचा जनपदधर्मा ग्रामधर्माश्च तान् विवाहे प्रतीयात् । यत्तु समानं तद्वक्ष्याम:" --आश्व० गृ० सू० १।५।१-२ ।

आश्वलायन के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि उन्होंने वैवाहिक विधि-निरूपण के प्रसंग में उन्हीं विधियों का उल्लेख किया है जो पूरे समाज में व्यवहृत होती थीं । इसीलिए ऊपर आश्वलायन गृह्यसूत्र को आधार बनाकर वैवाहिक विधि का वर्णन किया गया है । यहां यह तथ्य अवधेय है कि यद्यपि आश्वलायन ने विवाह की विधि के उन्हीं अंगों का वर्णन किया है जो पूरे समाज में व्यवहृत होते थे परन्तु इस स्थल पर उन्होंने मधुपर्कादि विवाह-विधि के आवश्यक अंगों का निरूपण नहीं किया है इसीलिए ऊपर आश्वलायन के साथ ही पारस्कर गृह्यसूत्र को भी आधार बनाया गया है ।

यहां के समाज चिन्तकों का प्रारम्भ से ही यह मन्तव्य रहा है कि व्यक्ति का विवाह शुभ मुहूर्त में होना चाहिए ।[1] गृह्यसूत्रकार आश्वलायन के अनुसार विवाह उत्तरायण, शुक्लपक्ष और कल्याणकारी नक्षत्र में होना चाहिए ।[2] स्पष्ट है कि आचार्य आश्वलायन के अनुसार विवाह के मुहूर्त के प्रसंग में सर्वप्रथम मास का विचार करना चाहिए और इस सन्दर्भ में उन्होंने माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख एवं ज्येष्ठ इन पांच मासों को सर्वोत्तम माना है ।[3] मास के अनन्तर पक्ष का

१- विवाह के सन्दर्भ में शुभ मुहूर्त की इसी महत्ता को देखकर यहां प्रारम्भ से ही विवाह के विषय में मुहूर्त का विचार आवश्यक माना जाने लगा था । इस सन्दर्भ में यदि हम ऋग्वेद का आश्रय लें तो यह ज्ञात होता है कि उस युग में विवाह का शुभ मुहूर्त फाल्गुन मास माना जाता था --देखें : ऋ० १०।८५।१३। आगे चलकर विवाह का शुभ मुहूर्त भगदेवता वाला उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्र माना जाने लगा । वाल्मीकि के राम एवं सीता का विवाह इसी नक्षत्र में हुआ था --देखें : वा० रा० बाल० ७२।१३

वाल्मीकि रामायण के अनन्तर गृह्यसूत्रों के युग में, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, इस विषय में हमें विभिन्न मत देखने को मिलते हैं ।

२- उदगयने आपूर्यमाणपक्षे कल्याणे नक्षत्रे चौलकर्मोपनयनगोदानविवाहाः ।

- आश्व० गृ० सू० १।४।१

आश्वलायन के अतिरिक्त पारस्कर, कोषीतकि एवं सांख्यायन आदि गृह्यसूत्रकारों ने भी विवाह का शुभ मुहूर्त उत्तरायण एवं शुक्लपक्ष को ही माना है -- देखें : पार० गृ० सू० १।४।५ ; कौ० गृ० सू० १।५ एवं सांख्या० गृ० सू० १।५। ५ आदि ।

३- यहां आश्वलायन के ने कुछ अन्य लोगों का मत उपस्थित करते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि कुछ लोग विवाह के लिए सभी मासों को

(अगले पृष्ठ पर देखें)....

विचार आवश्यक होता है और इस सन्दर्भ में उन्होंने शुक्लपक्ष को विवाह के लिए आवश्यक बताया है। पक्ष के अनन्तर वह विवाह के लिए कल्याणकारी नक्षत्र का होना भी आवश्यक मानते हैं।[१] परन्तु यहां उन्होंने कौन से नक्षत्र कल्याणकारी होते हैं ? इस विषय का प्रतिपादन नहीं किया है। अतः इस विषय के ज्ञान के लिए हमें अन्य गृह्यसूत्रों का आश्रय लेना होगा। इस सन्दर्भ में यदि हम आश्वलायन के बाद के गृह्यसूत्रों का आश्रय लें तो यह ज्ञात होता है कि उस युग में विवाह के लिए शुभ नक्षत्र रोहिणी, मृगशिरा एवं श्रविष्ठा आदि माने जाते थे।[२] कृत्तिका और स्वाती नक्षत्रों को विवाह के

उत्तम मानते हैं, 'सार्वकालमेके विवाहाः।' --आश्व० गृ० सू० १।४।२ आश्वलायन के टीकाकार हरदत्त आपस्तम्ब के आधार पर ग्रीष्म ऋतु के मासों बैसाख एवं ज्येष्ठ को विवाह के लिए सर्वोत्तम मानते हैं --देखें : आश्व० गृ० सू० १।४।२ पर अनाविला ।

१- गोभिल भी इसी मत का समर्थन करते हुए कहते हैं --

'पुण्यनक्षत्रेण दारान् कुर्वीत ।'

--गो० गृ० सू० २।१।१

२- 'रोहिणी मृगशिरः श्रवणश्रविष्ठोत्तराणीत्युपयमे तथोद्वाहे यच्च पुण्योक्तम् ।'

-- मा० गृ० सू० १।७।५ । इसी प्रकार

देखें : मा० गृ० सू० १० आदि ।

बिल्कुल अयोग्य माना जाता था ।[1] कुछ लेखकों ने स्वाती नक्षत्र को भी विवाह के लिए उत्तम माना है ।[2]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि गृह्यसूत्रों के अनुसार माघ, फाल्गुन, चैत्र, वैशाख एवं ज्येष्ठ ये पांच मास, शुक्लपक्ष, रोहिणी, मृगशिरा, श्रवण, श्रविष्ठा एवं उत्तरा फाल्गुनी तथा स्वाति आदि नक्षत्र शुभ मुहूर्त माने जाते थे ।

<u>मधुपर्क</u>[1]

उपर्युक्त शुभ मुहूर्तों में से किसी एक शुभ मुहूर्त में जब विवाह के

१- "कृत्तिकास्वातिपूर्वैरिति वर्जयेत् ।"

--मा० गृ० सू० १।७।४। इसी प्रकार देखें : वा० गृ० सू० १० आदि ।

२- आपस्तम्ब का विचार है कि जो कन्या-पिता यह चाहता है कि उसकी कन्या विवाह के अनन्तर पति की प्रियतमा बने उसे स्वाति-नक्षत्र में विवाह करना चाहिए -- देखें : आप० गृ० सू० १।३।३ । पारस्कर गृह्यसूत्रकार ने भी विवाह के लिए उत्तरा फाल्गुनी, हस्त, चित्रा, उत्तराषाढ़, श्रवण, धनिष्ठा, उत्तराभाद्रपद, रेवती, अश्विनी, स्वाति, मृगशिरा एवं रोहिणी इन बारह नक्षत्रों को विवाह के लिए शुभ माना है -- देखें : पार० गृ० सू० १।४।६-७ ।

३- आश्वलायन ने मधुपर्क का विधान नहीं किया है परन्तु पारस्कर ने विवाह विधि का निरूपण मधुपर्क-वर्णन से ही प्रारम्भ किया है । पारस्कर के अतिरिक्त आपस्तम्ब, बौधायन, मानव एवं काठक आदि गृह्यसूत्रकारों ने विवाह से पूर्व वर का मधुपर्क से स्वागत करने का विधान किया है -- देखें : आप० गृ० सू० १।३।८ ; बौधा० गृ० सू०१।२।१ एवं मा० गृ० १।९।१ ;

(अगले पृष्ठ पर देखें)...

लिए वर कन्या के द्वार पर पहुंचने पर तो कन्या-पिता सर्वप्रथम उसे बैठने के लिए आसन,[1] पाद प्रक्षालन,[2] आचमन के लिए जल[3] तथा मधुपर्क प्रदान करता है।[4]

काठक गृ० सू० २४।१-२। शाङ्खायन ने विवाह से पहले और वधू के घर में प्रवेश करने से पहले मधुपर्क का विधान किया है -- देखें : शाङ्खा० गृ० सू० १।१२।१०।

१- पारस्कर ने आसन प्रदान की विधि का वर्णन करते हुए कहा है कि कन्या-पिता वर के बैठने के लिए काष्ठ-पीठादि मंगवा कर वर से कहे कि आप इसे ग्रहण करें।

वर "वर्ष्मोऽस्मि समानानामुद्यतामिव सूर्यः।
इमं तमभितिष्ठामि यो मा कश्चाभिदासति ॥

इस मन्त्र से वेदी के अभिमुख होकर बैठे। इसके अनन्तर आसनासीन वर को, पैरों के नीचे बिछाने के लिए दूसरा आसन दे।

--देखें : पा० गृ० सू० १।३।५-६

२- पारस्कर गृह्यसूत्र के अनुसार कन्या-पिता द्वारा पाद-प्रक्षालनार्थ प्रदत्त जल को ग्रहण करके वर उस जल से "विराजो दोहोऽसि विराजो दोहमशीय। मयि पाद्यायै विराजो दोह इति ॥"

इस मन्त्र का पाठ करता हुआ पहले बायां फिर दाहिना पैर धोए परन्तु वर यदि ब्राह्मण हो तो उसे पहले दाहिना पैर धोना चाहिए।

-- देखें : पार० गृ० सू० १।३।१०-१२

३- इसके अनन्तर वर, आचमन के लिए कन्या-पिता द्वारा दिए जाते हुए जल को --

"आपः स्थ युष्माभिः सर्वान् कामानवाप्नवानिति"

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें).

यहां यह तथ्य उल्लेखनीय है कि विभिन्न गृह्यसूत्रों में मधुपर्क के "मिश्रण" के सम्बन्ध में विभिन्न विचार प्रकट किए गए हैं। इस विचारभिन्नता

इस मन्त्र के साथ ग्रहण करने के अनन्तर उस अर्घ को मस्तक से लगाकर--

"समुद्रं वः प्रहिणोमि स्वां योनिमभिगच्छत् ।

अरिष्टास्माकं वीरामापरासेचिमत्पयः ।।

इस मन्त्र से उसे पृथ्वी पर गिराए । इसके पश्चात् -

"आगन्यशसा सठसृजवर्चसा तं मा कुरु प्रियम् ।

प्रजानामधिपतिं पशूनामरिष्टिं तनूनाम् ।।

इस मन्त्र से आचमन करे ।

--देखें : पार० गृ० सू० १।३।१३-१५

४- आचमन के अनन्तर वर कन्या-पिता द्वारा दिए जाते हुए मधुपर्क को --

" मित्रस्य त्वा चक्षुषा प्रतीक्षे" इस मन्त्र से देखते हुए

"देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामि" इस मन्त्र का उच्चारण करते हुए ग्रहण करे । ग्रहण करने के अनन्तर वर बाएं हाथ में मधुपर्क को रखकर दाहिने हाथ की अनामिका से "नमः श्यावास्यायान्नशने यत्त आविद्धं तत्ते निष्कृन्तामि" इस मन्त्र को पढ़ते हुए तीन बार मधुपर्क का आलोडन करे । फिर अनामिका और अंगुष्ठ से तीन बार मधुपर्क का कुछ भाग बाहर फेंकने के अनन्तर "यन्मधुनो मधव्यं परमठंरूपमन्नाद्यम् ।।

तेनाहं मधुनो मधव्येन परमेण रूपेणान्नाद्येन परमो मधव्योऽन्नादोऽसानि" इस मन्त्र का पाठ करता तीन बार मधुपर्क का भक्षण करे। अवशिष्ट मधुपर्क का भी वर भक्षण कर ले या पूर्व की ओर जनसंचार रहित प्रदेश में उसे रख दे । इसके अनन्तर वर गोदान या गवालम्भन करे ।

--देखें : पार० गृ० सू० १।३।१६-३१

के प्रसंग में मधुपर्क में मधु का होना तो सभी ने स्वीकार किया है, परन्तु उसके अन्य तत्वों के विषय में एक मत नहीं हैं । गृह्यसूत्रकार आपस्तम्ब ने मधुपर्क में दही, मक्खन तथा मधु के मिश्रण का विधान किया है ।[1] कुछ विचारक उपर्युक्त तत्वों के अतिरिक्त इसमें जौ, सत्तु तथा धान का मिश्रण भी आवश्यक मानते थे ।[2] परन्तु मानव, हिरण्यकेशि एवं बौधायनादि गृह्यसूत्रकारों ने इसमें गौ या बकरी के मांस का मिश्रण भी आवश्यक माना है ।[3] इस विविधता के बावजूद अधिकांश गृह्यसूत्रकार इसे मधु एवं दही का मिश्रण ही मानते हैं ।

वस्त्रदान

कन्या-पिता द्वारा मधुपर्क से वर का स्वागत कर लिए जाने के अनन्तर वर को, कन्या को अधोवस्त्र एवं उत्तरीय पहनाना चाहिए ।[4]

१- देखें : आप० गृ० सू० ५।१३।११

२- ,, : ,, ,, ५।१३।१२

३- ,, : मा० गृ० सू० १।६।२२ ; हिरण्य० गृ० सू० १।१२।६-१६ ; बौ० गृ० सू० १।२।५१-५

४- पारस्कर ने वस्त्रदान की विधि का वर्णन करते हुए कहा है कि वर --

'जरां गच्छ परिधत्स्व वासो भवाकृष्टीनामभिशस्तिपावा
शतं च जीव शरदः सुवर्चा रयिं च पुत्राननुसंव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः'

इस मन्त्र से कन्या को वस्त्र तथा --

'या अकृन्तन्नवयं या अतन्वत याश्च देवीस्तंतूनभितोततंथ ।
तास्त्वा देवीर्जरसे संव्ययस्वायुष्मतीदं परिधत्स्व वासः ।।'

इस मन्त्र से उत्तरीय धारण कराए ।

--देखें : पार० गृ० सू० १।४।१२-१३

कन्यादान

वस्त्रदान के अनन्तर पारस्कर गृह्यसूत्रकार ने कन्या के दान का विधान किया है ।[१]

१- यहां यह तथ्य अवधेय है कि पारस्कर गृह्यसूत्रकार ने संक्षिप्त रूप से कन्यादान का उल्लेखमात्र किया है -- देखें : पार० गृ० सू० १।४।१३ । उन्होंने यहां कन्यादान की विस्तृत विधि का वर्णन नहीं किया है । परन्तु पारस्कर गृह्यसूत्र के टीकाकार हरिहर ने उपर्युक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए कन्यादान की विधि का वर्णन करते हुए लिखा है कि वस्त्रदान के अनन्तर कन्या-पिता अपने गोत्र एवं प्रवरादि का उल्लेख करते हुए, अपने हाथ में कुश, जल एवं कन्या का हाथ लेकर संकल्पपूर्वक अपनी कन्या को वर को पत्नी के रूप में दे दे और वर "द्यौस्त्वा ददातु पृथिवी त्वा प्रतिगृह्णातु" इस मन्त्र से ग्रहण करते हुए काम-सम्बद्ध स्तुति का पाठ करे । इसी अवसर पर कन्या-पिता एवं उसके बन्धुओं आदि को उपहार भी दे देना चाहिए ।

-- देखें : पार० गृ० सू० १।४।१४ पर हरिहर भाष्य

पारस्कर के अतिरिक्त अन्य गृह्यसूत्रों में हमें कन्यादान की विस्तृति विधि का वर्णन देखने को मिलता है । मानव गृह्यसूत्रकार ने कन्यादान की विस्तृत विधि का वर्णन करते हुए लिखा है कि कन्यादान के अवसर पर कन्यादाता, पिता या भ्राता आदि तीन बार मंगल शब्द कहता हुआ "ददामि" कहे और वर भी तीन बार "प्रतिगृह्णामि" कहते हुए कन्या को स्वीकार करे । यदि वर कन्या को शुल्क देकर ग्रहण कर रहा हो तो इसी अवसर पर वर को चाहिए कि वह धनराशि को अंजुली में भरकर, कन्या को स्वीकार करते हुए, धनराशि कन्या-पिता को

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)...

परस्पर समीक्षण

कन्यादान की विधि पूर्ण हो जाने के अनन्तर पारस्कर ने "परस्पर समीक्षण" की विधि का विधान किया है ।[१]

दे दे । इस अवसर पर पिता, कन्या को लक्ष्य करके कहे कि "मैं तुझे धन लेने के लिए देता हूं ।" इसके प्रत्युत्तर में वर कहे कि "मैं पुत्रों के लिए तुझे स्वीकार करता हूं ।" इस अवसर पर कन्या और वर के गोत्रों तथा दोनों के प्रपितामह तक के पूर्वजों के नामों का उच्चारण किया जाता है और कहा जाता है:- "किसने किसको दिया ? काम ने काम को दिया" आदि।

--देखें : मा० गृ० सू० १।८।६-९

१- पारस्कर के अनुसार कन्यादान के अनन्तर कन्या-पिता वर और कन्या का मण्डप में स्थित व्यक्तियों से परिचय कराता है । वर इस अवसर पर --

"समञ्जन्तु विश्वेदेवा: समापो हृदयानि नौ ।
सम्मातरिश्वा संधाता समुदेष्ट्री दधातु नाविति ।।

इस मन्त्र का पाठ करे । इसके बाद वर कन्या को लेकर

"यदेषि मनसा दूरं दिशोऽनुपवमानो वा ।
हिरण्यपर्णो वै कर्ण: स त्वा मन्मनसां करोत्वित्यसाविति ।।"

इस मन्त्र-पाठ के साथ घर से बाहर मण्डप में आय और वहां कन्या-पिता इन दोनों का परस्पर समीक्षण कराए । वर को इस अवसर पर --

"अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्य: सुमना: सुवर्चा: ।
वीरसूर्देवकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ।।

आदि मन्त्रों का पाठ करना चाहिए ।

-- देखें : पार० गृ० सू० १।४।१४-१६

अग्नि-स्थापन एवं होम

भारतीय धर्मशास्त्रियों ने वैवाहिक विधि की पूर्णता एवं विवाह की सामाजिक मान्यता के लिए अग्नि की स्थापना एवं उसमें वर एवं कन्या द्वारा विभिन्न होमों की आहुतियों को प्रदान करना आवश्यक माना है। क्योंकि भारतीय परम्परा अग्नि को साक्षी बनाकर किए गए विवाहों को ही अविच्छेद्य विवाह मानती है। इसी सनातन तथ्य को ध्यान में रखते हुए गृह्यसूत्रों ने भी विवाह की पूर्णता के लिए अग्नि की स्थापना एवं उसमें होमों का सम्पादन आवश्यक माना है।

अग्नि की स्थापना एवं उसमें किए जाने वाले होमों की इसी महत्ता के कारण प्रत्येक गृह्यसूत्रकार ने अग्नि-स्थापन एवं होमों को अपने विवेचन का लक्ष्य बनाया और फलतः इन दोनों से सम्बद्ध विभिन्न विधियों का समाज में विकास हुआ। यहां हम विभिन्न गृह्यसूत्रों के विभिन्न वर्णन-विधियों में न जाकर यदि पारस्कर का ही आश्रय लें तो यह ज्ञात होता है कि वैवाहिक विधि की पूर्णता के लिए कन्या-पिता को घर से बाहर बने हुए मण्डप में गोमय से उपलिप्त स्थान में अग्नि की स्थापना करनी चाहिए।[१] और परस्पर समीक्षण के अनन्तर वर एवं वधू को चाहिए कि वे अग्नि-वेदी के पश्चिम की ओर मृगचर्म, तृण पुलक या चटाई पर बैठकर (दायां पैर आगे रखते हुए) अग्निहोत्र की सामान्य आहुतियों के अनन्तर[२] राष्ट्रभृत होम की बारह, जया होम की तेरह

१- देखें : पार० गृ० सू० १।४।३-४

२- सामान्य आहुतियों के अन्तर्गत, आघार और आज्य संज्ञक, महाव्याहृति संज्ञक आहुति, पांच प्रायश्चित-सम्बद्ध आहुति एवं प्रजापति तथा स्विष्टकृत आहुतियों को ग्रहण करना चाहिए।

-- देखें : पार० गृ० सू० १।५।३

और अभ्यातन होम की अट्ठारह आहुतियों को पूर्ण करें ।[1]

पाणिग्रहण

होम के अनन्तर पाणिग्रहण का विधान आता है ।[2]
पाणिग्रहण की विधि के अन्तर्गत वर-वधू एक दूसरे का हाथ पकड़ते हुए जीवन-पर्यन्त एक दूसरे का साथ निभाने की प्रतिज्ञा करते हैं । गृह्यसूत्रकार आश्वलायन के अनुसार विवाह मण्डप में अग्नि की प्रतिष्ठापना के अनन्तर एक ओर प्रस्तर एवं उत्तर पूर्व में पानी का घड़ा रखा जाय । वर एवं कन्या अग्नि में आहुतियां दें । फिर वर पूर्व की ओर मुख करके, पश्चिम की ओर मुख करके बैठी हुई कन्या का-

गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं
मया पत्या जरदष्टिर्यथा सः ।।
भगोऽर्यमा सविता पुरंधि
र्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ।।

१- देखें : वही १।५।७-१२
२- विवाह-संस्कार से सम्बद्ध पाणिग्रहण की विधि के निरूपण के क्रम के विषय में आश्वलायन एवं पारस्कर गृह्यसूत्रकारों में मतभेद है । आश्वलायन ने होम के अनन्तर पाणिग्रहण का विधान करते हुए यहीं से वैवाहिक विधि का निरूपण प्रारम्भ किया है परन्तु पारस्कर ने होम के अनन्तर लाजावपन की विधि के विधान के बाद पाणिग्रहण-विधि का क्रम माना है । -- देखें : आश्व० गृ० सू० १।५।३ ; पार० गृ० सू० १।६

यहां आश्वलायन का विधि निरूपण क्रम ही माना गया है क्योंकि आश्वलायन ने वैवाहिक विधि निरूपण के प्रसंग में पहले ही यह घोषणा कर दी है कि "मैं विवाह की उन्हीं विधियों का उल्लेख करूंगा

(अगले पृष्ठ पर देखें)....

इस मन्त्र को पढ़ते हुए[1] पाणिग्रहण करें । यहां आश्वलायन ने सन्तति की इच्छा के आधार पर पाणिग्रहण की विभिन्न विधियों का उल्लेख किया है । उनके अनुसार यदि वर विवाह के अनन्तर पुत्र-सन्तति चाहता हो तो उसे वधू का अंगूठा पकड़ना चाहिए और यदि कन्या चाहता हो तो उसे वधू की अंगुली पकड़नी चाहिए तथा लड़का-लड़की यदि ये दोनों ही सन्तानों की इच्छा हो तो उसे बाल वाली तरफ से (हथेली की उलटी ओर से) वधू का अंगूठा सहित हाथ पकड़ना चाहिए ।[2]

अग्निपरिणयन

पाणिग्रहण के अनन्तर वर एवं वधू द्वारा अग्नि की

जो देश के सभी भागों में प्रचलित है ।' आश्वलायन की इस घोषणा से प्रकारान्तर से यह भी माना जा सकता है कि उन्होंने सामान्य प्रचलित विवाह-विधि के निरूपण के साथ ही विवाह-विधि के विभिन्न अंगों का क्रम भी वही माना होगा जो कि उनके युग में सर्वप्रचलित रहा होगा । इसी आधार पर यहां पाणिग्रहण से लेकर सप्तपदी तक की विधियों के विवेचन के प्रसंग में आश्वलायन का क्रम ही अपनाया गया है ।

१- पारस्कर ने इस मन्त्र के अतिरिक्त इस अवसर पर 'अमो हमस्मि...' आदि कुछ अन्य मन्त्रों के पाठ का भी विधान किया है ।
-- देखें : पार० गृ० सू० १।६।३

२- देखें : आश्व० गृ० सू० १।५।३

परिक्रमा की जानी चाहिए[१]। आश्वलायन ने इस विधि का निरूपण इस प्रकार किया है -- पाणिग्रहण के अनन्तर वर अग्नि एवं जल के घड़े को अपनी दायीं ओर रखता हुआ वधू से अग्नि की तीन बार परिक्रमा करवाता है और स्वयं इस परिक्रमा के समय नीचे लिखे मन्त्र का पाठ करता है :--

'अमोऽहमस्मि सा त्वं सा त्वमस्यमोऽहं द्यौरहं पृथिवी त्वं सामाहमृक् त्वं तावेह विवहावहै प्रजां प्रजनयावहै संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ जीवेव शरदः शतमिति ।'[२]

अश्मारोहण

आश्वलायन के अनुसार अग्नि की परिक्रमा के अनन्तर वर को चाहिए कि वह कन्या को --

'इममश्मानमारोहाश्मेव त्वं स्थिरा भव ।
अभितिष्ठ पृतन्यतोऽभितिष्ठ पृतन्यत इति ।।'

१- यहां भी आश्वलायन एवं पारस्कर गृह्यसूत्रों में विधि-क्रम के विषय में मतभेद है । आश्वलायन ने पाणिग्रहण के अनन्तर ही अग्नि परिणयन का विधान किया है परन्तु पारस्कर ने लाजाहोम, पाणिग्रहण एवं अश्मारोहण के अनन्तर अग्नि परिणयन का विधान किया है ।
--देखें : पार० गृ० सू० १।६-७
यहां आश्वलायन के क्रम को ही माना गया है ।

२- देखें : आश्व० गृ० सू० १।७।४-५
पारस्कर ने वर-वधू द्वारा अग्नि परिक्रमा की विधि में --
'तुभ्यमग्ने पर्यवहन्त्सूर्यां वहतु ना सह ।
पुनः पतिभ्यो जायां दाग्ने प्रजया सहेति ।।
इस मन्त्र-पाठ का विधान किया है ।
-- देखें : पार० गृ० सू० १।७।३

इस मन्त्र के साथ पत्थर पर चढ़ाए[1]।

वैवाहिक विधि में अश्मारोहण की विधि एक निश्चित उद्देश्य पर आधारित है। वस्तुत: अश्मारोहण की विधि के प्रसंग में गृह्यसूत्रों के दो मुख्य उद्देश्य प्रतीत होते हैं -- प्रथम उद्देश्य से यह प्रतीत होता है कि इस विधि द्वारा सम्भवत: गृह्यसूत्रकार यह दर्शाना चाहते हैं कि विवाह के अनन्तर कन्या को अपने पति के विश्वास के प्रति पत्थर की तरह ही दृढ़ होना चाहिए उसे पति के साथ कभी विश्वास-घात नहीं करना चाहिए और दूसरा उद्देश्य सम्भवत: यह प्रदर्शित करना रहा हो कि वधू को पाषाण की तरह ही दृढ़ होना चाहिए और गार्हस्थ्य में आने वाली विपत्तियों का उसे दृढ़तापूर्वक पालन करना चाहिए।

१- देखें : आश्व० गृ० सू० १।५।६-७

पारस्कर ने अश्मारोहण की विधि का विस्तृत वर्णन करते हुए कहा है कि "आरोहेममश्मानम्" इत्यादि मन्त्र के साथ वर-वधू को, अग्निवेदी के उत्तर की ओर रखे हुए पाषाण-खण्ड पर चढ़ाए और वधू प्रस्तर पर चढ़ते समय पहले दाहिना पैर पत्थर पर रखे। वधू द्वारा प्रस्तर पर चढ़ जाने के अनन्तर वर को --

"सरस्वति प्रेदमव सुभगे वाजिनीवती।
यां त्वा विश्वस्य भूतस्य प्रजायामस्याग्रत: ।।
यस्यां भूत समभवद्यस्यां विश्वमिदं जगत्।
तामद्य गाथां गास्यामि या स्त्रीणामुत्तमं यश: ।।"

इस गाथा का पाठ करना चाहिए।

-- देखें : पार० गृ० सू० १।७।१-२

<u>लाजा होम तथा केशमोचन</u>

आश्वलायन के अनुसार अश्मारोहण के अनन्तर लाजाहोम की विधि का क्रम आता है । इस विधि के अन्तर्गत वधू-भ्राता या कोई अन्य भ्रातृस्थानीय व्यक्ति धान की खीलों को वधू की अंजली में दो बार डालता है । (यदि वर का गोत्र जामदग्नि है तो वधू की अंजली में तीन बार खीलों को डालना चाहिए)। कन्या तथा वर को अग्नि परिक्रमा के साथ उसे अग्नि में डालना चाहिए तथा वर को उस समय इस मन्त्र का पाठ करना चाहिए --

"अर्यमणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत स इमां देवो प्रेतो मुंचातु नामुतः स्वाहा । वरुणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत स इमां देवो वरुणः प्रेतो मुंचातु नामुतः स्वाहा । पूषणं नु देवं कन्या अग्निमयक्षत स इमां देवः पूषा प्रेतो मुंचातु नामुतः स्वाहा ।"

यहां तक की आहुतियां वर-वधू की अंजली को बिना खोले हुए अग्नि में डालता है । चौथी आहुति वर मौन भाव से, बिना अग्नि की प्रदक्षिणा किए अग्नि में डालता है ।[1]

यही लाजा होम है ।[2] लाजाहोम के अनन्तर वर-वधू के

१- देखें : आश्व० गृ० सू० १।७।८-१२

यहां यह तथ्य ज्ञातव्य है कि पारस्कर ने भी लाजाहोम का विधान किया है परन्तु उन्होंने लाजा में शमी के पत्रों का मिश्रण भी आवश्यक माना है और होम के अवसर पर दो अन्य मन्त्र-पाठों का विधान भी किया है ।

--देखें : पार० गृ० सू० १।६।१

२- लाजा-होम की उपर्युक्त विधि से स्पष्ट है कि इस विधि में वर एवं कन्या चार बार (तीन बार मन्त्रोच्चारणपूर्वक एवं एक बार मौन रूप से) अग्नि की प्रदक्षिणा करते हुए लाजावपन करते हैं ।

बालों की दोनों लटों को (यदि वे बंधी हों तो) खोलता है । दाहिनी लट को वह "प्रत्वा मुंचामि.." इस मन्त्र से तथा बायीं लट को "प्रेतो मुंचामि..." मन्त्र से खोलता है ।[१]

लाजा होम तथा केशमोचन के अवसर पर वर द्वारा पठ्यमान उपर्युक्त मन्त्रों का यदि हम विवेचन करें तो यह ज्ञात होता है कि उपर्युक्त गृह्यसूत्रकारों द्वारा प्रस्तुत ये विधियां भी सोद्देश्य थीं । लाजा होम का मुख्य उद्देश्य सम्भवत: यह प्रदर्शित करता था कि जिस प्रकार धान के पौधे एक स्थान से हटाकर दूसरे स्थान पर लगाए जाते हैं और वहां उन्नति को प्राप्त होते हैं ठीक उसी प्रकार आज से यह कन्या पितृकुल में वृद्धि प्राप्त करने के अनन्तर, पतिकुल में वृद्धि करने के लिए जा रही है और अब पतिकुल में स्वयं की उन्नति के साथ अपने गुणों से पति-कुल को भी उन्नति प्राप्त कराएगी ।

जहां तक केशमोचन के उद्देश्य का प्रश्न है तो यदि हम इस अवसर पर पढ़े जाने वाले मन्त्रों को ध्यान में रखें तो यह ज्ञात होता है कि इस विधि का मूल उद्देश्य था यह प्रदर्शित करना कि आज से कन्या पितृ-कुल के बन्धनों से मुक्त होकर पतिकुल से सम्बद्ध हो रही है और इस प्रकार उस पर से पितृ परिवार के दायित्व के स्थान पर एक नए परिवार का दायित्व आ रहा है ।

<u>सप्तपदी</u>

लाजाहोम के अनन्तर सप्तपदी की विधि आती है । प्राचीन

१- पारस्कर ने केशमोचन की विधि का उल्लेख नहीं किया है ।

धर्मशास्त्रियों ने विवाह संस्कार के प्रसंग में सप्तपदी को ही पूर्ण तथा वैधानिक विवाह का प्रतीक माना है ।[1]

सप्तपदी की विधि के अन्तर्गत वर-वधू को पूर्वोत्तर दिशा में सात कदम ले जाता है[2] और प्रत्येक कदम के साथ ये सात वचन कहता है --

(१) अन्न के लिए एक कदम उठाने वाली हो ।

(२) बल के लिए दूसरा कदम उठाने वाली हो ।

१- आचार्य मनु ने "सप्तपदी के अनन्तर ही विवाह पूर्णरूप से वैधानिक विवाह माना है" और इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहा है :--

"पाणिग्रहणिका मन्त्रा: नियतं दारलक्षणम् ।
तेषां निष्ठा तु विज्ञेया विद्वद्भि: सप्तमे पदे ।।

मनु० ८।२२७

यहां यह तथ्य अवधेय है कि स्मृतिकारों ने सप्तपदी के पूर्व की आवश्यक विधियों को वाग्दान मात्र माना है, उनकी दृष्टि में सप्तपदी के पूर्व यह सम्बन्ध कुछ विशेष परिस्थितियों में भंग भी किया जा सकता है । याज्ञवल्क्य एवं नारद इस विशेष परिस्थिति की चर्चा करते हुए कहते हैं कि यदि सप्तपदी के पूर्व कन्या-पिता किसी अन्य योग्य वर से कन्या का विवाह करना चाहे तो वह पूर्व वर से उस कन्यादान को वापस लेकर नवागन्तुक वर को दे सकता है ।

-- देखें : याज्ञ० १।३।६५ एवं नारद १२।३०

२- गोभिल का मत है कि सप्तपदी के अवसर पर कन्या को पहले दाहिना पैर उठाना चाहिए ।

-- देखें : गो० गृ० सू० २।२।१२-१३

(३) सम्पत्ति के पोषण के लिए तीसरा कदम उठाने वाली हो ।

(४) आनन्दमय होने के लिए चौथा कदम उठाने वाली हो ।

(५) सन्तान के लिए पांचवा कदम उठाने वाली हो ।

(६) ऋतुओं (नियम पालन या दीर्घ जीवन) के लिए छठा कदम उठाने वाली हो ।

(७) तू मेरी मित्र बनने के लिए सातवां कदम उठा । तू मेरे अनुकूल व्रत रखने वाली या मेरा अनुसरण करने वाली हो । हम बहुत से पुत्रों को प्राप्त करें और वे वृद्धावस्था की आयु तक पहुंचने वाले हों ।[१]

सप्तपदी की विधि के उपर्युक्त विवेचन को यदि ध्यान में रखें तो यह ज्ञात होता है कि गृह्यसूत्रकारों ने विवाह की विधि के प्रसंग में इस विधि का विधान भी एक निश्चित उद्देश्य के साथ किया था और उनका यह उद्देश्य था कि इस अवसर पर कन्या एवं वर को उनके भावी-जीवन के कर्तव्यों का बोध कराना । सप्तपदी के वर्णन में गृह्यसूत्रकारों ने अन्न, बल, सम्पत्ति आदि उन्हीं वस्तुओं का उल्लेख किया है जो कि गार्हस्थ्य-जीवन में आवश्यक होती हैं, अतः प्रत्येक वर-वधू को उनकी प्राप्ति एवं संरक्षण के लिए सचेत होना आवश्यक होता है क्योंकि तभी वे गार्हस्थ्य को उचित रीति से निभा सकते हैं ।

१- सप्तपदी के विवेचन के लिए देखें : आश्व० गृ० सू० १।५।२० एवं पार० गृ० सू० १।८।१

यहां यह तथ्य अवधेय है कि आश्वलायन ने सप्तपदी के क्रम में "सा मामनुव्रता भव । पुत्रान् विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदष्टय: ।" इस टेक का प्रत्येक पद के साथ पढ़ने का विधान किया है परन्तु पारस्कर ने "सा मामनुव्रता भव" के साथ ही "विष्णुस्त्वा नयतु" इस पद का भी विधान किया है ।--देखें : आश्व० गृ० सू० १।५।२० एवं पार०गृ०सू०१।८।२

मूर्धाभिषेक

सप्तपदी के अनन्तर मूर्धाभिषेक की विधि आती है[1]। इस विधि के अन्तर्गत वर-वधू के ऊपर "आप: शिवा: शिवतमा: शान्ता: शांततमास्तास्ते कृण्वन्तु भेषजमिति" इस मन्त्र के साथ जल छिड़कना है ।[2]

इस विधि का मूल उद्देश्य धार्मिक भावना की पूर्ति मात्र थी । सनातनी भारतीय परम्परा प्रत्येक मांगलिक कार्यों के अवसर पर वर एवं कन्या या पति-पत्नी के ऊपर मंगल जल का छिड़कना आवश्यक मानती है ।

सूर्य-दर्शन एवं हृदयस्पर्श[3]

मूर्धाभिषेक के अनन्तर वर को -

"तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरद: शतं जीवेम शरद: शतं शृणुयाम शरद: शतं प्रब्रवाम शरद: शतमदीना: स्याम शरद: शतम्भूयश्च शरद: शतात् ।"

इस मन्त्र के साथ वधू को सूर्य का दर्शन कराना चाहिए ।

सूर्य दर्शन के अनन्तर वर को दाहिने हाथ से,

"मम व्रते ते हृदयं दधामि मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु । मम वाचमेकमना जुषस्व प्रजापतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यमिति ।"

इस मन्त्र के साथ वधू का हृदय स्पर्श करता है ।[4]

१- देखें : आश्व० गृ० सू० १।५।२१ एवं पार० गृ० सू० १।८।५-६

२- पारस्कर ने इस स्थल पर उपर्युक्त मन्त्र के अतिरिक्त कुछ अन्य मन्त्रों के पाठ का भी विधान किया है ।--देखें : पार०गृ० सू० १।८।६

३- आश्वलायन ने सूर्यदर्शन एवं हृदयस्पर्श का उल्लेख नहीं किया है ।

४- देखें : पार० गृ० सू० १।८।८

गृह्यसूत्रकारों द्वारा विवेचित उपर्युक्त विधियां भी सोद्देश्य थीं । यहां सूर्यदर्शन का उद्देश्य था वधू को जीवन में गतिशीलता का आदेश देना और यह बताना कि व्यक्ति को जीवन में सदा ही सूर्य की तरह गतिशील होना चाहिए ।

हृदय स्पर्श का उद्देश्य था वधू को यह समझाना कि आज से उसे पति के अनुकूल ही रहना चाहिए और जीवन पर्यन्त उसी के अनुरूप कार्य करना चाहिए ।

हृदय स्पर्श के अनन्तर वर --

"सुमंगलीरियं वधूरिमाठंसमेत पश्यत सौभाग्य मस्यै दत्वा याथास्तं विपरेतनेति।"

इस मन्त्र से वधू को पुन: अभिमन्त्रित करता है ।[1] इसके अनन्तर पारस्कर के अनुसार वधू एवं वर को मण्डप से पूर्व या उत्तर की ओर वस्त्रादि से आच्छादित प्रकोष्ठ में ले जाना चाहिए ।[2] यहां वधू को --

"इह गावो निषीदन्त्विहा श्वा इह पुरुषा: ।
इहो सहस्रदक्षिणो यज्ञ इह पूषा निषीदत्विति।।"

इस मन्त्र से वर को चाहिए कि वह वधू को लाल वृष के चर्म पर बैठाए । यहीं पर विभिन्न लोकाचारों एवं देशाचारों का सम्पादन करना चाहिए । और वर को आचार्य को दक्षिणा देनी चाहिए ।[3]

१- आश्वलायन ने इस विधि का विधान ध्रुवदर्शन के बाद किया है ।
--देखें : आश्व० गृ० सू० १।६।२२

२- देखें : पार० गृ० सू० १।८।१
आश्वलायन ने इस विधि से सहमत न होकर वर एवं वधू को पति एवं ~~वधू को पति एवं~~ सन्तातियुक्ता ब्राह्मणी के घर में रहने का आदेश दिया है ।
--देखें : १।८।२१

३- देखें : पार० गृ० सू० १।८।११-१४

ध्रुवदर्शन

सायंकाल हो जाने पर वर-वधू को -

'ध्रुवमसि ध्रुवं त्वा पश्यामि ध्रुवेधि पोष्ये मयि ।

मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिर्मया पत्या प्रजावती संजीव शरदः शतमिति ।'
इस मन्त्र से ध्रुव का दर्शन कराए और वधू न देखते हुए भी कहे कि मैंने ध्रुव को देख लिया है ।[1]

वधू की विदाई एवं रथारोहण

इसके अनन्तर आश्वलायन के अनुसार यदि वर एवं वधू को दूसरे गांव में जाना हो तो वर को चाहिए कि वह 'पूषा त्वेतो नयतु... ' इत्यादि मन्त्र से वधू को रथ पर चढ़ाए[2] और यदि मार्ग में नदी पड़े तो उसे 'अश्मन्वती रीयते..' आदि मन्त्र से वधू को नाव पर बैठाना एवं पार उतारना चाहिए ।[3] यदि मार्ग में वधू रोए तो वर को 'जीवं रुदन्ति.. ' मन्त्र का पाठ करना चाहिए[4] और मार्ग में प्रत्येक सुन्दर प्रदेश या चतुष्पथ पर वर-वधू को 'मा विदन् परिप न्थनः..' मन्त्र का पाठ करना चाहिए[5] तथा मार्ग की प्रत्येक बसति में वर को चाहिए कि वह बसति के सभी लोगों को 'सुमंगली.. ' आदि मन्त्र से वधू को दिखाए ।[6]

१- वही १।८।१९-२०

यहां यह तथ्य अवधेय है कि आश्वलायन ने ध्रुव के अतिरिक्त अरुन्धती एवं सप्तर्षि दर्शन का भी विधान किया है -- 'ध्रुवमरुन्धतीं सप्तऋषीनिति दृष्ट्वा वाचं विसृजेदिति प्रजां विन्देयेति ।

--आश्व० गृ० सू० १।७।२२

२- देखें : आश्व० गृ० सू० १।६।१
३- ,, वही १।६।२-३
४- ,, वही १।६।४
५- ,, वही १।६।६
६- ,, वही १।६।७

इस प्रकार यहां गृह्यसूत्रों में विवेचित विवाह संस्कार की मूल विधि समाप्त हो जाती है ।

उपर्युक्त प्रकरण के निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि आश्वलायन एवं पारस्कर गृह्यसूत्रकारों की दृष्टि में मूल-विवाह की विधि के मुख्य अंग थे -- विवाह मुहूर्त-विचार, मधुपर्क, वस्त्रदान, कन्यादान, परस्पर समीक्षण, अग्नि स्थापन एवं होम, पाणिग्रहण, अग्निपरिणयन, अश्मारोहण, लाजाहोम एवं केशमोचन, सप्तपदी, मूर्धाभिषेक, सूर्यदर्शन एवं हृदयस्पर्श, ध्रुव, अरुन्धती एवं सप्तर्षिदर्शन तथा रथारोहण एवं नौकारोहण आदि ।

इस मूल विवाह की विधि के अतिरिक्त आश्वलायन ने वधू के श्वशुरालय प्रवेश के समय भी कुछ विधियों को करना आवश्यक माना है और चूंकि ये विधियां भी विवाह संस्कार से सम्बद्ध हैं इसलिए इनका विवेचन भी आवश्यक है :--

वधू का श्वशुर गृह-प्रवेश

आश्वलायन के मतानुसार वर को चाहिए कि वह "इह प्रियं प्रजया" इस मन्त्र से वधू को अपने घर में प्रवेश कराए ।[1] इसके पश्चात् वह समिधाओं से विवाह की अग्नि को प्रज्वलित करके पश्चिम दिशा में बैल का चर्मासन बिछाए, (चर्मासन का केशयुक्त भाग ऊपर की ओर एवं ग्रीवा वाला भाग पूर्व की ओर होना चाहिए) और फिर वधू को उस आसन पर बैठाकर उसके साथ "आ नः प्रजां जनयतु.. " आदि मन्त्रों से अग्नि में चार आहुतियां डाले ।

1- देखें : आश्व० गृ० सू० 1।8।8

इन आहुतियों के अनन्तर वर "विश्वेदेवा:" आदि मन्त्र से कुछ दही का भक्षण करे और अवशिष्ट दही वधू को खाने के लिए देख दे ।[१] (और यदि दही न हो तो) वर को यज्ञ से बचे हुए घी को अपने तथा वधू के हृदय पर लगाना चाहिए ।[२]

त्रिरात्रव्रत

इस विधि के सम्पादन के अनन्तर आश्वलायन के अनुसार पति-पत्नी को तीन, रात्रि तक क्षार एवं लवण नहीं खाना चाहिए, सम्भोग नहीं करना चाहिए तथा उन्हें भूमि पर ही शयन करना चाहिए (कुछ आचार्य इस विधि को द्वादश रात्रि पर्यन्त या एक वर्ष पर्यन्त पालन करने का आदेश देते हैं)[३] इस ब्रह्मचर्य पालन के अनन्तर वर एवं वधू को सूर्यासूक्त के ज्ञाता ब्राह्मण को वधू का वस्त्र तथा अन्न का दान देना चाहिए और ब्राह्मणों को इस समय स्वस्तिवाचन का पाठ करना चाहिए ।[४]

१- देखें : आश्व० गृ० सू० १।८।९

२- ,, वही १।८।१०

३- ,, ,, १।८।११

४- ,, ,, १।८।१२-१४

यहां यह तथ्य अवधेय है कि पारस्कर ने त्रिरात्रव्रत का विधान कन्या के आवास स्थान पर ही किया है । --देखें : पार० गृ० सू० १।८।२१

इस प्रकार यहां आश्वलायन एवं पारस्कर गृह्यसूत्रों में त्रिरात्रव्रत के सन्दर्भ में मतभेद देखने को मिलता है । इस सन्दर्भ में यदि हम संस्कृत महाकाव्यों का आश्रय लें तो यह ज्ञात होता है कि यहां पारस्कर का विधान ही सत्य है क्योंकि संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में जैसा कि हम, आगे चलकर देखेंगे पारस्कर के मत का ही समर्थन किया गया है । संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में शिव एवं पार्वती, राम एवं सीता तथा नल एवं दमयन्ती ने इस विधि का पालन कन्या के आवास स्थान पर ही किया था ।

।।- संस्कृत महाकाव्यों में उपलब्ध विवाह प्रक्रिया

आश्वलायन एवं पारस्कर गृह्यसूत्रों के आधार पर विवाह की विधि के उपर्युक्त विवेचन के अनन्तर अब हमें यहां यह देखना है कि संस्कृत के किन-किन महाकाव्यों में विवाह की विधि का वर्णन हुआ है और उनमें इस विवाह की विधि का किस रूप में चित्रण किया गया है ।

इस सन्दर्भ में यदि हम संस्कृत-महाकाव्यों का अध्ययन करें तो यह ज्ञात होता है कि महाकाव्यों की परम्परा में मुख्यरूप से कुमारसम्भव, रघुवंश, जानकीहरण एवं नैषधीय-चरित तथा राधा परिणय आदि अनेक महाकाव्यों में विवाह की विस्तृत विधि का वर्णन किया गया है । साथ ही कुछ अन्य महाकाव्यों में विवाह की संक्षिप्त विधि का वर्णन भी हुआ है ।[१]

चूंकि इन महाकाव्यों में वर्णित विवाह की विधि में न तो उपर्युक्त विधि का पूर्णरूपेण चित्रण ही किया गया है और न ही विधि-क्रम वर्णन में उपर्युक्त क्रम का अनुवर्तन किया गया है । इसलिए यहां इन सभी महाकाव्यों में उपलब्ध विवाह की विधि का अलग-अलग वर्णन करना आवश्यक है ताकि हमें यह ज्ञात हो सके कि इनमें गृह्यसूत्रों में विवेचित विवाह की विधि के किन-किन अंगों का उल्लेख हुआ है और किन्हें छोड़ दिया गया है ।

अ- कुमारसम्भव में उपलब्ध विवाह-प्रक्रिया

इस अध्ययन-क्रम में सर्वप्रथम कुमारसम्भव का क्रम आता है । प्रस्तुत महाकाव्य में शिव एवं पार्वती के विवाह वर्णन में महाकवि कालिदास ने विवाह-विधि के निम्नलिखित अंगों का निरूपण किया है --

महाकाव्य के कथानक के अनुसार शिव द्वारा पार्वती के साथ

१- विवाह-विधि के अन्य वर्णन के लिए देखें : विक्रमांक. ९।१५१ एवं १०।१, नवसाह० १८।४६, धर्मशर्मा० १७।१०५ आदि ।

विवाह सम्बन्ध की इच्छा प्रकट की जाने पर[1] पर्वतराज हिमालय ने पार्वती को शिव के साथ विवाह करने का निश्चय किया। और इस सन्दर्भ में उन्होंने शुक्लपक्ष में, जामित्रगुणान्वित तिथि में पार्वती के विवाह की विधि को पूर्ण किया।[2]

१- कालिदास के अनुसार पार्वती की तप: साधना से प्रसन्न होकर शिव ने उनसे विवाह करने की इच्छा व्यक्त की परन्तु पार्वती ने उन्हें इस सम्बन्ध के पर्वतराज हिमालय से अनुमति प्राप्त करने का आग्रह किया। शिव ने तब अपनी ओर से सप्तर्षियों एवं अरुन्धती को पर्वतराज हिमालय के पास भेजा और हिमालय ने इस सम्बन्ध को स्वीकार कर लिया।

--देखें : कुमार० ५।८६, ६।१ एवं

इस प्रकार यहां कालिदास ने वर की ओर से विवाह का प्रस्ताव कराया है। इसे गृह्यसूत्रों में "वरप्रेषण" कहा गया है। जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं पारस्कर एवं आश्वलायन ने इस विधि का वर्णन नहीं किया है परन्तु आपस्तम्ब, आदि गृह्यसूत्रकारों ने इस विधि का उल्लेख किया है। आपस्तम्ब के अनुसार वर पक्ष की ओर से कुछ व्यक्तियों को कन्या-पिता के यहां जाना चाहिए और वहां उनसे सम्बन्ध की याचना करनी चाहिए-- देखें : आप० गृ० सू० २।४।१-२।

२- "अथौषधीनामधिपस्य वृद्धौ तिथौ च जामित्रगुणान्वितायाम्।
समेतबन्धुर्हिमवान्सुताया: विवाहदीक्षाविधिमन्वतिष्ठत् ॥

--कुमार० ७।१

यहां कालिदास ने सम्भवत: हिमालय द्वारा पार्वती के विवाह के अवसर पर नान्दी श्राद्ध आदि कुछ प्रारम्भिक विधियों का प्रकारान्तर से उल्लेख किया है।

इसके अनन्तर उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में चन्द्रमा से युक्त मैत्र नामक मुहूर्त में सौभाग्यवती स्त्रियों द्वारा पार्वती का वैवाहिक श्रृंगार एवं मंगल स्नान आदि किया गया ।[1] मंगल स्नान आदि से विशुद्ध गात्री पार्वती ने कुल देवताओं, माता एवं सती स्त्रियों का पादाभिवन्दन किया ।[2] इधर शिव भी सगण के साथ वर रूप में पर्वतराज हिमालय के पास पहुंचे । यहीं से विवाह की मूल विधि का प्रारम्भ होता है जिसका क्रमिक वर्णन इस प्रकार है :—

मधुपर्क एवं वस्त्रदान

पर्वतराज हिमालय ने भगवान शंकर का अपने प्रासाद पर पहुंचने पर सर्वप्रथम रत्नों, अर्घ्य, मधु एवं नवीन वस्त्रों से मन्त्रोच्चार पूर्वक स्वागत किया ।[3] इसके अनन्तर भगवान् शिव को पार्वती के पास ले जाया गया ।[4]

१- देखें : कुमार० ७।६-२६

२- तामर्चिताभ्यः कुलदेवताभ्यः कुलप्रतिष्ठां प्रणमय्य माता ।
अकारयत्कारयितव्यदक्षा क्रमेण पादग्रहणं सतीनाम् ।।
--वही ७।२६

३- तत्रेश्वरो विष्टरभाग्यथावत्सरत्नमर्घ्यं मधुमच्च गव्यम् ।
नवे दुकूले च नगोपनीतं प्रत्यग्रहीत्सर्वममन्त्रवर्जम् ।।
--कुमार० ७।७२

यहां वस्त्रदान के विषय में उपरि विवेचित गृह्यसूत्र की विधि का पालन नहीं हुआ है क्योंकि जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं पारस्कर के अनुसार वर कन्या को वस्त्रदान करता था परन्तु यहां कन्या-पिता वर को वस्त्रदान कर रहा है ।

४- देखें : कुमार० ७।७३

परस्पर समीक्षण

और वहां शिव एवं पार्वती ने लज्जावनत नेत्रों से एक दूसरे को देखा ।[1]

पाणिग्रहण

इसके पश्चात् हिमालय के पुरोहित ने शिव एवं पार्वती का पाणिग्रहण करवाया ।[2]

अग्निपरिणयन

पाणिग्रहण की विधि के अनन्तर शिव एवं पार्वती ने प्रज्ज्वलित अग्नि की तीन बार परिक्रमा की ।[3]

लाजावपन एवं हवन धूमग्रहण

अग्नि की तीन बार परिक्रमा कर लेने के अनन्तर पुरोहित के आदेश से पार्वती ने प्रज्ज्वलित अग्नि में धान की खीलों का हवन किया और उसके धूम को ग्रहण किया ।[4]

१- देखें : कुमार० ७।७४-७५

२- ,, : वही ७। ७६-७७

३- ,, : वही ७। ७९-८०

४- तौ दम्पती त्रिः परिणीय वह्निमन्योन्यसंस्पर्शनिमीलिताक्षौ ।
स कारयामास वधूं पुरोधास्तस्मिन्समिद्धार्चिषि लाजमोक्षम् ॥
सा लाजधूमाञ्जलिमिष्टगन्धं गुरूपदेशाद्वदनं निनाय ।
कपोलसंसर्पिशिखः स तस्या मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे ॥
--कुमार० ७।८०-८१

ध्रुवदर्शन

इसके पश्चात शिव ने पार्वती को ध्रुव का दर्शन कराया ।[1]

इस प्रकार पुरोहित ने शिव एवं पार्वती के विवाह को पूर्ण किया ।

अक्षतारोपण

वैवाहिक विधि की समाप्ति के अनन्तर शिव एवं पार्वती को फूलों से सजाए गए चौक में लाया गया और वहां उन पर विभिन्न लोगों ने गीले एवं पीले अक्षतों को छिड़का ।[2] और इस प्रकार विवाह हो जाने के अनन्तर शिव एवं पार्वती को कौतुकागर में ले जाया गया जहां उन दोनों ने भूमि पर शयन किया (सम्भवत: तीन रात तक)।[3] इस प्रकार भगवान शिव ने पार्वती के साथ पर्वतराज हिमालय के यहां एक मास सुखपूर्वक निवास करके प्रस्थान किया ।[4]

१- 'ध्रुवेण भर्त्रा ध्रुवदर्शनाय प्रयुज्यमाना प्रियदर्शनेन ।
सा दृष्ट इत्याननमुन्नमय्य ह्रीसन्नकण्ठी कथमप्युवाच ।।'
-- वही ७।८५

२- 'क्लृप्तोपचारां चतुरस्रवेदीं तावेत्य पश्चात्कनकासनस्थौ ।
जायापती लौकिकमेषणीयमार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम ।।
-- वही ७।८८

३- 'अथ विबुध गणांस्तानिन्दुमौलिर्विसृज्य
क्षितिधरपतिकन्यामाददान: करेण ।
कनककलशयुक्तं भक्तिशोभासनाथं
क्षितिविरचितशय्यं कौतुकागारमागात् ।।'
-- ७।९४

४- 'समदिवसनिशीथं सङ्गिनस्तत्र शम्भोः...'

उपर्युक्त विवेचन से यह प्रकट हो जाता है कि शिव एवं पार्वती के विवाह में गृह्यसूत्रों में विवेचित विवाह की उपर्युक्त विधियों में से मधुपर्क, वस्त्रदान, परस्पर समीक्षण, पाणिग्रहण, अग्नि परिणयन, लाजावपन एवं धूमग्रहण तथा ध्रुवदर्शन एवं अक्षतारोपण (गृह्यसूत्रों में इसी विधि से मिलती-जुलती मूर्धाभिषेक की विधि का उल्लेख किया गया है) केवल इन नौ विधियों का उल्लेख हुआ है ।

ब- रघुवंश में उपलब्ध विवाह प्रक्रिया

कुमार सम्भव के अनन्तर रघुवंश महाकाव्य में अज एवं इन्दुमती के विवाह में विवाह की निम्नलिखित विधियों का वर्णन हुआ है :—

मधुपर्क एवं वस्त्रदान

रघुवंश महाकाव्य के अनुसार स्वयंवर मण्डप में इन्दुमती द्वारा अज का चयन कर लिए जाने पर महाराज भोज ने अजन इन्दुमती एवं अज को लेकर नगर में प्रवेश किया । वहां अज महाराज भोज द्वारा निर्दिष्ट चौक (अन्त:पुर का मध्यवर्ती आंगन) में प्रविष्ट हुए और बहुमूल्य आसन पर बैठे । इसके अनन्तर महाराज भोज ने अज का मधुपर्क, अर्घ्य एवं वस्त्र युग्म से स्वागत किया ।[१]

अग्नि में होम

इसके अनन्तर अज इन्दुमती के पास ले जाए गए और वहां पुरोहित ने घृत आदि से अग्नि में हवन करके एवं उसे ही विवाह का साक्षी

१- महार्हसिंहासनसंस्थितोऽसौ सरत्नमर्घ्यं मधुपर्कमिश्रम् ।
भोजोपनीतं च दुकूलयुग्मं जग्राह सार्धं वनिताकटाक्षैः ।।
—रघु० ७।१८

बनाकर वधू एवं वर को संयुक्त कर दिया ।[1]

पाणिग्रहण

इस प्रकार अज ने इन्दुमती का पाणिग्रहण किया ।[2]

परस्परसमीक्षण

इसके अनन्तर अज एवं इन्दुमती ने एक दूसरे का दर्शन किया ।[3]

अग्निपरिणयन

और परस्पर समीक्षण के अनन्तर उन दोनों ने अग्नि की परिक्रमा किया ।[4]

लाजावपन

अग्नि-परिणयन के पश्चात् इन्दुमती ने हविष्य, तथा शमी-

१- तत्रार्चितो भोजपतेः पुरोधा हुत्वाग्निमाज्यादिभिरग्निकल्पः ।
तमेव चाधाय विवाहसाक्ष्ये वधूवरौ संगमयांचकार ॥
-- वही ७।२०

२- हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वाः सराजसूनुः सुतरां चकासे ।
अनन्तराशोकलताप्रवालं प्राप्येव चूतः प्रतिपल्लवेन ॥
-- वही ७।२१

३- "तयोरपांगप्रतिसारितानि क्रियासमापत्तिनिवर्तितानि ।
ह्रीयन्त्रणामानशिरे मनोज्ञामन्योन्यलोलानि विलोचनानि ॥"
-- वही ७।२३

४- "प्रदक्षिणप्रक्रमणात्कृशानोरुदर्चिषस्तन्मिथुनं चकासे ।
मेरोरुपान्तेष्विव वर्तमानमन्योन्यसंसक्तमहस्त्रियामम् ॥"
--वही ७।२४

पल्लव से मिश्रित लाजावपन किया[1] और उसके धूम को ग्रहण किया ।[2]

अक्षतारोपण

तत्पश्चात् अज एवं इन्दुमती ने स्नातकों, परिवार-सहित राजा भोज एवं सौभाग्यवती स्त्रियों द्वारा किए गए आर्द्र अक्षतों के आरोपण को प्राप्त किया ।[3] और इस प्रकार अज एवं इन्दुमती की वैवाहिक विधि को पूरा करके महाराज भोज ने उन्हें विभिन्न यौतक देकर विदा किया ।[4]

स- जानकीहरण में उपलब्ध विवाह-प्रक्रिया

महाकवि कुमार दास ने रघुवंश के पश्चात् जानकीहरण महाकाव्य में राम एवं सीता के विवाह के वर्णन के प्रसंग में विवाह की विधि के निम्नलिखित अंगों का वर्णन किया है ।

१- 'नितम्बगुर्वी गुरुणा प्रयुक्ता वधूर्विधातृप्रतिमेन तेन ।
चकार सा मत्तचकोरनेत्रा लज्जावती लाजविसर्गमग्नौ ।।
हविः शमीपल्लवलाजगन्धी पुण्यः कृशानोरुदियाय धूमः ।
कपोलसंसर्पिशिखः स तस्याः मुहूर्तकर्णोत्पलतां प्रपेदे ।।

-- वही ७।२५-२६

२- 'तदंजनक्लेदसमाकुलाक्षं प्रम्लानबीजांकुरकर्णपूरम् ।
वधूमुखं पाटलगण्डलेखमाचारधूमग्रहणाद्बभूव ।।'

-- वही ७।२७

३- 'तौ स्नातकैर्बन्धुमता च राज्ञा पुरन्ध्रिभिश्च क्रमशः प्रयुक्तम् ।
कन्याकुमारौ कनकासनस्थावार्द्राक्षतारोपणमन्वभूताम् ।।'

-- वही ७।२८

४- 'भर्तापि तावत्क्रथकैशिकानामनुष्ठितानन्तरजाविवाहः ।
सत्वानुरूपाहरणीकृतश्रीः प्रास्थापयद्राघवमन्वगाच्च ।।'

-- वही ७।३२

महाकाव्य के कथानक के अनुसार राम द्वारा धनुर्भंग के अनन्तर, महाराज जनक ने सीता का राम से विवाह करने का निश्चय किया और इस समाचार को दशरथ को सूचित किया। समाचार प्राप्त करके महाराज दशरथ मिथिला आए और वहां उन्होंने पुरोहितों से दात्त्रियों के लिए निर्दोष वैवाहिक मुहूर्त पूछकर विधिवत् वैवाहिक कृत्यों का सम्पादन किया।[१] इसके पश्चात् शुभ मुहूर्त में पवित्र स्नान के अनन्तर एवं सर्वाभरणभूषिता सीता वेदी के निकट आई।[२] (यहीं से विवाह की मूल विधि प्रारम्भ होती है) जिसका क्रमिक वर्णन इस प्रकार है :—

अग्नि में हवन

कुल पुरोहित शतानन्द सौभाग्यवती स्त्रियों के द्वारा सुसज्जित की गई सीता को राम के पास लाए और राम ने सीता का दाहिना हाथ

१- दात्रस्य नक्षत्रमदोषदुष्टं वैवाहिकं वाक्तिशत्रुवीरः।
पुरोहितेनाभिहितं निशम्य संपादयामास विधिं विधिज्ञः ।।
-- जानकी० ७।३६

यहां सम्भवतः महाराज दशरथ द्वारा विवाह से पूर्व किए जाने वाले नान्दी श्राद्ध एवं गोदान का कवि ने उल्लेख किया है।

२- "स्नानस्य रत्नाभरणेन दीप्तमाकल्पमन्ते विधिवद्विधाय।
ययौ वधूर्वेदविदा कृतार्घं वेदा उपान्तं विधरा स्मरेण ।।"
-- जानकी० ७।४८

पकड़कर, सम्मिलितरूप से पवित्र ईंधन से युक्त अग्नि में अनेक आहुतियां डालीं ।[1]

अग्निपरिणयन

अग्नि में हवन के अनन्तर पुरोहितों के आदेशानुसार सीता ने राम के साथ विवाह की साक्षी वेदी पर प्रज्वलित अग्नि की प्रदक्षिणा करके उसे प्रणाम किया ।[2]

पाणिग्रहण

प्रज्वलित अग्नि की प्रदक्षिणा कर लेने के अनन्तर राम ने सीता का पाणिग्रहण किया ।[3]

१- 'अथक्षोपनिन्ये नयकोविदेन महेन्द्रवल्यास्तनुजेन तन्वी ।
लज्जाविधेया विधवेतराभिर्विभूषिताऽसौ विभुनन्दनाम् ।।
समाददे सम्यगभिन्नधैर्यः पाणिं फणीन्द्रांगगुरुप्रकोष्ठः ।
तस्याः कुमारः कुकुमारवम्यं वामेतरं वामविलोचनायाः ।।
प्राज्यं ततः प्राक्तरेण हव्यमावर्जितं वर्जितकुव्रतेन ।
विघातृधाम्ना विधिवत्कृशानौ समिन्धने शीलधनेन तेन ।।'
-- वही ७।४९,५०-५१

२- 'वैधामनंसीदनवद्मकृतिस्तन्वी ततो वेदविदा प्रयुक्ता ।
प्रदक्षिणीकृत्य विवाहसाक्षीभूतं कृशानुं सह राघवेण ।।'
-- वही ७।५२

३- 'चकार चक्रांकतलेन पाणौ करेण मर्माभिनिपीड्यमाने ।
शीत्कारमाकुंचितदीर्घदृष्टिः स्पर्शे महने किल नाम सीता ।।'
-- वही ७।५४

<u>लाजावपन</u>

और पाणिग्रहण की विधि के अनन्तर कुल पुरोहित शतानन्द के आदेश से सीता ने अग्नि में लाजावपन किया ।[1]

इस प्रकार राम एवं सीता ने पाणिग्रहण की विधि पूर्ण करके दशरथ एवं जनक को प्रणाम किया और वे दोनों जनक के प्रबल प्रासाद में ही कुछ दिनों के निवास के लिए चले गए ।[2] वहां राम ने सीता के साथ विभिन्न कामकेलियों का आस्वादन किया ।[3] इस प्रकार वहां कुछ दिन व्यतीत करके अयोध्या को प्रस्थान किया ।[4]

<u>ब- नैषध में उपलब्ध विवाह प्रक्रिया</u>

जानकीहरण के अनन्तर नैषधीय चरित का क्रम आता है । महाकाव्य के कथानक के अनुसार स्वयंवर सभा में दमयन्ती द्वारा नल का वरण कर लिए जाने के अनन्तर महाराज भीम ने शुक्र, गुरु आदि ग्रहों के उदय अस्त से रहित तथा जामित्र आदि सम्पूर्ण गुणों से युक्त शुभ मुहूर्त में इन दोनों के विवाह करने का निश्चय किया ।[5] इस अवसर पर दमयन्ती को सौभाग्यवती स्त्रियों द्वारा

१- व्यापारिताबाङ्मयपारगेण द्विजेन तेन द्विजराजवक्त्रा ।
लाजा कृशानौ कृशमध्ययष्टिर्मानभिज्ञाप्युदवालाजान् ।।
-- वही ७।५५

२- देखें : वही ७।६१

३- ,, : वही ७।६२ एवं सम्पूर्ण अष्टम सर्ग

४- 'इति प्रमुदस्य सुतस्य केषु चिद्गतेषु मासेषु-सुखेन भूपतिः ।
पुरं प्रतस्थे वनितापरिग्रहैस्त्रयं सुतानामितरस्समस्य सः ।।
-- वही ९।१

५- निरीय भूपेन निरीक्षिताननः शशंस मौहूर्तिकसंसदंशकम् ।
गुणैरुदारैरुपधाय तानिस्तुभं तदा स दातुं तनयां प्रचक्रमे ।।
--नैषध० १५।८

वेदी पर कुल-परम्परा के अनुसार स्वर्ण कलशों के जल से मंगल स्नान करवाया गया[1] एवं उसे श्वेत वस्त्र[2] पहनाया गया । इसके अनन्तर उसे कौतुकागार की वेदी पर ले जाया गया और वहां उसका विधिवत् शृंगार किया गया ।[3] इस प्रकार विवाह शृंगार पूर्ण हो जाने के अनन्तर दमयन्ती ने गुरुजनों, ब्राह्मणों तथा सती स्त्रियों के चरणों में प्रणाम किया ।[4] इधर नल भी विवाहोचित शृंगार को पूर्ण करके[5] विवाह संस्कार के सम्पादन के लिए महाराज भीम के राजप्रासाद पर पहुंचे । यहीं से विवाह की विधि का प्रारम्भ होता है जिसका वर्णन महाकवि श्री हर्ष ने इस प्रकार किया है :--

<u>मधुपर्क</u>

राजप्रासाद पर सर्वप्रथम महाराज भीम ने नल का स्वागत करते हुए उन्हें मधुपर्क प्रदान किया ।[6]

१- उदस्य कुम्भीरथ शातकुम्भजाश्चतुष्क चारुत्विषि वेदिकोदरे ।
यथाकुलाचारमथावनीन्द्रजां पुरन्ध्रिवर्गः स्नपयाम्बभूव ताम् ।।
--वही १५।१६

२- असौ मुहुर्घातिकताभिषेचना क्रमादुदकूलेनसिताशुंकोज्ज्वला ।
ध्वस्यवर्धां शरदां तदातनीं सनाभितां साधु बबन्ध संध्यया ।।
-- वही १५।२१

३- अथापितायाः शुचिवेदिकान्तरं कलासु तस्याः सकलासु पण्डिताः ।
गणेन सख्यास्तिरशिलाणैः स्फुटं प्रतिप्रतीकं प्रतिकर्म निर्ममुः ।।
--वही १५।२६

४- अनौपम्यावेन समापितांगता: प्रसन्नगीर्वाणिवराद्रराजाम ।
ततः प्रणम्राधिकनाम सा श्रिया गुरुर्गुरुस्त्रपातिव्रताशिषः ।।
-- वही १५।५६

५- तथैव तत्कालयथानुपूर्विभिः प्रसाधनासंकनशिल्पकारिभिः ।
निजस्य पाणिग्रहणक्षणोचिता कृतानलस्यापि विभोर्विभूषणा ।।
-- वही १५।५७

६- "असिस्वदद्यन्मधुपर्कमर्पितं स तद्व्ययाकर्तुमुदर्कदर्शिनाम् ।
यदेष पास्यन्मधु भीमजाधरं मिषेण पुण्याहविधिं तदा करोत ।।"
--नैषध० १६।१३

कुशा-बन्धन

मधुपर्क प्रदान करने के अनन्तर महाराज नल एवं दमयन्ती की भुजाओं में कुशा बांधा गया ।[1]

पाणिग्रहण

कुशा बन्धन के अनन्तर महाराज नल एवं राजकुमारी दमयन्ती ने एक दूसरे का हाथ पकड़ा ।[2]

यौतक-प्रदान

पाणिग्रहण की विधि पूर्ण हो जाने के अनन्तर महाराज भीम ने वर-वधू को विभिन्न उपहार प्रदान किया ।[3]

१- "वरस्य पाणि: परघातकौतुकी मधुकर: पंकजकान्तितस्कर: ।
सुराशि तौ तत्र विदर्भमण्डले ततौ निबद्धौ किमु कर्कशै: कुशै: ।।"
-- वही १६।१४

आचार्य मल्लिनाथ के अनुसार कुशाबन्धन की विधि लौकिक आचार मात्र है -- देखें : १६।१४ पर "जीवातु" टीका । आगे के गृह्यसूत्रों में सम्भवत: यही प्रथा मंगलसूत्र के रूप में मान्य हुयी । शाङ्खायन आदि ने वैवाहिक विधि के प्रसंग में मंगल सूत्र का विधान किया है ।
--देखें : शांख्या० गृ० सू० १।१२।६-८ ;

२- "विदर्भजाया: करवारिजेन यन्नलस्य पाणेरुपरि स्थितं किल ।
विशंक्य सूत्र पुरुषायितस्य तद्भविष्यतो स्माथि तदा तदालिभि: ।।"
--नैषध० १६।१५

३- दहेज के विस्तृत वर्णन के लिए देखें : नैषध० १।१६-३४ ।

अग्नि परिणयन

उपहार ग्रहण करने के अनन्तर नल एवं दमयन्ती ने अग्नि की परिक्रमा की ।[1]

अश्मारोहण

अग्नि परिणयन के पश्चात् नल ने दमयन्ती को प्रस्तरखण्ड पर चढ़ने का आदेश दिया ।[2]

ग्रन्थिबन्धन

अश्मारोहण की विधि के बाद पुरोहित गौतम ने नल एवं दमयन्ती की ग्रन्थिबन्धन (गठबन्धन) को पूर्ण किया ।[3]

१- 'करग्रहे वाक्यमपत्त यस्तयोः प्रताप मेमाऽनु च दक्षिणीकृतः ।
कृतः पुरस्कृत्य ततो नलेन वः प्रदक्षिणस्तत्क्षणमाशुशुक्षणिः ।।'
-- वही १६।३५

२- 'स्थिरा त्वमश्मेव भवेति मन्त्रवागनेनवाशास्य किमाशु तां प्रिया ।
शिला चलेत प्रेरणया नृणामपि स्थितेस्तु नाचाडि विडोजसाऽपि सा ।।'
-- वही १६।३६

३- 'प्रियांशुकग्रन्थिनिबद्धवाससं तदा पुरोधा विदधद् विदर्भजाम ।
जगाद विच्छिन्न पटं प्रयास्यतः नलावविश्वासमिवैष विश्ववित् ।।'
-- वही १६।३७

आचार्य मल्लिनाथ के अनुसार ग्रन्थिबन्धन की यह विधि भी देशाचार मात्र है ।
-- देखें : उपर्युक्त श्लोक पर 'जीवातु' ।

<u>ध्रुवदर्शन</u>

ग्रन्थि बन्धन के अनन्तर राजा नल ने दमयन्ती को ध्रुव का दर्शन कराया ।[१]

<u>अरुन्धतीदर्शन</u>

ध्रुवदर्शन के बाद नल ने दमयन्ती को अरुन्धती का दर्शन कराया ।[२]

<u>लाजावपन एवं हवन-धूमग्रहण</u>

अरुन्धती के दर्शन के पश्चात् दमयन्ती ने लाजावपन किया एवं अग्नि से उठते हुए लाजा के धूम को ग्रहण किया ।[३] इस प्रकार वैवाहिक विधि को पूरा करके नल एवं दमयन्ती ने कौतुकागार में प्रवेश किया[४] और वहां

१- 'ध्रुवावलोक्य तदुन्मुखमुखा, निर्दिश्य पत्याऽभिदधे विदर्भजा ।
किमस्य न स्यादणिमा शिवाशिक: ? तथाऽपि तस्यो महिमाऽऽगमोचित: ।।
— नैषध० १६।३८

२- अनेन साऽदर्शि वधूररुन्धतीं सतीमिमां पश्य गताभिवाणुताम् ।
कृतस्य पूर्वं हृदि भूपते: कृते तृणीकृतस्वर्गपतेरनादिति ।।
— वही १६।३९

३- 'प्रसूनता तस्करमल्लमास्थितेऽरुन्धतीविभ्यौऽग्नि विहारिभि: पथि ।
मुखे मराणामनले रसावलेऽमोचि लाजैरनयोज्झितैर्धुति: ।।
तया गृहीता द्युतिधूमपद्धतिर्गता कपोले मृगनाभिशोभिताम् ।
ययौ दृशोरंजनतां श्रुती भिता तमालनीलामलिके च कायिता ।।
— वही १६।४०-४१

४- देखें : नैषध० १६।४६

उन दोनों ने तीन रात्रियों तक विभिन्न नियमों एवं ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विधिपूर्वक शयन किया[1]।

रथा रोहण

इस प्रकार नल ने महाराज भीम के यहां पांच-छ: दिन निवास करके[2], दमयन्ती को स्वयं रथ पर चढ़ाकर प्रस्थान किया था[3]।

ख- राधापरिणय में उपलब्ध विवाह प्रक्रिया

नैषध के पश्चात् आधुनिक संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में भी बदरी नाथ शर्मा महोदय ने 'राधा परिणय' महाकाव्य में भी कृष्ण एवं राधा के विवाह के अन्तर्गत वर को आसन एवं मधुपर्क देने[4], कन्यादान[5], पाणिग्रहण[6], परस्परलोकन[7], वेदी-प्रवेश[8], होम एवं लाजावपन[9], अश्मारोहण[10],

---

१- 'अथाश्नताया: निरोधि नो ग्रिया न सम्यगालोकि परस्परप्रिया ।
विमुक्तसम्भोगमहावि सत्कृतं वरेण वध्वा च यथाविधि व्रतम् ॥
--नैषध० १६।७७

२- उवास वैदर्भगृहेषु पंचषा निशा: कुमारीं स परिणीय तां नल: ।
अथ प्रतस्थे निषधान् सहानया रथेन वार्ष्णेयगृहीत रश्मिना ॥
-- वही १६ ।१२२

३- परस्य न स्त्रस्तुनिमानमधिक्रिया प्रिया स्थिता: प्रांशुरसाविति ब्रुवन् ।
रथे स भैमीं स्वयमभ्यकरहयन्न वसु शिलाविशालाभिनां नैषधः ॥
-- वही १६ ।११३

४ - देखें : राधा० १८।५६
५- ,, ,, १८।६०
६- ,, ,, १८।६२-६६
७- ,, ,, १८।६७-६८
८- ,, ,, १८।६६
९- ,, ,, १८।७२

अग्निप्रदक्षिणा एवं सप्तपदी[1] तथा सिन्दूर दान[2] आदि का उल्लेख किया है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में कुमारसंभव, रघुवंश, जानकीहरण, नैषध एवं राधा परिणय काव्यों में विवाह विधि के निरूपण में, गृह्यसूत्रों में उपलब्ध विवाह-विधि के अंगों को ही आधार बनाया गया है । हाँ,यह अवश्य है कि उनमें विवाह-विधि के निरूपण के प्रसंग में न तो विधियों का क्रमानुसार वर्णन किया गया है और न ही सभी विधियों का उल्लेख किया गया है । आशय यह कि इन महाकाव्यों में गृह्यसूत्रों में विवेचित विवाह-विधि का पूर्णतः अनुसरण नहीं किया गया है । इसका प्रमुख कारण केवल यह था कि चूंकि उस युग में भारतीय समाज कई भागों में विभाजित था और ऐसे प्रत्येक भाग की विवाह-विधि में थोड़ा बहुत अन्तर था तथा विवाह में लौकिक देशाचारों का पालन भी अनिवार्य था इसीलिए उपर्युक्त महाकवियों ने भी अपने समाज में प्रचलित विवाह-विधि को ही अपने काव्य में दर्शाया । फलतः कुमारसंभव आदि अनेक महाकाव्यों में इन

१- देखें : राधा० १८। ७४

२- ,, : वही १८।७५

विवाह की विभिन्न विधियां देखने को मिलती हैं ।[1] क्योंकि संस्कृत के प्रत्येक महाकवि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के थे और उनके काव्य के नायक भी भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के ही महाराज थे ।

५- गार्हस्थ्यवृत्ति से सम्बद्ध कुछ अवान्तर तथ्यों का विवेचन

विगत पृष्ठों में पाणिग्रहण संस्कार के घटक अंगों एवं गृह्यसूत्रों में उपलब्ध इस संस्कार की शास्त्रीय विधि तथा इन सभी तथ्यों के संस्कृत महाकाव्यों में उपलब्ध स्वरूप का विवेचन किया जा चुका है । इसके अनन्तर इसी सन्दर्भ में यहां गार्हस्थ्य-वृत्ति से ही सम्बद्ध कुछ अवान्तर तथ्यों (जिनके अन्तर्गत शोधकर्ता ने मुख्यरूप से अनुलोम-प्रतिलोम विवाह, नियोग-प्रथा, विवाह-पूर्व प्रणय एवं विवाह-प्रथा का उद्भव इन चार विषयों का परिगणन किया है) का विवेचन किया जाएगा क्योंकि इन अवान्तर तथ्यों का भी मानव के गार्हस्थ्य जीवन से साक्षात् सम्बन्ध है और इस साक्षात् सम्बन्ध के कारण ही बिना इन तथ्यों के विवेचन के गार्हस्थ्य-वृत्ति का शास्त्रीय व्याख्यान पूर्ण नहीं माना जा सकता ।

१- नैषधीय चरित महाकाव्य के टीकाकार श्री नारायण जे का मन्तव्य है कि नल एवं दमयन्ती के विवाह में महाकवि श्री हर्ष ने जो विधिक्रमभंग का वर्णन किया है उसका मुख्य कारण, देशाचार, शाखाभेद या कुलाचार ही है --'अत्र क्वचित् क्वचित् विधिक्रमभंगो देशाचाराच्छाखा-भेदात् कुलाचारविशेषाद्वा बोद्धव्यः । न पुनः श्रीहर्ष-कवेरज्ञानलेशोऽपि '।

-- नैषध० १६।३५ पर नारायणी टीका

नैषध के अतिरिक्त संस्कृत के अन्य महाकाव्यों में उपलब्ध विवाह की विभिन्न विधियों का मूल कारण भी श्री नारायण द्वारा निर्दिष्ट उपर्युक्त कारणों को ही माना जा सकता है ।

इस विवेचन-क्रम में यहाँ सर्वप्रथम अनुलोम-प्रतिलोम, असवर्ण विवाह की इन दोनों श्रेणियों का स्वरूप एवं संस्कृत-महाकाव्यों में इन दोनों विवाहों के उपलब्ध उदाहरणों का विवेचन किया जाएगा क्योंकि असवर्ण विवाह की इन दोनों श्रेणियों का पाणिग्रहण के घटक अंगों से सीधा सम्बन्ध है ।

क- अनुलोम प्रतिलोम विवाह एवं संस्कृत महाकाव्यों में उनके उदाहरण

पाणिग्रहण संस्कार के विवेचन के प्रसंग में प्राचीन धर्मशास्त्रीय लेखकों का एक स्वर से यह आदेश रहा है कि वैवाहिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में वर एवं कन्या को एक ही वर्ण का होना चाहिए । मनु का स्पष्ट आदेश है कि समावर्तन संस्कार के अनन्तर द्विज ब्रह्मचारी को सवर्णा कन्या के साथ ही विवाह करना चाहिए ।[1] मनु के अतिरिक्त अन्य स्मृतिकारों, गृह्यसूत्रकारों एवं धर्मसूत्रकारों ने भी वैवाहिक सम्बन्ध के लिए वर एवं कन्या के अन्य आवश्यक गुणों के साथ ही उनका समानवर्ण का होना भी आवश्यक माना है ।[2] परन्तु धर्मशास्त्रीय लेखकों के इस स्पष्ट आदेश के होते हुए भी समाज में असवर्ण विवाहों का प्रचलन भी भारतीय समाज के उन्मेष काल में ही हो चुका था और यही कारण है कि यहाँ के प्रारम्भिक साहित्य से ही हमें असवर्ण विवाहों के उदाहरण मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं ।

यहाँ यह तथ्य अवधेय है कि असवर्ण विवाह के दो स्वरूप

१- गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृत्तो यथाविधि ।
उद्वहेत द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम् ।।
--मनु० ३।४; इसी प्रकार देखें ३।१२

२- देखें : याज्ञ० १।३।५५ ; वसिष्ठ० २।१८ ; वेदव्यास० २।२ ; बृह० पा० ध० श० १, भा० गृ० सू० १।७।८ ; जै० गृ० सू० १।२० एवं गौ० ध० सू० १।४।१ तथा आप० ध० सू० 2।13।13 आदि ।

होते हैं । इन दोनों स्वरूपों का धर्मशास्त्रियों ने क्रमश: अनुलोम विवाह एवं प्रतिलोम विवाह नामकरण किया है ।

(1) अनुलोम विवाह

अनुलोम विवाह उस असवर्ण विवाह को कहते हैं जिसके अन्तर्गत वर उच्च वर्ण का एवं कन्या निम्न वर्ण की हो ।

संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में हमें इस श्रेणी के असवर्ण विवाहों के उदाहरण वाल्मीकि युग से ही मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं ।[१]

१- डा० विमल चन्द्र पाण्डेय के मन्तव्यानुसार अनुलोम विवाह के प्रथा की स्थापना ऋग्वैदिक काल में ही हो चुकी थी । उन्होंने ऋग्वेद के विभिन्न मन्त्रों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि उस युग में ब्रह्मर्षि श्यावाश्व एवं राजा रथवीति की कन्या, ब्राह्मण विमद एवं कमद्यु तथा महर्षि कक्षीवान एवं रोमशा आदि के विवाह अनुलोम विवाह के ही उदाहरण हैं ।
--देखें : डा० विमल चन्द्र पाण्डेय : 'भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास, पृष्ठ १३७ ।

परन्तु ऋग्वेद के मन्त्रों के विभिन्न अर्थ होने के कारण उपर्युक्त मन्त्रों से यह स्पष्ट नहीं हो पाता कि वे किसी व्यक्ति विशेष के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुए हैं या उनका सामान्य प्रचलित अर्थ है । इस सन्दर्भ में एक ही उदाहरण पर्याप्त है । डा० पाण्डेय ने ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के एक सौ छब्बीसवें सूक्त के आधार पर यह सिद्ध किया है कि कक्षीवान ब्राह्मण थे एवं रोमशा क्षत्रिय परन्तु डा० सातवलेकर ने इस सूक्त में रोमशा शब्द को व्यक्ति विशेष का वाचक न मानकर उसे विशेषण परक मानते हुए उसका अर्थ किया है ऐसी स्त्री जिसके बड़े-बड़े रोम हों ।

वाल्मीकि रामायण के ऋषिकुमार ऋष्यश्रृंग एवं क्षत्रिय राजकुमारी शान्ता,[1] ऋषि चूली एवं गन्धर्व कन्या सोमदा,[2] ऋचीक एवं गाधिपुत्री सत्यवती,[3] मुनिवर पुलस्त्य एवं राजर्षि तृणविन्दु की कन्या,[4] विभीषण एवं गन्धर्वराज शैलूष की कन्या[5] एवं सोम पुत्र बुध और इला[6] आदि के विवाह अनुलोम विवाह के ही उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त अयोध्याकाण्ड में भी हमें अनुलोम विवाह का एक महत्वपूर्ण उदाहरण उपलब्ध होता है। इस काण्ड में दशरथ द्वारा जिस मुनि कुमार के वध का वर्णन किया गया है उसके पिता वैश्य एवं माता शूद्रा थीं।[7]

वाल्मीकि रामायण के अतिरिक्त महाभारत में भी हमें अनुलोम विवाह के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। इस महाकाव्य के महर्षि जरत्कारु एवं जरत्कारु नाम्नी नागकन्या,[8] च्यवन एवं सुकन्या,[9] ऋचीक एवं गाधिकन्या,[10] जमदग्नि-रेणुका[11] आदि के विवाह अनुलोम विवाह के ही उदाहरण हैं।

१- देखें : वा० रा० बाल० ६-१०

२- ,, : वही बाल० ३३।११-१८

३- ,, : ,, ,, ३४।७-८

४- ,, : ,, उत्तर० २।२५-३४

५- ,, : ,, ,, १२।२४-२५

६- ,, : ,, ,, ८६

७- शूद्रायामस्मि वैश्येन जातो नरवराधिप। --वा०रा०अयोध्या० ६३।५१

८- देखें : म० भा० (स्वा० म०) आदि ४२।४४

९- ,, : म० भा०

१०- देखें : म० भा० (स्वा० म०) अनु० अ० ४ एवं वा० रा० बाल० ३४।७

११- ब,, वही

आगे चलकर संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में रघुवंश एवं कुमारसम्भव इन दो महाकाव्यों में भी हमें अनुलोम विवाह के उदाहरण प्राप्त होते हैं। रघुवंश में राजकुमार कुश तथा नागकन्या कुमुद्वती का विवाह अनुलोम विवाह का ही उदाहरण है।[1] इसी प्रकार कुमारसम्भव में शिव एवं पार्वती का विवाह भी अनुलोम विवाह ही है।[2]

(ii) <u>प्रतिलोम विवाह</u>

असवर्ण विवाह के इस द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत वर निम्न वर्ण का एवं कन्या उच्च वर्ण की होती है। अन्य शब्दों में इसी तथ्य को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि प्रतिलोम विवाह असवर्ण विवाह की वह श्रेणी है जिसके अन्तर्गत वर निम्न वर्ण का एवं कन्या उच्च वर्ण की होती है।

१- देखें : रघु० १६।८६

२- महाकवि कालिदास के अनुसार पार्वती ने वैवाहिक वेशभूषा के धारण करने के समय हाथ में बाण भी धारण किया था --

"सा गौरसिद्धार्थनिवेशवद्भिर्दूर्वाप्रवालैः प्रतिभिन्नशोभम्।
निर्नाभिकौशेयमुपात्तबाणमभ्यंगनेपथ्यमलंचकार ॥

--कुमार० ७।७

इससे सिद्ध होता है कि पार्वती क्षत्रिय कन्या थी क्योंकि मनु के अनुसार क्षत्रिय कन्या को विवाह के प्रतीक के रूप में हाथ में बाण रखना चाहिए --

"शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया।
वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने ॥

--मनु० ३।४४ इसी प्रकार देखें याज्ञ० १।३।६२

इस प्रकार चूंकि पार्वती क्षत्रिय एवं शिव ब्राह्मण थे इसीलिए इन दोनों का विवाह भी अनुलोम विवाह का ही उदाहरण सिद्ध होता है।

संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में हमें प्रतिलोम विवाह का भी उदाहरण प्राप्त होता है ।[1] वाल्मीकि रामायण एवं महाभारत इन दोनों ही काव्य-ग्रन्थों में प्रतिलोम विवाह के उदाहरण के रूप में हमें केवल महर्षि शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी एवं महाराज ययाति का ही उदाहरण प्राप्त होता है ।[2] रामायण एवं महाभारत के अनन्तर अन्य संस्कृत-महाकाव्यों में हमें इस प्रथा का एक भी उदाहरण नहीं प्राप्त होता ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत महाकाव्यों के युग में असवर्ण विवाहों का भी प्रचलन था और असवर्ण विवाह में भी मुख्य रूप से अनुलोम विवाह ही लोकप्रिय था ।

यहां एक तथ्य यह अवधेय है कि यद्यपि धर्मशास्त्रीय लेखकों ने सवर्ण विवाह को ही मान्यता दी है परन्तु यदि हम विभिन्न स्मृतियों एवं धर्मसूत्रों का आलोचनात्मक अध्ययन करें तो यह ज्ञात होता है कि ऐसे लेखक सवर्ण विवाह के अतिरिक्त असवर्ण विवाह के अन्तर्गत अनुलोम विवाह को भी मान्यता देते थे ।

१- डा० विमल चन्द्र पाण्डेय के अनुसार प्रतिलोम विवाह की स्थापना भी ऋग्वैदिक काल में ही हो चुकी थी । उनके अनुसार ऋग्वेद के महर्षि आंगिरस की पुत्री शाश्वती एवं राजा असङ्ग तथा महर्षि शुक्राचार्य की पुत्री देवयानी एवं ययाति के विवाह प्रतिलोम विवाह के ही उदाहरण थे ।

--देखें : डा० विमल चन्द्र पाण्डेय : 'भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास', पृ० १३७ ।

२- देखें : वा० रा० उत्तर० स० ५८ एवं म० भा० (स्वा० म०) ७६-७७

आचार्य मनु के अनुसार ब्राह्मण ब्राह्मणी एवं अन्य तीन वर्णों की स्त्रियों से, क्षत्रिय अपने तथा शूद्रा एवं वैश्या स्त्री से, वैश्य, शूद्रा एवं वैश्या से तथा शूद्र केवल शूद्रा से विवाह कर सकता है ।[1]

मनु आदि के इस उल्लेख से स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में अनुलोम विवाह भी शास्त्रसम्मत था । इसके अतिरिक्त इन लेखकों ने प्रतिलोम विवाह की एक स्वर से निन्दा की है । मनु ने प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न सन्तानों को शूद्र माना है ।[2] इसी प्रकार गौतम ने प्रतिलोम सन्तानों को धर्महीन[3] एवं विष्णु ने उन्हें अति निन्दनीय कहा है ।[4]

१- 'शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः ।।'
--मनु० ३।१३

इसी प्रकार देखें : याज्ञ० १।३।५७ एवं ब बौधा० ध० सू० १।८।२ आदि ।

यहाँ यह तथ्य ज्ञातव्य है कि यद्यपि मनु आदि ने ब्राह्मण को शूद्रा स्त्री के साथ विवाह करने का आदेश दिया है परन्तु उनकी दृष्टि में यह विधान शास्त्रसम्मत नहीं था । मनु ने स्वयं इस प्रथा का विरोध करते हुए कहा है कि शूद्रा स्त्री के साथ समागम करने वाला ब्राह्मण नरक में जाता है तथा अपनी जाति से च्युत हो जाता है--देखें :मनु० ३।१५-१६।

मनु के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य, गौतम एवं वसिष्ठ आदि ने भी ब्राह्मण का शूद्रा के साथ विवाह को निन्दित बताया है -- देखें : याज्ञ० १।३।५७ ; गौ० ध० सू० ४।१५-१८ एवं वसिष्ठ ध० सू० १।२४-२७ आदि ।

२- देखें : मनु० १०।४१

३- ,, : गौ० ध० सू०।४।२०

४- ,, : विष्णु० ध० सू० १६।३

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राचीन धर्मशास्त्रियों की दृष्टि में अनुलोम विवाह भी शास्त्र-सम्मत था जबकि प्रतिलोम विवाह अत्यन्त निन्दित एवं गर्हित ।

(iii) अनुलोम विवाह की श्रेष्ठता एवं प्रतिलोम विवाह की निन्दा के कारण

धर्मशास्त्रीय लेखकों का उपर्युक्त मत कुछ ठोस कारणों पर अवलम्बित था ।

जैसा कि हम विगत पृष्ठों में देख चुके हैं भारतीय चिन्तकों की दृष्टि में विवाह का मुख्य उद्देश्य था श्रेष्ठ धार्मिक सन्तति की उत्पत्ति । इस सन्दर्भ में मनु का मन्तव्य है कि नारी क्षेत्र है और पुरुष बीज तथा इन दोनों के योग से ही सभी देहियों की उत्पत्ति होती है[1] वही सन्तान सर्वोत्तम होती है जहां क्षेत्र और बीज दोनों उत्तम हों ।[2] परन्तु इस तथ्य के साथ ही क्षेत्र और बीज में बीज ही प्रधान होता है । इसीलिए सन्तानों के ऊपर बीज का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है ।[3]

१- क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान् ।
क्षेत्रबीजसमायोगात्सम्भवः सर्वदेहिनाम् ॥
--मनु० ९।३३

२- विशिष्टं कुत्रचिद् बीजं स्त्रीयोनिस्त्वेव कुत्रचित् ।
उभयं तु समं यत्र सा प्रसूतिः प्रशस्यते ॥
-- वही ९।३४

३- बीजस्य चैव योन्याश्च बीजमुत्कृष्टमुच्यते ।
सर्वभूतप्रसूतिर्हि बीजलक्षणलक्षिता ॥
-- वही ९।३५

मनु के उपर्युक्त मन्तव्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी दृष्टि में अनुलोम विवाह की श्रेष्ठता का कारण था पुरुष का उच्चवर्णीय होना और प्रतिलोम विवाह की निन्दा का कारण था पुरुष का निम्न-वर्णीय होना क्योंकि सन्तति पर बीज का सर्वाधिक प्रभाव पड़ता है इसीलिए उन्होंने अनुलोम विवाह को प्रतिलोम विवाह से श्रेष्ठ मानते हुए उसे करने का विधान किया ।

अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह के अनन्तर पाणिग्रहण से ही सम्बद्ध हमारा दूसरा विवेच्य विषय है नियोग-प्रथा ।

ख- नियोग प्रथा एवं संस्कृत महाकाव्यों में इसके उदाहरण

विवाह प्रथा के उद्देश्यों का विवेचन करते हुए प्रस्तुत अध्याय के प्रारम्भ में ही यह कहा जा चुका है कि भारतीय संस्कृति में स्त्री एवं पुरुष इन दोनों की सफलता एवं सार्थकता सन्तति-उत्पादन के अनन्तर ही मानी गयी है । इस सन्दर्भ में इतना ध्यातव्य है कि भारतीय समाज-विचारकों ने मुख्यरूप से सन्तति के उत्पादन का उत्तरदायित्व स्त्री-समाज का माना है । ऐसे लेखकों के अनुसार नारी जीवन का प्रमुख उद्देश्य होता है सन्तान उत्पन्न करके वंशतन्तु की रक्षा करना । मनु स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि स्त्रियों का जन्म प्रजनन-कार्य के लिए ही हुआ है ।[१] इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए प्राचीन विचारकों ने नारी के जीवन की गौरवमयी परिणति एवं उसके व्यक्तित्व का पूरा-पूरा विकास उसका मातृत्व-पद प्राप्त करने में ही माना है । नारी-जाति के स्नेह, प्रेम एवं सौन्दर्य आदि की सफलता उसके मातृत्व-पद में ही निहित मानी गयी है । इस प्रकार प्राचीन चिन्तकों की दृष्टि में सन्तति उत्पादन

१- "प्रजनार्थं स्त्रियः सृष्टाः - - - - -"

--मनु० ९।९६

नारी का प्रमुख कर्तव्य है और सन्तति में भी विशेषरूप से पुत्रोत्पादन के बिना, उनकी दृष्टि में नारी का जन्म ही व्यर्थ है ।[1] यहां नारीत्व एवं जायात्व की सार्थकता स्त्री के पुत्रोत्पादन के अनन्तर ही मानी गयी है ।[2]

नारी के उपर्युक्त मुख्य कर्तव्य को ही ध्यान में रखते हुए भारतीय मनीषियों ने समाज में नियोग-प्रथा को स्थापित किया और इस प्रथा के द्वारा अपुत्रवती विधवा आदि को भी पुत्रोत्पादन का अवसर प्रदान किया ।

(1) "नियोग प्रथा" से तात्पर्य

नियोग प्रथा से तात्पर्य एक ऐसी प्रथा से है जिसके अन्तर्गत गुरुजनों की अनुमति से, एक सन्तानविहीन विधवा स्त्री अपने पति की मृत्यु के पश्चात् या उसके क्लीव, प्रव्रजित या दीर्घकाल तक अनुपस्थित रहने पर अपने ही

१- "नारी परमधर्मज्ञ सर्वा पुत्रविनाकृता ।"

--म० भा० (स्वा० म०) ११२।१६

२- नारी की एक संज्ञा जाया भी है और "जाया" वही स्त्री कही जाती है जिसने पुत्र उत्पन्न किया हो --

"भार्यां पतिः संप्रविश्य स यस्माज्जायते पुनः ।
जायायाः इति जायात्वं पुराणा कवयो विदुः ।।

-- म० भा० (स्वा० म०) आदि ६८।३६

देवर[१] या किसी अन्य सपिण्ड या सगोत्र (पति के परिवार के) सम्बन्धी के

१- यहां यह तथ्य कथनीय है कि आजकल साधारणतया "देवर" पति के छोटे भाई को ही कहा जाता है । गौतम धर्मसूत्र के टीकाकार श्री हरदत्त भी इसी साधारण अर्थ को ध्यान में रखते हुए देवर शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं :--

"पत्युर्भ्राता देवरः कनिष्ठः इत्युपदेशः ।" -- गौ० ध० सू० २।६।४ पर उज्ज्वला । परन्तु कुछ लेखकों ने देवर की इस व्याख्या से सहमत न होकर यह विचार व्यक्त किया है कि जो भी व्यक्ति(वह चाहे पति का छोटा भाई हो या बड़ा, यदि विधवा से सम्भोग करता है तो उसे देवर ही कहा जाएगा । आप्टे ने अपने कोश ग्रन्थ में इस तथ्य की पुष्टि करते हुए देवर शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है -- "A Husband's brother elder or younger" "Sanskrit-English Dictionary : By V.S. Apte, P.P. 290.
कुछ अन्य विचारकों ने -"द्वितीयो वरः इति देवरः "(निरुक्त०३।१५) निरुक्तकार के इस व्युत्पत्यात्मक अर्थ के आधार पर यह विचार व्यक्त किया है कि "देवर उसको कहते हैं कि जो विधवा का दूसरा पति होता है चाहे छोटा भाई या बड़ा भाई अथवा अपने वर्ण या अपने से उत्तम वर्ण वाला हो, जिससे नियोग करे उसी का नाम देवर है"--देखें : स०प्र० चतुर्थ समुल्लास पृ० १६६ । परन्तु "देवर" शब्द की यह व्याख्या धर्मशास्त्रीय लेखकों के मत से विपरीत होने के कारण ग्राह्य नहीं हो सकती । यदि प्रत्येक नियोगी व्यक्ति को ही देवर माना जाय तो यहां प्रश्न यह उठता है कि धर्मशास्त्रीय लेखकों ने फिर नियोग के अधिकारी के रूप में देवर के साथ ही अन्य सपिण्ड या सगोत्रीय व्यक्ति का उल्लेख क्यों किया है ? वस्तुतः "देवर" शब्द के परिज्ञान के लिए हमें नियोग-प्रथा के उदाहरणों की सम्यक् परीक्षा करनी चाहिए और इस सन्दर्भ में यदि हम महाभारत-युग में नियोग-प्रथा के उदाहरणों का अध्ययन करें तो यह ज्ञात होता है

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)

साथ, पुत्र उत्पन्न करने के लिए ऋतुकाल में सम्भोग कर सकती है ।[1]

(ii) नियोग की धर्म-शास्त्रीय विधि

धर्मशास्त्रीय लेखकों के अनुसार नियोग प्रथा से पुत्रोत्पादन की इच्छा वाली अपुत्रवती विधवा स्त्री को चाहिए कि वह गुरुजनों से इस कृत्य का

कि उस युग में "देवर" पति के छोटे या बड़े दोनों ही भाइयों को कहा जाता था । महाभारत में सत्यवती ने अम्बिका को नियोग के लिए तैयार करते हुए व्यास को उसका देवर ही कहा था --

"कौसल्ये देवरस्तेऽस्ति सोऽद्यत्वानुप्रवेक्ष्यति ।
अप्रमत्ता प्रतीक्षैनं निशीथे ह्यागमिष्यति ।।

-- म० भा० (स्वा० म०) आदि १००।२

क्योंकि व्यास विचित्रवीर्य के बड़े भाई होने के कारण अम्बिका आदि के ज्येष्ठ थे । महाभारत के अनुसार व्यास का जन्म सत्यवती एवं पराशर ऋषि के सम्भोग से, सत्यवती की बाल्यावस्था में ही हो गया था । देखें : म० भा० (स्वा० म०) आदि ५७ एवं ६६ । इसके अनन्तर सत्यवती का महाराज शान्तनु से विवाह हुआ और उनसे उसे चित्रांगद एवं विचित्रवीर्य इन दो पुत्रों की प्राप्ति हुई -- देखें : म० भा० (स्वा० म०) आदि ६५। आगे चलकर विचित्रवीर्य का ही अम्बिका एवं अम्बालिका से विवाह हुआ । देखें : म० भा० (स्वा० म०) आ० ६६ ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर अब हम कह सकते हैं कि प्राचीन युग में देवर से तात्पर्य था पति का बड़ा या छोटा भाई ।

१- देवराद्वा सपिण्डाद्वा स्त्रिया सम्यङ्नियुक्तया ।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ।।
यस्तल्पजः प्रमीतस्य क्लीबस्य व्याधितस्य वा ।
स्वधर्मेण नियुक्तायां स पुत्रः क्षेत्रजः स्मृतः ।।

--मनु० ९।५९ एवं १६७

इसी प्रकार देखें : याज्ञ० १।३।६८, नारद० १२।८० ; गौ०ध०सू०२।६।४-७; आप०ध०सू० २।२७।२-३ एव बौधा० ध०सू० २।३।१७ आदि ।

आदेश प्राप्त करके, अपने ऋतुकाल में रात्रि में मौन होकर ऐसे देवर, सपिण्ड या सगोत्री व्यक्ति से सम्भोग करे जिसके पूरे शरीर में घृत का लेप किया गया हो ।[१]

उपर्युक्त मन्तव्य से स्पष्ट है कि नियोग-प्रथा से पुत्र उत्पन्न करने की इच्छा वाली स्त्री को निम्नलिखित तीन शास्त्रीय विधानों का पालन करना आवश्यक है -

नियोग की पहली शर्त तो यह है कि नियोगी स्त्री एवं पुरुष को गुरुजनों से अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है ।

धर्मशास्त्रों की इस शर्त का मुख्य उद्देश्य था समाज में भ्रष्टाचार को रोकना । यदि नियोग के लिए इस शर्त का विधान न होता तो प्रत्येक विधवा स्त्री को मैथुन-स्वातन्त्र्य मिलने से समाज में भ्रष्टाचार फैल जाता ।

नियोग की दूसरी धर्मशास्त्रीय शर्त थी नियोगी महिला द्वारा ऋतुकाल में, रात्रि में कामुक सम्भाषणों (इसके अन्तर्गत चुम्बन, आलिंगन आदि का भी परिगणन किया जा सकता है) से रहित मैथुन में प्रवृत्त होना ।

धर्मशास्त्रों के इस विधान का तात्पर्य था, नियोगी स्त्री-पुरुषों को यह बताना कि उनका यौन समागम एक निश्चित् उद्देश्य से किया जा रहा है और उस निश्चित् एवं पवित्र उद्देश्य में कामुकता का कोई स्थान नहीं है ।

१- 'विधवायां नियुक्तस्तु घृताक्तो वाग्यतो निशि'
--मनु० ९।६०
इसी प्रकार देखें : याज्ञ० १।२।६८ आदि ।

नियोग की तीसरी शर्त भी एक ठोस कारण पर आधारित थी । याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार विश्व-रूपाचार्य के अनुसार नियोगी पुरुष द्वारा घृत-लेपन की व्यवस्था का मूल कारण था उसे कामुकता से रोकना ।[1] परन्तु यह मत ग्राह्य नहीं हो सकता क्योंकि घृत का कामुकता से क्या सम्बन्ध है ? यह विश्वरूपाचार्य जी के उपर्युक्त मन्तव्य से स्पष्ट नहीं हो पाता । वस्तुत: घृत-लेपन के पीछे एक प्रचलित सामाजिक धारणा को ही कारण माना जा सकता है । भारतीय समाज में घृत तेजस्विता का प्रतीक माना जाता है 'तेजो वै घृतम्' अत: शोधकर्ता का अनुमान है कि घृतलेपन का मुख्य उद्देश्य था यह दर्शित करना कि इस प्रथा से उत्पन्न पुत्र घृत संसर्ग के कारण तेजस्वी होगा ।[2]

नियोग प्रथा का उद्भव एवं संस्कृत-महाकाव्यों में इसके उपलब्ध उदाहरण

ऐतिहासिकों का मन्तव्य है कि भारतीय समाज में नियोग-प्रथा का प्रचलन वैदिक काल से ही हो चुका था । इस सन्दर्भ में यदि हम ऋग्वेद का आश्रय लें तो यह ज्ञात होता है कि उस युग में एक अपुत्रवती विधवा स्त्री अपने देवर से पुत्र उत्पन्न करने के लिए उसके साथ रह सकती थी यहां विधवा स्त्री

१- 'घृताभ्यंजनवचनं कामप्रवृत्तिनिरोधार्थम् । ततश्चालिंगनादि वैकारिकत्वाद्दूरापेतम् - - - ।'

--देखें : याज्ञ० १।२।६८ पर 'बालक्रीड़ा' नाम्नी टीका ।

२- आधुनिक विचारकों ने घृतलेपन का मूल कारण उपर्युक्त तथ्य को ही माना है -- देखें : डा० लक्ष्मीदत्त ठाकुर : 'प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन', पृष्ठ १७३ ।

को अनेकश: "देवृकामा" कहा गया है ।[1] इस उल्लेख से हम यह मान सकते हैं कि उस युग में एक विधवा स्त्री पुत्रोत्पादन के लिए देवर के साहचर्य में जाती थी । देवर के अतिरिक्त यहां पुत्रोत्पादन के लिए स्त्रियों द्वारा अन्य पुरुषों से सम्पर्क करने का वर्णन भी हमें प्राप्त होता है । ऋग्वेद के एक मन्त्र के अनुसार एक बार अश्विदेव कहीं भ्रमण के लिए जा रहे थे । उन्हें मार्ग में "वध्रीमति:" नाम्नी एक स्त्री मिली । उसने उनसे पुत्र प्राप्त कराने की प्रार्थना की और अश्विदेवों ने राजा की तरह उसकी प्रार्थना स्वीकार करके उसे गर्भ धारण कराया ।[2]

ऋग्वेद के इन उल्लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि भारतीय समाज में नियोग-प्रथा की स्थापना सम्भवत: ऋग्वैदिक काल में ही हो चुकी थी ।

वैदिक साहित्य के अनन्तर हमें वाल्मीकि रामायण में भी नियोग प्रथा का एक अस्पष्ट उदाहरण प्राप्त होता है जो उस युग में नियोग-प्रथा के अस्तित्व को सिद्ध करता है । प्रस्तुत महाकाव्य में जाम्बवान ने हनुमान को वायु का औरस एवं केसरी का क्षेत्रज पुत्र के रूप में उल्लेख किया है ।[3]

१- कुह स्विद्दोषा कुह वस्तोरश्विना कुहाभिपित्वं करत: कुहोषतु: ।
को वां शयुत्रा विधवेव देवरं मर्यं न योषा कृणुते सधस्थ आ ॥
-- ऋ० १०।४०।२

एवं

अदेवृघ्न्यपतिघ्नी हैधि शिवा पशुभ्य: सुयमा सुवर्चा: ।
प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य ॥
-- अथर्व० १४।२।१८

२- अजोहवीन्नासत्या करा वां महे यामन् पुरुभुजा पुरंधि: ।
श्रुतं तच्छासुरिव वध्रिमत्या हिरण्यहस्तमश्विनावदत्तम् ॥
--ऋ० १।११६।१३

३- स त्वं केसरिण: पुत्र: क्षेत्रजो भीमविक्रम: ।
मारुतस्यौरस: पुत्रस्तेजसा चापि तत्सम: ॥
--वा० रा० किष्किन्धा० ६६।२९-३०

जाम्बवान के अतिरिक्त यहां स्वयं हनुमान भी अपने को क्षेत्रज पुत्र ही कहते हैं और इस बात के लिए गर्व का अनुभव करते हैं ।[१]

इन दो उल्लेखों के आधार पर कहा जा सकता है कि हनुमान अंजना के क्षेत्रज पुत्र थे और उनका जन्म नियोग-प्रथा से ही हुआ था । लेकिन वाल्मीकि रामायण में ही उपलब्ध हनुमान के यदि जन्म-पूर्व चरित को देखा जाय तो यह ज्ञात होता है कि हनुमान का नियोग-प्रथा से जन्म न होकर, अनैतिक काम-सम्बन्ध से हुआ था । वाल्मीकि के अनुसार एक बार वानरराज केशरी की भार्या अंजना एक पर्वत पर भ्रमण कर रही थीं कि इसी बीच वहां वायुदेव प्रकट हुए और अंजना के रूपमाधुर्य पर मुग्ध एवं कामासक्त होकर उन्होंने उनसे सम्भोग की याचना की । पहले तो अंजना ने वायुदेव के इस प्रस्ताव का विरोध किया, परन्तु बाद में यह कहने पर कि, यदि अंजना उनके इस आमन्त्रण को स्वीकार कर लेगी तो उसे वायु के समान ही तेजस्वी पुत्र होगा, अंजना ने वायुदेव के इस प्रस्ताव के लोभ में आकर वायुदेव से समागम किया और कालान्तर में एक निर्जन पर्वत-कन्दरा में जाकर हनुमान को जन्म दिया ।[२]

हनुमान के पूर्व जन्म के इस कथानक से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनका जन्म वायु एवं अंजना के अवैध काम सम्बन्ध से ही हुआ था न कि

१- 'यस्याहं हरिण: क्षेत्रे जातो वातेन मैथिलि ।
हनुमानिति विख्यातो लोके स्वेनैव कर्मणा ।।
--वा० रा० सुन्दर० ३५।८१

२- देखें : वही किष्किन्धा० ६६।८-३०

नियोग-प्रथा से ।[1] वाल्मीकि रामायण के अनन्तर महाभारतयुग में हमें नियोग-प्रथा के विभिन्न उदाहरण प्राप्त होते हैं । महाभारत में प्राप्त होने वाले उदाहरणों को निम्नलिखित चार श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है :--

१- पुत्रविहीना विधवा एवं देवर का नियोग

इस श्रेणी के नियोग के अन्तर्गत विचित्रवीर्य की पत्नियों का उदाहरण आता है । महाभारत के अनुसार विचित्रवीर्य का अम्बिका एवं अम्बालिका से विवाह हुआ था और इस विवाह के सात वर्ष के अनन्तर राजयक्ष्मा के कारण उनका देहान्त हो गया था । ऐसी दशा में वंशतन्तु की रक्षा के लिए विचित्रवीर्य की माता सत्यवती ने अम्बिका एवं अम्बालिका को उनके देवर महर्षि व्यास से नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न करने का आदेश दिया और इस प्रकार व्यास द्वारा नियोग विधि से समागम करके अम्बिका ने धृतराष्ट्र एवं अम्बालिका ने पाण्डु नाम के पुत्रों को उत्पन्न किया ।[2]

२- पुत्रविहीना क्षत्राणियों एवं ब्राह्मणों का नियोग

पुत्र विहीना क्षत्राणियों द्वारा ब्राह्मणों के साथ सम्भोग से पुत्र उत्पन्न करने के हमें अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं । भीष्म के अनुसार परशुराम ने इक्कीस बार पृथ्वी को क्षत्रियों से रहित कर दिया था । ऐसी स्थिति में गुरुजनों के आदेश से पुत्रविहीना क्षत्राणी स्त्रियां ब्राह्मणों की

१- आधुनिक विचारकों ने भी हनुमान का जन्म नियोग-प्रथा से न मानकर अवैध काम-सम्बन्ध से ही माना है ।
  --देखें : डा० एस०एन० व्यास : 'रामायणकालीन समाज', पृ० ६३।

२- देखें : म० भा० (स्वा० म०) आदि ९७-१००

शरण में गयीं और उन्होंने ऋतुकाल में उनसे सम्भोग करके उन्हें पुत्रवती बनाया । इस प्रकार पृथ्वी पर पुनः क्षत्रियों का जन्म हुआ ।[1] इस कोटि का दूसरा उदाहरण राजा बलि एवं सुदेष्णा के कथानक में प्राप्त होता है । भीष्म के अनुसार राजा बलि ने सुदेष्णा को नियोग के लिए आज्ञा दी और उसने ऋतुकाल में दीर्घतमा से सम्पर्क करके "अंग" नामक एक पुत्र उत्पन्न किया ।[2] इसी प्रकार भूपति सौदास की भार्या मदयन्ती ने पति की आज्ञा शिरोधार्य करके महर्षि वशिष्ठ से समागम किया था और इस प्रकार उनके सम्पर्क से अश्मक नामक तेजस्वी पुत्र को उत्पन्न किया था ।[3]

इन उदाहरणों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि नियोग के ये उदाहरण धर्मशास्त्रों में कथित नियोग की परिभाषा से परे हैं । इस कोटि के उदाहरणों का औचित्य केवल इस आधार पर ही सिद्ध किया जा सकता है कि इनके मूल में क्षत्रिय विधवाओं द्वारा केवल श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न करने की अभिलाषा थी और इसी अभिलाषा की पूर्ति के लिए उन्होंने तपः पूत ब्राह्मणों से समागम किया । भीष्म एवं सत्यवती के सम्वाद से यह भी प्रकट होता है कि इस सम्भोग कार्य के लिए ब्राह्मणों को पर्याप्त धन भी दिया जाता था ।[4]

३- पुत्रविहीना स्त्रियों एवं देवताओं का नियोग

इस कोटि का नियोग विषयक उदाहरण पाण्डु एवं कुन्ती के कथानक में प्राप्त होता है । महाभारत के अनुसार किन्दम ऋषि द्वारा

१- देखें : म० भा० (स्वा० म०) आदि ६८

२- देखें : ,, ,, ,, ,, १०४ एवं ६८

३- ,, : ,, ,, ,, आदि ११३ एवं १६८

४- "ब्राह्मणो गुणवान् कश्चिद्धनेनोपनिमन्त्र्यताम् ।
विचित्रवीर्य क्षेत्रेषु यः समुत्पादयेत्प्रजाः ।।
--म० भा० (स्वा०म०) ६६।२

शापित[1] पुत्र उत्पन्न करने में असमर्थ भूपति पाण्डु ने भार्या कुन्ती को नियोग द्वारा उत्पन्न करने की आज्ञा दी और कुन्ती ने इस कार्य के लिए देवताओं को आमन्त्रित किया । इस प्रकार उसने धर्म, वायु एवं इन्द्र इन तीन देवताओं का आवाहन एवं उनसे सम्पर्क करके क्रमश: युधिष्ठिर, भीम एवं अर्जुन इन तीन पुत्रों को प्राप्त किया ।[2] इसी प्रकार पाण्डु की दूसरी पत्नी माद्री ने भी कुन्ती की सहायता से अश्विनी कुमारों का आवाहन एवं उनसे सम्पर्क करके नकुल एवं सहदेव को उत्पन्न किया था ।[3]

इस कोटि के नियोग के उदाहरणों के मूल में भी श्रेष्ठ सन्तति की इच्छा ही विद्यमान थी ।

<u>४- आचार्य-पत्नी एवं शिष्य का नियोग</u>

महाभारत में उपलब्ध होने वाला नियोग प्रथा की इस कोटि का उदाहरण अपने आप में एक अलौकिक उदाहरण है और तत्कालीन समाज के अध:पतन का सूचक भी । नियोग की इस कोटि का उदाहरण हमें व्यास एवं युधिष्ठिर के वार्तालाप में ‌‌ देखने को मिलता है । शान्तिपर्व में महर्षि व्यास, मनुष्य किन-किन कर्मों के सम्पादन से पाप का भागी होता है और किन-कार्यों के सम्पादन से वह उस पाप से मुक्त हो सकता है ? इसी विषय का युधिष्ठिर से विशद विवेचन करते हुए कहते हैं कि गुरु की आज्ञानुसार गुरुपत्नी से समागम करने वाला शिष्य पाप का भागी नहीं होता । अपने इस मन्तव्य की पुष्टि में

१- अन्तर्कथा के लिए देखें : प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का परिशिष्ट १ ।

२- देखें : म० भा० (स्वा० म०) आदि ६०, १०६, ११४ एवं ११५ ।

३- ,, : ,, ,, (,, ,,) वही

वह महर्षि उद्दालक की कथा का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि उद्दालक ने अपने एक शिष्य से अपनी पत्नी के साथ समागम करवा कर "श्वेतकेतु" नामक पुत्र को उत्पन्न किया था ।[1] यहां इस नियोग का कारण नहीं बताया गया है । सम्भवतः इसका कारण उद्दालक का पुत्रोत्पादन में असमर्थ होना ही रहा होगा ।

नियोग विषयक महाभारत के उपर्युक्त उदाहरणों की प्रचुर संख्या से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि उस युग में समाज में नियोग-प्रथा बहुत ही लोकप्रिय थी और उसे धार्मिकता का चोला भी पहना दिया गया था । महाभारत में अनेक स्थानों पर नियोग-प्रथा को धर्ममूलक एवं आर्यों का पुरातन धर्म कहा गया है ।[2] महाभारत के इन उदाहरणों से एक दूसरा महत्वपूर्ण तथ्य भी हमारे सामने प्रकट होता है और वह यह कि महाभारत-कालीन समाज में स्त्रियां नियोग द्वारा अनेक पुत्रों को उत्पन्न करती थीं क्योंकि महाभारतकालीन समाज एक पुत्र मात्र से व्यक्ति को पुत्रवान् मानने के लिए तैयार नहीं था । शान्तनु ने भीष्म से स्पष्ट शब्दों में इसी तथ्य का समर्थन करते हुए कहा था कि धर्मज्ञ कहते हैं कि एकपुत्रता तो सन्तानहीनता में गिनी जाती है ।[3] तत्कालीन

१- 'गुरुतल्पं हि गुर्वर्थे न दूषयति मानवम् ।
उद्दालकः श्वेतकेतु जनयामास शिष्यतः ।।
--म० भा० शान्ति ३४।२२

२- व्यास सत्यवती से तभी तो कहते हैं कि मैं आपकी आज्ञा के अनुसार धर्म का स्मरण करके आपकी इच्छा पूरी करूंगा क्योंकि यह वेदों का पुरातन धर्म है -- 'तस्मादहं त्वन्नियोगाद्धर्ममुद्दिश्यकारणम् ।
ईप्सितं ते करिष्यामि दृष्टं ह्येतत्पुरातनम् ।।
--म० भा०(स्वा०म०) आदि ६६।३७

इसी प्रकार देखें : म०भा०(स्वा०म०)आदि ११३।२४ एवं ६७।१३ आदि ।

३- 'अनपत्यतैकपुत्रत्वमित्याहुर्धर्मवादिनः ।'
--म० भा० (स्वा०म०)आदि ६४।५६

समाज तीन पुत्रों के जन्म के बाद अपुत्रत्व दोष की समाप्ति मानता था ।[1] इसीलिए नियोग द्वारा भी हमें तत्कालीन समाज में कम से कम तीन पुत्रों को उत्पन्न करने की प्रवृत्ति देखने को मिलती है और तीन पुत्रों से अधिक पुत्रों का उत्पादन तत्कालीन समाज में गर्हित माना जाता था । सम्भवत: इसी कारण से तीन पुत्रों की उत्पत्ति के अनन्तर पाण्डु द्वारा पुन: नियोग के लिए प्रेरित किए जाने पर कुन्ती ने इसका विरोध करते हुए कहा था कि हे धर्मज्ञ । आपत्काल में भी नारी द्वारा तीन सन्तान से अधिक कामना करने की बात किसी भी शास्त्र में नहीं कही गयी है । जो नारी बार बार पर-पुरुष से सम्भोग करती है वह स्वैरिणी होती है और जो पांच बार पुत्र के लिए पर-पुरुष से सम्पर्क करती है वह वेश्या ही होती है ।[2]

कुन्ती के उपर्युक्त मन्तव्य से यही स्पष्ट होता है कि महाभारतकालीन समाज में नियोग-प्रथा द्वारा तीन पुत्रों का उत्पादन वैध माना जाता था । यहां यह तथ्य अवधेय है कि धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों ने महाभारत-युग की इस प्रवृत्ति का घोर विरोध करते हुए इस प्रथा से केवल एक पुत्र उत्पन्न करने की ही आज्ञा दी[3] क्योंकि उनकी दृष्टि में नियोग प्रथा का मुख्य उद्देश्य था वंशतन्तु की रक्षा और इस कार्य के लिए एक पुत्र का होना ही पर्याप्त था ।

१- अपुत्रतां त्रय: पुत्रा: ।

--म० भा० (स्वा०म०) अनु० ६६।११

२- नातश्चतुर्थं प्रसवमापत्स्वपि वदन्त्युत ।
अत: परं चारिणी स्यात्पंचमे बन्धकी भवेत ।।

--म० भा० (स्वा०म०) आदि ११४।६५

३- एकमुत्पादयेत्तु पुत्रं न द्वितीयं कथंचन ।

--मनु० ६।६०

(IV) <u>नियोग प्रथा के प्रचलन का कारण एवं उसका उद्देश्य</u>

भारतीय समाज में नियोग प्रथा के प्रचलन के कारणों या उसके मूल उद्देश्य के सन्दर्भ में पाश्चात्य एवं पौरस्त्य दोनों ही देशों के विभिन्न विद्वानों ने अनेक रोचक उद्भावनाएं प्रस्तुत की हैं। पाश्चात्य विद्वानों में अग्रगण्य विचारक विण्टरनिट्ज महोदय ने इस प्रथा के प्रचलन का मूल कारण दरिद्रता, स्त्रियों का अभाव एवं संयुक्त परिवार प्रणाली को माना है।[१]

विन्टरनिट्ज महोदय द्वारा प्रदत्त उपर्युक्त कारणों का यदि हम भारतीय समाज के उपलब्ध इतिहास (एवं नियोग-प्रथा के उपलब्ध साहित्यिक उदाहरणों को ध्यान में रखते हुए) से तुलनात्मक अध्ययन करें तो यह ज्ञात होता है कि ये कारण नियोग-प्रथा के प्रचलन के कारण नहीं माने जा सकते। दरिद्रता से नियोग-प्रथा का क्या सम्बन्ध है ? यह समझ में नहीं आता। फिर प्राचीन भारतीय समाज को, जो जीवन के हर क्षेत्र में समुन्नत था, दरिद्र कैसे कहा जा सकता है। भारतीय समाज में कभी भी ऐसा युग नहीं आया जबकि समाज में स्त्रियों का अभाव रहा हो अत: विन्टरनिट्ज द्वारा प्रदत्त नियोग-प्रचलन का दूसरा कारण भी अमान्य सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार विन्टरनिट्ज द्वारा प्रदत्त तृतीय कारण भी नियोग प्रचलन का कारण नहीं माना जा सकता। क्योंकि संयुक्त परिवार प्रणाली का नियोग से क्या संबंध है यह समझ में नहीं आता।

पाश्चात्य जगत के ही दूसरे समीक्षक जाली महोदय का मन्तव्य है कि नियोग से प्राप्त होने वाले क्षेत्रज पुत्रों के उत्पादन का कारण

१- देखें : Journal of Asiatic Society of Bengal, Calcutta-1897, P.P. 758.

आर्थिक था । उनके मन्तव्यानुसार नियोग-प्रथा के प्रचलन का मुख्य कारण था परिवार में अधिक पुत्रों की आवश्यकता । प्राचीन भारतीयों का मुख्य उद्देश्य रहता था अधिक पुत्रोत्पादन क्योंकि उनका यह विचार था कि परिवार में जितने ही अधिक पुरुष होंगे परिवार की उतनी ही उन्नति होगी ।[१]

पौरस्त्य विद्वानों ने भी नियोग-प्रथा के कारणों के विवेचन में इस प्रथा की स्थापना में अनेक कारणों का योग बताया है । ऐसे विद्वानों में डा० हरिदत्त वेदालंकार एवं डा० कैलाश चन्द्र जैन का मत विशेष उल्लेखनीय है । इन दोनों विद्वानों ने नियोग-प्रथा की स्थापना के मूल कारणों के अन्तर्गत स्त्री की सम्पत्ति के रूप में मान्यता, परिवार के सभी व्यक्तियों का

१- स्मृतियों में प्रतिपादित द्वादश-पुत्रों की वैधता-अवैधता के विवेचन के प्रसंग में क्षेत्रज पुत्र के वर्णन-क्रम में नियोग-प्रथा के कारणों का विवेचन करते हुए जाली महोदय ने कहा है कि — "The cause of this abnormal importance being attached to male issue is to be sought, according to the Smrtis in offering of sacrificies to the manes which depends upon the male issue yet however originally and economic motive was perhaps a more important factor in it-to get for the family as many powerful workers as possible."

—Mr. J. Jolly : Hindu Law and Customs P.P. 156

उस पर अधिकार, पारिवारिक सम्पत्ति को विभाजन से बचाना, विधवा को पथभ्रष्टता से बचाना आदि की गणना की है ।[१]

परन्तु उपर्युक्त विद्वानों का मत भी मान्य नहीं हो सकता क्योंकि प्राप्त साहित्यिक उदाहरणों से इन कारणों की पुष्टि नहीं हो पाती। ऊपर नियोग-प्रथा के जितने भी उदाहरण दिए गए हैं उनसे यही सिद्ध होता है कि नियोग-प्रथा की स्थापना का मुख्य कारण था वंशतन्तु की रक्षा करना और परिवार की श्रृंखला को टूटने से बचाना । महाभारत युग में हमें इस प्रथा से पुत्रोत्पादन का प्रयास वहीं-वहीं दिखाई पड़ता है जहां-जहां पारिवारिक विश्रृंखलता का भय उपस्थित था । अम्बिका, अम्बालिका एवं कुन्ती आदि ने परिवार की श्रृंखला को बनाए रखने के लिए ही इस प्रथा का आश्रय लेकर पुत्रोत्पादन किया था ।

(v) <u>नियोग-प्रथा से उत्पन्न पुत्र पर अधिकार</u>

नियोग-प्रथा के मूलभूत उद्देश्य के निरूपण के अनन्तर यहां इस बात का विवेचन भी आवश्यक है कि इस प्रथा से उत्पन्न पुत्र पर क्षेत्री (जिसकी पत्नी हो) पिता का या बीजी (जो गर्भाधान करे) का अधिकार होता है । इस विषय में हमें धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में विविध मत देखने को मिलते हैं । धर्मसूत्रकार बौधायन नियोग-प्रथा द्वारा उत्पन्न पुत्र पर क्षेत्री एवं बीजी इन दोनों ही पुरुषों का समान अधिकार मानते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि

१- विस्तृत विवेचन के लिए देखें : श्री हरिदत्त वेदालंकार : 'हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास', पृ० ७२-७३ एवं डा० कैलाश चन्द्र जैन : 'प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएं', पृ० १४७ ।

नियोग-प्रथा से उत्पन्न पुत्र, द्विगोत्रीय एवं दो पिता वाला होता है और वह इन दोनों पिताओं के पिण्डदान का अधिकार होता है।[1] ऋषि आपस्तम्ब नियोगी पुत्र पर केवल मात्र उत्पन्न करने वाले पिता (बीजी) का ही अधिकार मानते हैं।[2] इस विषय का विस्तृत विवेचन करते हुए गौतम धर्मसूत्रकार ने विभिन्न परिस्थितियों के आधार पर नियोगी पुत्र पर क्षेत्री एवं बीजी इन दोनों के अधिकारों का उल्लेख किया है। उनके अनुसार मुख्यरूप से नियोग विधि द्वारा उत्पन्न होने वाले पुत्र पर उत्पन्नकर्ता (बीजी) का ही अधिकार होता है[3] परन्तु नियोग के पूर्व ही यदि निश्चय कर लिया गया हो तो उस पर क्षेत्री का भी अधिकार हो सकता है।[4] यदि क्षेत्री के जीवित रहने पर, उसके

१- 'स एष द्विपिता द्विगोत्रश्च द्वयोरपि स्वधारिक्थभाग्भवति।
-- बौधा० ध० सू० २।३।१८

२- उत्पादयितुः पुत्रः इति हि ब्राह्मणम्।
इदानीमेवाहं जनक: स्त्रीणामीर्ष्यामि नो पुरा।
यदा यमस्य सादने जनयितुः पुत्रमब्रुवन ॥
रेतोधाः पुत्रं नयति परेत्य यमसादने।
तस्माद् भार्यां रक्षन्ति बिभ्यन्तः पररेतसः॥
अप्रमत्ता रक्षथ तन्तुमेतं मा वः क्षेत्रे परबीजानि वाप्सुः।
जनयितुः पुत्रो भवति साम्पराये मोघं वेत्ता कुरुते तन्तुमेतमिति।
-- आप० ध० सू० २।१३।५ एवं ६

३- 'जनयितुरपत्यम्।'
-- गौ० ध० सू० २।६।६ एवं इस पर मिताक्षरा टीका।

४- 'समयादन्यस्य।'
--गौ० ध० सू० २।६।१० एवं इस पर मिताक्षरा टीका।

रोगी या नपुंसक होने पर उसकी प्रार्थना से नियोग द्वारा पुत्र उत्पन्न किया जाय तो उस पर क्षेत्री का ही अधिकार होता है बीजी का नहीं ।[१] देवर के अतिरिक्त किसी अन्य सपिण्ड द्वारा उत्पन्न की गयी सन्तान पर उत्पन्नकर्ता का ही अधिकार होता है क्षेत्री का नहीं [२]अथवा इस विधि द्वारा उत्पन्न संतान पर दोनों का ही समान अधिकार होता है ।[3] यदि क्षेत्री व्यक्ति ही उत्पन्न सन्तान का भरण-पोषण एवं संस्कार आदि करता है तो उस सन्तान पर उसी का अधिकार होगा बीजी पुरुष का नहीं ।[४]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि नियोग-प्रथा द्वारा उत्पन्न पुत्र पर क्षेत्री या बीजी इन दोनों में से किसका अधिकार होता है ? इस प्रश्न पर धर्मशास्त्रों में पर्याप्त मतभेद है । इस विषय में वही मत ग्राह्य होगा जिसकी प्राप्त साहित्यिक उदाहरणों से पुष्टि हो । वस्तुत: नियोगी पुत्र पर क्षेत्री का ही अधिकार माना जाना चाहिए क्योंकि बीजी व्यक्ति तो क्षेत्री के आदेश से, पुत्र के जन्म में केवल कारण मात्र होता है, पुत्रोत्पादन के अनन्तर उसका न तो पुत्र से ही कोई सम्बन्ध रहता है और न पुत्र की माता से ही । महाभारत में प्राप्त नियोग के उदाहरणों का यदि हम विश्लेषण करें तो भी इसी मन्तव्य की ही पुष्टि होती है । व्यास आदि बीजियों का नियोग से उत्पन्न पाण्डु आदि पर उस युग में सम्भवत: कोई अधिकार नहीं था । इसके अतिरिक्त इस महाकाव्य में स्पष्ट शब्दों में यही

१- "बीजवतश्च क्षेत्रे ।"

--गौ० ध० सू० २।६।११ एवं इस पर मिताक्षरा टीका ।

२- "परस्मात्तस्य"

-- गौ० ध० सू० २।६।१२ एवं इस पर "मिताक्षरा" ।

३- "द्वयोर्वा "

-- गौ० ध० सू० २।६।१३ एवं इस पर "मिताक्षरा" ।

४- "रक्षणात्तु भर्तुरेव"

--गौ० ध० सू० २।६।१४ एवं इसी पर "मिताक्षरा"।

कहा गया है कि नियोगी पुत्र पर केवल क्षेत्री का अधिकार होता है ।[१]

(v) नियोग प्रथा और धर्मशास्त्र

नियोग प्रथा से सम्बद्ध अन्तिम प्रश्न इसकी उपयुक्तता एवं अनुपयुक्तता का है । इस सन्दर्भ में यदि हम धर्मसूत्रों का आश्रय लें तो यह ज्ञात होता है कि इन सूत्र-ग्रन्थों में कुछ ने तो नियोग को समाज के लिए उपयुक्त मानते हुए उसे सामाजिक मान्यता प्रदान की है और कुछ ने इस प्रथा का विरोध करते हुए इसे समाज के लिए अनुपयुक्त निरूपित किया है । इस प्रथा को उपयुक्त निरूपित करने वाले सूत्रग्रन्थों के अन्तर्गत मुख्यरूप से गौतम एवं वसिष्ठ के धर्मसूत्रों को लिया जा सकता है । इन सूत्रकारों ने इस प्रथा का विस्तृत वर्णन करते हुए इसे समाज के लिए उपयुक्त बताया है ।[२] नियोग-प्रथा का विरोध करने वालों के अन्तर्गत मुख्यरूप से आपस्तम्ब एवं बौधायन के धर्मसूत्रों को लिया जा सकता है । आपस्तम्ब ने इस प्रथा का विरोध करते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि नियोग-प्रथा द्वारा पुत्र उत्पन्न करने वाली दम्पती घोर नरक में जाती है क्योंकि सगोत्रनियोगी भी उस स्त्री के लिए पर-पुरुष के समान ही होता है । इसके अतिरिक्त चूंकि क्षेत्रज पुत्र पर नियोगी का अधिकार होता है इसलिए वह क्षेत्री पिता की मृत्यु से सम्बद्ध धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन का भी अधिकारी नहीं होता एतदर्थ क्षेत्री के लिए नियोग प्रथा से उत्पन्न पुत्र की उपयोगिता भी नहीं रह जाती ।[३] इसी प्रकार का विचार बौधायन ने भी प्रकट करते हुए

१- महाभारत के भीष्म एवं सत्यवती के वार्तालाप से यही स्पष्ट होता है कि उस युग में नियोग से उत्पन्न पुत्र पर क्षेत्री का ही अधिकार माना जाता था -

'पाणिग्राहस्य तनय: इति वेदेषु निश्चितम् ।

-- म० भा० (स्वा० म०) ६८।५

२- देखें : गौ० धा० सू० १८।४-१४ एवं व० ध० सू० १७।५६-६५

३- ,, : आप० ध० सू० २।१३।५-६ एवं २।२७।५-७

नियोग प्रथा का विरोध किया है ।[1] इनके अतिरिक्त मनु ने भी इस प्रथा का विरोध करते हुए इसे द्विजातियों के लिए अमान्य कहा है क्योंकि इस प्रथा का आश्रय लेने वाले सनातन धर्म से च्युत हो जाते हैं ।[2] आगे चलकर मनु ने इस प्रथा की स्थापना का एक रोचक इतिहास भी प्रस्तुत किया है । उनके अनुसार राजा वेन ने अपने शासन काल में विद्वानों और द्विजातियों द्वारा निन्दित इस पशुधर्म को मानव समाज में प्रचलित कर दिया था और इसका परिणाम यह हुआ कि इस प्रथा ने पूरे समाज को ही कामी स्त्री-पुरुषों के सम्भोग द्वारा वर्ण संकर बना दिया । उसी काल से लेकर जो व्यक्ति पुत्र की आकांक्षा से पति की मृत्यु के अनन्तर विधवा से पुत्रोत्पत्ति के लिए किसी अन्य को नियोजित करता है सज्जन लोग उसकी निन्दा करते हैं ।[3] इस प्रकार इस कथा से स्पष्ट है कि मनु की दृष्टि में नियोग-प्रथा के निषेध का मूल कारण मनुष्यों की चारित्रिक दुर्बलता ही है ।[4] चारित्रिक दुर्बलता के अतिरिक्त मनु ने इस प्रथा के निषेध

१- देखें : बौधा० ध० सू० २।२।३९-४१

२- ,, नान्यस्मिन् विधवा नारी नियोक्तव्या द्विजातिभिः ।
अन्यस्मिन् हि नियुंजाना धर्मं हन्युः सनातनम् ॥

--मनु० ९।६४

३- ,, अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः ।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति ॥
स महीमखिलां भुञ्जन्राजर्षिप्रवरः पुरा ।
वर्णानां संकरं चक्रे कामोपहत चेतनः ॥
ततः प्रभृति यो मोहात् प्रमीतपतिकां स्त्रियम् ।
नियोजयत्यपत्यार्थं तं विगर्हन्ति साधवः ॥

-- मनु० ९।६६-६८

४- आपस्तम्ब ने भी नियोग-प्रथा के निषेध का मूल कारण मनुष्यों की चारित्रिक दुर्बल दुर्बलता ही मानते हुए लिखा है --

"तदिन्द्रिय दौर्बल्यात् हि प्रतिपन्नम् ।"

--आप० ध० सू० २।२७।४

का एक अन्य कारण प्रस्तुत करते हुए कहा है कि नियोग-प्रथा एक सामाजिक परम्परा मात्र थी न कि कोई शास्त्रीय विधान क्योंकि यदि यह शास्त्रीय विधान होती तो इसका वैवाहिक मन्त्रों में भी उल्लेख होता ।[1]

यहां यह तथ्य अवधेय है कि यद्यपि महाभारत में हमें नियोग प्रथा के पर्याप्त उदाहरण प्राप्त होते हैं और इन उदाहरणों से यह भी स्पष्ट है कि यह प्रथा उस युग में काफी लोकप्रिय एवं साथ ही धार्मिक प्रथा भी मानी जाती थी पुनरपि उस युग में इस प्रथा के प्रति जन सामान्य का अनादर भाव देखने से यह भी स्पष्ट है कि उस युग में यह प्रथा विशेष आदर की दृष्टि से नहीं देखी जाती थी । महाभारत की अम्बिका एवं अम्बालिका आदि सत्यवती द्वारा पौन: पुन्येन समझाए जाने पर ही बड़ी कठिनाई के पश्चात् नियोग से पुत्रोत्पादन के लिए व्यास के समागम के लिए तैयार हुयी थीं और सम्भवत: पर-पुरुष-सम्भोग जन्य लज्जा के कारण ही एक ने (अम्बिका) व्यास को देखकर नेत्र बन्द कर लिया और दूसरी (अम्बालिका) उन्हें देखकर पीली ही पड़ गई ।[2] सत्यवती द्वारा नियोग के लिए पुन: प्रेरित किए जाने पर लज्जाभाव के कारण अम्बिका ने स्वयं व्यास के पास न जाकर अपनी दासी को ही भेज दिया था । इसी प्रकार कुन्ती ने भी पाण्डु द्वारा नियोग के लिए प्रेरित किए जाने पर पर-पुरुष से सम्भोग के प्रति अपना विरोध ही प्रदर्शित किया था और पाण्डु द्वारा विभिन्न निवेदनों एवं पातिव्रत्य की शपथ दिलाए जाने पर ही नियोग के लिए तैयार हुयी थी ।[3]

१- नोद्वाहिकेषु मन्त्रेषु नियोग: कीर्त्यते क्वचित् ।
न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुन: ।।
--मनु० ९।६५

२- देखें : म० भा० (स्वा० म०) आदि अ० ९९-१००

३- देखें : वही अ० ११२-११४

महाभारत के उपर्युक्त तथ्यों से भी यही स्पष्ट होता है कि उस युग में भी नियोग प्रथा समाज में अनादर एवं अश्रद्धा की दृष्टि से ही देखी जाती थी और सम्भवत: नियोग प्रथा की इसी अनादृत स्थिति के कारण ही हमें अन्य संस्कृत महाकाव्यों में इस प्रथा का वर्णन देखने को नहीं मिलता ।

ग. संस्कृत महाकाव्यों मे विवेचित पूर्वानुराग

गार्हस्थ्य जीवन के अवान्तर तथ्यों के विवेचन के क्रम में हमारा तृतीय विवेच्य विषय संस्कृत महाकाव्यों में उपलब्ध पूर्वानुराग का स्वरूप है । प्रस्तुत अध्याय के प्रारम्भ में ही यह कहा जा चुका है कि संस्कृत-महाकाव्यों में स्वयंवर प्रणाली पर्याप्त लोकप्रिय थी और चूंकि स्वयंवर-प्रणाली में धर्मशास्त्रों में विवेचित गान्धर्व विवाह का तत्व भी मिश्रित रहता है इसीलिए संस्कृत महाकवियों ने स्वयंवर के आयोजन से पूर्व ही अपने काव्य के नायक एवं नायिकाओं में एक दूसरे के प्रति पूर्वानुराग का चित्रण किया है । यहां यह तथ्य अवधेय है कि विवाह की सफलता पति-पत्नी के पारस्परिक प्रेम में निहित होती है । ऐसी स्थिति में यदि विवाह के पूर्व ही युवक एवं युवती एक दूसरे के गुणों से परिचित होकर एवं एक दूसरे को अच्छी तरह से परख कर विवाह करें तो विवाह के अनन्तर भावी-जीवन की सफलता सुनिश्चित रहती है । इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए संस्कृत महाकवियों ने स्वयंवर के अतिरिक्त भी अन्य प्रणालियों से विवाहित होने वाले अपने काव्य के नायक एवं नायिकाओं के पूर्वानुराग का चित्रण किया है । संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में विभिन्न महाकाव्यों में उपलब्ध होने वाले पूर्वानुरागों के विभिन्न स्वरूपों के विवेचन के पूर्व यहां भारतीय प्रेम-पद्धति की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएं जान लेना आवश्यक है ।

(1) "भारतीय प्रेम पद्धति का सामान्य स्वरूप"

भारतीय प्रेम पद्धति के अनुसार नायिका का नायक में अनुराग

उत्पन्न होता है । और यह अनुराग, उसमें, नायक के विभिन्न गुणों एवं उसके विशेष परिचय के प्राप्त होने पर उत्पन्न होता है । इस पूर्वानुराग की स्थिति में ही नायिका उस नायक विशेष को पति-रूप में प्राप्त करने की दृढ़ प्रतिज्ञा कर लेती है और जब तक उसे पति रूप में नहीं पा जाती, उसकी विरह-व्यथा से पीड़ित रहती है । भारतीय काव्यशास्त्रियों ने इस पूर्वराग जन्य-विकलता की, अभिलाषा, चिन्तन आदि दस श्रेणियां मानी हैं ।[१] और इस पूर्वराग जन्य विकलता की विभिन्न श्रेणियों को झेल लेने के बाद अन्तिम अवस्था से पूर्व ही नायिका अपना विरह सन्देश नायक के पास भेजती है । उधर बेचारा नायक भी नायिका के अद्भुत सौन्दर्य को सुनकर अपनी पत्नी के रूप में उस नायिका को ही पाना चाहता है और उसकी विरह-व्यथा में वह भी उपर्युक्त दस अवस्थाओं को ही झेलता है । अन्तत: नायिका का सन्देश पाकर नायक उसे प्राप्त करने का प्रयास करता है और इस प्रकार नायक एवं नायिका दोनों ही परिणय में आबद्ध होकर सुखपूर्वक गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते हैं। भारतीय प्रेम-पद्धति के उपर्युक्त स्वरूप विवेचन से इसकी निम्नलिखित विशेषताएं स्पष्ट हो जाती हैं :--

(अ) भारतीय प्रेम पद्धति में प्रथमत: नायिका का नायक में अनुरक्त होना आवश्यक होता है ।

१- दशरूपककार ने पूर्वरागजन्य विकलता की उपर्युक्त दस श्रेणियों को ही क्रमश: परिलक्षित होने वाली काम की विभिन्न दशाएं कहते हुए उनका परिगणन इस प्रकार किया है :-

'दशावस्थ: सतत्रादावभिलाषोऽथचिन्तनम् ।
स्मृतिर्गुणकथोद्वेगप्रलापोन्मादसंज्वरा: ॥
जड़ता मरणं चेति दु:सस्थं यथोत्तरम् ॥

-- द० रू० ४।५१-५२

(ब) नायिका में नायक के प्रति यह अनुराग उसके गुणों के कारण उत्पन्न होता है ।

(स) नायिका एवं नायक पूर्वानुराग की अवस्था में ही विरह की अभिलाषा आदि दस अवस्थाओं से पीड़ित रहते हैं ।

(द) अन्ततः नायिका अपना विरह-सन्देश नायक के पास भेजती है और नायिका में पहले से ही अनुरक्त नायक उसे पत्नी रूप में प्राप्त करने के लिए उपस्थित होता है ।

भारतीय प्रेम पद्धति के उपर्युक्त सामान्य स्वरूप के विवेचन के अनन्तर अब हमें यहां यह देखना है कि संस्कृत के किन-किन महाकाव्यों में पूर्वानुराग का चित्रण किया गया है और उनमें उपर्युक्त पद्धति का कहां तक आश्रय लिया गया है :--

(1) <u>कुमार सम्भव में पूर्वानुराग का स्वरूप</u>

संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में महाकवि कालिदास के युग से ही वैवाहिक सम्बन्धों के प्रसंग में नायक एवं नायिकाओं के पूर्वानुराग का वर्णन हमें देखने को मिलने लगता है । कालिदास ने पार्वती एवं शिव के विवाह के प्रसंग में पार्वती के शिव के प्रति पूर्वानुराग का चित्रण किया है । महाकाव्य के कथानक के अनुसार एक बार महर्षि नारद भ्रमण करते हुए पर्वतराज हिमालय के यहां पहुंचे और वहां हिमालय के पास आसीन पार्वती को देखकर यह घोषणा की कि पार्वती पति के रूप में देवाधिदेव शंकर को ही प्राप्त करेगी ।[१] नारद के इस

१- 'तां नारदः कामचरः कदाचित् कन्यां किल प्रेक्ष्य पितुः समीपे ।
समादिदेशैकवधूं भवित्रीं प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य ।।
--कुमार० १।५०

कथन से प्रसन्न हुए हिमालय पार्वती के विवाह से निश्चिन्त से हो गए[1] परन्तु उन्होंने स्वयं अपनी ओर से सम्बन्ध-स्थापना का प्रयास नहीं किया ।[2] सम्भवतः नारद की उपर्युक्त घोषणा से आश्वस्त होकर पार्वती भी आशुतोष के प्रति प्रेम से आसक्त हो गईं । इसी बीच भगवान् आशुतोष तपः सिद्धि के लिए हिमालय पर्वत पर आते हैं और वहीं के किसी शिखर पर धुनी रमा कर तपः साधना प्रारम्भ करते हैं ।[3] आशुतोष के हिमालय वास का समाचार प्राप्त करके पर्वतराज हिमालय स्वयं उनकी पूजा करके सखियों सहित पार्वती को भी शंकर की नियमित अर्चना करने का आदेश देते हैं ।[4] भगवान् शंकर भी प्रतिदिन पार्वती की अर्चना एवं शुश्रूषा ग्रहण करते रहते हैं ।[5] और पार्वती अवहित होकर प्रतिदिन

१- 'गुरुः प्रगल्भेऽपि वयस्यतोऽस्याः निवृतान्यवराभिलाषः ।
ऋते कृशानोर्न हि मन्त्रपूतमर्हन्ति तेजांस्यपराणि हव्यम् ।।'

--कुमार० १।५१

२- अयाचितारं न हि देवदेवमद्रिः सुतां ग्राहयितुं शशाक ।
अभ्यर्थनाभंगभयेन साधुर्माध्यस्थ्यमिष्टेऽप्यवलम्बतेऽर्थे ।।

--वही १।५२

३- स कृत्तिवासास्तपसे यतात्मा गंगाप्रवाहोक्षितदेवदारु ।
प्रस्थं हिमाद्रेर्मृगनाभिगन्धि किंचित्क्वणत्किंनरमध्युवास ।।
तत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्तिः ।
स्वयं विधाता तपसः फलानां केनापि कामेन तपश्चचार ।।

--कुमार० १।५४ एवं ५७

४- 'अनर्घ्यमर्घ्येण तमद्रिनाथः स्वर्गौकसामर्चितमर्चयित्वा ।
आराधनायास्य सखीसमेतां समादिदेश प्रयतां तनूजाम् ।।

-- वही १।५८

५- प्रत्यर्थिभूतामपि तां समाधेः शुश्रूषमाणां गिरिशोऽनुमेने ।
विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ।।

शंकर की सेवा में न्यस्त रहती है।[1] इसी बीच हिमालय पर कामोद्दीपक वसन्त का आगमन होता है और सारा वातावरण काम-मय हो जाता है।[2] ऐसे ही कामोद्दीपक वातावरण में एक दिन पार्वती भी कामोत्तेजक वस्त्रभूषा एवं अंगरागादि से अलंकृत होकर[3] भगवान शंकर की अर्चना करने के लिए उपस्थित होती है और सखियों के प्रणाम के अनन्तर[4] स्वयं शंकर को प्रणाम करती है।[5]

१- 'अवचितबलिपुष्पा वेदिसंमार्गदक्षा

नियमविधिजलानां बर्हिषां चोपनेत्री ।

गिरिशमुपचचार प्रत्यहं सा सुकेशी

नियमितपरिखेदा तच्छिरश्चन्द्रपादैः ॥

--वही १।६०

२- देखें : कुमार ३।२४-४०

३- 'अशोकनिर्भर्त्सितपद्मरागमाकृष्टहेमद्युतिकर्णिकारम् ।

मुक्ताकलापीकृतसिन्दुवारं वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती ॥

आवर्जिता किंचिदिव स्तनाभ्यां वासो वसाना तरुणार्करागम् ।

पर्याप्तपुष्पस्तबकावनम्रा संचारिणी पल्लविनी लतेव ॥

स्रस्तां नितम्बादवलम्बमाना पुनः पुनः केसरदामकाञ्चीम् ।

न्यासीकृतां स्थानविदा स्मरेण मौर्वीं द्वितीयामिव कार्मुकस्य ॥

सुगन्धिनिश्वासविवृद्धतृष्णं बिम्बाधरासन्नचरं द्विरेफम् ।

प्रतिक्षणं संभ्रमलोलदृष्टिर्लीलारविन्देन निवारयन्ती ॥'

--कुमार० ३।५३-५६

४- 'तस्याः सखीभ्यां प्रणिपातपूर्वं स्वहस्तलूनः शिशिरात्ययस्य ।

व्यकीर्यत त्र्यम्बकपादमूले पुष्पोच्चयः पल्लवभंगभिन्नः ॥

--कुमार० ३।६१

५- उमापि नीलालकमध्यशोभि विस्रंसयन्ती नवकर्णिकारम् ।

चकार कर्णच्युतपल्लवेन मूर्ध्ना प्रणामं वृषभध्वजाय ॥'

--वही ३।६२

आशुतोष उसे आशीर्वाद देने के लिए नेत्र खोलते हैं और वातावरण के प्रभाव तथा पार्वती के रूप से आश्चर्यचकित एवं ठगे से हो जाते हैं। इसी समय पार्वती उन्हें "मन्दाकिनीपुष्करबीज माला" अर्पित करती है[१] और शंकर उसे लेने के लिए हाथ आगे बढ़ाते हैं[२] और पार्वती के रूप सौन्दर्य पर मुग्ध होकर उसे देखने लगते हैं।[३] पार्वती शंकर को अपने रूप की चकाचौंध से भ्रमित होता देख उन्हें और भी अपने प्रति कामुक बनाने के लिए तिरछा मुख करके एक विशेष मुद्रा में खड़ी हो जाती है।[४] शंकर भी पार्वती के इन कामोद्दीपक कृत्यों से आकर्षित होकर तप: मार्ग से विचलित होने लगते हैं कि इसी बीच उन्हें अपनी त्रुटि का भान होता है और वह अपने हृदय के इस विकार का कारण "काम" को जानकर उसे ही नष्ट कर देते हैं।[५] पार्वती भी शिव को रिझाने के लिए अपने रूप सौन्दर्य को व्यर्थ

१- अथोपनिन्ये गिरिशाय गौरी तपस्विने ताम्ररुचा करेण।
विशोषितां भानुमतो मयूखैर्मन्दाकिनीपुष्करबीजमालाम्॥
--कुमार० ३।६५

२- प्रतिग्रहीतुं प्रणयिप्रियत्वात्त्रिलोचनस्तामुपचक्रमे च।
सम्मोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त बाणम्॥
--वही ३।६६

३- हरस्तु किंचित्परिलुप्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि॥
--वही ३।६७

४- विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन॥
--वही ३।६८

५- देखें: वही ३।६९-७२।

समझकर एकनिष्ठ हो तप: साधना में लगती है। भगवान शिव पार्वती का अपने प्रति प्रेम देखकर एवं उसकी तप: साधना से प्रसन्न होकर ब्रह्मचारी रूप धरकर उसकी परीक्षा लेने आते हैं और उसी के समक्ष शिव की निन्दा प्रारम्भ कर देते हैं।[2] पार्वती बटु के इस कृत्य से तिलमिला उठती है और बटु का चले जाने का निर्देश करती है। परन्तु बटु को जाता न देख स्वयं उठ खड़ी होती है। इसी बीच पार्वती की तप: साधना एवं अपने प्रति एकनिष्ठ प्रेम को देखकर शिव अपने आप को प्रकट कर देते हैं।[3] और उसे पत्नी रूप में ग्रहण करने की घोषणा करते हैं।[4]

१- 'तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती ।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता ।।
इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मन: ।
अवाप्यते वा कथमन्यथाद्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृश: ।।
--कुमार० ५।१-२ आदि ।

२- देखें : कुमार० ५। ६५-63

३- 'इतो गमिष्याम्यथवेति वादिनी चचाल बाला स्तनभिन्नवल्कला ।
स्वरूपमास्थाय च तां कृतस्मित: समाललम्बे वृषराजकेतन: ।।
-- वही ५।८४

४- 'अद्य प्रभृत्यवनताङ्गि । तवास्मि दास: ।
क्रीतस्तपोभिरिति वादिनि चन्द्रमौलौ ।।
अह्नाय सा नियमजं क्लममुत्ससर्ज ।
क्लेश: फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते ।।
-- वही ५।८६

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास ने शिव एवं पार्वती के इस पूर्वानुराग-वर्णन में भारतीय प्रेम पद्धति का ही अनुवर्तन किया है । 'आदौ वाच्यः स्त्रियः रागः' के अनुसार उन्होंने सर्वप्रथम पार्वती को शिव के प्रति आसक्त दिखाया है और शिव-प्राप्ति का प्रयास भी प्रथमतः उन्हीं की ओर से कराया है ।

यहां एक महत्वपूर्ण तथ्य यह अवधेय है कि कालिदास ने पार्वती या शिव में पूर्वरागजन्य विकलता की अभिलाषा आदि दसों दशाओं का स्पष्ट वर्णन नहीं किया है । फिर भी बटु वेशधारी शिव एवं पार्वती की सखी से वार्तालाप के प्रसंग में उन्होंने सखी-मुख से पार्वती की अभिलाषा[1], चिन्तन[2], ज्वर[3], गुण कथन एवं प्रलाप[4], उन्माद[5] एवं स्मृति[6] इन छः कामदशाओं

१- 'इयं महेन्द्रप्रभृतीनधिश्रियश्चतुर्दिगीशानवमत्य मानिनी ।
अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात्पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति ॥'

—कुमार० ५।५३

२- असह्यहुंकारनिवर्तितः पुरा पुरारिमप्राप्तमुखः शिलीमुखः ।
इमां हृदि व्यायतपातमक्षिणोद्विशीर्णमूर्तेरपि पुष्पधन्वनः ॥

— वही ५।५४

३- तदा प्रभृत्युन्मदना पितुर्गृहे ललाटिकाचन्दनधूसरालका ।
न जातु बाला लभते स्म निर्वृतिं तुषारसंघातशिलातलेष्वपि ॥

— वही ५।५५

४- उपात्तवर्णे चरिते पिनाकिनः सबाष्पकण्ठस्खलितैः पदैरियम् ।
अनेकशः किंनरराजकन्यका वनान्तसंगीतसखीररोदयत् ॥

— वही ५।५६

५- त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत ।
क्व नीलकंठ । व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकंठार्पितबाहुबन्धना ॥

— वही ५।५७

६- यदा बुधैः सर्वगतस्त्वमुच्यसे न वेत्सि भावस्थमिमं कथं जनम् ।
इति स्वहस्तोल्लिखितश्च मुग्धया रहस्युपालभ्यत चन्द्रशेखरः ॥

— वही ५।५८

का वर्णन किया है । पार्वती की ही तरह कवि ने शिव की कामदशाओं का वर्णन नहीं किया है । परन्तु हिमालय द्वारा शिव एवं पार्वती के विवाह-तिथि की घोषणा कर दिए जाने पर शिव को भी उस तिथि के आगमन की प्रतीक्षा में विकल दिखाकर कवि ने शिव की पूर्वराग-जन्य विकलता को ही प्रकट किया है[१]।

कुमारसम्भव में वर्णित शिव एवं पार्वती के उपर्युक्त पूर्वानुराग से कालिदास की प्रेम-सम्बन्धी कुछ निम्नलिखित मान्यताएं भी स्पष्ट हो जाती हैं :--

(i) कालिदास की दृष्टि में अनुराग या प्रेम के विषय में शारीरिक चमक-दमक का कोई महत्व नहीं होता । उनके अनुसार शारीरिक सौन्दर्य की भित्ति पर आधारित प्रेम स्थायी नहीं हो सकता क्योंकि वह नाशवान होता है । अतः शारीरिक सौन्दर्य पर लुब्ध होकर प्रेम करने वालों में जैसे-जैसे सौन्दर्य ढलता जाता है वैसे-वैसे प्रेमियों की प्रेमभावना में भी ह्रास होने लगता है । इसी तथ्य को ध्यान में रखकर महाकवि ने पार्वती के रूपाभिमान को भंग कराकर तपः साधना द्वारा उन्हें अपर्णा बनाया और उसके बाद ही उन्हें शिव की प्राप्ति करायी ।

१- पशुपतिरपि तान्यहानि कृच्छ्रादगमयदद्रिसुतासमागमोत्कः ।
कमपरमवशं न विप्रकुर्युर्विभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ।।
-- कुमार ६।९५

(ii) कालिदास के अनुसार वैवाहिक सम्बन्धों की सफलता वर एवं कन्या के समान प्रेम में ही निहित रहती है । उनकी दृष्टि में कन्या को वर के प्रति पूर्वानुराग की स्थिति से ही एकनिष्ठ होना चाहिए । इसी तथ्य को ध्यान में रखकर उन्होंने वटु रूपधारी शिव द्वारा शिवनिन्दा सुनकर पार्वती के क्रुद्ध हो जाने एवं अन्यत्र जाने को उद्यत दिखाया । क्योंकि भारतीय पर-मुख से पति-निन्दा सुनना भी पाप समझती है ।

(ii) नवसाहसांकचरित में पूर्वानुराग का स्वरूप

कुमारसम्भव के पश्चात् संस्कृत-महाकाव्यों की परम्परा में 'नवसाहसांकचरित' महाकाव्य में हमें सिन्धुराज नवसाहसांक एवं नागकन्या शशिप्रभा का विस्तृत पूर्वानुराग-वर्णन देखने को मिलता है ।

काव्य के संक्षिप्त कथानक के अनुसार आखेट के लिए वन में गए हुए नवसाहसांक एक हंस को देखते हैं । उस हंस के गले में शशिप्रभा के नाम से युक्त एक हार पड़ा था वह उसे हंस से उस हार को लेकर तथा उस पर शशिप्रभा का नाम देख उसके विषय में चिन्तित हो उठते हैं[1] और उसे देखने की उनकी इच्छा बलवती हो जाती है[2]। अन्ततः पाटला के साथ वह शशिप्रभा के पास पहुंचते हैं ।

इधर शशिप्रभा अपने मृग को बाणविद्ध देखती है उस बाण

१- देखें : नवसाहसांक० ३।६८-७१

२- ,, वही ४।१

पर नवसाहसांक का नाम देख वह उस पर आसक्त हो जाती है।[1] इसी अवसर पर नवसाहसांक के प्रति आसक्त शशिप्रभा की पूर्वराग-जन्य विकलता के क्रम में कवि ने उसके द्वारा दीर्घनिःश्वास लेने,[2] सिन्धुराज के बाण को बार-बार देखने,[3] आनन्दित होने,[4] अनुराग युक्त होने,[5] बाण पर अंकित अक्षरों को बार-बार पढ़ने,[6] राजा को बिना देखे ही सखियों से उसके नाम को सुनकर आसक्त हो जाने,[7] राजा की कल्पना मात्र से उसके कांपने[8] एवं गाढ़ानुराग व्यक्त करने,[9] माल्यवती द्वारा निर्मित सिन्धुराज के चित्र को एकटक देखने,[10] चित्र देख कर उसके व्याकुल, रोमांचित एवं कंपित हो जाने तथा स्वेदोद्गमन आदि का वर्णन किया है।[11] स्पष्ट है कि ये सभी स्थितियां पूर्वरागजन्य

१- देखें : नवसाहसांक० ६।१-५
२- ,, ,, ६।७ ६
३- ,, ,, ६।७
४- ,, ,, ६।८
५- ,, ,, ६।९
६- ,, ,, ६।१०
७- ,, ,, ६।१४
८- ,, ,, ६।१५
९- ,, ,, ६।१६
१०- ,, ,, ६।३३-३४
११- ,, ,, ६।३७-४०

विकलता की "अभिलाषा" स्थिति की ही द्योतक हैं) । राजा को साक्षात् अपने पास देख शशिप्रभा पुनः उसके प्रति चिन्तित हो उठती है । साथ ही कामासक्त भी[१]। राजा भी शशिप्रभा को देख उस पर मुग्ध एवं कामासक्त हो जाते हैं । राजा उससे अपना यथोचित आतिथ्य न करने की शिकायत करते हैं साथ ही अपना बाण वापस माँगते हैं[२]। इसी बीच शशिप्रभा का हरण हो जाता है और नवसाहसांक उसके वियोग से व्याकुल हो उठते हैं । यहाँ कवि ने उनके संताप, विरह-व्यथा से म्लानवदन होने एवं उसके पौनः पुन्येन स्मरण करने का वर्णन किया है[३]। अन्ततः नर्मदा से वज्रांकुश की प्रतिज्ञा सुन वह उसे पूर्ण करके वज्रांकुश के उद्यान से स्वर्णकमल लाने का निश्चय करता है[४]। वह तोते से शशिप्रभा के पास अपना सन्देश भेजकर धैर्य धारण करने का अनुरोध करते हैं ।[५] इधर स्वप्न में शशिप्रभा को देख वस्तुतः उसकी चिन्ता में डूब जाते हैं और निद्राबाधा, दीर्घ निःश्वास आदि से पीड़ित हो उठते हैं[६]। इसी बीच

१- यहाँ कवि ने पुनः शशिप्रभा की रोमांच आदि दशाओं का वर्णन किया है
देखें : नवसाहसांक० सप्तम सर्ग

२ देखें : वही ७।४४-४७ एवं ७।५७

३- ,, वही ८।१७-२७

४- ,, वही ९।४२-४४ एवं ६७

५- ,, ,, १०।५९-६९

६- ,, ,, १२।१-१४, एवं १५ ।७९

उन्हें शशिप्रभा का पत्र मिलता है जिसमें उसके काम-ज्वर, उन्माद, उद्वेग आदि का व्याख्या देते हुए शीघ्र ही स्वर्ण कमल लाकर अपनाने का अनुरोध किया गया है[1]। राजा पाटल्य को आश्वासन देकर विदा करते हैं तथा अन्त में वज्रांकुश के उद्यान से स्वर्णकमलों को लाकर उसे अपनी पत्नी बनाने में सफल होते हैं[2]।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि महाकवि पद्मगुप्त ने भी पूर्वानुराग के वर्णन में शास्त्रीय परम्परा का ही अनुवर्तन किया है। हाँ यह अवश्य है कि उन्होंने पूर्वोक्त काम की दसों दशाओं का पूरा वर्णन नहीं किया है।

(1.8)- विक्रमांकदेवचरित में पूर्वानुराग का स्वरूप

नवसाहसांकचरित के पश्चात् विक्रमांकदेवचरित महाकाव्य में भी हमें पूर्वानुराग का वर्णन देखने को मिलता है। संक्षिप्त कथानक के अनुसार विक्रमांकदेव कल्याणपुर में निवास कर रहे थे[3] कि इसी बीच वसन्त ऋतु आ जाती है। कामोद्दीपक इस ऋतु से राजा का मन

१- देखें : नवसाहसांक० १६।२३।४६

२- ,, वही सर्ग १७-१८

३- ,, विक्रमांक० ७।१२

स्तुतिपाठक विरहव्याकुला सहस्त्रों कामिनियों द्वारा प्रेषित प्रेमपत्रों के वाचन से बहलाने एवं उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास करने लगे ।[1] इसी अवसर पर राजा को दूत के मुख से ही करहाट देश की पुत्री चन्द्रलेखा के स्वयंवर-महोत्सव का समाचार मिलता है[2] और दूत इसी प्रसंग में राजा के समक्ष चन्द्रलेखा के विस्तृत नखशिख का वर्णन प्रस्तुत करता है ।[3] चन्द्रलेखा के इस रूपसम्पत्ति को सुनकर राजा उसके प्रति अनुराग युक्त[4] एवं कामासक्त हो जाते हैं ।[5] चन्द्रलेखा की विरहव्यथा

१- "विरहविधुरकामिनीसहस्त्र- प्रहितमनोभवलेखसूचितार्थैः ।
सुरभिमधुरवर्णरत्नगुम्फैरिति नृपतेरथ बन्दिनः प्रमोदम् ।।"
-- वही ७।७७

२- "यथास्ति विजयस्तम्भ - प्रशस्तिरिव मान्मथी ।
करहाटपतेः पुत्री त्रिजगन्नेत्रकार्मणम् ।।
विद्याधर कुमारी सा गौरीदयितसाधनात् ।
कृते कस्यापि कुरुते स्वयंवरमहोत्सवम् ।।"
-- वही ८।२-३

३- देखें : विक्रमांक ८।४-८८

४- "इत्थं कर्णरसायनं कृतवतः कर्णाटपृथ्वीपते
राकृष्टस्य कुतूहलेन पुनरप्याकांक्षतस्तत्कथाम् ।।
प्राप्तः पार्श्वममुष्य पल्लवयितुं तामेव वार्तां पुनः
शिंजाताडनचंचलभ्रुलतिका ऽ कृपनः स्मरः ।।
--वहीं ८।८९

५- "विजृम्भमाणे ऽथ पंचबाणकोदण्डसिंजानघनगर्जितेषु ।
विलासिनी मानसमाविवेश सा राजहंसीव नरेश्वरस्य ।।
चिन्ते पदे चारुदृशा, विशन्त्या बालप्रवालप्रतिमल्लभासि ।
चेतः क्षितीन्दोः स्फटिकावदातमुपाधियोगादिव रक्तमासीत् ।।"
--वहीं ९।१-२ इसी प्रकार देखें वही ३-४

से पीड़ित विक्रमांक उसके प्रति सतत चिन्तन के कारण पाण्डुता को प्राप्त होने लगते हैं [१] और उनका किसी भी कार्य में मन नहीं लगता । [२] चन्द्रलेखा उनके प्रति आसक्त होगी या नहीं ? विक्रमांक को यही चिन्ता सतत सताने लगी । [३] चन्द्रलेखा के प्रति प्रेम से आसक्त विक्रमांक दीर्घनि:श्वास लेने लगा । [४] इसके अनन्तर विक्रमांक सुख से रहित होकर चन्द्रलेखा का ही सतत चिन्तन करने लगा । [५] और उसका मन अन्त:पुर की अन्य सुन्दरियों के प्रति निर्विकार हो गया । [६] विक्रमांक

१- 'निजप्रभानिह्नुतचन्द्रभासा प्रभातकल्पेव परिस्फुरन्त्या ।
तया समानीयत पाण्डिमानं चालुक्य भूपालकुलप्रदीप: ॥
-- वही ६।६

२- 'शृंगाररत्नाकरवेलयेव तया प्रवेशे विहिते तरुण्या ।
नवानुरागेण मनस्तदीयं रत्नोत्करेणेव समाप्यमासीत ॥'
--वही ६।७

३- 'असौ भविष्यी सुभगा मनः: करिष्यते पंचशर: प्रसादम् ।
आन्दोलितो भूदिति चिन्तयासौ त्रैलोक्यचिन्ताहरणक्षमोऽपि ।'
--वही ६।८

४- 'यथा यथा नि:श्वसितस्य राजा निरङ्कुशं कारयन्विवर्णयच्च ।
तथा-तथा बाणरयन्धनुर्ज्यां भेजे क्षमास्यां भगवाननंग: ॥
--वही ६।६

५- जाते धरित्रीतिलके चिरेण प्रकोपपात्रे मकरध्वजस्य ।
प्रकाशयन्ती पतिव्रतात्वं पराङ मुखी तत्र रतिर्बभूव ॥
-- वही ६।१०

६- 'उर्वीपते: पार्वणचन्द्रवक्त्रा सानुप्रवहन्ती हृदये निवासम् ।
विकासवीथामपरांगनानां सरोजिनीनामिव संजहार ॥
नितम्बबिम्बस्य नितम्बवत्या: प्रकामविस्तारविशालितस्य ।
पृथ्वीपतेरङ्गनाधिकापि न कापि लेभे हृदयेऽवकाशम् ॥
-- वही ६।११-१२

विक्रमांक की चन्द्रलेखा के प्रति आसक्ति का-जाहिर हो गयी ।[१] वह चन्द्रलेखा के विरह में अपने कर्णों पर से भ्रंशित होने वाले ताड़ के पत्रों को प्रिया का प्रेम-पत्र समझने लगा,[२] आकाशवाणी ही उसकी प्रिया का शायद कुछ सन्देश सुनाए इस आशा से आकाश की ओर ही उन्मुख रहने लगा[३] और वह चित्र में ही प्रिया का साहचर्य-सुख ढूंढने लगा[४] (विक्रमांक द्वारा, कर्णपत्रों को प्रेमपत्र समझना, आकाशवाणी से प्रिया के सन्देश की संभावना करना, एवं चित्र में ही प्रिया के साहचर्य-सुख की आशा करना आदि, दशरूपककार द्वारा कथित 'पूर्वानुराग' की 'उद्वेग' की स्थिति के ही परिचायक हैं) । वह कामज्वर से पीड़ित हो उठता

१- 'नितान्तमेकान्तनिषेवणेन द्वेषेण चान्तःपुरसुन्दरीषु ।
प्रच्छादनार्थं विहितत्राणोऽपि क्षोणीपतिस्ताडितडिण्डिमोऽभूत ।।
-- वही ६। १३

२- 'ताडीदले कर्णपरिच्युतेऽपि कन्दर्पलेखभ्रममाससाद ।
उत्तंसमागच्छति षट्पदेऽपि प्रत्याशया कर्णमदत्त देव: ।।
-- वही ६।१४

३- 'आकाशगर्भां गिरमाकांक्षा विलोकयामास दिशामभिति: ।
तदीयवार्ताश्रवणाभिलाषात् कृतार्थितां प्राप न पार्थिवेन्द्र: ।।
-- वही ६।१५

४- 'सा कीदृशीति चिन्तितमानसस्य कुतूहलेनोत्तरलीकृतस्य ।
आलिख्य चेत: फलके मनोभूरदर्शयत्सायकतूलिकाभि: ।।
-- वही ६।१६

है और अर्द्धमूर्च्छित सा हो जाता है ।[1] सतत् चिन्तन के कारण स्वप्न में भी प्रिया चन्द्रलेखा को अपने पास ही देखने लगता है ।[2] उसे प्रिया के सतत् चिन्तन के कारण नींद भी नहीं आती ।[3] अन्तत: वह अपनी विरह-व्यथा का सन्देश एक दूत के द्वारा प्रिया चन्द्रलेखा के पास भिजवाता है । दूत वापस आकर [4] चन्द्रलेखा को भी विक्रमांकदेव में ही आसक्त बताता है ।[5] इस अवसर पर दूत, चन्द्रलेखा की विक्रमांक के प्रति दृढ़ कामासक्ति,[6] उसके विरह के कारण चन्द्रलेखा

१- 'अचिन्तनीयं तुहिनद्रवाणां श्रीखण्डवापीपयसामसाध्यम् ।
अधूमधूमध्वजपत्रिषु पारसीक- लेलाग्निमेतस्य कृते मनोभूः ।।
श्रान्ते च निद्रालसलोचने च शून्ये च चेतस्यरिषून् विमुंचन्
न तत्र चित्रं गणयाम्बभूव चापक्रमस्य चातिमेकवीरः ।।'
--वही ९।२०-२१

२- 'लग्नामिवाग्रे लिखितामिवाग्रे चक्रमेणैव परिभ्रमन्तीम् ।
स्वापेषु लब्धक्षणमात्रनिद्रस्तामेव राजीवमुखीं ददर्श ।।
--वही ९।२३

३- 'चन्द्रातपाच्चन्दनपंकवापीं ततस्तयस्यादपि तां जगाम ।
तस्यैति वक्तव्यः स्मरतापितस्य गतागतैरेव गतास्त्रियामा ।।'
--वही ९।२४

४- 'श्रोत्रामृतस्य स्फटिकप्रणालीं दिव्याम्बुधारां स्मरपातकस्य ।
वार्तां गृहीत्वा हरिणेक्षणायाश्चरः समागादुदयाकाम् ।।
--वही ९।२५

५- 'अनन्यजा नेत्रचकोरतृप्तिपुण्याभिमानिमनंगशस्त्रम् ।
रागस्य लोकत्रयरंजनाय चिह्नं विद्याधरराजकन्या ।।
अकृत्रिमा गुणपक्षपाताद् विधेः कलायोग्यकुतूहलाढ्या ।
देव त्वदाकर्णनमात्रकेण सा त्वन्मयं पश्यति जीवलोकम् ।।'
-- वही ९।२७-२८

६- 'अपारसारापुरगता पृथुलोकलज्जानिभिन्न मग्नं वपुरुत्कलाढ्या: ।
लब्धेषु लब्धः कुसुमायुधेन बाणाग्रघूर्णेषु परः प्रकर्षः ।।
-- वही ९।२९

द्वारा पाण्डुता की प्राप्ति[१] अपनी उपेक्षा की भावना,[२] कृशता प्राप्ति[३] एवं उसकी विकलता आदि का उल्लेख करता है ।[४] अन्ततः (सम्भवतः चन्द्रलेखा के अनुरोध से) दूत विक्रमांकदेव से चन्द्रलेखा के स्वयंवर में जाने का

१- "तथा गता चम्पकदामगौरी शरीरयष्टिः कृशतां कृशांग्याः ।
यथा गलच्चापमनोरथोऽस्यां मौर्वीलितास्थां मदनः करोति ।।
--विक्रमांक ६।३०

२- "नूनं स्मरः सौगतदर्शनोत्थं रहस्यमस्याः कथयाम्बभूव ।
त्वया विना व्यर्थमनोरथा यदात्मन्यथकां प्रकटी करोति ।।"
-- वही ६।३१

३- "दूरं गता कार्मुकवल्लिवार्ता तस्यास्तनुं तन्वकृशां वदन्त्या ।
नितान्तम्प्राणतया मृणाली शिंजापि जाता न मनोभवस्य ।।
प्राप्ता तथा तानवमंगयष्टिस्त्वद्विप्रयोगेण कुरंगदृष्टेः ।
यते गृहस्तम्भनिवर्तनेन कम्पं यथा श्वासकमीरणेन ।।"

-- वही ६।३२-३३

४- "वातायनाद् गच्छति चित्रवेश्म तस्मात्कुसुमान्तं वलभीं ततोऽपि ।
एकत्र न क्वापि पदं करोति सा मन्मथास्कन्दविशंकितेव ।।
-- वही ६।३५

अनुरोध करता है ।[१] और इस प्रकार अन्त में विक्रमांक स्वयंवर के लिए प्रस्थान करता है ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि "विक्रमांकदेवचरित" महाकाव्य में विक्रमांक एवं चन्द्रलेखा के पूर्वानुराग के वर्णन में महाकवि बिल्हण ने थोड़े बहुत परिवर्तनों के साथ भारतीय प्रेम पद्धति का ही आश्रय लिया है । इस प्रसंग में यहां इतना ध्यातव्य है कि महाकवि बिल्हण ने विक्रमांक की चन्द्रलेखा के प्रति आसक्ति का पहले वर्णन किया है जबकि "आदौ वाच्य: स्त्रिय: राग:" के अनुसार नायिका का नायक में अनुराग पहले दर्शाया जाना चाहिए ।

१- "आज्ञापित: स्वप्नविधौ हरेण स्वयंवरोऽस्या: क्रियतां त्वयेति ।
तस्या: पिता कस्याचिदर्थिभावं न भूमिभर्तु: सफलं विधत्ते ।।
पिता तदीयस्त्वयि सान्द्रराग: किं प्रार्थनाभंगभयान्न वक्ति ।
भवादृशानां प्रणयं हि लब्ध्वा प्रयान्ति कन्या: कुलभूषणत्वम् ।।
स्वयंवरस्यावसरोऽपि जात: प्रसीद भूपाल कुरु प्रयाणम् ।
असौ जयश्रीरिव ते द्वितीया स्वानि विनिर्धूय वधूत्वमेतु ।।"

--वही ६।३६-३७-३८

(v) 'नैषध' में पूर्वानुराग का स्वरूप

संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में 'नवसाहसांक चरित' के अनन्तर 'नैषधीय चरित' महाकाव्य में हमें नल एवं दमयन्ती के विवाह के प्रसंग में 'पूर्वानुराग' का विस्तृत एवं शास्त्रीय विवेचन देखने को मिलता है ।

महाकाव्य के कथानक के अनुसार महाराज भीम की पुत्री दमयन्ती अपने दरबार में उपस्थित चारणों, बन्दियों एवं कथादि प्रसंगों से निषध देश के राजा नल के रूपसौन्दर्य एवं विभिन्न गुणों का श्रवण करके उनके प्रति पूर्णरूप से अनुराग-युक्त एवं कामासक्त हो गई थी ।[1] और नल-विरह-पीड़िता दमयन्ती इसी आसक्ति के कारण पिता के पास बन्दियों के मुख से पौनः पुन्येन नल की प्रशंसा सुनकर रोमांचित हो जाती थी[2]। सखियों से वार्तालाप के समय घास का भी नल नाम सुनकर वह चौंक पड़ती थी ।[3] और फिर भी उपमान रूप में वह नल को ही रखवाती थी ।[4] निषध देश से आए

१- नृपेऽनुरूपे निजरूपसम्पदां दिदेश तस्मिन् बहुशः श्रुतिं गते ।
विशिष्य सा भीमनरेन्द्रनन्दना मनोभवाज्ञैकवशंवदं मनः ।।
--नैषध० १।३३

२- 'उपासनामेत्य पितुस्स्म रज्यते दिने-दिने सावसरेषु बन्दिनाम् ।
पठत्सु तेषु प्रति भूपतीनलं विनिद्ररोमाजनि शृण्वती नलम् ।।
-- वही १।३४

३- कथाप्रसंगेषु मिथस्सखीमुखात्तृणे ऽपि तन्व्या नलनामनि श्रुते ।
द्रुतं विधूयान्यदभूयतानया मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया ।।
-- वही १।३५

४- स्मरात्परासोरनिमेषलोचनाद्बिभेमि तद्भिन्नमुदाहरेति सा ।
जनेन यूनः स्तुवता तदास्पदे निदर्शनं नैषधमभ्यषेचयत ।।
-- वही १।३६

हुए दूत द्विज एवं बन्दियों तथा चारणों के मुख से नल के गुणों की प्रशंसा सुनकर वह विमनस्क हो जाती थी[1] और विरह की ज्वाला के परिशमन एवं नल के काल्पनिक साहचर्य सुख के लिए वह चित्रकारों से चित्रभित्ति पर सुन्दर युगल बनवाने के व्याज से अपना और नल का ही चित्र बनवाती थी ।[2] (दमयन्ती की उपर्युक्त क्रियाएं दशरूपककार द्वारा विवेचित दश कामदशाओं में से अभिलाष एवं गुणकथन की द्योतक हैं)। नल के विषय में ही सतत् विचार करने के कारण वह स्वप्न में भी नल को ही पाती और उन्हें अपना पति बनाती ।[3] वह बार-बार नल की प्रशंसा को ही सुनती, मोहवश चित्र में भी उन्हें ही देखती तथा उनके ही ध्यान में लीन रहती[4] (दमयन्ती के ये कार्य भी चिन्ता, स्मृति एवं गुणकथन, काम की इन तीन स्थितियों के ही द्योतक हैं)।

१- 'नलस्य पृष्टा निषधागता गुणान् मिषेण दूतद्विजबन्दिचारणाः ।
निपीय तत्कीर्तिं कथामथानया चिराय तस्थे विमनायमानया ॥
--नैषध० १।३७

२- 'प्रियं प्रियां च त्रिजगज्जयिश्रियौ लिखाधिलीलागृहभित्ति कावपि ।
इति स्म सा कारुवरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते ॥
-- वही १।३८

३- 'मनोरथेन स्वपतीकृतं नलं निशि क्व सा न स्वपती स्म पश्यति ।
अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदर्शनातिथिम् ॥
-- वही १।३९

४- 'श्रुतश्च दृष्टश्च हरित्सु मोहाद् ध्यातश्च नीरन्ध्रितबुद्धिधारम् ।
ममाद्य तत्प्राप्तिरसुव्ययो वा हस्ते तवास्ते द्वयमेकशेषः ॥
-- वही ३।८२

दमयन्ती के नल विषयक अनुराग की इस प्रारम्भिक स्थिति के अनन्तर ही हंस का आगमन होता है। हंस भी अपने वार्तालाप कौशल से दमयन्ती के नलविषयक अनुराग को और भी दृढ़ कर देता है। अनुराग की इस दृढ़ता के कारण ही दमयन्ती नल को पाने के लिए अपने प्राणों की बाजी भी लगाने को तैयार हो जाती है[1] और वह अपनी इस स्थिति को नल से बताने के लिए हंस से विनम्र शब्दों में निवेदन करती हुई कहती है कि हे पक्षिराज! आप मेरी इस स्थिति का परिज्ञान महाराज नल को तभी करायें जबकि वह रानियों के मध्य में न हों[2] अन्तःपुर की रानियों से सम्भोग करने के कारण सन्तोष की स्थिति में न हों,[3] किसी कारण विशेष से क्रोध की मुद्रा में न हों[4] और न ही किसी दूसरे कार्य में आसक्त हों।[5] दमयन्ती का उपर्युक्त कथन जहां उसकी बुद्धिमत्ता का परिचायक

१- 'इत्यात्मजीवं त्वयि जीवदे पि शुष्यामि जीवाधिकहेतुकेन ।
विधेहि तन्वा त्वदुरेऽन्यशोकसमुद्रवारिप्रशमानुकम्पनाम् ॥
-- नैषध० ३।८६ एवं इसी प्रकार ३।८७

२- 'अभ्यर्थनीयस्स गतेन राजा त्वया न शुद्धान्तगतो मदर्थम् ।
प्रियास्यदाक्षिण्यबलात्कृतो हि तदोदयेदन्यवधूनिषेधः ॥'
-- वही ३।९२

३- 'शुद्धान्तसम्भोगनितान्ततुष्टे न नैषधे कार्यमिदं निगाद्यम् ।
अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुस्सुगन्धिः स्वदते तुषारा ॥
-- वही ३।९३

४- 'विज्ञापनीया न गिरो मदर्थाः क्रुधा कदुष्णे हृदि नैषधस्य ।
पित्तेन दूने रसने सिताऽपि तिक्तायते हंसकुलावतंस ॥
-- वही ३।९४

५- 'धरातुरासाहि मदर्थयाञ्चा कार्या न कार्यान्तरचुम्बिचित्ते ।
तदाऽर्थितस्यानवबोधनिद्रा बिभर्त्यवज्ञाचरणस्य मुद्राम् ॥'
-- वही ३।९५

है वहीं नलप्राप्ति विषयक उद्वेग का भी द्योतक है) । हंस के चले जाने के बाद दमयन्ती और भी नल-विरह-व्याकुला हो उठती है ।[1] वह नल के विषय में जितना ही सोचती है उसका ताप उतना ही और बढ़ता जाता है [2](यहां ताप से तात्पर्य काम ज्वर से है) । इस काम-ज्वर के लक्षण दमयन्ती के शरीर पर प्रकट हो गए ।[3] अब उसकी आंखों से निरन्तर अश्रुधार ही बहने लगा ।[4] नल के विरह के सहन शक्ति से परे होने के कारण वह दीर्घ निःश्वास लेने लगी[5] उन्मादवश उसे सर्वत्र नल ही दिखाई पड़ने लगे[6](ये स्थितियां काम-

---

१- 'अथ नलस्य गुणं गुणमात्मभूः सुरभि तस्य यशः कुसुमं धनुः ।
श्रुतिपथोपगतं सुमनस्तया तमिषुमाशु विधाय जिगाय ताम् ।।'
--नैषध० ४।१

२- 'यदतनुज्वरभाक्तनुते स्म सा प्रियकथासरसीरसमज्जनम् ।
सपदि तस्य चिरान्तरतापिनी परिणतिर्विषमा समपद्यत ।।
-- वही ४।२

३- देखें : वही ४।६ से १२

४- 'हृदि दमस्वसुरश्रुकरप्लुते प्रतिफलद्विरहात्मुखानतेः ।
हृदयमाक्षराख्य चुम्बितं नलमुपेत्य किलागमितं मुखम् ।।
-- वही ४।१३

५- 'सुहृदमग्निमुदन्वयितुं स्मरं मनसि गन्धवहेन मृगीदृशः ।
अकलि निःश्वसितैर्विनिर्गमानुमितनिह्नुतवेशनमायिता ।।
-- वही ४।१४

६- 'विरहपाण्डिमरागतमोमषीशितिमतन्मिजयीतिम वर्णकैः ।
बत दिशः खलु तद्दृगकल्पयल्लिपिकरी नलरूपकचित्रिताः ।।
--वही ४।१५

विकलता की 'उन्माद' नाम की स्थिति की द्योतक हैं)। विरह-पीड़िता दमयन्ती बार-बार चन्द्रमा तथा मदन को ही उलाहना देने लगी[1] (ये 'प्रलाप' के द्योतक हैं) और अन्ततः विरह पीड़िता वह सखियों के साथ वार्तालाप करते हुए मूर्च्छित हो उठती है।[2] इस समाचार को सुनकर महाराज भीम दमयन्ती के पास आते हैं और उसके होश आने पर वह घोषणा करते हैं कि दमयन्ती शीघ्र ही स्वयंवर में अपने प्रिय एवं मनोवांछित पति को प्राप्त करेगी।[3] और इस घोषणा के साथ ही वह दमयन्ती के उचित उपचार कराए जाने का भी आदेश देते हैं।[4]

दमयन्ती के साथ ही महाकवि श्री हर्ष ने नल को भी दमयन्ती-विरह में समान रूप से पीड़ित दिखाया है। महाराज नल ने भी लोगों के मुख से दमयन्ती के गुणों को सुना[5] और वह उस पर आसक्त हो गए।[6] दमयन्ती के

१- देखें : नैषध० ४।४३-७३ एवं ४।७४-९९

२- 'इदमुदीर्य तदैव मुमूर्च्छ सा मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका।
क्व सहतामवलम्बलवच्छिदामनुपपत्तिमतीमपि दुःखिता ॥
-- वही ४।११०

३- व्यतरदथ पिताशिषं सुतायै नतशिरसे मुहुरुन्नमय्य मौलिम् ।
दयितमभिमतं स्वयंवरे त्वं गुणमयमाप्नुहि वासरैः कियद्भिः ॥
-- वही ४।११६

४- तदनु स तनुजासखीवदीपुच्छितकृती गत एव ह्रीपृष्ठीनाम् ।
कुसुममपि शरायते शरीरे तदुचितमाचरतोपचारमस्याम् ॥
-- वही ४।१२०

५- 'स्वकान्तिकीर्तिव्रजमौक्तिकस्रजः श्रयन्तमन्तर्घटनागुणश्रियम् ।
कदाचिदस्या युवधैर्यलोपिनं नलो ऽपि लोकादशृणोद् गुणोत्करम् ॥
-- वही १।४२

६- 'तमेव लब्ध्वावसरं ततः स्मरः शरीरशोभाजयजातमत्सरः ।
अमोघशक्त्या निजयैव मूर्तया तया विनिर्जेतुमियेष नैषधम् ॥
--वही १।४३। इसी प्रकार देखें :१।४४-४७

प्रति इस दृढ़ कामासक्ति के कारण शीघ्र ही नल, दमयन्ती की सतत् चिन्ता के कारण निद्रा से हाथ धो बैठे ।[1] वह सतत् दीर्घ उष्ण निःश्वास लेने लगे और पाण्डुता को प्राप्त होने लगे ।[2] वह अपने आप ही उन्मत्त की तरह दमयन्ती से बातें करने लगे और संगीत-सभाओं में मूर्च्छित होने लगे ।[3] इस प्रकार उनकी दमयन्ती विषयक आसक्ति का आविर् हो गयी ।[4] अन्ततः अपनी कामासक्ति के चिह्नों के गोपनार्थ एवं विरह के शमन के लिए नल उपवन-विहार के लिए जाते हैं परन्तु उपवन-विहार से पीड़ा और बढ़ जाती है । वहां भी अनार के फलों में उन्हें दमयन्ती के स्तन-द्वय[5] ही दिखाई पड़ने लगा ।

१- अपह्नुवानस्य जनाय यन्निजामधीरतामस्य कृतं मनोभुवा ।
अबोधि तज्जागरदुःखसाक्षिणी निशा च शय्या च शशाङ्ककोमला ॥
-- वही १।४९

२- मृषाविषादाभिनयादयं क्वचिज्जुगोप निःश्वासततिं वियोगजाम् ।
विलेपनस्याधिकचन्द्रभागताविभावनाच्चापललाप पाण्डुताम् ॥
--नैषध० १।५१

३- शशाक निह्नोतुमनेन तत्प्रियामयं बभाषे यदलीकवीक्षिताम् ।
समाज एवालपितासु वैणिकैर्मुमूर्छ यत्पञ्चममूर्छनासु च ॥
-- वही १।५२

४- अवाप सापत्रपतां स भूपतिर्जितेन्द्रियाणां धुरि कीर्तितस्थितिः ।
असंवरे शम्बरवैरिविक्रमे क्रमेण तत्र स्फुटतामुपेयुषि ॥
-- वही १।५३

५- विदर्भसुभ्रूस्तनतुङ्गताप्तये घटानिवापश्यदलं तपस्यतः ।
फलानि धूमस्य धयानधोमुखान् स दाडिमे दोहदधूपिनि द्रुमे ॥
-- वही १।८२

इसी बीच उपवन में ही नल एक हंस को पकड़ लेते हैं और उसके विनम्र एवं करुण निवेदन को सुनकर छोड़ भी देते हैं। नल द्वारा विनिर्मुक्त हंस भी प्रत्युपकार-भाव से नल के समक्ष विदर्भराज भीम की पुत्री दमयन्ती के नख-शिख का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करते हुए[1] यह विचार व्यक्त करता है कि दमयन्ती उसके ही विवाह के योग्य है।[2] परन्तु इस प्रसंग में वह यह भी कहता है कि दमयन्ती के साथ उसका विवाह कोई सरल कार्य नहीं है।[3] और इस कार्य को पूर्ण कराने की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेते हुए कहता है कि अब मैं यहां से जाकर दमयन्ती के समीप आपकी वैसी ही प्रशंसा करूंगा जिससे कि वह आपके प्रति पूर्णतया अनुरक्त हो जाय और उसके हृदय में आपके अतिरिक्त अन्य किसी को भी स्थान न मिले।[4] हंस के इस कथन तथा उसके मुख से विनिःसृत दमयन्ती के गुण एवं सौन्दर्य वर्णन से व्याकुलचित्त नल कह ही उठते हैं कि तीनों लोकों को मोहित करने के लिए महौषधि रूपिणी उस दमयन्ती को मैंने लोगों से सैकड़ों बार सुना है तथा तुम्हारे वर्णन से तो वह मुझे साक्षात् सामने ही

१- देखें : वही २।१६-४०

२- 'सदृशी तव शूर! सा परं जलदुर्गस्थमृणालजिष्णुना।
अपि मित्रजुषां सरोरुहां गृहयालुः करलीलया श्रियः॥
--वही २।२६। इसी प्रकार देखें : २।४१,४५

३- अनयाऽमरकाम्यमानया सह योगः सुलभस्तु न त्वया।
घनसंवृतयाऽम्बुदागमे कुमुदेनेव निशाकरत्विषा॥
-- वही २।४६

४- 'तदहं विदधे तथा तथा दमयन्त्याः सविधे तव स्तवम्।
हृदये निहितस्तथा भवानपि नेन्द्रेण यथाऽपनीयसे॥
-- वही २। ४७

दिखाई पड़ रही है ।[१] और हंस से अपनी दमयन्ती-विरह की पीड़ा कह डालते हैं [२] इस विरह-पीड़ा के शमन का उपाय दमयन्ती-प्राप्ति मानते हुए वह हंस से इस कार्य में अवलम्बन बनने का आग्रह करते हुए[३] उसे अपनी विरह-पीड़ा का सन्देश दमयन्ती तक पहुंचाने का निवेदन करते हैं । दमयन्ती के पास पहुंचकर एवं उसे नल के प्रति आसक्त देखकर हंस विरह-पीड़ित नल का पूरा स्वरूप ही उपस्थित कर देता है । उसके अनुसार नल भी दमयन्ती के विरह में उतना ही पीड़ित है जितना कि दमयन्ती ।[४] इस अवसर पर वह दमयन्ती को नल की एकनिष्ठता का परिचय देते हुए कहता है कि नल का चित्त तुममें इस प्रकार लीन है कि उसकी सारी बाह्येन्द्रियां अपने विषयों का भी ग्रहण नहीं कर सकती, मानो उन्होंने उपवास का व्रत ले रखा है । अब तुम्हें पाकर उन्हें अमृतपान का सुख मिलेगा । राजा देवांश है ही इस अमृतपान से उसका देवांशत्व भी चरितार्थ हो जाएगा ।[५] इसके अनन्तर हंस दमयन्ती के सम्मुख नल की, कामशास्त्र में

१- शतशः श्रुतिमागतैव सा त्रिजगन्मोहमहौषधिर्मम ।
अधुना तव शंसितेन तु स्वदृशैवाधिगतामवैमि ताम् ।।
-- वही २।५४

२-. देखें : वही २।५५-५६

३- 'तदिहानवधौ निमज्जतो मम कन्दर्पशराम्बुराशौ ।
भवपोत इवावलम्बनं विधिनाऽकारि मिलन्नुपस्थितिः ।।
-- वही २।६०

४- 'इदं यदि क्ष्मापतिपुत्रि ! तत्त्वं पश्यामि तन्न स्वविधेयमस्मिन् ।
त्वामुच्चकैस्तापयता नलं च पञ्चेषुणैवाय्वजनि योजनेयम् ।।'
--वही ३।१००

५- त्वदवदनुदेवीहिरिन्द्रियाणां तस्योपवासव्रतिनां तपोभिः ।
त्वामद्य लब्ध्वाऽमृततृप्तिभाजां स्व देवभूयं चरितार्थमस्तु ।।
--वही ३।१०१

कथित दसों दशाओं का वर्णन करते हुए[1] क्रम से उनके नयन-प्रीति[2] चिन्तासक्ति[3] संकल्प[4], निद्रानाश[5], कृशता प्राप्ति[6] विषयनिवृत्ति[7] त्रपानाश,[8] उन्माद,[9]

१- 'रति रहस्य' नामक कामशास्त्र के एक प्रसिद्ध ग्रन्थ में काम की दस दशाओं का इस उल्लेख किया गया है --

'नयनप्रीति: प्रथमं चित्तासंगस्ततोऽथ संकल्प: ।
निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाश: ॥
उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येता: स्मरदशा दशैव स्यु: ॥'
नैषध. ३।१०३ पर हरगोविन्द की टीका

२- पातुर्दृशा लेख्यमयीं नृपस्य त्वामादरादस्तनिमीलिकाऽस्ति ।
ममेदमित्यश्रुणि नेत्रपूरै: प्रीतेर्निमेषच्छिदया विवाद: ॥

--वही ३।१०४

३- 'त्वं हृद्गता भैमि । बहिर्गताऽपि प्राणायिता नासिकयाऽस्य गत्या ।
न चित्तमाक्रामति तत्र चित्रमेतन्मनो यद्भवदेकवृत्ति ॥

--वही ३।१०५

४- 'अजस्रमारोहसि दूरदीर्घां संकल्पसोपानततिं तदीयाम् ।
श्वासान स वर्षत्यधिकं पुनर्यद्ध्यानात्तव त्वन्मयतामवाप्य ॥

-- वही ३।१०६

५- स्थितस्य रात्रावधिशय्य शय्यां मोहे मनस्तस्य निमज्जयन्ति ।
आलिंग्य यां चुम्बति लोचने सा निद्राऽधुना त्वदृतेऽङ्गना वा ॥

-- वही ३।१०८

६- स्मरेण निस्तक्ष्य वृथैव बाणैर्लावण्यशेषां कृशतामनायि ।
अनंगतामप्ययमाप्यमान: स्पर्धां न सार्धं विजहाति तेन ॥
-- वही ३।१०९

७- देखें : वही

८- त्वत्प्रापकात्त्रस्यति नैनसोऽपि त्वय्येव दास्येऽपि न लज्जते यत् ।
स्मरेण बाणैरतितीक्ष्ण तीक्ष्णैर्लून: स्वभावोऽपि कियान् किमस्य ॥
-- वही ३।११०

९- 'बिभेति रुष्टासि किलेत्यकस्मात्स त्वां किलोपेत्य हसत्यकाण्डे ।
यान्तीमिव त्वामनुयात्यथैतो रुषतस्त्वयैव प्रतिवक्ति मोघम् ॥
-- वही ३।११२

मूर्च्छा[1] और निषेधात्मक मृत[2] अवस्था आदि दस अवस्थाओं का वर्णन करता है। दमयन्ती को नल की उपर्युक्त स्थिति का परिज्ञान कराकर और उससे नल विषयक सन्देश लेकर हंस पुन: उसी सरोवर पर लौट आता है जहां से वह गया था और वहां वह देखता है कि नल, दमयन्ती के विरह में अधीर होकर उसकी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं।[3] हंस नल से दमयन्ती का सन्देश कहता है और नल बार-बार उससे वही सन्देश सुनाने का आग्रह करते हैं।[4]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाकवि श्रीहर्ष ने नल एवं दमयन्ती के पूर्वानुराग के वर्णन-प्रसंग में दोनों का ही

१- भवद्वियोगाच्छिदुरार्तिधारायमस्वसुर्मज्जति निश्शरण्य: ।
मूर्च्छामयद्वीपमहान्धकारे हाहा महीभृद्भटकुञ्जरोऽयम् ।।
-- वही ३।११३

२- सन्यापसव्यव्यसनाद् द्विरुक्तै: पंचेषु बाणै: पृथगर्पिताद् ।
दशाद् शेषा खलु तद्दशा या तया नभ: पुष्प्यतु कोरकेण ।।
--वही ३।११४

३- पटवति ! दमयन्ति ! त्वां न किंचिद्वदामि ।
द्रुतमुपनम किं मामाह सा हंस हंस ।
इति वदति नलेऽसौ तच्छलंसोपनम्र:
प्रियमनु सुकृतां हि स्वस्पृहायाः विलम्ब: ।।
-- वही ३।१३४

४- कथितमपि नरेन्द्रश्शंसयामास हंसं
किमिति किमिति पृच्छन् भाषितं स प्रियाया: ।
अधिगतमपि शंसन्नालिका नन्दयन्ती
स्वयमपि शतकृत्वस्तत्तथाऽन्वाचचक्षे ।।
--वही ३।१३५

तुल्यानुराग प्रदर्शित किया है । इस तुल्यानुराग के कारण तथा दमयन्ती की नल के प्रति एकनिष्ठ या दृढ़ानुराग देख महाराज भीम उसके स्वयंवर का आयोजन करते हैं और उसमें दमयन्ती नल का वरण करती है । इस प्रकार इन दोनों का पूर्वानुराग सफल हो जाता है और ये दोनों पति-पत्नी बनकर गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत करने का अवसर प्राप्त करते हैं ।

(VI) नैषध के पश्चात् के संस्कृत महाकाव्यों में पूर्वानुराग का स्वरूप

संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में नैषध के बाद भी पूर्वानुराग का वर्णन हमें रुक्मिणीहरण एवं राधापरिणय इन दोनों महाकाव्यों में देखने को मिलती है । रुक्मिणी कृष्ण का बाल्यकाल से ही उनके गुणों पर रीझ कर उन्हें प्रेम करने लगी थी[1]। परन्तु उसका विवाह शिशुपाल से होने जा रहा था । ऐसी परिस्थिति में उसने कृष्ण के पास एक दूत द्वारा पत्र भेजा और उसमें अपने हरण करने का निवेदन किया[2]। अन्ततः कृष्ण ने उसका हरण करके उसे अपनी पत्नी बनाया[3]।

१- भीष्मक ने रुक्मिणी की इस स्थिति का ही उल्लेख करते हुए कहा था--

"बाल्यादेव कलाकलभृता
या स्मारं रमते मम कन्या ।
जन्मजन्मनि हरिं भजते सा
प्रत्यहं दिनादिकेन चिन्तेयम् ।।

-- रुक्मिणी० ५।३६

२ "गुणाब्धिकेशनिशाकराकृता
मयो विभावामिसे कुमारिकां ।
इयमस्ति नः कुलजं विभो
तदहो । मयापि वरणीयमादरात् ।।
प्रतिज्ञास्मि तव तव्यी परस्कर:
पतितो वृथा प्रहारिभिर्नृतायुधै : ।
हर मां मनोहर हरे । पराक्रमी
बलवान परान् गजपतिः मृगानिव ।।" --रुक्मिणी ६।२६-२७

३- देखें : वही १३ ।४७-४८ ।

रुक्मिणीहरण महाकाव्य के इस संक्षिप्त पूर्वानुराग वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहां भी कवि ने 'आदौ वाच्य: स्त्रिय: राग:' का अनुवर्तन करते हुए रुक्मिणी के ही पूर्वानुराग का वर्णन किया और पत्र-प्रेषण द्वारा उसे ही कृष्ण-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील दिखाया है ।

रुक्मिणीहरण के साथ ही दूसरे कृष्णकाव्य 'राधा परिणय' में भी हमें राधा एवं कृष्ण के पूर्वानुराग का विस्तृत वर्णन देखने को मिलता है । राधा कृष्ण की अनेक लीलाओं को सुनकर उन पर अनुरक्त हो उठती हैं ।[1] वह यथाशीघ्र उनका दर्शन करना चाहती है[2]। यहां कवि ने राधा की, दीर्घ नि:श्वास,[3] म्लानवदनता,[4] सतत चिन्तन,[5] आभूषण राहित्य,[6] रूपस्मरण[7] आदि कामदशाओं का उल्लेख किया है । इधर कृष्ण भी मित्रों के मुख से राधा की प्रशंसा सुन, उसके प्रति अनुराग युक्त हो उठते हैं[8]। यहां कवि

१- देखें : राधापरिणय० १४।७१, ७७-७८

२- ,, वही १४।८२

३- ,, ,, १४।८४

४- ,, ,, १४।८५-८६

५- ,, ,, १४।८७

६- ,, ,, १४।८८

७- ,, ,, १४।८९, ९०, राधा की अन्य काम दशाओं के लिए भी देखें : १४।९२-९३,१५।५९-६०, एवं ६४।९६

८- नैकदा श्रृण्वतां वयस्येभ्य: प्रीतिपूर्णमिह कीर्तिकुमार्या: ।
भूमानमतुलं गुणवृन्दं कृष्णमभ्यास रक्तकामिति ।।
-- राधापरिणय० १४।९४

ने कृष्ण की सम्मोहन आदि कामदशाओं का उल्लेख किया है[1]। राधा विरहावस्था को भेजने में असमर्थ हो कृष्ण के पास अपना एक पत्र ललिता द्वारा प्रेषित करती है[2]। कृष्ण पत्र पाकर उसे अपनाने के लिए नारी रूप धरकर वृषभानु के घर में प्रवेश करते हैं और वहीं ब्रह्मा पुष्परूप से उन दोनों का विवाह सम्पादित करा देते हैं[3]।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में पूर्वानुराग के वर्णन-क्रम में सर्वत्र ही तुल्यानुराग एवं एकनिष्ठ प्रेम दिखाया गया है और इसी कारण से इस पूर्वानुराग की सफलता को पति-पत्नी के अनुराग-रूप में विकसित किया गया है ।

संस्कृत महाकाव्यों में उपलब्ध पूर्वानुराग के स्वरूप विवेचन के पश्चात्, गार्हस्थ्य-जीवन से सम्बद्ध अवान्तर तथ्यों के विवेचन-क्रम में शोध कार्य के चतुर्थ विवेच्य विषय 'भारतीय समाज में विवाह प्रथा के उद्भव' का क्रम आता है । प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के प्रारम्भ में विवाह संस्कार का विस्तृत विवेचन किया गया है परन्तु यह विस्तृत विवेचन विवाह-प्रथा के उद्भव के विवेचन के बिना अधूरा प्रतीत होता है । एतदर्थ, यहाँ भारतीय समाज में विवाह-प्रथा की स्थापना कब हुई ? इस समस्या का विवेचन प्रस्तुत किया जायगा ।

घ- विवाह प्रथा का उद्भव

समाजशास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार संसार का प्रत्येक मानव समाज अपनी शैशवावस्था में सामाजिक परम्पराओं, रीति-रिवाजों एवं रहन-सह

१- देखें : वही १४ ।९५-१००,१५।९७-१०० ।

२- देखें : राधापरिणय०: पन्द्रहवां सर्ग ।

३- देखें : वही : सोलहवां एवं सत्रहवां सर्ग ।

के सामान्य तौर-तरीकों आदि से रहित होता है। एकाकी-प्रवृत्ति वाले सदस्यों से युक्त ऐसे समाज में, समाज को स्थायित्व प्रदान करने वाली एवं उसकी उच्चस्तरीय संस्कृति को घोतित करने वाली विवाह जैसी महत्वपूर्ण संस्था का उद्भव भी नहीं हो पाता।

समाज शास्त्र की इसी मान्यता के आधार पर आधुनिक मानव समाज शास्त्री प्रत्येक मानव-समाज में विवाह प्रथा का विकास अनियमित यौन-सम्बन्ध की अवस्था से ही मानते हैं।[१] इस सर्वमान्य सिद्धान्त के आधार पर हमें यह मान लेने में कोई संकोच नहीं करना चाहिए कि हमारे पूर्वज भी

१- पाश्चात्य जगत् के लुईस मोर्गन, मैक्लीनान, बैखोफन, लार्ड एवबरी, क्रोपाटकिन एवं एंजल्स तथा ब्रिफाल्ट आदि प्रसिद्ध समाज-शास्त्रियों ने उपर्युक्त सिद्धान्त का ही समर्थन करते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि प्रारम्भ में समाज में कामचार की दशा थी, इसके बाद बहुभार्यता का विकास हुआ और अन्त में एक विवाह का नियम प्रचलित हुआ।

यहां यह तथ्य अवधेय है कि आगे चलकर पाश्चात्य जगत के ही डार्विन, वेस्टरमार्क, लैंग, ग्रास तथा क्राले आदि अन्य चिन्तकों ने उपर्युक्त विद्वानों के मत का खण्डन किया, परन्तु उपर्युक्त विद्वानों का मत आज भी उतना ही सत्य प्रतीत होता है जितना कि पहले था क्योंकि यह मानव की प्रवृत्ति के आधार पर आधृत है।

उपर्युक्त विद्वानों के उल्लेख के लिए देखें : श्री हरिदत्त वेदालंकार : 'हिन्दू परिवार मीमांसा', पृ० ८।

अपने प्रारम्भिक समय में अनियन्त्रित यौनाचरण की प्रवृत्ति वाले ही रहे होंगे, उनमें भी विवाह जैसी संस्था का अभाव रहा होगा ।[१]

वस्तुत: विश्व के किसी भी मानव-समाज के रीति-रिवाजों, सामाजिक परम्पराओं एवं उसकी संस्कृति के अध्ययन के लिए हमें उस समाज में उपलब्ध तत्कालीन साहित्य का आश्रय लेना अपेक्षित होता है । उस समाज विशेष में उपलब्ध साहित्यिक प्रमाणों को आधार बनाए बिना उस समाज का प्रामाणिक अध्ययन सम्भव नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्येक साहित्य अपने सामाजिक परिवेश से आविष्ट होता है, उसमें तत्कालीन समाज के रीति-रिवाजों, रहन-सहन की विधियों एवं विभिन्न सामाजिक परम्पराओं का विधिवत् विवेचन किसी न किसी रूप में अवश्य ही होता है । इसीलिए साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है ।

उपर्युक्त विचारधारा का आश्रय लेते हुए हमें भारतीय समाज में कामचार की दशा से विवाह-प्रथा का विकास जानने के लिए यहां के उपलब्ध प्राचीन साहित्य का आश्रय लेना अनिवार्य है । इस सन्दर्भ में प्राचीन भारतीय साहित्य का यदि हम आश्रय लें तो यह ज्ञात होता है कि भारतीय समाज में स्वतंत्र कामचार की दशा के अनन्तर ही विवाह-प्रथा का विकास हुआ है । भारतीय साहित्य के एक प्रमुख महाकाव्य 'महाभारत' में उपर्युक्त मत का ही

१- पौरस्त्य विद्वानों में अग्रगण्य श्री जयचन्द्र विद्यालंकार महोदय ने उपर्युक्त तथ्य का ही समर्थन करते हुए कहा है कि 'बिल्कुल आरम्भिक दशा में शिकारी मनुष्यों में स्थिर विवाह की प्रथा नहीं हो सकती थी, स्वाभाविक प्रवृत्ति से अल्पकालिक समागम होते हैं थे ।'

--जयचन्द्र विद्यालंकार : 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा', खण्ड २, पृ० १७६ ।

समर्थन हमें देखने को मिलता है । इस महाकाव्य में निम्नलिखित स्थलों पर स्वतंत्र कामचार की दशा का उल्लेख किया गया है ।

(1) महाभारत में स्वतन्त्र कामाचार

(अ) प्रस्तुत महाकाव्य के आदिपर्व में महाराज पाण्डु ने कुन्ती से कहा है कि प्राचीनकाल में स्त्रियां स्वेच्छाचारिणी थीं और वे काम सम्बन्ध के लिए स्वतन्त्र थीं । वे कुमारी दशा से ही अनेक पुरुषों के पास जाया करती थीं। उनका यह कृत्य उस युग में अधर्म नहीं था क्योंकि यही उस समय की परिपाटी थी ।[1] आगे चलकर पाण्डु ने अपने युग में भी उत्तर कुरु देश में इस प्रथा के प्रचलन का उल्लेख किया है ।[2] इस उल्लेख के अनन्तर पाण्डु विवाह प्रथा की स्थापना का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि विवाह की स्थापना इस लोक में दीर्घकाल से प्रचलित नहीं है । इसे स्थापित करने वाले उद्दालक ऋषि के पुत्र श्वेतकेतु थे । पाण्डु के अनुसार एक बार श्वेतकेतु के समक्ष ही उनकी माता का हाथ किसी परपुरुष ने पकड़ लिया और उन्हें लेकर जबरन चल पड़ा । इस घटना से उत्तेजित हुए श्वेतकेतु को समझाते हुए उनके पिता महर्षि उद्दालक ने इस तरह की घटनाओं को 'सनातन धर्म' कहते हुए कहा कि इस भूमण्डल में सब वर्णों की स्त्रियां बिना किसी बाधा के सबसे मिल सकती हैं और वे काम सम्बन्ध के लिए स्वतंत्र हैं ।[3] लेकिन श्वेतकेतु सामाजिक जीवन को छिन्न-भिन्न करने

१- 'अनावृताः किल पुरा स्त्रियः आसन्वरानने ।
कामाचारविहारिण्यः स्वतन्त्राश्चारुहासिनि ।।
तासां व्युच्चरमाणानां कौमारात्सुभगे पतीन् ।
नाधर्मोऽभूद्वरारोहे स हि धर्मः पुराऽभवत् ।।
--म० भा०(स्वा०म०) अ॰ १२२।५ आदि

२- 'उत्तरेषु च रम्भोरु कुरुष्वद्यापि पूज्यते ।
स्त्रीणामनुग्रहकरः स हि धर्मः सनातनः ।।
-- वही १२२।७

३- 'अनावृता हि सर्वेषां वर्णानामङ्गना भुवि ।
यथा गावः स्थितास्तात स्वे स्वे वर्णे तथा प्रजाः ।।' आदि
--म० भा०(स्वा०म०) आदि १२२।१४

वाली इस सनातन प्रथा से सहमत न हुए और ऐसी सामाजिक उच्छृंखलता को सदा-सदा के लिए समाप्त करने के लिए उन्होंने समाज में बलपूर्वक विवाह प्रथा को स्थापित किया ।[1]

(ख) स्वतन्त्र यौनाचार से विवाह प्रथा के विकास का दूसरा वर्णन हमें आदिपर्व के दीर्घतमा एवं प्रद्वेषी के कथानक में देखने को मिलता है ।[2] दीर्घतमा उतथ्य ऋषि का पुत्र था । उसने प्रद्वेषी नामक पत्नी से कई सन्तानें उत्पन्न कीं किन्तु बाद में सुरभि की सन्तान से गोधर्म (कामचार) सीख कर वह स्वतंत्ररूप से आश्रम में यह कार्य करने लगा । दीर्घतमा के इस अनैतिक कृत्य से आश्रमवासी अन्य ऋषि गणों ने उसे आश्रम से निकाल देने का निश्चय किया । दीर्घतमा की पत्नी प्रद्वेषी ने भी उनके इस कृत्य का समर्थन करते हुए दीर्घतमा से कहा कि वह उसे छोड़ रही है । परन्तु दीर्घतमा ने प्रद्वेषी के उपर्युक्त विचार के प्रत्युत्तर में कहा कि "मैं आज से ऐसी लोकमर्यादा स्थापित करता हूं कि यावज्जीवन नारी का एक ही पति होगा । पति के जीवित रहने या मर जाने पर भी कोई भी स्त्री दूसरे पुरुष के पास नहीं जा सकेगी । यदि कोई स्त्री दूसरे पुरुष के पास जाएगी तो वह पतित कही जाएगी । पतिहीना स्त्रियों के लिए भी यह आज से पाप है ।"[3]

१- 'इति तेन भीरुमर्यादा स्थापिता बलात् ।
उद्दालकस्य पुत्रेण धर्म्या वै श्वेतकेतुना ।।

-- वही ११३।२०

२- विस्तृत कथा के लिए देखें : म० भा०

३- 'अद्य प्रभृति मर्यादा मया लोके प्रतिष्ठिता ।
एक एव पतिर्नार्या यावज्जीवं परायणम् ।।
मृते जीवति वा तस्मिन्नापरं प्राप्नुयान्नरम् ।
अभिगम्य परं नारी पतिष्यति न संशयः ।।
अपतीनां तु नारीणामद्यप्रभृति पातकम् ।
यद्यस्ति चेद्धनं सर्वं वृथाभोगा: भवन्तु ता: ।।
अकीर्तिः परिवादश्च नित्यं तासां भवन्तु वै ।

--म० भा० (स्वा० म०) आदि. १०४/३४-३६

(ग) स्वतंत्र कामाचार का तीसरा वर्णन हमें महाभारत के सभापर्व में देखने को मिलता है । महाभारत के अनुसार उस युग में माहिष्मती नगरी में स्वतंत्र कामचार की दशा ही थी । अपनी विजय यात्रा के क्रम में सहदेव ने माहिष्मती नगरी में स्त्रियों को "कामाचारविहारिणी" या स्वैरणी ही देखा था ।[1]

(घ) कर्ण पर्व के अनुसार उस युग में मद्र देश में भी स्त्रियों में कामचार का प्रचलन था । वे मदिरा पान से उन्मत्त होकर एवं नग्न होकर नृत्य करती थीं और मैथुन में किसी प्रकार का बन्धन नहीं रखती जिसके पास चाहती हैं चली जाती हैं ।[2] कर्ण ने आगे चलकर वाहीक (पंजाब देश) की स्त्रियों के विषय में यही विचार व्यक्त किया है ।[3]

(ङ) महाभारत में स्वतंत्र कामाचार का पांचवां उल्लेख हमें अनुशासन पर्व में देखने को मिलता है । यहां महर्षि गौतम ने उत्तरकुरु देश में अपने समय में स्त्रियों में स्वतंत्र कामाचार का ही उल्लेख किया है ।[4]

१- "स्वैरिण्यस्तत्र नार्यो हि यथेष्टं विचरन्त्युत ।

--म० भा० (स्वा०प्र०) सभा- 31|3६

२- "वांसास्युत्सृज्य नृत्यन्ति स्त्रियो या मद्यविमोहिता: ।
मैथुनेऽसंयताश्चापि यथाकामचराश्च ता: ॥

--म० भा० कर्ण० ४०।२५-२६

३- गायन्त्यथ च नृत्यन्ति स्त्रियो मत्ता विवासस: ।
नगरागारवप्रेषु बहिर्माल्यानुलेपना: ॥
मत्तावगीतैर्विविधै: खरोष्ट्रनिनदोपमै: ।
अनावृता: मैथुने ता: कामाचाराश्च सर्वश: ॥

--वही कर्ण० ४४।१२-१३

४- "यत्रोत्तरा: कुरवो भान्ति रम्या: देवै: सार्धं मोदमाना नरेन्द्र ।
यत्राग्नियौनाश्च वसन्ति लोका अब्योनय: पर्वतयोनयश्च ॥
यत्र शक्रो वर्षति सर्वकामान्यत्र स्त्रिय: कामचारा: भवन्ति ।
यत्र चेर्ष्या नास्ति नारी नराणां तत्र त्वाऽहं हस्तिनं पातयिष्ये ॥"

--म० भा०(स्वा०प्र०) अनु० १०२।२५-२६

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय समाज में महाभारत युग में समाज में स्वतंत्र कामचार की दशा ही विद्यमान थी और इसी युग में समाज चिन्तकों ने समाज से स्वतंत्र यौनाचार की प्रवृत्ति को समाप्त करके विवाह प्रथा को स्थापित किया ।

(ii) ऋग्वेद में विवाह संस्था

परन्तु आधुनिक ऐतिहासिकों ने उपर्युक्त मत से सहमत न होते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि भारतीय समाज में विवाह-प्रथा की स्थापना महाभारत से हजारों वर्ष पूर्व वैदिक काल में ही हो चुकी थी । ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं जो उस युग में ही विवाह संस्था की स्थापना को सिद्ध कर देते हैं । ऋग्वेद के प्रथम भाग में एक ऋषि इन्द्र से प्रार्थना करते हुए कहता है कि "हे इन्द्र ! तुम अपने दोनों अश्वों को संलग्न करो और हविष् पदार्थ से सुखानुभूति करते हुए अपनी प्रिय भार्या के पास जाओ ।[१] यहीं पर अग्नि से वेगपूर्वक यजमानों को पत्नीयुक्त करने का विनम्र निवेदन भी किया गया है ।[२] तृतीय मण्डल में एक स्थान पर ऋषि विश्वामित्र इन्द्र से प्रार्थना करते हुए कहते हैं कि हे इन्द्र ! पत्नी ही घर है वही योनि है इसलिए रथ में संलग्न अश्व तुझे वहां ले जाएं ।[३] पत्नी को ही घर मानने वाले ऋषि विश्वामित्र पुनः इन्द्र से कहते हैं कि "हे इन्द्र ! तुमने सोमरस का पान कर लिया है अब तुम घर जाओ वहां कल्याणी जाया तुम्हारा मार्ग देख रही है ।[४] प्रस्तुत मण्डल में सभी तैंतीस

१- "तेन जायामुप प्रियां मन्दानो याह्यन्धसो योजान्विन्द्र ते हरी ।

-- ऋ० १।८२।५

२- "तान् यजत्राँ ऋतावृधोऽग्ने पत्नीवतस्कृधि ।"

-- वही १।१४।७

३- "जायेदस्तं मघवन्त्सेदु योनिस्तदित्त्वा युक्ता हरयो वहन्तु ।

-- वही ३।५३।४

४- "अपाः सोममस्तमिन्द्र प्र याहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते ।

-- वही ३।५३।६

देवों को पत्नीयुक्त कहा गया है ।[1] ऋग्वेद के उपर्युक्त मन्त्रों से उस युग में विवाह संस्कार की स्थापना की पुष्टि हो जाती है । ऋग्वेद को ही आधार मानते हुए श्री हरिदत्त वेदालंकार भी इस युग में ही विवाह-प्रथा की स्थापना के सिद्धान्त को मानते हुए लिखते हैं कि 'महाभारत से पहले के समूचे वाङमय में कामचार का कोई संकेत नहीं है । वैदिक युग में युवक-युवतियों को अपना साथी चुनने की पूरी स्वतंत्रता थी, किन्तु विवाह हो जाने के बाद स्त्रियां पति के घर जाकर गृहपत्नी का कार्य करती हुई परिवार का निर्माण करती थीं । विवाह के समय पुरोहित उन्हें पितृगृह से मुक्त कर पतिगृह के साथ अच्छी तरह से सुबद्ध करता था ताकि वे पुत्रवती तथा सौभाग्यवती हों ।[2] उन्हें कहा जाता था कि वे गृहस्थ में रहते हुए कभी अलग न हों, पूरी आयु का भोग करें ।[3] कामचार की दशा में यह आशीर्वाद निरर्थक है । उस अवस्था में यह कहा जाना चाहिए कि तुम प्रतिदिन नए प्रेमी प्राप्त करो । पाणिग्रहण करते हुए वर वधू को कहता था कि तू मुझ पति के साथ सौ वर्ष तक जीवित रह ।[4] कामचार या स्वच्छन्द आचरण में सौ वर्ष तक इकट्ठा रहने का कोई अर्थ नहीं । ब्राह्मणों, सूत्रग्रन्थों

१- 'पत्नीवतस्त्रिंशत त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व ।

--वही ३।६।६

२- 'प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम ।

यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगाऽसति ।।

-- अथर्व० १४।१।१८

३- 'इहैव स्त मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतं ।

क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे ।।

-- ऋ० १०।८५।४२

४- 'मया पत्या प्रजावति संजीव शरदः शतम् ।'

--अथर्व० १४।१।५२

और स्मृतियों में कामचार का वर्णन कहीं नहीं मिलता । इस दशा में महाभारत के सन्दिग्ध प्रमाणों के आधार पर कामचार से परिवार (विवाह) का उद्भव कैसे माना जा सकता है ।[1] श्री वेदालंकार जी के अतिरिक्त डा० कैलाशचन्द्र जैन[2] एवं श्री अविनाश चन्द्र दास[3] आदि पौरस्त्य एवं मैयर[4] आदि पाश्चात्य विचारकों ने भी भारतीय समाज में ऋग्वैदिक काल से ही विवाह प्रथा की स्थापना के सिद्धान्त को माना है ।

१- देखें : श्री हरिदत्त वेदालंकार : `हिन्दू परिवार मीमांसा`, पृ० ७

२- देखें : डा० कैलाशचन्द्र जैन : `प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक संस्थाएं`, पृ० ८६ ।

३- देखें : Mr. A. C. Das : Rgvedic Culture, P.P. 100.

४- महाभारत में स्वतंत्र कामचार की अवस्था का खण्डन करते हुए `प्राचीन भारत में यौन-जीवन` नामक ग्रन्थ में मैयर महोदय ने लिखा है कि पुराने जमाने की ऐसी पौराणिक गाथाएं इस बात का विश्वसनीय आधार नहीं प्रतीत होती । प्राचीन आर्यों के विभिन्न देशों में फैलने से पहले ही सुव्यवस्थित पारिवारिक जीवन का अभ्युदय हो चुका था । वेद में खुल्लमखुल्ला मैथुन स्वातन्त्र्य का कहीं उल्लेख नहीं है । हम अतीत के धूसरतम उषाकाल में इतनी लम्बी छलांग लगाने के लिए ऐसे किस्सों पर कभी विश्वास नहीं कर सकते ।`

--देखें : श्री हरिदत्त वेदालंकार : `हिन्दू-परिवार मीमांसा`, पृष्ठ ७ ।

उपर्युक्त विवेचन से यह सुनिश्चित हो जाता है कि भारतीय समाज में विवाह-प्रथा की स्थापना ऋग्वैदिक काल में ही हो चुकी थी । यहां एक रोचक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब भारतीय समाज में विवाह-प्रथा की स्थापना महाभारत से सहस्त्रों वर्ष पूर्व ऋग्वैदिक काल में ही हो चुकी थी तो महाभारत में स्वतंत्र-कामचार का उल्लेख क्यों किया गया ? इस प्रश्न का उत्तर विभिन्न इतिहासकारों ने विभिन्न ढंग से दिया है । डा० शिवराज शास्त्री,[१] डा० के० एम० कापड़िया[२] एवं श्री अविनाश चन्द्र दास[३] आदि का विचार है कि महाभारत में समाज की ऐसी अवस्था का निर्देश तत्कालीन समाज में नियम-विरुद्ध समझी जाने वाली किन्हीं घटनाओं के औचित्य की सिद्धि में अथवा निन्दा वचनों में किया गया है इसलिए महाभारत के ऐसे उल्लेखों को गम्भीरतापूर्वक नहीं लिया जा सकता । यदि महाभारत के वचनों पर विश्वास किया भी जाय तो यह मानना पड़ेगा कि महाभारत अवश्य ही ऋग्वेद से प्राक्कालीन अवस्था का चित्र उपस्थित करता है ।

परन्तु इन विद्वानों का उपर्युक्त मन्तव्य सत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि महाभारत में कामचार की दशा का वर्णन न तो निन्दावचन में किया गया है और न ही किसी घटना के औचित्य की सिद्धि में ही । वहां तो सनातन धर्म कहकर[४] इसके प्रति प्रशंसा ही व्यक्त की गयी है । साथ ही यहां यह भी कहा गया है कि कामचार की दशा उस युग में उत्तर कुरु, माहिष्मती आदि देशों में विद्यमान् थी ।[५]

१- देखें : डा० शिवराज शास्त्री : `ऋग्वैदिक काल में पारिवारिक सम्बन्ध`, पृष्ठ ३२६ ।

२- " : Dr. K.M. Kapadia : Hindu Kinship ; P.P. 51-52.

३- " : Mr. A.C. Das : Rgvedic Culture; P.P. 100.

४- देखें : म० भा०

५- ,, : वही

डा० विमल चन्द्र पाण्डेय महाभारतकालीन स्वतन्त्र यौनाचरण की प्रवृत्ति के पोषक उपर्युक्त प्रमाणों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि उत्तर कुरु एवं माहिष्मती आदि देश काल्पनिक हैं और उपर्युक्त स्वतंत्र यौनाचरण की प्रवृत्ति वाले जिस समाज का महाभारतकार ने वर्णन किया है वह अति प्राचीनकाल के किसी ऐसे समाज का वर्णन है जिसमें विवाह संस्था का अभाव था ।[1]

डा० पाण्डेय का यह मत भी मान्य नहीं हो सकता क्योंकि उत्तर कुरु या माहिष्मती आदि देश काल्पनिक नहीं हैं ।[2] साथ ही महाभारत में स्वतंत्र यौनाचरण की प्रवृत्ति अपने युग में विद्यमान कही गयी है एतदर्थ उसे किसी प्राचीनकाल का उदाहरण कैसे माना जा सकता है ।

डा० काणे महोदय ने महाभारत के उपर्युक्त स्वतंत्र यौनाचरण की स्थिति का वर्णन कल्पना प्रसूत माना है ।[3] परन्तु चूंकि महाभारतकार स्वयं उस युग में स्वतंत्र यौनाचरण की प्रवृत्ति को कुछ भागों में विद्यमान कहते हैं अतः उसे कल्पना-प्रसूत कैसे माना जा सकता है ।

१- देखें : डा० विमल चन्द्र पाण्डेय : `भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास`, पृ०१२२

२- आधुनिक इतिहासकारों ने उत्तर कुरु एवं माहिष्मती नगरों की सत्ता खोज निकाली है अतः इन्हें काल्पनिक नहीं कहा जा सकता । अन्वेषकों के अनुसार महाभारतकालीन उत्तर कुरु तिब्बत एवं पूर्वी तुर्किस्तान तथा माहिष्मती नर्मदा के तट पर स्थित महेश्वर (इन्दौर से चालीस मील दक्षिण) पर स्थित थे । स्पष्ट है कि उस युग में ये नगर अवश्य ही विद्यमान थे अतः इन्हें काल्पनिक नहीं माना जा सकता ।

उपर्युक्त मत के लिए देखें : डा० एस० एन० व्यास : `रामायणकालीन समाज`, परिशिष्ट

३- डा० पी०वी० काणे : `धर्मशास्त्र का इतिहास` (प्र०भा०), पृ० २६८ ।

श्री वेदालंकार जी महाभारत के उपर्युक्त वर्णन को इसलिए सत्य नहीं मानते क्योंकि ये सभी वर्णन कुछ विशेष प्रसंग में किए गए हैं ।[१] वेदालंकार जी का मत भी सत्य नहीं माना जा सकता क्योंकि भले ही ये वर्णन विशेष परिस्थितियों में किए गए हों परन्तु इससे उस युग में स्वतंत्र यौनाचरण उपस्थिति में कोई सन्देह नहीं रह जाता ।

उपर्युक्त विवेचन से यह सुनिश्चित हो जाता है कि महाभारत के उपर्युक्त वर्णन कल्पना-प्रसूत या प्राचीनकाल की स्थिति के द्योतक न होकर यह सिद्ध करते हैं कि उस युग में भी समाज में स्वतंत्र कामचार की स्थिति विद्यमान थी । हां यह अवश्य है कि तत्कालीन समाज विवाह संस्था से भी परिचित हो चुका था ।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भले ही भारतीय समाज में विवाह-संस्था का उद्भव वैदिककाल में ही हो चुका रहा हो परन्तु महाभारत-युग तक समाज में इस संस्था के अस्तित्व के साथ ही काम-सम्बन्धों में स्वतंत्रता की स्थिति भी विद्यमान थी । वस्तुत: इस स्वतंत्र कामाचार के प्रवृत्ति की स्थिति हमें वैदिक काल में भी देखने को मिलती है । ऋग्वेद के मर्य और योषा के पारस्परिक अभ्ययन[२] अभिमनन[३] पीछे पड़ना, एक दूसरे को मनाना रिझाना,

---

१- श्री हरिदत्त वेदालंकार : 'हिन्दू-परिवार-मीमांसा', पृ० ४-७ ।

२- सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात् ।
यत्रा नरो देवयंतो युगानि वितन्वते प्रति भद्राय भद्रं ।।
--ऋ० १।११५।२

३- वि यो ररप्श ऋषिभिर्नवेभिर्वृक्षो न पक्व: सृण्यो न जेता ।
मर्यो न योषामभि मन्यमानोऽच्छा विवक्मि पुरुहूतमिन्द्रम् ।।
--वही ४।२०।५

कल्याणी युवतियों के साथ मर्यों का मोद और हर्ष करना[1] रीझने और प्रसन्न होने पर कन्या का मर्य को परिष्वक्त देना[2] तथा योषाओं एवं कन्याओं को अपने जा के प्रति अनुगमन[3]आदि सभी वर्णन स्वतंत्र कामचार की स्थिति के ही परिचायक हैं। ऋग्वेद के अतिरिक्त रामायण युग में अंजना एवं पवनदेव के सम्भोग एवं सहवास[4] तथा महाभारत युग में विश्वामित्र मेनका,[5] पराशर-सत्यवती,[6] गौतम-जालपदी[7] एवं भरद्वाज तथा घृताची[8] आदि के सहवास तत्कालीन समाज में यौन सम्बन्धों की स्थापना में स्वतंत्रता को ही चित्रित करते हैं।

१- 'याभिः सोमो मोदते हर्षते च कल्याणीयुवतीभिर्मर्यः ।
ता अध्वर्यो अपो अच्छा परेहि यदासिंचा ओषधीभिः पुनीतात् ।।
-- वही १०।३०।५

२- आ ते कारो शृणवामा वचांसि ययाथ दूरादनसा रथेन ।
नि ते नंसै पीप्यानेव योषा मर्यायेव कन्या शश्वचै ते ।।
--वही ३।३३।१०

३- अभि गावो अनूषत योषा जारमिव प्रियं । अगन्नाजिं यथाहितं ।
-- वही ६।३२।५

एवं अभि त्वा योषणो दश जारं न कन्यानूषत । मृज्यसे सोमसातये ।
-- वही ६।५६।३

४- देखें : वा० रा० किष्किन्धा० स० ६६

५- देखें : म० भा०

६- देखें : म० भा०

७- देखें : म० भा०

८- देखें : म० भा०

उपर्युक्त वर्णनों को देखते हुए हम यह कह सकते हैं कि भारतीय समाज में विवाह-संस्था की स्थापना वैदिक काल में ही हो चुकी थी परन्तु साथ ही उस युग से लेकर महाभारत-युग तक समाज में स्वतंत्र यौनाचार की स्थिति भी विद्यमान थी। इस युग में ही समाज सुधारकों ने (ऋषि श्वेतकेतु या दीर्घतमा ने) इस स्वतंत्र एवं उच्छृंखल यौन-जीवन को समाप्त करके समाज में विवाह-संस्था को दृढ़ता के साथ स्थापित किया।[१]

-०-

१- श्री जयचन्द्र विद्यालंकार महोदय ने भी उपर्युक्त मत का ही समर्थन करते हुए कहा है कि यद्यपि वैदिक युग में विवाह प्रथा स्थापित हो चुकी थी परन्तु उस युग में स्त्री-पुरुष मर्यादा की शिथिलता भी थी। भारत युद्ध (जिसका समय ई० पू० १४२४ या ६५० है) के अनन्तर दीर्घतमा ने समाज में विवाह संस्था को दृढ़ता से स्थापित किया। आगे चलकर श्वेतकेतु ने भी इस संस्था में कुछ सुधार किया।
-- देखें : श्री जयचन्द्र विद्यालंकार : 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा', (ख०२), पृ० २७० एवं ४६२।

तृतीय अध्याय

-0-

पुरुषार्थ चतुष्टय प्रधान उपजीव्य महाकाव्यों में गार्हस्थ्य चित्रण

एवं धर्मशास्त्रों में गार्हस्थ्य का स्वरूप

तृतीय अध्याय

-o-

पुरुषार्थ चतुष्टय प्रधान उपजीव्य महाकाव्यों में गार्हस्थ्य चित्रण एवं धर्मशास्त्रों में गार्हस्थ्य का स्वरूप

१- संस्कृत-वाङ्मय में गार्हस्थ्य-चित्रण-कारण एवं परम्परा

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में मानव-जीवन में गृहस्थाश्रम की अनिवार्यता के कारणों तथा उसकी महत्ता का विशद विवेचन किया जा चुका है ।

भारतीय समाज चिन्तकों द्वारा निर्धारित आश्रम चतुष्टय की प्रणाली में गृहस्थाश्रम वस्तुत: वह आश्रम है जो व्यक्ति को सामाजिक उत्तर-दायित्व (सामाजिक दायित्व से यहां तात्पर्य है गृहस्थ द्वारा अन्य तीनों आश्रमवासियों के भरण-पोषण एवं पुत्रोत्पादन रूपी उत्तरदायित्व) को निभाने के साथ ही उसके स्वत: के कल्याण के लिए मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है । वस्तुत: प्रत्येक व्यक्ति के जीवन का उद्देश्य है मोक्ष की प्राप्ति । इस मोक्ष-प्राप्ति के दो उपाय हैं ब्रह्मचर्याश्रम के अनन्तर सीधे सन्यास की ओर अग्रसर होना या फिर गृहस्थ होकर सामाजिक उत्तरदायित्वों को निभाने के अनन्तर सन्यास लेना । प्रथम उपाय केवल व्यक्ति विशेष के स्वार्थ को सिद्ध करता है, समाज का उससे कोई लाभ नहीं होता जबकि दूसरा उपाय इन दोनों ही लक्ष्यों को पूरा करता है । सम्भवत: गृहस्थाश्रम की इसी विशेषता को ध्यान में रखते हुए महर्षि व्यास ने सन्यास को पापिष्ठा-वृत्ति कहा है ।[१] आगे चलकर महर्षि व्यास

१- शान्ति पर्व में सन्यास के लिए उद्यत युधिष्ठिर को समझाते हुए अर्जुन ने इसे पापिष्ठा वृत्ति कहते हुए युधिष्ठिर से सन्यस्त न होने का निवेदन किया है —

"कापाली नृप पापिष्ठां वृत्तिमाश्रित्य जीवत: ।
संत्यज्य राज्यमृद्धं ते लोकोऽयं किं वदिष्यति ।।"

-- म० भा० शान्ति पर्व ८।७

ने स्पष्ट शब्दों में गृहस्थाश्रम की उपेक्षा करके मोक्षाभिलाषी सन्यासियों की निन्दा करते हुए कहा है कि अकेला आदमी पुत्र, पौत्र, देवताओं, ऋषियों अतिथियों का भरण न करता हुआ स्वतः जंगल में सुखपूर्वक जी सकता है । पर इस एकान्त विचरण से स्वर्ग नहीं मिल सकता । यदि यही स्वर्ग-प्राप्ति का अमोघ अस्त्र है तो मृग, सुअर एवं पक्षी आदि स्वर्ग-प्राप्ति के प्रथम अधिकारी सिद्ध होते हैं पर क्या इन्हें स्वर्ग प्राप्त होता है ?[1] यदि एकान्तवास ही मोक्ष-प्राप्ति की पहली योग्यता है तो पर्वतों एवं वृक्षों आदि को भी मोक्ष मिल जाना चाहिए क्योंकि ये नित्य सन्यासी, निरुपद्रव एवं ब्रह्मचारी ही रहते हैं ।[2] स्पष्ट है कि मोक्ष-प्राप्ति का सरलतम उपाय है गृहस्थाश्रम का शास्त्रानुकूल पालन करते हुए जीवन-यापन करना ।[3]

१- "शक्यं पुनररण्येषु सुखेनैकेन जीवितुम् ।
अबिभ्रता पुत्रपौत्रान् देवर्षीनतिथीन् पितॄन् ।।
नेमे मृगाः स्वर्गजितो न वराहाः न पक्षिणः।
अथान्येन प्रकारेण पुण्यमाहुर्न तं जनाः ।।"
-- वही १० ।२२-२३

२- "यदि सन्यासतः सिद्धिं राजा कश्चिदवाप्नुयात् ।
पर्वताश्च द्रुमाश्चैव क्षिप्रं सिद्धिमवाप्नुयुः ।।
एते हि नित्यसन्यासा दृश्यन्ते निरुपद्रवाः ।
अपरिग्रहवन्तश्च सततं ब्रह्मचारिणः ।।
-- वही २४-२५

३- महर्षि व्यास ने भी महाभारत के शान्तिपर्व के ऋषि एवं शकुनि सम्वाद (देखें : म० भा० शान्ति पर्व अ० ११) तथा श्वेतकेतु तथा सुवर्चला के आख्यानों (देखें : म० भा० शान्ति पर्व अ० २२०) के वर्णन के द्वारा यही स्पष्ट किया है कि गृहस्थाश्रम का शास्त्रानुकूल पालन करते हुए भी व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सकता है उसके लिए सन्यास लेना अनिवार्य नहीं है ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि प्राचीन भारतीय विचारकों की दृष्टि में मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है मोक्ष की प्राप्ति और इस मोक्ष-प्राप्ति का सरलतम उपाय है गृहस्थाश्रम का सम्यक् पालन । इस प्रकार मानव-जीवन में गृहस्थाश्रम की महत्ता स्वतः ही स्पष्ट हो जाती है । गृहस्थाश्रम की इसी महत्ता के कारण संस्कृत वाङ्मय के शैशवकाल से ही साहित्य में भी मानव के गार्हस्थ्य-जीवन का किसी न किसी रूप में विस्तृत चित्रण होता आया है ।

२- संस्कृत वाङ्मय के प्रारम्भिक युग में गार्हस्थ्य चित्रण का स्वरूप

संस्कृत वाङ्मय के प्रारम्भिक काल में तत्कालीन गार्हस्थ्य-जीवन की एक सुन्दर झाँकी हमें वैदिक साहित्य में देखने को मिलती है । ऋग्वेद एवं अथर्व वेद आदि वैदिक वाङ्मय में हमें अनेक ऐसे मन्त्र मिलते हैं जिनमें पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्धों, उनके गार्हस्थ्य जीवन के सुन्दर कर्तव्यों एवं पारिवारिक जीवन के अन्य सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का वर्णन हुआ है । यहाँ सर्वप्रथम पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्धों, कर्तव्यों एवं उनके अधिकारों का वर्णन प्रस्तुत किया जाएगा । तदनन्तर गार्हस्थ्य की परिधि में आने वाले अन्य पारिवारिक सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन किया जाएगा ।

(क) पति-पत्नी का पारस्परिक सम्बन्ध एवं उनके अधिकार तथा कर्तव्य :

वैदिक युग में पति-पत्नी के पारस्परिक सम्बन्धों के चित्रण को देखने के लिए यदि हम वैदिक साहित्य का आश्रय लें तो ऋग्वेद के दशम मण्डल के पच्चासिवें सूक्त में तथा अथर्ववेद के चौदहवीं कण्डिका में हमें अनेक ऐसे मन्त्र मिलते हैं जिनमें इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया गया है । आश्वलायन गृह्यसूत्र में एक स्थान पर वैवाहिक विधि-निरूपण के प्रसंग में वर के मुख से वधु को सम्बोधित करते हुए कहलाया गया है कि तुम गीत हो मैं माधुर्य हूं, मैं स्वर्ग हूं तुम पृथ्वी हो, हम दोनों विवाह करके, जीवन भर

सुन्दर मन एवं प्रसन्न चित्त रहते हुए तथा सन्तान उत्पन्न करते हुए सौ वर्ष तक जीवित रहें ।[1]

आश्वलायन गृह्यसूत्रकार के उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में पति-पत्नी का सम्बन्ध यावज्जीवन का सम्बन्ध होता था और उनके गृहस्थ होने का मुख्य उद्देश्य था सन्तति उत्पादन । ऋग्वेद में एक स्थान पर वधू के प्रति मंगल कामना व्यक्त करते हुए कहा गया है कि हे इन्द्र ! इस स्त्री को सुपुत्रों तथा समृद्धि की भेंट दो, इसे दस पुत्र दो और इसके पति को ग्यारहवां बना दो ।[2]

ऋग्वेद के इस आशीर्वचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन जन-मानस कम से कम दस पुत्रों का होना आवश्यक मानता था । इसके अतिरिक्त इस मन्त्र से यह भी प्रकट होता है कि उस युग में पत्नी से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह घर में अपने पति की देखरेख एक पुत्र की ही भांति करे । सदा उससे पुत्रवत कोमल व्यवहार ही करे ।

१- 'अमोऽहमस्मि सा त्वं सा त्वमस्यमोऽहं द्यौरहं पृथिवी त्वं सामाहमृक् त्वं तावेह विवहावहै प्रजां प्रजनयावहै संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ जीवेव शरदः शतमिति ।'
-- आश्व० गृ० सू० १।५।५

२- 'इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु ।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि ।।'
-- ऋ० १०।८५।४५

वैदिक युग में वैवाहिक विधि के अन्तर्गत निर्धारित सप्तपदी की विधि से भी पत्नी के कुछ आवश्यक कर्तव्य स्पष्ट प्रतीत होते हैं ।[1] इस सप्तपदी से यह सुनिश्चित हो जाता है कि प्रत्येक पत्नी का यह कर्तव्य है कि वह अपने घर में सदा धन, अन्न आदि की सुचारु व्यवस्था रखे एवं पति से सदा सद्भावत व्यवहार रखे ।

इस सप्तपदी के अनन्तर ही वर वधू से कहता था कि "मैं कभी तुम्हारी मैत्री से च्युत न होऊं कभी तुम मेरी मैत्री से च्युत न होओ । आओ हम लोग साथ-साथ प्रतिज्ञा करें कि प्रेम सूत्र में बंधे हुए सदा एक दूसरे के साथ में प्रसन्न, कभी आनन्द तथा मनोरंजन में भाग लेते हुए हम लोग अपने विचारों तथा अपने कर्तव्यों एवं आदर्शों को एकाकार करने की चेष्टा करेंगे ।"[2]

आपस्तम्ब के इस उल्लेख से स्पष्ट है कि उस युग में पति-पत्नी का यह कर्तव्य माना जाता था कि वे गार्हस्थ्य जीवन के सभी सुखों का मिलकर उपभोग करें और जीवन की सभी समस्याओं के समाधान के लिए वे समानबुद्धि एवं समान विचार वाले बनें ।

इसके अतिरिक्त उस युग में पति-पत्नी का यह भी कर्तव्य था कि वे जीवन में प्रत्येक धार्मिक अवसरों पर साथ-साथ रहें । ऋग्वेद में एक स्थल पर

१- "अथैनामपराजितायां दिशि सप्तपदान्यभ्युत्क्रामयति एकपदूर्जे द्विपदी रायस्पोषाय त्रिपदी मायोभव्याय चतुष्पदी प्रजाभ्यः पञ्चपदृतुभ्यः षट्पदी सखा सप्तपदी भव सा मामनुव्रता भव पुत्रान् विन्दावहै बहूंस्ते सन्तु जरदष्टयः इति ।"

-- आश्व० गृ० सू० १।५।२०

२- देखें : आप० म० प्रा० १।३।१४

पाणिग्रहण का यही मुख्य उद्देश्य मानते हुए वर के मुख से कहलाया गया है कि मैं तुम्हें गार्हपत्य के लिए ग्रहण करता हूं ।[1] इन कर्तव्यों के अतिरिक्त भी उस युग में पति की पत्नी के प्रति एकनिष्ठा का होना आवश्यक माना जाता था और पति से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह गार्हस्थ्य जीवन में पत्नी के घरेलू कार्यकलापों में हस्तक्षेप न करे । इसी तथ्य को स्पष्ट करते हुए अथर्ववेद में एक स्त्री के मुख से इन शब्दों को कहलवाया गया है, "मैं बोलती हूं तू न बोले, तू सभा में निश्चयपूर्वक बोल, तू केवल मेरा ही होकर रह अन्यों का नाम तक न ले ।[2]

इन कर्तव्यों के अतिरिक्त भी उस युग में पत्नी से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह अक्रूर दृष्टि वाली, एवं पति का कल्याण करने वाली बनेगी तथा घर के पशुओं एवं परिवार के अन्य मनुष्यों के प्रति भी कल्याण भाव रखेगी।[3]

१- "इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतां
अस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि ।
एना पत्या तन्वं सं सृजस्वाऽ
धाजिव्री विदथमा वदाथ ।।"
-- ऋ० १०।८५।२७

२- "अहं वदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद ।
ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ।।
-- अथर्व० ७।३८।८

अथर्व् में एक ऐसी औषधि का वर्णन भी हुआ है जो उस युग में पत्नियां अपने पतियों को एकनिष्ठ बनाने के लिए प्रयोग में लाती थीं ।
--देखें : अथर्व० ७।३८ एवं ३६

३- "अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः ।
वीरसूर्देवकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ।।
--ऋ० १०।८५।४४

इसी प्रकार देखें : अथर्व० १४।२।१७ एवं १८

उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य सुनिश्चित हो जाता है कि वैदिक युग में प्रत्येक पति-पत्नी को अपना-अपना गार्हस्थ्य-जीवन विभिन्न कर्तव्यों का साथ-साथ पालन करते हुए व्यतीत करना पड़ता था। स्पष्ट है कि गार्हस्थ्य जीवन के इन कर्तव्यों को सुचारु रूप से निभाने के लिए यह आवश्यक था कि उनके विचार भी समान हों। इसीलिए उस युग में वर देवताओं से यह प्रार्थना करता था कि विवाह के अनन्तर वे उन्हें समान बुद्धि एवं समान हृदय वाला बनाएं।[१]

वैदिक युग में प्रत्येक पत्नी का यह कर्तव्य भी माना जाता था कि वह घरेलू जीवन के अतिरिक्त भी पति के अन्य कार्यों में उसकी सहायता करेगी। ऋग्वेद में हमें इन्द्रसेना मुद्गलानी का वर्णन देखने को मिलता है।[२] इस वर्णन के अनुसार मुद्गलानी एक वीर स्त्री थी, साहसपूर्वक अपने रथ का संचालन करती थी और उसने एक स्मरणीय संघर्ष में अपने पति के साथ सैकड़ों पशुओं के ऊपर विजय प्राप्त की थी।[३]

यहां यह अवधेय है कि वैदिक युग में प्रत्येक पति-पत्नी वृद्धावस्था तक गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते थे और जिस जब जंगलों में जाते थे तो उनकी पत्नियां भी उनके साथ होती थीं। और जीवन के इस उत्तर काल में भी वे सन्तति-उत्पादन में नहीं हिचकिचाते थे। इस सन्दर्भ में ऋग्वेद का अगस्त्य लोपामुद्रा संवाद विवेचनीय है।

१- 'समंजन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ।।'
-- ऋ० १०।८५।४७

२- देखें : ऋ० १०।१०२।२-११।

३- विस्तृत कथा के लिए देखें ऋ० १।१७६

ऋग्वेद के इस वर्णन से यह सुनिश्चित हो जाता है कि उस युग में वृद्धावस्था में भी पति-पत्नी अपने गार्हस्थ्य जीवन का निर्वाह करते थे और सन्तति-उत्पादन भी ।

(ख) वधू का परिवार के अन्य सदस्यों से सम्बन्ध

ऋग्वेद के एक मन्त्र में वधू से कहा गया है कि 'तुम, श्वसुर, सास एवं ननंद तथा देवरों पर रानी की तरह बनो'[१] इस वर्णन से यह प्रतीत होता है कि वैदिक युग में प्रत्येक वधू का यह कर्तव्य था कि वह ससुर तथा परिवार के अन्य सदस्यों का उसी तरह पालन करे जैसे कि रानी अपनी प्रजा का पालन करती है । इसके साथ ही ससुर आदि का भी यह कर्तव्य हो जाता है कि वे अपनी वधू का एक रानी की तरह सम्मान करें ।

(ग) परिवार के अन्य सदस्यों का पारस्परिक सम्बन्ध

अथर्ववेद में एक स्थान पर अथर्वा ऋषि एक परिवार को आशीर्वाद देते हुए कहते हैं कि 'पुत्र पिता का आज्ञाकारी एवं माता के विचारों का सम्मान करने वाला बने, पत्नी पति से सदैव शुभ तथा मधुर शब्द कहे, भाई-भाई से और बहन-बहन से घृणा न करे । सभी एकमत और उच्च उद्देश्यों वाले हों तथा आपस में केवल शुभ शब्द बोलने वाले हों ।'[२]

१- 'सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव ।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधिदेवृषु ।।
--ऋ० १०।८५।४६

२- 'अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ।।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ।।
--अथर्व० ३।३०।२-३

ऋषि अथर्वा के इस आशीर्वचन से यह प्रतीत होता है कि उस युग में पुत्र पिता, माता का आज्ञाकारी होता था एवं भाइयों तथा बहनों में एक स्निग्ध एवं प्रेमयुक्त सम्बन्ध होता था ।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत वाङ्मय में वैदिक साहित्य में गार्हस्थ्य-जीवन का एक सुन्दर और आदरणीय चित्रण हुआ है और इस चित्रण से यह भी सुनिश्चित हो जाता है कि उस युग में गार्हस्थ्य की परिधि में आने वाले प्रत्येक पारिवारिक सदस्यों में मधुर एवं प्रेमयुक्त सम्बन्ध होता था । सभी एक दूसरे का सम्मान करते हुए एक दूसरे की सहायता करते हुए गार्हस्थ्य-जीवन के निर्वाह में अपनी भूमिका सुचारु रूप से प्रस्तुत करते थे ।

वैदिक साहित्य के पश्चात् संस्कृत वाङ्मय की एक प्रमुख विधा, महाकाव्यों में भी गार्हस्थ्य-चित्रण की एक विस्तृत परम्परा देखने को मिलती है । संस्कृत-महाकाव्यों का प्रारम्भ वाल्मीकि रामायण एवं महाभारत से माना जाता है इसीलिए इन दोनों को महाकाव्यों की परम्परा में "उपजीव्य या आदि काव्य" की संज्ञा दी गई है ।

चूंकि रामायण एवं महाभारत संस्कृत साहित्य के प्रारम्भिक महाकाव्य हैं इसलिए संस्कृत महाकाव्यों में गार्हस्थ्य-चित्रण के विवेचन के प्रसंग में सर्वप्रथम इन महाकाव्यों में उपलब्ध गार्हस्थ्य-जीवन का अध्ययन आवश्यक है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध की भूमिका में स्पष्ट किया जा चुका है कि शोधकर्ता ने अपने शोध अध्ययन के प्रसंग में अध्ययन की परिधि में आने वाले महाकाव्यों को, शास्त्रों में प्रतिपादित पुरुषार्थ चतुष्टय के आधार पर "पुरुषार्थ चतुष्टय प्रधान, धर्म प्रधान, अर्थ प्रधान एवं काम प्रधान इन चार भागों

में विभाजित किया है ।[1] यहां 'पुरुषार्थ चतुष्टय प्रधान महाकाव्यों में गार्हस्थ्य-चित्रण' का विवेचन किया जाएगा ।

३- संस्कृत के पुरुषार्थ चतुष्टय प्रधान महाकाव्य

संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में 'पुरुषार्थ चतुष्टय प्रधान महाकाव्यों' के अन्तर्गत शोधकर्ता ने वाल्मीकि रामायण एवं महाभारत का परिगणन किया है क्योंकि इन काव्यों के प्रणेताओं ने अपने-अपने काव्य-नायकों के सम्पूर्ण जीवन का चित्र प्रस्तुत करते हुए उनके जीवन में धर्म, अर्थ एवं काम तथा मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति का विस्तृत चित्रण किया है ।[2] यहां सर्वप्रथम

१- यहां यह तथ्य अवधेय है कि संस्कृत वाङ्मय में हमें शुद्धरूप से मोक्ष की प्रधानता देने वाला एवं उसका विस्तृत वर्णन करने वाला एक भी महाकाव्य नहीं प्राप्त होता क्योंकि महाकवियों ने अपने काव्य-नायकों के लौकिक-जीवन को ही काव्य का वर्णन का विषय बनाया है और लौकिक जीवन धर्म, अर्थ एवं काम इन तीन पुरुषार्थों से समन्वित होता है जबकि मोक्ष पारलौकिक जीवन के क्षेत्र में आता है ।

२- श्री आनन्दवर्द्धनाचार्य ने महाभारत को केवल मोक्ष प्रधान महाकाव्य माना है । ध्वन्यालोक के चतुर्थ उद्योत के एक सौ नवें श्लोक की वृत्ति में उपर्युक्त विषय का विस्तृत प्रतिपादन करते हुए उन्होंने लिखा है कि 'महाभारतेऽपि शास्त्रकाव्यरूपच्छायाऽन्वयिनि वृष्णिपाण्डव विरसावसानवैमनस्यदायिनीं समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यं प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षण: पुरुषार्थ:, शान्तोरसश्च मुख्यतया विवक्षाविष-यत्वेन सूचित:'

--ध्व० लो० ४।१०६

शोधकर्ता का विचार है कि भले ही महाभारत का पर्यवसान

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)...

वाल्मीकि रामायण के प्रमुख गृहस्थों एवं उनके गार्हस्थ्य-जीवन का विवेचन किया जाएगा ।

४- वाल्मीकि रामायण में गार्हस्थ्य चित्रण एवं उसके मुख्य गृहस्थ

संस्कृत-महाकाव्यों की परम्परा में वाल्मीकि रामायण एक ऐसा महाकाव्य है जिसका वर्णन विषय ही गृहस्थाश्रम का सांगोपांग विवेचन है । इस महाकाव्य में अनेक व्यक्तियों के विस्तृत गार्हस्थ्य-जीवन के चित्रण में हमें एक परिवार के प्राय: सभी सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों का एक आदर्श स्वरूप देखने को मिलता है । यहाँ विस्तृत रूप से प्रतिपादित गृहस्थाश्रम या गार्हस्थ्य-जीवन को ही ध्यान में रखते हुए अनेक विद्वानों ने यह कल्पना की है कि वाल्मीकि ने इस काव्य की रचना ही गृहस्थाश्रम का विस्तृत चित्रण करने के लिए की थी ।[१]

मोक्ष तत्व के विश्लेषण के पश्चात् होने के कारण उसे मुख्य रूप से "मोक्ष प्रधान" माना जाय परन्तु चूंकि महाकवि व्यास ने अपने काव्य-नायकों-पंचपाण्डवों के लौकिक जीवन का चित्रण करते हुए उनके जीवन में धर्म, अर्थ एवं काम का विस्तृत चित्रण किया है । अत: पुरुषार्थ-चतुष्टय के समान रूप से चित्रण के कारण महाभारत को पुरुषार्थ चतुष्टय प्रधान महाकाव्य माना जा सकता है ।

१- श्री बलदेव उपाध्याय जी ने भी रामायण का मुख्य प्रतिपाद्य विषय "गार्हस्थ्य जीवन" मानते हुए कहा है कि "उपनिषदों और आरण्यकों ने लोक में जो वैराग्य की भावना प्रसारित की थी उसी की प्रतिक्रिया के रूप में वाल्मीकि ने रामायण की रचना करके गृहस्थ-धर्म को गौरवान्वित किया। आदर्श पिता, आदर्श माता, आदर्श भाई, आदर्श पति, आदर्शपत्नी आदि

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)...

गार्हस्थ्य-चित्रण को ही अपना मुख्य प्रतिपाद्य-विषय बनाने के कारण वैसे तो इस महाकाव्य में आदि कवि ने महाराज दशरथ, मर्यादा-पुरुषोत्तम राम, विदेहराज जनक एवं लंकाधिपति रावण आदि अनेक गृहस्थों का विस्तृत चित्रण किया है परन्तु यहां मुख्यरूप से महाराज दशरथ एवं राम के ही गार्हस्थ्य-जीवन का ही विवेचन किया जाएगा क्योंकि इन दोनों गृहस्थों का कथानक ही रामायण की 'आधिकारिक कथावस्तु' के अन्तर्गत आता है जबकि अन्य गृहस्थों के कथानक प्रासंगिक कथावस्तु के पताका या प्रकरी रूप में ही प्रयुक्त हुए हैं ।

क- दशरथ का गार्हस्थ्य-जीवन

प्रस्तुत महाकाव्य के 'बाल' एवं 'अयोध्या' इन दो काण्डों में महाराज दशरथ के गार्हस्थ्य-जीवन का विस्तृत चित्रण किया गया है । चूंकि व्यक्ति के गार्हस्थ्य-जीवन का प्रारम्भ विवाह संस्कार के पश्चात् होता है इसलिए यहां सर्वप्रथम दशरथ के वैवाहिक प्रकरण का विवेचन आवश्यक है ।

जितने आदर्शों को इस अनुपम महाकाव्य में आदि कवि की शब्द तूलिका ने खींचा है,वे सब गृह धर्म के पट पर ही चित्रित किए गए हैं । इतना ही क्यों राम-रावण का भयानक युद्ध भी इस काव्य का मुख्य उद्देश्य नहीं है । वह तो राम-जानकी, पति-पत्नी की परस्पर विशुद्ध प्रीति को पुष्ट करने का एक उपकरण मात्र है ।

--देखें : श्री बलदेव उपाध्याय :'आदि कवि वाल्मीकि', कल्याण का संक्षिप्त वाल्मीकि रामायणांक, पृ० १४ ।

इसी प्रकार देखें : डा० एस० एन० व्यास :'रामायणकालीन समाज', पृ० ९४-९५ ।

(।) दशरथ का पत्नियों से सम्बन्ध

वाल्मीकि के अनुसार महाराज दशरथ का अनेक रानियों से विवाह हुआ था[1] परन्तु इन रानियों के होते भी उन्होंने अपने गार्हस्थ्य-जीवन का निर्वाह कौसल्या, सुमित्रा एवं कैकेयी इन तीन रानियों के साथ किया था।[2]

१- वाल्मीकि रामायण में प्राप्त कुछ उल्लेखों से यह ज्ञात होता है कि दशरथ के साढ़े तीन सौ रानियां थीं--कैकेयी के प्रासाद में महाराज दशरथ से मिलने के लिए कौसल्या के साथ ही अन्य साढ़े तीन सौ रानियां भी आयी थीं --

'अर्द्धसप्तशतास्तत्र प्रमदास्ताम्रलोचना: ।
कौसल्यां परिवार्याथ शनैर्जग्मुर्धृतव्रता: ।।

--वा० रा० अयोध्या ३४।१३

इसी प्रकार राम वन-गमन के समय कहा गया है कि राम ने कौसल्या के अतिरिक्त अन्य साढ़े तीन सौ रानियों से भी वन जाने का अपना निश्चय बताया था --

'एतावदभिनीतार्थमुक्त्वा स जननीं वच: ।
त्रय: शतशतार्धा हि ददर्शावेक्ष्य मातर: ।।'

--वा० रा० अयोध्या ३९।३६

२- ऐतिहासिकों का मत है कि 'रामायणकालीन आर्य राजाओं के चार मुख्य रानियां हुआ करती थीं जो महिषी, परिवृत्ति, वावाता एवं पालाकली कहलाती थीं। इनमें से महिषी पटरानी पद पर अभिषिक्त होती थी, परिवृत्ति राजा की उपेक्षित भार्या होती थी और वावाता राजा की विशेष प्रियपात्रा तथा पालाकली किसी निम्न वर्ण की होती थी।'

--देखें : डा०एस०एन०व्यास : 'रामायणकालीन समाज', पृ०१२८-६।

यदि उपर्युक्त तथ्य को दशरथ की तीनों रानियों पर लागू करें तो स्पष्ट है कि ज्येष्ठ होने के कारण कौसल्या 'महिषी', सुमित्रा दशरथ तथा उपेक्षित होने के कारण 'परिवृत्ति' एवं कैकेयी उनकी प्रियपात्र होने के कारण 'वावाता' पद पर अभिषिक्त थीं। यहां यह तथ्य अवधेय है

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)...

इनमें से भी उनके जीवन में कैकेयी एवं कौसल्या की ही प्रधानता थी क्योंकि कैकेयी जहां उनकी प्राणप्रिया थी वहीं कौसल्या राम की माता होने के कारण भावी राजमाता एवं दशरथ की ज्येष्ठ पत्नी होने के कारण "राजमहिषी" पद पर आरूढ़ थी परन्तु सुमित्रा सदा ही दशरथ की उपेक्षित भार्या थी । इन विभिन्न रानियों के साथ असमान व्यवहार के होते हुए भी सम्भवत: दशरथ ने प्रत्येक रानियों के निवास के लिए पृथक्-पृथक् प्रासादों का निर्माण करवाया था जो कि रानियों के मनोविनोद के विभिन्न साधनों एवं सुखसुविधाओं की सभी सामग्रियों से युक्त थे । इन रानियों के भव्य प्रासादों की एक सुन्दर झांकी हमें कैकेयी के प्रसाद में देखने को मिलती है ।[१] भिन्न-भिन्न प्रासाद के अतिरिक्त राजा दशरथ की ओर से

कि वाल्मीकि ने दशरथ की "पालाकली" रानी का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है परन्तु इन तीनों के अतिरिक्त एक "अपरा" रानी का वर्णन किया है --

"होताध्वर्युस्तथोद्गाता हस्तेन समयोजयन् ।
महिष्या परिवृत्त्याऽथ वावातामपरां तथा ।

--वा० रा० बाल० १४।३५

कुछ लेखकों ने यह विचार भी व्यक्त किया है कि महिषी क्षत्रिय जाति की, परिवृत्ति वैश्या जाति की एवं वावाता शूद्रा तथा पालाकली भी किसी निम्न वर्ग की महिलाएं होती थीं ।
-- देखें : डा०एस०एन०व्यास : "रामायणकालीन समाज", पृ० १२८-१२६ ।

१- वाल्मीकि ने समस्त भोगविलास के साधनों से समन्वित कैकेयी के प्रासाद का चित्रण इस प्रकार किया है --

"शुकबर्हिसमायुक्तं क्रौञ्चहंसरुतायुतम्
वादित्ररवसंघुष्टं कुब्जावामनिकायुतम् ।।
लतागृहैश्चित्रगृहैश्चम्पकाशोकशोभितैः
दान्तराजतसौवर्णवेदिकाभिः समायुतम् ।।
नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैर्वापीभिरुपशोभितम्
दान्तराजतसौवर्णैः संवृतं परमासनैः ।।
विविधैरन्नपानैश्च भक्ष्यैश्च विविधैरपि ।
उपपन्नं महार्हैश्च भूषणैस्त्रिदिवोपमम् ।।

--वा० रा० अयोध्या १०।१२-१५

सम्भवत: प्रत्येक रानियों की निजी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कोष की भी व्यवस्था की गयी थी और इस धन के व्यय के लिए रानियां पूर्ण स्वतंत्र थीं। महिषी कौसल्या को दशरथ ने उनकी निजी आवश्यकता की पूर्ति के लिए एक हजार गांव दिए थे[1] और कौसल्या इस धन से बटुओं एवं ब्राह्मणों को दान देती थीं। कौसल्या के प्रासाद में नित्य ही मैखलाधारी ब्रह्मचारियों का समुदाय दान के लिए आता था।[2]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दशरथ की प्रत्येक रानियां भव्य प्रासादों में सुखमय एवं ऐश्वर्यपूर्ण जीवन व्यतीत करती थीं।[3] और इस प्रकार दशरथ ने उनकी आवश्यक सामग्रियों, आवास एवं भोजन आदि की व्यवस्था करने के कारण 'भर्ता' शब्द को चरितार्थ करते हुए पति के धर्म का निर्वाह किया था।

दशरथ द्वारा प्रत्येक रानियों की उपर्युक्त समान व्यवस्था के साथ ही यहां यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए कि उन्होंने अपना गार्हस्थ्य

१- 'कौसल्या बिभृयादार्या सहस्रं मद्विधानामपि ।
यस्या: सहस्रं ग्रामाणां सम्प्राप्तमुपजीविनाम् ।।
--वही अयोध्या० ३१।२२

२- मैखलीनां महासङ्घ: कौसल्यां समुपस्थित: ।
तेषां सहस्रं सौमित्रे प्रत्येकं सम्प्रदापय ।।
--वही अयोध्या० ३२।२१

३- अयोध्या आने वाली वानर रमणियां दशरथ की रानियों के इस ऐश्वर्यपूर्ण जीवन को देखने की विशेष इच्छुक थीं --
'विभूतिं चैव सर्वासां स्त्रीणां दशरथस्य च (पश्याम: इतिशेष:)
-- वही युद्ध १२३।५

मुख्य रूप से कैकेयी एवं कौसल्या इन दोनों के साथ ही व्यतीत किया था। कैकेयी से महाराज दशरथ का विवाह वृद्धावस्था में हुआ था। सम्भवत: वह युवावस्था के साथ ही अन्य रानियों की अपेक्षा सौन्दर्य युक्त भी थी इसीलिए दशरथ को वह प्राणों से भी अधिक प्रिय थी।[1] कैकेयी के रूप-पाश में बंधे हुए दशरथ उसकी हर उचित-अनुचित इच्छा का पालन करने के लिए बाध्य थे।[2] इस व्यक्तिगत बाध्यता के अतिरिक्त कैकेयी के अनुचित आदेशों का विरोध करने का भी उनमें साहस नहीं था।[3] स्वाभाविक है कि कैकेयी के प्रति इस एकनिष्ठ

१- "स वृद्धस्तरुणीं भार्यां प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम्।

-- वा० रा० अयोध्या० १०।२३

२- कुब्जा ने इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए कैकेयी से कहा था --

"दयिता त्वं सदा भर्तुरत्र मे नास्ति संशय:।
त्वत्कृते च महाराजो विशेदपि हुताशनम्॥
न त्वां क्रोधयितुं शक्तो न क्रुद्धां प्रत्युदीक्षितुम्।
तव प्रियार्थं राजा तु प्राणानपि परित्यजेत्॥
न ह्यतिक्रमितुं शक्तस्तव वाक्यं महीपति:।
मन्दस्वभावे बुध्यस्व सौभाग्यबलमात्मन:॥

--वा० रा० अयोध्या ९।२४-२६

३- कोप भवन में कैकेयी की अभ्यर्थना करते हुए दशरथ ने कहा था --

"कस्य वापि प्रियं कार्यं केन वा विप्रियं कृतम्
क: प्रियं लभतामद्य को वा सुमहदप्रियम्॥
मा रोदीर्मा च कार्षीस्त्वं देवि सम्परिशोषणम्॥
अवध्यो वध्यतां को वा वध्य: को वा विमुच्यताम्।
दरिद्र: को भवेदाढ्यो द्रव्यवान् वाप्यकिंचन:॥
अहं च हि मदीयाश्च सर्वे तव वशानुगा:।
न ते कंचिदभिप्रायं व्याहन्तुमहमुत्सहे॥

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)..

व्यवहार से अन्य रानियां महाराज दशरथ द्वारा उपेक्षित ही रहतीं । यही कारण है कि कौसल्या महिषी पद पर आरूढ़ होते हुए भी दशरथ द्वारा सदा उपेक्षित ही रहीं[1]। वह कैकेयी के भय से कौसल्या का यथेष्ट सम्मान भी नहीं कर पाते थे[2] लेकिन इस उपेक्षा पूर्ण व्यवहार के साथ ही उन्होंने धार्मिक कार्य-कलापों की पूर्ति के समय, ज्येष्ठ रानी होने के कारण कौसल्या को ही प्रमुख स्थान दिया था । इसीलिए अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर अश्व के आलभन

आत्मनो जीवितेनापि ब्रूहि यन्मनसि स्थितम् ।
बलमात्मनि जानन्ती न मां शङ्कितुमर्हसि ॥

-- वही अयोध्या० १०।३१-३५

दशरथ के उपर्युक्त कथन से यही स्पष्ट होता है कि कैकेयी उनके राजनीतिक जीवन पर भी छायी हुयी थी और राज्य-संचालन उसी की इच्छा के अनुरूप होता था ।

१- कौसल्या ने दशरथ द्वारा की गई अपनी उपेक्षा का वर्णन करते हुए राम से कहा था --

"न दृष्टपूर्वं कल्याणं सुखं वा पतिपौरुषे
अपि पुत्रे विपश्येयमिति रामास्थितं मया ॥
अत्यन्तं निगृहीतास्मि भर्तुर्नित्यमसम्मता
परिवारेण कैकेय्या: समा: वाप्यथवावरा ॥"

-- वा० रा० अयोध्या०२०।३८ एवं ४२

२- अपने इस कृत्य पर पश्चाताप करते हुए उन्होंने कैकेयी से कहा था --

"यदा-यदा च कौसल्या दासीव च सखीव च
भार्यावद् भगिनीवच्च मातृवच्चोपतिष्ठति ॥
सततं प्रियकामा मे प्रियपुत्रा प्रियंवदा ।
न मया सत्कृता देवी सत्कारार्हा कृते तव ॥

-- वही अयोध्या० १२।६८-६९

की विधि कौसल्या ने ही पूर्ण की थी ।[1] और कैकेयी से भी सदा उन्हें अपमान मिलता था ।[2] यहां इतना ध्यातव्य है कि दशरथ जहां कैकेयी से निष्कपट प्रेम-व्यवहार करते थे वहां वह अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए उनकी उपेक्षा करने में भी संकोच नहीं करती थी । कैकेयी के स्वार्थपूर्ण प्रेम का दृश्य हमें राम-राज्याभिषेक के अवसर पर देखने को मिलता है । दशरथ जीवन के अंतिम भाग में कुल परम्परा का अनुवर्तन करते हुए[3] राम को राज्य पद देकर सन्यास लेना चाहते थे और अपने इस निश्चय को कैकेयी के प्रति निष्कपट प्रेम के कारण सर्वप्रथम उसे ही बताने गए परन्तु स्वार्थी कैकेयी कुलपरम्परा की चिन्ता न करते हुए

१- 'कौसल्या तं हयं तत्र परिचय समन्ततः ।
कृपाणैर्विशशासैनं त्रिभिः परमया मुदा।।
पतत्रिणा तदा सार्धं सुस्थितेन च चेतसा।
अवसद् रजनीमेकां कौसल्या धर्मकाम्यया ।।'
-- वही बाल० १४।३३-३४

२- कैकेयी द्वारा किए जाने वाले अपमान का रोना रोते हुए एवं भावी कष्ट की शंका करते हुए कौसल्या ने राम से कहा था --
'सा बहून्यमनोज्ञानि वाक्यानि हृदयच्छिदाम् ।
अहं श्रोष्ये सपत्नीनाम वराणां परा सती ।।
त्वयि संनिहितेऽप्येवमहमासं निराकृता ।
किं पुनः प्रोषिते तात ध्रुवं मरणमेव हि ।।
--वही अयोध्या० २०।३६ एवं ४१ एवं ४३।३ आदि

३- भारत के अनुसार इक्ष्वाकु कुल में ज्येष्ठ भ्राता ही राजपद पर अभिषिक्त होता था और अन्य भाई उसकी आज्ञा के अधीन रहते हुए जीवन-यापन करते थे --
'अस्मिन् कुले हि सर्वेषां ज्येष्ठो राज्ये भिषिच्यते ।
अपरे भ्रातरस्तस्मिन् प्रवर्तन्ते समाहिताः ।।
-- वही अयोध्या ७३।२०

देवासुर संग्राम में की गई पति-रक्षा के बदले[1] में दो वरदान देने के लिए दशरथ को वचनबद्ध करके एक से भरत का राज्याभिषेक[2] एवं दूसरे से राम का चौदह वर्ष का वनवास मांग बैठी ।[3] कुल-परम्परा का उच्छेद करने वाली एवं अयश का पात्र बनाने वाली कैकेयी की इन दो मांगों को वापस कराने के लिए दशरथ ने पर्याप्त अनुनय विनय की[4] और इनकी पूर्ति से राम के वियोग से अपने प्राणों को भी संकटमय बताते[5] हुए अन्ततः वह मूर्च्छित हो उठे[6] परन्तु ऐसी स्थिति में भी कैकेयी अपने वचनों पर अडिग रही । अन्ततः दशरथ राम-विछोह में मृत्यु को प्राप्त हुए ।

१- देखें : वही अयोध्या स० ११

२- 'अभिषेकसमारम्भो राघवस्योपकल्पितः ।
अनेनैवाभिषेकेण भरतो मेऽभिषिच्यताम् ।।
-- वही ११।२४

३- 'नवपञ्च च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः ।
चीराजिनधरो धीरो रामो भवतु तापसः ।
-- वही अयोध्या ११।२६-२७

४- देखें : वही अयोध्या स० १२ एवं १३ आदि ।

५- 'अपश्यतस्तु मे रामं नष्टं भवति चेतनम् ।
तिष्ठेल्लोको विना सूर्यं सस्यं वा सलिलं विना ।।
न तु रामं विना देहे तिष्ठेत्तु मम जीवितम् ।।
-- वही अयोध्या १२।१३ एवं इसी प्रकार देखें १२।१११ आदि ।

६- 'स भूमिपालो विलपन्ननाथवत्
स्त्रिया गृहीतो हृदये तिमात्रया ।
पपात देव्याश्चरणौ प्रसारिता-
वुभावसम्प्राप्य यथाऽऽतुरस्तथा ।।'
--वही अयोध्या १२।११२

कैकेयी के इस व्यवहार से यह तथ्य सुनिश्चित हो जाता है कि वह आदर्श पत्नी नहीं थी क्योंकि उसका दशरथ के प्रति प्रेम मात्र एक दिखावा था और इसीलिए देवता स्वरूप पति के आदेश की अवज्ञा करने में भी उसे कोई हिचकिचाहट नहीं थी। कैकेयी के इस स्वार्थपूर्ण प्रेम को देख दशरथ क्षुब्ध हो उठे और उन्हें यह भान हुआ कि आज तक जिस प्राणप्रिया सुन्दरी कैकेयी को वह गले लगाए रहे, उसके बाहुपाश में बंधे रहे वही उन्हें समाज में अपमानित कर रही है और उनका जीवन ही समाप्त करने पर तुली हुई है।[1] कैकेयी के इस व्यवहार से क्षुब्ध होकर दशरथ ने उससे एवं उसके पुत्र भरत से सम्बन्ध विच्छेद की घोषणा कर दिया[2] और स्वयं कौसल्या के समीप पहुंचकर[3] उसे आदर्श पत्नी मानते हुए जीवन के अन्तिम क्षणों को उसके साहचर्य में व्यतीत किया। कौसल्या

१- 'इदानीं तत्पति मां यन्मया सुकृतं त्वयि।
अपथ्यव्यञ्जनोपेतं भुक्तमन्नमिवातुरम् ॥
अनृतैर्बत मां सान्त्वैः सान्त्वयन्तीस्म भाषसे।
गीतशब्देन संरुध्य लुब्धो मृगमिवावधीः ॥
चिरं खलु मया पापे त्वं पापेनाभिरक्षिता।
अज्ञानादुपसम्पन्ना रज्जुरुद्बन्धिनी यथा ॥
रममाणस्त्वया सार्धं मृत्युं त्वां नाभिलक्षये।
बालो रहसि हस्तेन कृष्णसर्पमिवास्पृशम् ॥

-- वही अयोध्या १२।७०,७७,८० एवं ८१

२- 'यस्ते मन्त्रकृतः पाणिरग्नौ पापे मया धृतः।
संत्यजामि स्वजं चैव तव पुत्रं सह त्वया ॥

-- वही अयोध्या १४।१४ एवं इसी प्रकार देखें :४२।६-१०

३- देखें : वही अयोध्या स० ४२

महाराज दशरथ के कृत्य से क्षुब्ध हो पहले तो स्वयं राम के साथ ही वन जाना चाहती थीं[1] परन्तु राम द्वारा एक पत्नी का कर्तव्य स्मरण दिलाए जाने पर एवं यह कहने पर कि स्त्री के लिए उसका पति देवता के समान होता है[2]; इसलिए उसका यह कर्तव्य है कि वह प्रत्येक अवस्थाओं में पति का साथ दे। और सदा उसकी सेवा में तत्पर रहे।[3] पति के प्रति यही कर्तव्य उसे स्वर्ग दिला सकता है[4] और इसके निर्वाह न करने से उसे नरक मिलता है।[5] राम के इस कथन से कौसल्या को अपने कर्तव्य का बोध हुआ और साथ ही उन्हें अपनी त्रुटि का भान हुआ और उन्होंने स्वयं वन-गमन का विचार छोड़कर राम को वन जाने की आज्ञा दी। इधर कैकेयी से अपना नाता तोड़कर आए हुए दशरथ को देख, पुत्र-प्रेम के कारण

१- 'नय मामपि काकुत्स्थ वनं वन्यां मृगीमिव ।
यदि ते गमने बुद्धिः कृता पितुरपेक्षया ।।
-- वही अयोध्या २४।१६-२०

२- 'जीवन्त्या हि स्त्रिया भर्ता दैवतं प्रभुरेव च ।
-- वही अयोध्या २४।२१

३- शुश्रूषामेव कुर्वीत भर्तुः प्रियहिते रता: ।
एष धर्मः स्त्रिया: नित्यो वेदे लोके श्रुतः स्मृतः ।।
-- वही अयोध्या २४।२७-२८

४- भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम् ।
अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात् ।।
-- वही अयोध्या २४।२६

५- व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा ।
भर्तारं नानुवर्तेत सा च पापगतिर्भवेत ।।
-- वही अयोध्या २४।२५

कौसल्या क्रोध से अभिभूत हो उठी और दशरथ पर कैकेयी के प्रति अनुचित पक्षपात का उपालम्भ देते हुए[1] कहा कि राजन् ! तुमने तो मुझे चारों ओर से नष्ट कर दिया है[2],मृत्यु के सिवा भला अब क्या अवशिष्ट रह गया है । कौसल्या के इन हृदयविदारक वचनों को सुनकर एवं अपने को दोषी समझकर उन्होंने उससे माफी मांगने के लिए करबद्ध प्रार्थना करते हुए कहा कि एक स्त्री के लिए उसका पति ही देवता होता है इसलिए उसे कठोर वचन नहीं कहना चाहिए ।[3] दशरथ के इस कथन को सुनकर उसे पुन: अपनी त्रुटि का आभास हो जाता है और वह दशरथ से अपने इस अनुचित व्यवहार के लिए क्षमा-याचना करते हुए कहती है कि वह उससे ऐसा बर्ताव (क्षमायाचना) न करें क्योंकि उनके

१- देखें : वा० रा० अयोध्या० स० ६१

२- कौसल्या ने दशरथ से अपने सर्वथा विनाश का रोना रोते हुए कहा था --

> 'गतिरेका पतिर्नार्या द्वितीयागतिरात्मज: ।
> तृतीया ज्ञातयो राजंश्चतुर्थी नैव विद्यते ।।
> तत्र त्वं मम नैवासि रामश्च वनमाश्रित: ।
> न वनं गन्तुमिच्छामि सर्वथा हा हतात्वया ।।'
>
> --वही अयोध्या० ६१।२४-२५

३- 'प्रसादये त्वां कौसल्ये रचितोऽयं मयाऽञ्जलि: ।
वत्सला चानृशंसा च त्वं हि नित्यं परेष्वपि ।।
भर्ता तु खलु नारीणां गुणवान् निर्गुणोऽपि वा ।
धर्मं विमृशमानानां प्रत्यक्षं देवि दैवतम् ।।

-- वही अयोध्या ६२।७-८

इस कृत्य से उसका आदर्श पत्नीत्व ही समाप्त हो जाएगा ।[१] अन्ततः कौसल्या अपने इस कृत्य का कारण पुत्र-वियोग से उत्पन्न शोक बताते हुए उनसे पुनः क्षमा याचना करती है ।[२]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि कौसल्या, सुमित्रा एवं कैकेयी, इन तीनों रानियों में से केवल कौसल्या (सुमित्रा चूंकि दशरथ की उपेक्षिता भार्या थी इसीलिए वाल्मीकि ने उसका विस्तृत चित्रण नहीं किया और इसके अभाव में सुमित्रा के प्रति कुछ भी नहीं कहा जा सकता) ने ही आदर्श-पत्नी का व्रत निभाया था और इसीलिए जीवन के अन्तिम दिनों में दशरथ उसके पास ही रहे ।

(ग) दशरथ द्वारा पुत्रोत्पादन के लिए विभिन्न यज्ञों का अनुष्ठान, पुत्र-प्राप्ति एवं पुत्रों के प्रति अपेक्षित कर्तव्यों का निर्वाह

वाल्मीकि के अनुसार महाराज दशरथ पूर्वजों से प्राप्त अयोध्यापुरी की प्रजा का पुत्रवत् पालन एवं धर्म, अर्थ तथा काम का सम्पादन करने वाले कर्मों का सम्पादन करते हुए सुखपूर्वक गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत कर रहे थे ।[३] परन्तु इस

१- 'प्रसीद शिरसा याचे भूमौ निपतितास्मि ते ।
याचितास्मि हता देव क्षन्तव्याहं नहि त्वया।।
नैषा हि सा स्त्री भवति श्लाघनीयेन धीमता।
उभयोर्लोकयोर्लोके पत्या या सम्प्रसाद्यते ।।
-- वही अयोध्या० ६२।१२-१३

२- 'जानामि धर्मं धर्मज्ञ त्वां जाने सत्यवादिनम् ।
पुत्रशोकार्तया तत्तु मया किमपि भाषितम्।।
-- वही अयोध्या ६२।१४

३- 'तेन सत्याभिसंधेन त्रिवर्गमनुतिष्ठता ।
पालिता सा पुरी श्रेष्ठा इन्द्रेणेवामरावती ।।
-- वही बाल० ६।५

सुखमय गार्हस्थ्य के होते हुए भी दशरथ के कोई पुत्र नहीं हो रहा था । और इसीलिए वह सदा वंशकर सुत के लिए चिन्तित रहा करते थे ।[१] एक दिन उन्होंने सहसा ही पुत्र-प्राप्ति के लिए अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया[२] तथा मन्त्रियों से भी इस विषय पर परामर्श करके उन्होंने अपने गुरुओं को भी बुलवाया ।[३] सुयज्ञ, वामदेव, जाबालि एवं वसिष्ठ आदि से उन्होंने पुन: अपना निश्चय बताया ।[४] गुरुओं ने उनके इस विचार की सराहना करते हुए यज्ञ को पूर्ण कराने का आश्वासन दिया और अन्तत: वसन्त ऋतु में सरयू के तट पर दशरथ ने विधिपूर्वक अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया ।[५] अश्वमेध यज्ञ की समाप्ति के पश्चात् उन्होंने ज्योतिष्टोम, आयुष्टोम, अतिरात्र, अभिजित, विश्वजित् एवं

१- 'तस्य त्वेवं प्रभावस्य धर्मज्ञस्य महात्मन: ।
सुतार्थं तप्यमानस्य नासीद् वंशकर: सुत: ।।
-- वा० रा० बाल० ८।१

२- चिन्तयानस्य तस्यैवं बुद्धिरासीन्महात्मन: ।
सुतार्थं वाजिमेधेन किमर्थं न यजाम्यहम् ।।
-- वही ८।२

३- देखें : वही ८।३-७

४- देखें : वही ८।३।८-६

यहां यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि दशरथ ने अश्वमेध आदि यज्ञों का सम्पादन मात्र धार्मिक बुद्धि से ही किया था न कि पुत्र-प्राप्ति के लिए । पुत्र-प्राप्ति की दृष्टि से तो उन्होंने आगे चलकर "पुत्रेष्टि" यज्ञ का सम्पादन किया था ।

५- देखें : वही स० १२-१४

आप्तोयामि नामक महाक्रतुओं को भी पूर्ण किया[1] और इन धार्मिक यज्ञों के सम्पादन के बाद उन्होंने पुत्र-प्राप्ति के ध्येय से पुत्रेष्टि यज्ञ का प्रारम्भ किया। इस यज्ञ के समय ही यज्ञ के अग्निकुण्ड से एक देव पुरुष निकला और उसने दशरथ को देवताओं द्वारा निर्मित खीर प्रदान करते हुए अपनी स्त्रियों को खिलाने का आदेश दिया।[2] दशरथ ने उस खीर का आधा भाग कौसल्या को, बचे हुए आधे का आधा सुमित्रा को, उससे अवशिष्ट आधे का आधा कैकेयी को एवं पुन: अवशिष्ट भाग भी सुमित्रा को दिया।[3] इस खीर के प्रभाव से ही ये तीनों रानियां गर्भवती हुई और यज्ञ समाप्ति के पश्चात बारहवें मास में कौसल्या ने

१- 'ज्योतिष्टोमायुषी चैवमतिरात्रौ च निर्मितौ ।
अभिजिद्विश्वजिच्चैवमाप्तोयामो महाक्रतु: ।।
-- वही वा० रा० बाल० १४।४२

२- 'इदं तु नृपशार्दूल पायसं देवनिर्मितम् ।
प्रजाकरं गृहाण त्वं धान्यमारोग्यवर्धनम् ।।
भार्याणामनुरूपाणामश्नीतेति प्रयच्छ वै ।
तासु त्वं लप्स्यसे पुत्रान् यदर्थं यजसे नृप ।।
-- वही बाल० १६।१९-२०

३- 'कौसल्यायै नरपति: पायसार्धं ददौ तदा ।
अर्धादर्धं ददौ चापि सुमित्रायै नराधिप:।।
कैकेय्यै चावशिष्टार्धं पायसस्यामृतोपमम् ।
अनुचिन्त्य सुमित्रायै पुनरेव महामति: ।।
एवं तासां ददौ राजा भार्याणां पायसं पृथक्।।
-- वही १६।२७-२९

राम को;[1] कैकेयी ने भरत को[2] और सुमित्रा ने लक्ष्मण एवं शत्रुघ्न को जन्म दिया ।[3]

महाराज दशरथ ने इन चारों पुत्रों के विभिन्न संस्कारों को विधिपूर्वक सम्पन्न करवाया[4] एवं उनके शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था करके उन्हें

१- 'ततो यज्ञे समाप्ते तु ऋतूनां षट् समत्ययुः ।
ततश्च द्वादशे मासे चैत्रे नावमिके तिथौ ।।
नक्षत्रे ऽदिति दैवत्ये स्वोच्चसंस्थेषु पञ्चसु ।
ग्रहेषु कर्कटे लग्ने वाक्पताविन्दुना सह ।।
प्रोद्यमाने जगन्नाथं सर्वलोकनमस्कृतम् ।
कौसल्या जनयद् रामं दिव्यलक्षणसंयुतम् ।।
-- वही बाल १८।८-१०

२- 'भरतो नाम कैकेय्यां जज्ञे सत्यपराक्रमः ।
यथा वरेण देवानामदितिर्वज्रपाणिना ।।'
-- वही १८।१२

३- 'अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्राजनयत् सुतौ ।
वीरौ सर्वास्त्रकुशलौ विष्णोरर्द्धसमन्वितौ ।।
-- वही १८।१३

यहाँ यह स्मरणीय है कि भरत पुष्य-नक्षत्र एवं मीन लग्न तथा लक्ष्मण-शत्रुघ्न आश्लेषा नक्षत्र एवं कर्कलग्न में हुए थे --
'पुष्ये जातस्तु भरतो मीनलग्ने प्रसन्नधीः ।
सार्पे जातौ तु सौमित्री कुलीरेऽभ्युदिते रवौ ।।
-- वही १८।१५

४- देखें : वही बाल० [illegible]१-२४ ।

विभिन्न विद्याओं में पारंगत कराया ।[1] इसके पश्चात् उन्हें पुत्रों के विवाह की चिन्ता हुई[2] और इसी बीच महर्षि विश्वामित्र यज्ञ रक्षा के लिए राम और लक्ष्मण को लेकर चले गए ।[3] कालान्तर में विश्वामित्र की आज्ञा से इन दोनों ने जनक के दरबार में पहुंचकर धनुर्भंग द्वारा राम ने सीता को प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त किया ।[4] जनक का निमन्त्रण प्राप्तकर दशरथ भी अपने अन्य दोनों पुत्रों, कुल गुरुओं आदि के साथ मिथिला पहुंचे और वहां राम का सीता से, लक्ष्मण का उर्मिला से तथा भरत एवं शत्रुघ्न का जनक के भाई कुशध्वज की कन्याओं माण्डवी एवं श्रुतकीर्ति से विवाह कराया ।[5]

इस प्रकार एक आदर्श पिता की तरह दशरथ ने चारों पुत्रों का विवाह संस्कार सम्पन्न कराकर उन्हें गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कराया ।[6] चिरकाल तक अयोध्या का शासन एवं पालन करते-करते दशरथ वृद्ध हो चले और इस समय

१- देखें : वही बाल० १८।२६-२७

२- ,, : ,, बाल० १८।३७-३८

३- ,, : ,, बाल० १९ स० २२

४- ,, : ,, बाल० स० ६७

५- ,, : ,, बाल० स० ७०-७१

६- विवाह के पश्चात् दशरथ ने सम्भवत: चारों पुत्रों को भी विभिन्न सुख-साधनों से सम्पन्न भिन्न-भिन्न प्रासाद निवास के लिए दिया था । वाल्मीकि ने राम के भव्य प्रासाद का वर्णन किया है -- देखें :वा० रा० अयोध्या १५।३२-४० ।

प्रासाद के अतिरिक्त प्रत्येक राज कुमार की निजी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सम्भवत: राजा की ओर उनके स्वतंत्र कोष की भी व्यवस्था की गयी थी । वाल्मीकि ने राम के वन-गमन के समय उन्हें अपने "कोष" का दान करता हुआ चित्रित किया है --देखें : वही अयोध्या स० ३२ ।

उनके मन में ज्येष्ठ पुत्र राम को शासन भार देकर विश्राम करने की इच्छा हुई।[1] उनकी इस इच्छा के मूल कारण कुल परम्परा का पालन एवं राम में गुणों की प्रचुरता आदि थे।[2] मन्त्रिपरिषद एवं सामन्तों से भी समर्थन कराकर[3] उन्होंने चैत्रमास के पुष्य नक्षत्र में राम को युवराज पद देने का निश्चय किया।[4] परन्तु कैकेयी की कुटिल राजनीतिक चाल के कारण वह अपना यह अभीष्ट पूर्ण न कर सके। और राज्य देने की कौन कहे स्वयं उन्हें राम को चौदह वर्ष का बनवास देना पड़ा।[5] जीवन के अन्तिम पहर में इस अनैतिक कार्य के कारण एवं पुत्र-विछोह के कारण दशरथ को अपने जीवन से भी हाथ धोना पड़ा।[6]

(iii) दशरथ द्वारा पुरुषार्थ चतुष्टय का अर्जन

वाल्मीकि द्वारा चित्रित महाराज दशरथ के गार्हस्थ्य जीवन के उपर्युक्त विवेचन से यह सुनिश्चित हो जाता है कि उन्होंने आदर्श राजा, आदर्श पति एवं आदर्श पिता की भूमिका निभाते हुए तथा जीवन में धर्म,[7] अर्थ[8] एवं

१- "अथ राज्ञो बभूवैव वृद्धस्य चिरजीविनः ।
प्रीतिरेषा कथं रामो राजा स्यान्मयि जीवति ।।
-- वही अयोध्या १।३६

२- "ज्येष्ठायामसि मे पत्न्यां सदृश्यां सदृशः सुतः ।
उत्पन्नस्त्वं गुणज्येष्ठो मम रामात्मजः प्रियः।।
त्वया यतः प्रजाश्चेमाः स्वगुणैरनुरञ्जिताः ।
तस्मात् त्वं पुष्ययोगेन यौवराज्यमवाप्नुहि।।
-- वही अयोध्या ३।३९-४०

३- देखें : वा० रा० अयोध्या स० २

४- देखें : वही अयोध्या ३।४ एवं ४०

५- विस्तृत कथा के लिए देखें : वही अयोध्या स० १२ से ६३

६- देखें : वही अयोध्या स० ६४

७- "धर्म" से यहां मुख्यरूप से "प्रजापालन रूपी" धर्म को ग्रहण करना चाहिए। महाराज दशरथ ने जीवन-पर्यन्त प्रजा का सम्यक् पालन करते हुए उनका पुत्रवत् पालन किया। अतः हम कह सकते हैं कि उनके जीवन में प्रजा-पालन रूपी राजधर्म का पूर्णरूप से पालन हुआ था।

८- "अर्थ" से यहां तात्पर्य है राज्य रूपी (भूमि आदि) अर्थ। दशरथ ने अपने

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)...

काम की सम्यक् आराधना करते हुए मोक्ष की प्राप्ति करके मानव जीवन को सफल बनाया ।

यहां एक महत्वपूर्ण तथ्य विचारणीय है । यदि दशरथ के गार्हस्थ्य जीवन में पुरुषार्थत्रय का हम आलोचनात्मक अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके जीवन में धर्म एवं अर्थ की अपेक्षा काम ही प्रधान था । काम की प्रधानता के कारण ही वह वृद्धावस्था में भी इसके उपभोग में लगे रहे और अन्तत: इसके प्रति आसक्त दशरथ मृत्यु को ही प्राप्त हुए । स्पष्ट है कि उनकी विपत्ति या मृत्यु का मुख्य कारण काम (कैकेयी के प्रति आसक्ति) ही था । इसीलिए राम ने भी उनकी विपत्ति का मूल कारण काम को ही मानते हुए उन पर काम-परायणता का ही आरोप लगाया था ।[2] लक्ष्मण ने

जीवन में पूर्वजों द्वारा प्रदत्त अर्थ (भूमि आदि) का ही सम्यक् उपभोग किया था, अनुचित रूप से (युद्ध आदि द्वारा) उसके अर्जन का प्रयास नहीं किया था । अत: हम कह सकते हैं कि उन्होंने अपने जीवन में अर्थ की भी सम्यक् आराधना की थी ।

१- वाल्मीकि ने कामोपभोग के कुछ नियम निर्धारित किए थे । जैसे केवल अपनी पत्नी से ही अभिगमन, ऋतुकालाभिगमन, रात्रि के समय ही काम सम्बन्ध आदि -- देखें : वा० रा० अयोध्या ७५।५२ एवं ५५ आदि ।

२- 'अर्थधर्मौ परित्यज्य य: काममनुवर्तते ।
एवमापद्यते क्षिप्रं राजा दशरथो यथा ।।
-- वा० रा० अयोध्या ५३।१३

भी दशरथ के इस कामुकता की निन्दा की थी ।[१] इन लोगों के अतिरिक्त अयोध्या की प्रजा ने भी दशरथ के इस कृत्य या कामानुराग की निन्दा की थी ।[२] इसीलिए वाल्मीकि ने भी काम की अनर्गल आराधना की भर्त्सना करते हुए उससे विरत रहने का आदेश दिया ।[३]

वाल्मीकि ने दशरथ की इस कामपरायणता एवं उसके कारण पुत्रों, प्रजाजनों आदि से प्राप्त भर्त्सना आदि के चित्रण के द्वारा सम्भवत: भावी समाज को यही उपदेश देना चाहा था कि वह काम की अत्यधिक आराधना से बचते हुए, यथा समय काम सेवन के साथ ही धर्म एवं अर्थ की भी आराधना करे । उनके जीवन में "काम" प्रबल न होने पाए ।

१- राम को वन-गमन से विरत होने की सलाह देते हुए लक्ष्मण ने दशरथ पर कामपरायणता का ही आरोप लगाया था --

"न रोचते ममाप्येतदार्ये यद् राघवो वनम् ।
त्यक्त्वा राज्यश्रियं गच्छेत् स्त्रियावाक्यवशंगत: ।।
विपरीतश्च वृद्धश्च विषयैश्च प्रधर्षित: ।
नृप: किमिव न ब्रूयाच्चोद्यमान: समन्मथ: ।।"
-- वही अयोध्या २१।२-३

२- " राजानं धिग् दशरथं कामस्य वशमास्थितम् ।"
-- वही अयोध्या ४९।५

३- "कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता ।"
-- वही अयोध्या २१।५८

ख- राम का गार्हस्थ्य जीवन

महाकवि वाल्मीकि ने प्रस्तुत महाकाव्य में दशरथ के गार्हस्थ्य जीवन के चित्रण के पश्चात्, काव्य के नायक रघुकुलभूषण राम के गार्हस्थ्य का विशद एवं सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत किया है। वस्तुत: दशरथ के गार्हस्थ्य की विवेचना तो उन्होंने पूर्व-पीठिका के रूप में ही प्रस्तुत किया है, उनका मुख्य प्रतिपाद्य केवल राम एवं सीता के गार्हस्थ्य का विस्तृत चित्रण ही है। इसीलिए हमें वाल्मीकि रामायण में बालकाण्ड से लेकर उत्तरकाण्ड तक मुख्यरूप से केवल राम के गार्हस्थ्य का चित्रण ही देखने को मिलता है।

राम के सम्पूर्ण गार्हस्थ्य-जीवन को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं --

प्रारम्भिक गार्हस्थ्य (इसके अन्तर्गत राम के विवाह से लेकर वनवास के पूर्व तक के जीवन को लिया गया है), वन्य गार्हस्थ्य (इसके अन्तर्गत राम के चौदह वर्षों के वन्य जीवन को लिया गया है) और उत्तरकालीन गार्हस्थ्य (इसके अन्तर्गत उनके राज्यारोहण से मृत्युपर्यन्त तक के जीवन को लिया गया है) ।

चूंकि राम के गार्हस्थ्य जीवन के उपर्युक्त तीनों भागों में हमें गार्हस्थ्य के भिन्न-भिन्न स्वरूप देखने को मिलते हैं इसलिए यहां इन तीनों भागों का क्रमिक रूप से अलग-अलग विवेचन किया जाएगा --

(१) प्रारम्भिक गार्हस्थ्य

राम के प्रारम्भिक गार्हस्थ्य का वर्णन हमें बालकाण्ड के अंतिम सर्गों से लेकर अयोध्याकाण्ड के प्रारम्भिक सर्गों तक देखने को मिलता है। सीता से विवाह के पश्चात् राम उनके साथ एक भिन्न प्रासाद में रहते हुए सुखमय गार्हस्थ्य

व्यतीत करने लगते हैं। उनके इस सुखमय गार्हस्थ्य का मूल कारण है एक दूसरे के प्रति दृढ़ आकर्षण, विश्वास एवं समर्पण की भावना। राम का मन सदा सीता में ही लगा रहता था और सीता भी सतत् राम के ध्यान में ही लीन रहती थीं।[1] वह सीता के पातिव्रत्य एवं सौन्दर्य आदि गुणों से उन पर मुग्ध थे और उन्हें अत्यधिक स्नेह करते थे, इधर सीता भी राम के व्यक्तिगत गुणों एवं सौन्दर्य आदि के कारण उन पर मुग्ध थीं और उन्हें अत्यधिक स्नेह करती थीं।[2] इस स्निग्ध एवं प्रेममय सम्बन्ध के कारण ही उनमें आपस में दुराव या छिपाव की भावना नहीं थी और 'वे एक दूसरे के हृदगत भावों को भी जानने में समर्थ थे'।[3] प्रेम की इस निश्छलता एवं सहजता के कारण ही वे दोनों एक

१- 'मनस्वी तद्गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः ।'

-- वा० रा० बाल० ७७।२६

२- 'प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता: इति ।
गुणाद्रूपगुणाच्चापि प्रीतिर्भूयोऽभिवर्धते ।।
तस्याश्च भर्ता द्विगुणं हृदये परिवर्तते ।

-- वा० रा० बाल० ७७।२६-२७

वाल्मीकि के इस वर्णन से यह स्पष्ट होता है कि उनकी दृष्टि में गार्हस्थ्य-जीवन की सफलता एवं सहजता के लिए पति-पत्नी को सौन्दर्य-गुण से भी परिपूर्ण होना चाहिए केवल आत्मिक या व्यवहारिक गुण मात्र गार्हस्थ्य को सफल नहीं बना सकते।

३- 'अन्तर्गतमपि व्यक्तमाख्याति हृदयं तदा ।
तस्य भूयो विशेषेण मैथिली जनकात्मजा ।।
देवताभिः समारूपे सीता श्रीरिव रूपिणी ।।

-- वही ७७।२८

दूसरे के प्रति सर्वात्मना समर्पित थे । `सीता केवल राम की ही कामना करती थीं और राम भी एकमात्र उन्हीं की इच्छा करते थे । उन दोनों की निश्छल प्रीति लक्ष्मी एवं विष्णु की प्रीति के समान ही शोभा पाती थी ।[1]

राम, सीता के साथ पत्नी सम्बन्ध को निभाने के साथ ही अन्य पारिवारिक कर्तव्यों के पालन में भी दत्तचित्त रहते थे । वह एक पुत्र के कर्तव्य को निभाते हुए सदा ही देवोपम पिता दशरथ की सेवा शुश्रूषा[2] एवं माताओं के आवश्यक कार्यों की पूर्ति तथा गुरुजनों के आदेश-पालन में संलग्न रहते थे ।[3] पारिवारिक दायित्व को निभाने के साथ ही वह एक युवराज होने के नाते राजा दशरथ के आदेशानुसार प्रजापालन एवं उनके हितकर कार्यों के सम्पादन के लिए भी सदा सन्नद्ध रहते थे ।[4] राम के अतिरिक्त सीता भी एक आदर्श पुत्रवधू के दायित्वों को जानते हुए सदा ही सेवकार्यों एवं श्वश्रुओं की सेवा में ही लगी रहती थीं ।[5]

१- `तया स राजर्षिसुतोऽभिकामया

समेयिवानुत्तमराजकन्यया ।

अतीव रामः शुशुभे मुदान्वितो

विभुः श्रिया विष्णुरिवामरेश्वरः ।।

-- वही ७७।२६

२- `पितरं देवसंकाशं पूजयामासतुस्तदा ।`

-- वही वा० रा० बाल० ७७।२१

३- `मातृभ्यो मातृकार्याणि कृत्वा परमयन्त्रितः ।
गुरूणां गुरुकार्याणि काले कालेऽन्ववैक्षत ।।`

-- वही ७७।२२-२३

४- `पितुराज्ञां पुरस्कृत्य पौरकार्याणि सर्वशः ।
चकार रामः सर्वाणि प्रियाणि च हितानि च ।।

-- वही ७७।२१-२२

५- देखें : वही अयोध्या० २६।३१-३२

वाल्मीकि द्वारा चित्रित राम एवं सीता के उपर्युक्त गार्हस्थ्य से यह सुनिश्चित हो जाता है कि उन दोनों ने अपने जीवन के इस प्रारम्भिक गार्हस्थ्य को एक आदर्शनीय गार्हस्थ्य के रूप में व्यतीत किया । उनके जीवन में काम की प्रधानता के साथ ही धर्म एवं अर्थ (प्रजापालन एवं अन्य पारिवारिक दायित्वों का निर्वाह रूप) इन दोनों पुरुषार्थों की भी प्रधानता थी । इसीलिए वाल्मीकि भी स्पष्ट रूप से कहते हैं कि राम अर्थ एवं धर्म के संग्रह के साथ ही आलस्य-रहित होकर काम का भी सेवन करते थे ।[१] पुरुषार्थत्रय के पालन में समानबुद्धि के कारण ही वाल्मीकि ने उन्हें "धर्मार्थकामतत्त्वज्ञ:" कहा है ।[२]

उपरि विवेचित प्रकरण को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि राम एवं सीता ने एक आदर्श पारिवारिक जीवन व्यतीत किया था जिसमें भोग के निर्वाह के साथ ही अन्य दायित्वों के निर्वाह के लिए तत्परता भी विद्यमान थी । उन्होंने इसी आदर्श गार्हस्थ्य का अनेक ऋतुओं तक सुखपूर्वक पालन किया ।[३]

घटनाक्रम के अनुसार महाराज दशरथ ने अपनी वृद्धावस्था एवं राम की लोकप्रियता को ध्यान में रखते हुए तथा पूर्वजों की परिपाटी (ज्येष्ठ

१- "अर्थधर्मौ च संगृह्य सुखतन्त्रो न चालस: ।"

-- वा० रा० अयोध्या १।२७

२- "धर्मार्थकामतत्त्वज्ञ: स्मृतिमान् प्रतिभानवान् ।
लौकिके समयाचारे कृतकल्पो विशारद: ।।"

-- वही १।२२

३- "रामस्तु सीतया सार्धं विजहार बहूनृतून् ।।"

-- वही बाल० ७७।२५

पुत्र को राज्यभार सौंपकर वानप्रस्थ के विधान रूप) का अनुसरण करते हुए राम को राज्यभार सौंपने का निश्चय किया परन्तु कैकेयी के कुचक्र के कारण वह ऐसा न कर सके और उन्हें राम को राज्यपद देने के बजाय चौदह वर्ष का वनवास देना पड़ा ।[१]

राम अपने इस नवीन आदेश को प्राप्त करके वनवास के लिए तैयार हुए ।[२] इस अवसर पर जनकनन्दिनी सीता ने भी साथ चलने का अपना निश्चय व्यक्त किया । राम ने उन्हें अयोध्या में रहते हुए ही एक आदर्श गृहिणी एवं पुत्रवधू के कर्तव्यों का स्मरण दिलाते हुए पारिवारिक एवं आत्मिक कल्याण के लिए विभिन्न व्रतों एवं उपवासों के पालन,[३] देवपूजन तथा दशरथ की वन्दना, सेवा आदि,[४] सास कौसल्या की सेवा-शुश्रूषा[५] तथा साथ ही अन्य

१- देखें : वा० रा० अयोध्या १-४० ।

२- 'अहं चापि प्रतिज्ञां तां गुरोः समनुपालयन्
वनमद्यैव यास्यामि स्थिरीभव मनस्विनि ।।'
-- वही अयोध्या २६।२८

३- 'याते च मयि कल्याणि वनं मुनिनिषेवितम् ।
व्रतोपवासपरया भवितव्यं त्वयानघे ।।
-- वही २६।२९

४- 'कल्यमुत्थाय देवानां कृत्वा पूजां यथाविधि ।
वन्दितव्यो दशरथः पिता मम जनेश्वरः ।।'
-- वही २६।३०

५- 'माता च मम कौसल्या वृद्धा संतापकर्शिता ।
धर्ममेवाग्रतः कृत्वा त्वत्तः सम्मानमर्हति ।।'
-- वही २६।३१

माताओं की सेवावन्दना[1] और भरत शत्रुघ्न के पुत्रवत्परिपालन[2] तथा महाराज भरत की आज्ञा पालनादि[3] पारिवारिक दायित्वों को निभाने की सलाह दी। सीता ने राम द्वारा वर्णित उपर्युक्त सभी दायित्वों के निर्वाह को आवश्यक मानते हुए भी पत्नी के लिए पति की महत्ता को ही सर्वोपरि सिद्ध किया और अपने वन-गमन को उचित बताया। सीता के अनुसार माता, पिता, भाई, पुत्र और पुत्रवधू ये सब पुण्यादि कर्मों का फल भोगते हुए अपने-अपने भाग्य के अनुसार जीवन निर्वाह करते हैं परन्तु पत्नी केवल पति के भाग्य का अनुसरण करती है। इस सिद्धान्त से स्पष्ट है कि मुझे भी आपके साथ वन जाना चाहिए।[4] चूंकि स्त्री के लिए पति ही उसका एकमात्र सहारा होता है इस आधार पर भी सीता

१- वन्दितव्याश्च ते नित्यं याः शेषाः मम मातरः ।
स्नेहप्रणयसम्भोगैः समा हि मम मातरः ॥
-- वही २६।३२

२- भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः ।
त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम ॥
-- वही २६।३३

राम के इस कथन में तत्कालीन पुत्रवधू के कर्त्तव्यों की एक सुन्दर रूपरेखा हमें देखने को मिलती है। इस वर्णन से यह निश्चित हो जाता है कि उस युग में एक पुत्रवधू आत्मिक एवं पारिवारिक कल्याण के लिए व्रतोपवासों के साथ, सास-ससुर की सेवा एवं अनुजों के पुत्रवत्परिपालन जैसे पारिवारिक दायित्वों का निर्वाह भी करती थी।

३- सा त्वं वसेह कल्याणि राज्ञः समनुवर्तिनी ।
भरतस्य रता धर्मे सत्यव्रतपरायणा ॥
-- वा० रा० अयोध्या २६।३७

४- 'आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा ।
स्वानि पुण्यानि भुञ्जानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते ॥
भर्तुर्भाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ ।
अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि ॥
-- वही २७।४-५

ने अपने वन-गमन को आवश्यक माना ।[1] आगे चलकर, ऊँचे-ऊँचे महलों में रहने, विमानों पर चढ़कर घूमने एवं अणिमा आदि सिद्धियों की अपेक्षा स्त्री के लिए सभी अवस्थाओं में पति-चरण की छाया को ही महत्वपूर्ण एवं सुखमय मानते[2] हुए उन्होंने अपने वनवास-गमन को ही उचित ठहराया ।[3] और अन्त में अपने एकनिष्ठ प्रेम की दुहाई देते हुए उन्होंने राम के अभाव में अपने प्राणों का रखना ही असम्भव माना ।[4] सीता के इस निश्चय को देखकर राम ने उन्हें वन का भयावह चित्र उपस्थित करते हुए वनवासियों के कष्टमय जीवन के वर्णन द्वारा उन्हें वन-गमन से विरत करना चाहा[5] परन्तु सीता ने वनवासियों के कष्ट को कष्ट न मानते हुए राम के साहचर्य में उन्हें सुखमय मानते हुए वनवास जाने का दृढ़

१- न पिता नात्मजो नात्मा न माता न सखीजनः ।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा ।।
यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव ।
अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकान् ।।
-- वही २७।७-८

२- प्रासादाग्रे विमानैर्वा वैहायसगतेन वा ।
सर्वावस्थागता भर्तुः पादच्छाया विशिष्यते ।।
-- वही २७।९

३- देखें : वही २७।१०-२२

४- अनन्यभावामनुरक्तचेतसं
त्वया वियुक्तां मरणाय निश्चिताम् ।
नयस्व मां साधु कुरुष्व याचनां
नातो मया ते गुरुता भविष्यति ।।
-- वा० रा० अयोध्या २७।२३

५- देखें : वही अयोध्या स० २८ ।

निश्चय ही व्यक्त किया ।[1] अन्तत: सीता के दृढ़ निश्चय को देखकर राम ने उन्हें भी वनवास में साथ चलने की आज्ञा प्रदान की ।[2]

सीता के साथ ही लक्ष्मण ने भी वन-गमन का निश्चय करते हुए राम से साथ ले चलने का अनुरोध किया और अन्तत: राम, सीता एवं लक्ष्मण के साथ चौदह वर्षों के लिए वन गए ।

(ii) वन्य गार्हस्थ्य

राम के वन्य गार्हस्थ्य का स्वरूप हमें अयोध्याकाण्ड के अन्तिम एवं अरण्यकाण्ड के प्रारम्भिक सर्गों में देखने को मिलता है । उपर्युक्त काण्डों के अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि राम ने वन्य गार्हस्थ्य जीवन एक वैखानस के रूप में ही व्यतीत किया था और इस गार्हस्थ्य-काल में उन्होंने वानप्रस्थियों के लिए निर्धारित विभिन्न कर्तव्यों का पालन किया था । ऐसी स्थिति में राम के वन्य गार्हस्थ्य जीवन की विवेचना के पूर्व यहां यह जान लेना आवश्यक है कि तत्कालीन समाज में वनवासियों के कर्तव्य के रूप में कौन-कौन से नियम निर्धारित थे ।

वाल्मीकि ने वनवासियों के कर्तव्य के रूप में अपने महाकाव्य के अयोध्याकाण्ड में (राम के मुख द्वारा) उनके वेशभूषा, आवश्यक सामग्री, धार्मिक कृत्य, आहार, शयन एवं अन्य आवश्यक नियमों का विस्तृत वर्णन किया है । उनके इस वर्णन के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में वनवासी

१- देखें : वही अयोध्या स० २९ ।

२- सा हि दिष्टानवद्याङ्गि वनाय मदिरेक्षणे ।
अनुगच्छस्व मां भीरु सहधर्मचरी भव ।।
-- वही ३० ।४०

को वेशभूषा के रूप में सिर पर जटा एवं शरीर पर वल्कल धारण करना पड़ता था ।[1] आवश्यक गृहस्थी के सहायक उपकरणों के रूप में उसे खन्ती और पिटारी या कुदारी आदि रखना आवश्यक माना जाता था ।[2] धार्मिक कृत्यों के अन्तर्गत उसे प्रतिदिन नियमपूर्वक तीनों समय स्नान[3] तथा विभिन्न देवताओं, पितरों तथा आए हुए अतिथियों का शास्त्रोक्त विधि के अनुसार पूजन करना पड़ता था[4] और इसके साथ ही स्वयं चुन कर लाए हुए फूलों द्वारा वेदोक्त विधि से यज्ञ वेदी पर देवताओं की विधिवत् पूजा करनी पड़ती थी ।[5] आहार के रूप में उसे

१- 'जटाभारश्च कर्तव्यो वल्कलाम्बरधारणम् ।

-- वा० रा० अयोध्या २८।१३

२- 'खनित्रपिटके चोभे ममानयत गच्छत ।

चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वसतो मम ।।

-- वा० रा० अयोध्या ३७।५

३- 'कार्यस्त्रिभिरभिषेकश्च काले-काले च नित्यशः ।

चरतां नियमेनैव तस्माद् दुःखतरं वनम् ।।

-- वही २८।१५

४- देवतानां पितृणां च कर्तव्यं विधिपूर्वकम् ।

प्राप्तानामतिथीनां च नित्यशः प्रतिपूजनम् ।

-- वही २८।१४

५- उपहारश्च कर्तव्यः कुसुमैः स्वयमाहृतैः ।

आर्षेण विधिना वेद्यां सीते दुःखमतो वनम् ।।

-- वही २८।१६

वन में उपलब्ध आहार पर ही सन्तोष करना पड़ता था ।[1] मुख्यत: उसे वृक्षों से स्वत: गिरे हुए फल ही आहार के रूप में मिलते थे[2] और फल न मिलने पर उपवास भी करना पड़ता था ।[3] वनवासी के लिए भूमि पर ही स्वत: गिरे हुए वृक्षपत्रों की शय्या पर शयन करना अनिवार्य था ।[4] इन नियमों के अतिरिक्त क्रोध एवं लोभ का त्याग करके सदा ही तप: साधना में सन्नद्ध रहना उसका एक अनिवार्य कर्तव्य माना जाता था ।[5]

१- यथालब्धेन कर्तव्य: सन्तोषस्तेन मैथिलि ।
 यथाहारैर्वनचरै: सीते दु:खमतो वनम् ।।
 -- वही २८ ।१७

२- अहोरात्रं च सन्तोष: कर्तव्यो नियतात्मना ।
 फलैर्वृक्षावपतितै: सीते दु:खमतो वनम् ।।
 -- वही २८।१२

३- उपवासश्च कर्तव्यो यथा प्राणेन मैथिलि ।।
 -- वही २८।१३

४- सुप्यते पर्णशय्यासु स्वयंभग्नासु भूतले ।
 रात्रिषु श्रमखिन्नेन तस्माद् दु:खमतो वनम् ।।
 -- वा० रा० अयोध्या २८।११

५- क्रोधलोभौ विमोक्तव्यौ कर्तव्या तपसे मति: ।
 -- वही २८।२४

यहां यह तथ्य अवधेय है कि वाल्मीकि द्वारा निर्धारित वनवासियों के उपर्युक्त कर्तव्य ही आगे चलकर धर्मशास्त्रों के युग में वानप्रस्थियों के मुख्य कर्तव्य के रूप में मान्य हुए । मनु आदि स्मृतिकारों ने वानप्रस्थियों के कर्तव्य के रूप में उपर्युक्त विधानों का ही विस्तार से वर्णन किया है ।
 --देखें मनु० ६।१-३३ याज्ञ० वा० ध० प्र०

वनवासी के कर्तव्य के रूप में निर्धारित इन नियमों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में उसे विभिन्न यम-नियमों का पालन करते हुए एक तपस्वी का जीवन व्यतीत करना पड़ता था । उपर्युक्त नियमों को ध्यान में रखते हुए हमें अब यह देखना है कि राम ने अपने वनवास-काल में इन नियमों का कहां तक पालन किया था ?

वाल्मीकि के अनुसार अपने युग में प्रचलित वनवासियों की वेशभूषा को ध्यान में रखते हुए राम ने भी अपने एवं लक्ष्मण के सिर पर जटा धारण किया था[1] और स्वयं चीरवस्त्र धारण करने के साथ ही लक्ष्मण एवं सीता को भी चीर धारण कराया था ।[2] अयोध्या से प्रस्थान करने के समय उन्होंने वनवासियों के लिए उपयोगी खन्ती और एक पेटारी भी साथ में लिया था ।[3]

१- वन-मार्ग में राम ने गुह से न्यग्रोध का दूध मंगाकर अपनी एवं लक्ष्मण की जटा बनायी थी --

'जटाः कृत्वा गमिष्यामि न्यग्रोधक्षीरमानय ।
तत्क्षीरं राजपुत्राय गुहः क्षिप्रमुपाहरत् ॥
लक्ष्मणस्यात्मनश्चैव रामस्तेनाकरोज्जटाः ।

-- वा० रा० अयोध्या ५२।६८-६९

२- 'स चीरे पुरुषव्याघ्रः कैकेय्याः प्रतिगृह्य ते ।
सूक्ष्मवस्त्रमवक्षिप्य मुनिवस्त्राण्यवस्त ह ॥
लक्ष्मणश्चापि तत्रैव विहाय वसने शुभे ।
तापसाच्छादने चैव जग्राह पितुरग्रतः ॥
चीरं बबन्ध सीतायाः कौशल्योपरि स्वयम् ॥

--वही अयोध्या ३७।७, ८ एवं १४

३- देखें : अयोध्या ३७।५ ; ५५।१६-१७

वनवास की अवधि में राम आदि ने भी त्रिकालिक स्नान,[१] संध्या-वन्दन,[२] सूर्योपासना, पितरों का तर्पण तथा अन्य देवताओं की उपासना आदि[३] धार्मिक कार्यों को पूर्ण किया था। आवास एवं शयन के रूप में राम आदि ने वृक्षों के नीचे ही वृक्षों के पत्तों की शय्या का ही उपयोग किया था।[४] वृक्षों के नीचे आवास के अतिरिक्त, वनवास काल में कुछ समय तक स्थायी निवास करने के कारण इन लोगों ने चित्रकूट एवं दण्डकारण्य के पंचवटी में 'कुटिया' का भी निर्माण किया था। इन दोनों स्थानों पर कुटी के निर्माण के साथ ही एक गृहस्थ के समान ही इन लोगों ने विधिपूर्वक वास्तुशान्ति नामक यज्ञ की पूर्णता के पश्चात् ही प्रवेश किया था।[५] कुटी-स्थल पर ही वैदिस्थलों (आठ दिक्पालों के लिए बलि समर्पण के स्थानों) चैत्यों (गणेश आदि के स्थानों) तथा आयतनों (विष्णु आदि देवस्थानों) का भी निर्माण किया गया था।[६] कुटी निवास के समय इन लोगों ने एक गृहस्थ (ब्रह्मचर्य पूर्ण) का जीवन व्यतीत करते हुए बलिवैश्व देव कर्म, रुद्रयाग तथा वैष्णव याग आदि विभिन्न यज्ञों[७] एवं गृहस्थ के लिए उपयोगी पंच महायज्ञों का सम्पादन किया था।[८] पंच महायज्ञों में भी अतिथि यज्ञ का इन लोगों ने विशेषरूप से पालन किया था।

१- देखें : वही अयोध्या ६५।१७ ;

२- देखें : वही अयोध्या ४६।१३ ; ५०।४८ एवं अरण्य ७।२३ तथा ११।६६

३- देखें : वही अरण्य ८।२-४ ; १६।४२-४३ एवं १७।२

४- देखें : वही अयोध्या ४६।१४-१५ ; ५०।४६ ; ५३।४ ; ८७।२१-२२ आदि

५- देखें : वा० रा० अयोध्या ५६।२२-३० ; अरण्य १५।२५

६- देखें : वही अयोध्या ५६।३३

७- देखें : वही अयोध्या ५६।३१

८- देखें : वही अयोध्या ५६।३२

राम एवं लक्ष्मण से रक्षित पंचवटी की कुटी पर ब्राह्मण वेश में आए हुए रावण का सीता ने विधिपूर्वक स्वागत करते हुए अतिथि यज्ञ का ही सम्पादन किया था ।[1]

आवास एवं शयन आदि के नियम-पालन के अतिरिक्त राम आदि ने आहार के विषय में भी वनवासियों के लिए निर्धारित नियमों का पालन किया था । इन लोगों ने भी फल, मूल आदि पर ही जीवन व्यतीत किया था ।[2]

वेश, निवास, शयन एवं आहार आदि विषयों में वनवासियों के कर्तव्यों के पूर्णत: पालन के अतिरिक्त इन लोगों ने अन्य उत्तम नियमों का भी दृढ़ता से पालन किया था ।[3]

१- देखें : वा० रा० अरण्य ४६।३५-३६

२- देखें : वही अयोध्या ५०।४४ ; ५२।१०२ ; ९५।१७ ; ९६।२ आदि ।

३- राम ने सीता से अन्य नियमों के पालन की अनिवार्यता एवं उनकी महत्ता का वर्णन करते हुए कहा था --

'इमं तु कालं वनिते विजह्निवां
स्त्वया च सीते सह लक्ष्मणेन ।
रतिं प्रपत्स्ये कुलधर्मवर्धिनीं ।
सतां पथि: स्वैर्नियमै: परै: स्थित: ॥'
-- वही अयोध्या ९४।२७

अन्य नियमों के पालन से राम के इस उल्लेख से मुख्यरूप से 'ब्रह्मचर्य' पालन का नियम ग्रहण करना चाहिए क्योंकि वनवासी को ब्रह्मचर्य का अनिवार्य रूप से पालन करना पड़ता था और सीता ने राम से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने की प्रतिज्ञा की थी --

'शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी ।
सह रंस्ये त्वया वीर वनेषु मधुगन्धिषु ॥'
-- वही अयोध्या २७।१३

स्मृति-युग में भी ब्रह्मचर्य-व्रत को वनवासी का अनिवार्य कर्तव्य माना गया- देखें : मनु० ६।२६ ।

स्पष्ट है कि राम आदि ने अपना वन्य गार्हस्थ्य जीवन वानप्रस्थियों की पद्धति पर व्यतीत किया था परन्तु इनके उस जीवन को पूर्णरूप से वानप्रस्थ आश्रम की पद्धति पर निर्धारित नहीं माना जा सकता क्योंकि राम ने जीवन के इस काल में भी क्षात्र धर्म का निर्वाह किया था। वाल्मीकि युग से ही वानप्रस्थियों के एक महत्वपूर्ण कर्तव्य के रूप में यह निर्धारित कर दिया गया था कि उन्हें सभी जीवों पर दया करनी चाहिए और जीवहिंसा से सदा विरत रहना चाहिए।[1] परन्तु राम ने अपने वन्य गार्हस्थ्य काल में वानप्रस्थियों के इस कर्तव्य का पालन नहीं किया। क्षत्रिय होने के कारण वह वानप्रस्थी होते हुए भी शिकार के लिए जीव हत्या में संकोच नहीं करते थे।[2] वनवास काल

१- सीता ने राम को वानप्रस्थियों के इसी कर्तव्य का स्मरण दिलाते हुए जीव हिंसा से विरत करने का प्रयास किया था --

'क्व च शस्त्रं क्व च वनं क्व च क्षात्रं तपः क्व च ।
व्याविद्धमिदमस्माभिर्देशधर्मस्तु पूज्यताम् ।।

--वा० रा० अरण्य ६।२७

स्पष्ट है कि उस युग में वानप्रस्थी द्वारा जीवहिंसा नहीं की जाती थी। आगे चलकर स्मृतिकारों ने भी वानप्रस्थियों को जीवहिंसा से विरत रहने का उपदेश देते हुए उन्हें सभी जीवों को समान दृष्टि या समभाव से देखने का आदेश दिया।

-- देखें मनु० ६।८

२- गंगापार करने के पश्चात् वन-मार्ग में राम-लक्ष्मण ने मृगया विनोद के लिए वराह, ऋष्य, पृषत् और महारुरु इन चार महामृगों को मारा था --

' तौ तत्र हत्वा चतुरो महामृगान्
वराहमृश्यं पृषतं महारुरुम् ।
आदाय मेध्यं त्वरितं बुभुक्षितौ
वासाय काले ययतुर्वनस्पतिम् ।।

-- वा० रा० अयोध्या ५२।१०२

इसके अतिरिक्त उन्होंने मृगरूपधारी मारीच को भी सीता के विनोद के लिए ही मारा था।

में विभिन्न राक्षसों की भी उन्होंने निर्ममता पूर्वक हत्या की थी । ऐसी परिस्थिति में यहां एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि राम ने वनवासियों के लिए निर्धारित सभी नियमों का पालन करते हुए भी अहिंसा-व्रत का पालन क्यों नहीं किया ? राम के इस हिंसा के दो मूल कारण माने जा सकते हैं, पहला तो यह कि राम एक क्षत्रिय राजकुमार थे और क्षत्रिय राजकुमार के लिए उस युग से ही मृगया-विनोद के प्रसंग में एक व्यसन के रूप में जीवहत्या वैध मानी जाने लगी थी । अतः राम भी क्षत्रिय होने के कारण मृगया-विनोद के लिए जीवहत्या को पाप नहीं मानते थे और न ही वनवासी होने के कारण अपने लिए विरोधी ।

राक्षसों की हत्या का भी एक मूल कारण यह था कि राम की दृष्टि में एक क्षत्रिय के लिए यह आवश्यक है कि वह दीन दुःखियों की सहायता करे । उनकी दृष्टि में क्षत्रिय धनुष इसीलिए धारण करता है कि संसार में "आर्त शब्द" न रहे ।[१] इधर दण्डकारण्य में अनेक राक्षस निष्पाप एवं निर्दोष मुनियों के वध में लगे रहते थे और उनके तपः साधना में भी विरोध उपस्थित करते रहते थे । ऐसी परिस्थिति में राम को वन में उपस्थित देख मुनियों ने उनसे, राक्षसों से अपनी रक्षा करने का अनुरोध किया और राम ने भी क्षत्रिय होने के कारण मुनियों की रक्षा एवं राक्षसों के वध का निश्चय करते हुए दण्डकारण्य में उनका वध किया ।[२]

राम के वन्य-जीवन की इन दोनों घटनाओं से एक महत्वपूर्ण

१- "क्षत्रियैर्धार्यते चापो नार्तशब्दो भवेदिति ।"

-- वा० रा० अरण्य १०।३

२- देखें : वही अरण्य स० १०, २०,२५, ३० ।

तथ्य यह भी प्रकट होता है कि राम वानप्रस्थ पद्धति पर भी वन्य-जीवन व्यतीत करते हुए क्षत्रिय गृहस्थों के उत्तरदायित्वों से विमुख नहीं थे । इसी तथ्य को अन्य शब्दों में हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि राम ने वनवासी होते हुए क्षत्रिय होने के नाते प्रजा-रक्षा रूप अपने व्रत को निभाया था । और इस प्रकार प्रकारान्तर से वन्य-जीवन में उन्होंने एक क्षत्रिय गृहस्थ, जिसका मुख्य उद्देश्य होता है आततायियों को दण्ड देकर निष्पाप लोगों की रक्षा करना, का मुख्य उत्तरदायित्व पूर्ण किया था ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर प्रस्तुत प्रकरण की समाप्ति करते हुए हम कह सकते हैं कि राम के वन्य गार्हस्थ्य-जीवन में वानप्रस्थ एवं गृहस्थ इन दो आश्रमों के नियमों का सुन्दर समन्वय हुआ था । और उन्होंने चौदह वर्षों के अपने वन्य गार्हस्थ्य को, गृहस्थों एवं वानप्रस्थियों इन दोनों आश्रम-पद्धतियों के वैशिष्ट्यों को एकाकार करके व्यतीत किया था ।

<u>(ग) उत्तरकालीन गार्हस्थ्य</u>

राम के उत्तरकालीन गार्हस्थ्य जीवन का स्वरूप हमें वाल्मीकि रामायण के युद्ध काण्ड के अन्तिम सर्गों एवं उत्तरकाण्ड में देखने को मिलता है । प्रस्तुत महाकाव्य के संक्षिप्त कथानक के अनुसार लंका विजय के पश्चात् राम अयोध्या लौटकर पुनः राज्य ग्रहण करते हैं और अयोध्या या कोसल जनपद की प्रजाओं के पालन का दायित्व अपने ऊपर लेते हैं । यहीं से उनके उत्तरकालीन गार्हस्थ्य जीवन का प्रारम्भ होता है । जीवन के इस उत्तरार्द्ध में हम राम को सर्वप्रथम राजोचित दायित्वों को निभाने वाले एक आदर्श राजा के रूप में देखते हैं । वाल्मीकि के अनुसार वह अपनी प्रजाओं का पुत्रवत् परिपालन करते थे और एक आदर्श पिता की तरह ही उनके लालन-पालन की व्यवस्था के प्रति पूर्ण

सतर्क रहते थे ।[1] परन्तु इस राजोचित कर्तव्य-निर्वाह के साथ ही वह अपने गार्हस्थ्य-जीवन के निर्वाह के प्रति भी पूर्ण जागरूक थे । वह सीता के साथ पूर्ण सतर्क होकर दाम्पत्य-जीवन भी व्यतीत कर रहे थे । अशोकवनिका की सुरम्य प्राकृतिक छटा के मध्य सीता के साथ निवास करते हुए वह मधुपान,[2] तरह-तरह के खाद्य पदार्थों के आस्वादन,[3] एवं विभिन्न नृत्यों[4] एवं गायन कला आदि युवावस्था योग्य विलासमय जीवन व्यतीत कर रहे थे । परन्तु इस विलास एवं ऐश्वर्य तथा भोगपूर्ण जीवन के होते हुए भी वह अपने धार्मिक कर्तव्यों के निर्वाह में भी तत्पर रहते थे । वह दिन के पूर्व भाग में धर्म के अनुसार धार्मिक

१- वाल्मीकि ने राम द्वारा शासित कोशल जनपद का विस्तृत-चित्रण किया है -- देखें : वा० रा० युद्ध १२८।९८-१०५ एवं उत्तर० ९९।१३-१४।

इस वर्णन से प्रकारान्तर से यही द्योतित होता है कि राम ने अपनी प्रजाओं का पुत्रवत् पालन किया था और उनके योग-क्षेम के लिए सतत् सचेष्ट रहते थे ।

२- सीतामादाय हस्तेन मधु मैरेयकं शुचि ।
पाययामास काकुत्स्थः शचीमिव पुरन्दरः ।।
-- वा० रा० उत्तर० ४२।१८-१९

३- मांसानि च सुमृष्टानि फलानि विविधानि च ।
रामस्याभ्यवहारार्थं किंकरास्तूर्णमाहरन् ।।
-- वही १९-२०

४- अप्सरोरगसंघाश्च किंनरीपरिवारिताः ।
दक्षिणा रूपवत्यश्च स्त्रियः पानवशंगताः ।।
उपानृत्यन्त काकुत्स्थं नृत्यगीतविशारदाः ।
-- वही २०-२१

कृत्य करते थे और शेष आधे दिन अन्त:पुर में रहते थे ।[1] सीता भी पूर्वाह्नकाल में देवपूजन आदि के सम्पादन एवं सासुओं की समान रूप से सेवा पूजा आदि के पश्चात् राम के साथ ही अन्त:पुर में निवास करती थीं ।[2]

वाल्मीकि द्वारा चित्रित राम के उपर्युक्त गार्हस्थ्य जीवन से यह स्पष्ट है कि उन्होंने जीवन में भोग-विलासों के आस्वादन के साथ ही धार्मिक कर्तव्यों को भी पूर्ण किया था । धार्मिक कर्तव्यों के प्रति दृढ़ आस्था के कारण ही जीवन के इस उत्तरार्द्ध भाग में भी उन्होंने अनेकश: पौण्डरीक वाजपेय तथा अन्य नाना प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान किया था ।[3] इन विविध यज्ञों के साथ ही उन्होंने सौ अश्वमेध यज्ञों को भी पूर्ण किया था ।[4]

१- पूर्वाह्ने धर्मकार्याणि कृत्वा धर्मेण धर्मवित् ।
शेषं दिवसभागार्धमन्त: पुरगतोऽभवत् ॥
-- वही ४२।२७

धर्म कार्यों के अन्तर्गत यहां संध्या वन्दन एवं पंचमहायज्ञों आदि को ग्रहण करना चाहिए ।

२- "सीतापि देवकार्याणि कृत्वा पौर्वाह्णिकानि वै ।
श्वश्रूणामकरोत् पूजां सर्वासामविशेषत: ॥
अभ्यगच्छत् ततो रामं विचित्राभरणाम्बरा ।
त्रिविष्टपे सहस्राक्षमुपविष्टं यथा शची ॥"
-- वही ४२।२८-२६

३- "पौण्डरीकाश्वमेधाभ्यां वाजपेयेन चासकृत् ।
अन्यैश्च विविधैर्यज्ञैरयजत् पार्थिवात्मज: ॥
-- वा० रा० युद्ध० १२८ ।६४

४- शताश्वमेधानाजह्रे सदश्वान् भूरिदक्षिणान् ॥
-- वही १२८।६५

उपर्युक्त विवेचन से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि राम के उत्तरकालीन गार्हस्थ्य जीवन में धर्म एवं काम का पूर्ण समन्वय था । वह जहां प्रजापालन रूप राजोचित धर्म-पालन एवं आत्मश्रेयस्कर रूप पंचमहायज्ञादि विभिन्न धार्मिक कर्तव्यों के निर्वाह में सदा सचेष्ट रहते थे वहीं युवावस्था के लिए आवश्यक उपभोगों के आस्वादन में भी असावधान नहीं थे । इसी आदर्श जीवन पद्धति पर चलते हुए उन्होंने अनेक वर्षों तक सीता के साहचर्य में गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत किया ।[1]

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में ही कहा जा चुका है कि दाम्पत्य जीवन की सफलता पुत्रोत्पादन में ही निहित है । स्पष्ट है कि दम्पति का एक महत्वपूर्ण दायित्व होता है पुत्रोत्पादन । वाल्मीकि के अनुसार सीता ने भी दाम्पत्य-जीवन के कुछ वर्षों के पश्चात् गर्भ ग्रहण किया । राम ने इस अवसर पर एक पति के कर्तव्य को जानते हुए उनसे दोहद पूछकर[2] उसे पूर्ण करने का निश्चय किया[3] परन्तु जनापवाद के

१- स तया सीतया सार्धमासीनो विरराज ह ।
अरुन्धत्या सहासीनो वसिष्ठ इव तेजसा ।।
एवं रामो मुदा युक्तः सीतां सुरसुतोपमाम् ।
रमयामास वैदेहीमहन्यहनि देववत् ।।
तथा तयोर्विहरतोः सीताराघवयोश्चिरम् ।
-- वही उत्तर० ४२।२३-२५

२- "अब्रवीच्च वरारोहां सीतां सुरसुतोपमाम् ।
अपत्यलाभो वैदेहि त्वय्ययं समुपस्थितः ।।
किमिच्छसि वरारोहे कामः किं क्रियतां तव ।।
-- वा० रा० उत्तर० ४२।३२-३२

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)...

भय से उन्हें गर्भिणी सीता को तपोवन में भुलाना पड़ा था ।[१] और जब

सीता ने अपने दोहद रूप में उपवन भ्रमण की इच्छा व्यक्त की थी --

'तपोवनानि पुण्यानि द्रष्टुमिच्छामि राघव ।
गंगातीरोपविष्टानामृषीणामुग्रतेजसाम् ॥
फलमूलाशिनां देव पादमूलेषु वर्तितुम् ।
एष मे परमः कामो यन्मूलफलभोजिनाम् ॥
अप्येकरात्रिं काकुत्स्थ निवसेयं तपोवने ॥

-- वही ४२ ।३३-३४

सीता के इस दोहदरूपी इच्छा से उनकी धार्मिक बुद्धि प्रकट होती है । गर्भस्थ शिशु की रक्षा के लिए सम्भवतः ऋषियों से आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए ही सीता ने ऋषियों के तपोवन पर जाने की अनुमति मांगी थी ।

२- 'तथेति च प्रतिज्ञातं रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
विस्रब्धा भव वैदेहि श्वो गमिष्यस्यसंशयम् ॥

-- वही ४२।३५

१- कथानक के अनुसार राम सीता को उपवन भेजने का निश्चय करते हैं कि इसी बीच उन्हें भद्र द्वारा यह ज्ञात होता है कि पुरवासियों में, सीता को पुनः ग्रहण करने के कारण उनकी अत्यधिक निन्दा हो रही है । पुरवासियों के इस आक्षेप से क्षुब्ध होकर, अग्नि-परीक्षा के पश्चात् सीता की शुद्धता को जानते हुए भी राम उन्हें त्यागने का निश्चय कर बैठते हैं और लक्ष्मण को सीता को वाल्मीकि आश्रम में छोड़ आने का आदेश देते हैं ।
-- देखें : वा० रा० उत्तर० स० ४३-४५

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें) ....

प्रकार राम को एकाकी रूप से गार्हस्थ्य जीवन भी व्यतीत करना पड़ा था। सीता-परित्याग एवं उनके रसातल प्रवेश के पश्चात्[1] राम ने लवकुश को ग्रहण कर लिया। उन्होंने शेष जीवन एकाकी ही व्यतीत करने का निश्चय किया और किसी अन्य स्त्री से विवाह नहीं किया। विभिन्न यज्ञीय अवसरों पर

इस वर्णन से प्रकारान्तर से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि राम ने अपने जीवन में गार्हस्थ्य जीवन की अपेक्षा प्रजापालन को ही अत्यधिक महत्व दिया था। उनकी दृष्टि में यद्यपि सीता निर्दोष थीं पुनरपि उन्होंने लोकानुरंजन या पुरवासियों की शंका को निर्मूल करने के लिए गर्भिणी सीता का भी परित्याग कर दिया था।

१- संक्षिप्त राम-कथा के अनुसार राम के आदेशानुसार लक्ष्मण गर्भिणी सीता को वाल्मीकि आश्रम पर छोड़ आए थे। वहीं सीता ने लव कुश नाम के दो पुत्रों को जन्म दिया। इधर राम ने सौवें अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया। इस अवसर पर वाल्मीकि भी लव-कुश के साथ यज्ञ-मण्डप में पधारे। वाल्मीकि ने उन्हें राम-कथा गाने का आदेश दिया। लव-कुश के राम-कथा-गायन के क्रम में ही राम को यह ज्ञात हुआ कि वाल्मीकि की दृष्टि में सीता निर्दोष थीं और राम द्वारा उनका परित्याग अनुचित था। इस अवसर पर राम सीता को अपनी सच्चरित्रता प्रमाणित करने के लिए बुलवाते हैं। सीता उपस्थित होकर अग्नि को साक्षी बनाकर अपनी सच्चरित्रता प्रमाणित करती हैं। इसी बीच धरती फट जाती है और सीता उसमें समाहित हो जाती हैं।

भार्या के स्थान पर वह सीता की स्वर्णमयी प्रतिमा से ही काम ले लेते थे ।[1] उन्होंने जीवन के शेष भाग में धर्म को ही प्रधान मानते हुए अश्वमेध, अग्निष्टोम, अतिरात्र, गोसव तथा अन्य विभिन्न यज्ञों को पूर्ण किया ।[2] इस प्रकार धर्म

१- "न सीतायाः परां भार्यां वव्रे स रघुनन्दनः ।
यज्ञे-यज्ञे च पत्न्यर्थं जानकी कांचनीभवत् ।।
-- वा० रा० उत्तर ९९।८

राम द्वारा पुनर्विवाह न किए जाने से स्पष्ट है कि उन्होंने जीवन में एकपत्नीव्रत को ही महत्वपूर्ण माना था । राम का युग बहुपत्नियों का युग था परन्तु बहुपत्नियों वाले व्यक्तियों का जीवन भी सुखमय नहीं था । उनके सामने दशरथ का उदाहरण उपस्थित था जो जीवन में बहुपत्नियों के कारण ही अपने कर्तव्य (ज्येष्ठ पुत्र को राज्य प्रदान करना) से उपेक्षित हुए । इसके अतिरिक्त सौतों के पारस्परिक व्यवहार भी मधुर नहीं होते थे । सम्भवतः बहुपत्नी-प्रथा के इन्हीं दुर्गुणों को देखते हुए राम ने पुनर्विवाह नहीं किया था ।

२- "दशवर्षसहस्राणि वाजिमेधानथाकरोत् ।
वाजपेयान् दशगुणांस्तथा बहुसुवर्णकान् ।।
अग्निष्टोमातिरात्राभ्यां गोसवैश्च महाधनैः ।
ईजे क्रतुभिरन्यैश्च स श्रीमानाप्तदक्षिणैः ।।"
-- वा० रा० उत्तर० ९९।९-१०

इन यज्ञों के अतिरिक्त वह पितरों के परितोष के लिए विभिन्न वस्तुओं के दान एवं पितृयज्ञों को भी पूर्ण करते थे --
"तासां रामो महादानं काले-काले प्रयच्छति ।
मातृणामविशेषेण ब्राह्मणेषु तपस्विषु ।।
पितृयाणि प्रकृरत्नानि यज्ञान् परमदुस्तरान् ।
चकार रामो धर्मात्मा पितॄन् देवान् विवर्धयन् ।।"
--वही ९९।१९-२०

का सम्पादन[1] एवं प्रजापालन रूप धर्म का निर्वाह करते हुए[2] ग्यारह हजार वर्षों तक शासन करने के पश्चात्[3] वह विष्णुत्व या मोक्षतत्व की प्राप्ति किए ।[4]

प्रस्तुत प्रकरण की समाप्ति करते हुए अन्त में हम कह सकते हैं कि राम एवं सीता का दाम्पत्य-जीवन एक आदर्श पद्धति पर व्यतीत हुआ था । उनका सम्बन्ध आपसी समझौते पर आधारित था ।[5] सीता राम को यावज्जीवन अपना पति मानती रहीं क्योंकि तत्कालीन धारणा के अनुसार पति-पत्नी का सम्बन्ध यावज्जीवन का सम्बन्ध होता था ।[6] पति-पत्नी के

१- वाल्मीकि के अनुसार राम के एकाकी जीवन का अधिकांश समय धर्म के पालन में ही व्यतीत हुआ था -

'एवं स कालः सुमहान् राज्यस्थस्य महात्मनः ।
धर्मे प्रयतमानस्य व्यतीयाद् राघवस्य च ॥

-- वही ९९।११

२- देखें : वही उत्तर० ९९।१३-१४

३- देखें : वही युद्ध० १२८।९५, १०६ आदि

४- देखें : वही उत्तर स० ११०

५- राम के अनुसार उनका हार्दिक अनुराग सीता के हृदय में प्रतिष्ठित था और सीता का हार्दिक अनुराग राम के हृदय में --

'मयि भावो हि वैदेह्यास्तत्त्वतो विनिवेशितः ।
ममापि भावः सीतायां सर्वथा विनिवेशितः ॥

-- वही किष्किन्धा १।५२

६- 'इहलोके च पितृभिर्या स्त्री यस्य महाबल ।
अद्भिर्दत्ता स्वधर्मेण प्रेत्यभावेऽपि तस्य सा ॥

-- वा० रा० अयोध्या २९।१८

इसी धारणा के आधार पर ही उनका यह निश्चित मत था कि अगले जन्म में भी वह राम को ही पति-रूप में प्राप्त करेंगी --

'प्रेत्यभावेऽपि कल्याणः सङ्गमो मे सदा त्वया ।' --वही २९।१७

इसी दृढ़ गठ-बन्धन के कारण सीता लंका में रावण द्वारा विभिन्न भयों के दिखाए जाने पर[1] तथा विभिन्न प्रलोभनों के दिए जाने[2] एवं राम की तुच्छता आदि का वर्णन किए जाने पर[3] भी अपने पातिव्रत्य धर्म पर ही स्थिर रहीं। पर-पुरुष से सहवास की बात छोड़िए वह पर-पुरुष के स्पर्श[4] या उसके साथ सम्मुख सम्भाषण को भी पातिव्रत्य का बाधक मानती थीं।[5] सीता के पातिव्रत्य का एक आदर्श रूप हमें वनवास के अवसर पर भी देखने को मिलता है। गर्भिणी सीता इस अवसर पर भी जबकि पति की ओर से उन्हें संरक्षण मिलना चाहिए था, अपने परित्याग को देख इसमें अपने भाग्य का ही दोष मानती हैं। उनकी दृष्टि में राम का इसमें रत्ती भर भी दोष नहीं है।[6]

१- देखें : वही सुन्दर० २२।३३-३६

२- देखें : वही सुन्दर० २०।६-१०, २३, २४; १६,१७ आदि।

३- देखें : वही सुन्दर० २०।२५-२६

४- हनुमान का यह प्रस्ताव कि वह सीता को अपनी पीठ पर बैठाकर राम के पास ले जाएंगे, सीता ने पर-पुरुष के स्पर्श के होने के कारण पातिव्रत्य का बाधक मानकर ही अस्वीकृत कर दिया था --

'भर्तृभक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर।
नाहं स्प्रष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तम॥

-- वही सुन्दर० ३७।६२

५- लंका में रावण से वार्तालाप के समय, पातिव्रत्य की रक्षा के लिए ही सीता ने तिनके की आड़ या अपने पृष्ठ भाग का सहारा लिया था -- देखें : वही सुन्दर० २१।३-८

६- देखें : वही उत्तर० ४८।१३-१८

ठीक सीता की तरह राम भी सीता के एकनिष्ठ प्रेमी के रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं। सीता हरण से दु:खी राम द्वारा विक्षिप्तावस्था में किया गया प्रलाप[1] एवं वृक्षों पर्वतों एवं मृगों आदि से सीता का पता पूछना,[2] एवं अन्तत: लंका पर चढ़ाई करके विजय प्राप्त करना, सीता की मृत्यु के बाद एकाकी रहना, ये सभी तथ्य राम का सीता के प्रति एकनिष्ठ प्रेम ही सिद्ध करते हैं। परन्तु इस एकनिष्ठ प्रेम के बावजूद कर्तव्य-पालन के आगे राम ने सीता-प्रेम को सदा ही ठुकराया। लंका विजय के पश्चात् सीता की शुद्धता को जानते हुए भी उसे अग्नि-परीक्षा के पश्चात् ग्रहण करना,[3] उसकी शुद्धता प्रमाणित हो जाने पर भी पुरवासियों की शंकामात्र से उसे वनवास देना[4], ये सभी घटनाएं यही सिद्ध करती हैं कि राम ने कर्तव्य एवं प्रजापालन के आगे पत्नी को भी तुच्छ माना।

(IV) राम एवं सीता का अन्य पारिवारिक सदस्यों से सम्बन्ध

राम एवं सीता के गार्हस्थ्य जीवन के विवेचन-क्रम में यह तो हुआ उनके दाम्पत्य जीवन का स्वरूप वर्णन। परन्तु भारतीय समाज में चूंकि प्राचीन काल से ही एक गृहस्थ को अपने गार्हस्थ्य काल में पत्नी के अतिरिक्त पिता, माता एवं भाई आदि, गार्हस्थ्य की परिधि में आने वाले अन्य पारिवारिक सदस्यों के साथ ही रहना पड़ता था और उसके गार्हस्थ्य-जीवन की सफलता के लिए इन सदस्यों से भी सुचारु रूप से सम्बन्ध-निर्वाह करना पड़ता था,

---

१- देखें : वा० रा० अरण्य स० ६२, ६३ आदि

२- देखें : वही अरण्य स० ६०

३- देखें : वही युद्ध ११८।१३-२२

४- देखें : वही उत्तर स० ४३-४७

इसलिए यहां हमें यह भी देख लेना आवश्यक है कि राम एवं सीता का उनके अन्य पारिवारिक सदस्यों से कैसा व्यवहार था ?

पारिवारिक सदस्यों के क्रम में सर्वप्रथम पिता का ही स्थान आता है क्योंकि भारतीय समाज ने सदा से ही पितृसत्तात्मक पारिवारिक व्यवस्था को अपना आदर्श माना है। वाल्मीकि युगीन समाज में भी चूंकि पितृसत्तात्मक पारिवारिक व्यवस्था ही प्रचलित थी इसलिए राम एवं सीता के गार्हस्थ्य जीवन के विवेचन-क्रम में भी सर्वप्रथम हमें यह देखना है कि उनका पिता दशरथ से कैसा सम्बन्ध था ?

क- पिता दशरथ से सम्बन्ध

पिता-पुत्र के सम्बन्ध विवेचन के पूर्व यहां यह जान लेना अवश्य आवश्यक है कि तत्कालीन समाज की पारिवारिक व्यवस्था में पिता का क्या स्थान था और पिता के प्रति पुत्र के कौन-कौन से कर्तव्य निर्धारित थे। इस प्रसंग में यदि हम वाल्मीकि रामायण का विश्लेषणात्मक अध्ययन करें तो यह ज्ञात होता है कि उस युग में पिता ही परिवार का सर्वेसर्वा होता था। परिवार के अन्य सदस्यों को उसके अधीन रहना पड़ता था और उसके उचित-अनुचित सभी आदेशों का आंख मूंद कर पालन करना पड़ता था। अपने इसी प्रभाव के कारण उस युग में पिता देवतुल्य माना जाता था।[1] तत्कालीन समाज में स्थापित पिता के इसी सार्वजनीन प्रभाव को ध्यान में रखते हुए राम ने पिता की अधीनता को ही मान्यता दी थी।[2] पिता के प्रति पुत्र के कर्तव्य-रूप में उस युग में मुख्यरूप से पितृ-सेवा एवं उसकी आज्ञा का पालन, ये दो बातें निर्धारित थीं। पितृसेवा

१- देखें : वा० रा० अयोध्या १८।१६ ; २४।१६ एवं ३४।५२ आदि
२- ,, : वही २१।४६

इसलिए यहां हमें यह भी देख लेना आवश्यक है कि राम एवं सीता का उनके अन्य पारिवारिक सदस्यों से कैसा व्यवहार था ?

पारिवारिक सदस्यों के क्रम में सर्वप्रथम पिता का ही स्थान आता है क्योंकि भारतीय समाज ने सदा से ही पितृसत्तात्मक पारिवारिक व्यवस्था को अपना आदर्श माना है । वाल्मीकि युगीन समाज में भी चूंकि पितृसत्तात्मक पारिवारिक व्यवस्था ही प्रचलित थी इसलिए राम एवं सीता के गार्हस्थ्य जीवन के विवेचन-क्रम में भी सर्वप्रथम हमें यह देखना है कि उनका पिता दशरथ से कैसा सम्बन्ध था ?

क- पिता दशरथ से सम्बन्ध

पिता-पुत्र के सम्बन्ध विवेचन के पूर्व यहां यह जान लेना अवश्य आवश्यक है कि तत्कालीन समाज की पारिवारिक व्यवस्था में पिता का क्या स्थ था और पिता के प्रति पुत्र के कौन-कौन से कर्तव्य निर्धारित थे । इस प्रसंग में यदि हम वाल्मीकि रामायण का विश्लेषणात्मक अध्ययन करें तो यह ज्ञात होता है कि उस युग में पिता ही परिवार का सर्वेसर्वा होता था । परिवार के अन्य सदस्यों को उसके अधीन रहना पड़ता था और उसके उचित-अनुचित सभी आदेशों का आंख मूंद कर पालन करना पड़ता था । अपने इसी प्रभाव के कारण उस युग में पिता देवतुल्य माना जाता था ।[१] तत्कालीन समाज में स्थापित पिता के इसी सार्वजनीन प्रभाव को ध्यान में रखते हुए राम ने पिता की अधीनता को ही मान्यता दी थी ।[२] पिता के प्रति पुत्र के कर्तव्य-रूप में उस युग में मुख्यरूप से पितृ-सेवा एवं उसकी आज्ञा का पालन, ये दो बातें निर्धारित थीं । पितृसेवा

१- देखें : वा० रा० अयोध्या १८।१६ ; २४।१६ एवं ३४।५२ आदि

२- ,, : वही २१ ।४६

पुत्र के सर्वोत्कृष्ट धर्म के रूप में मान्य थी[1] और यह माना जाता था कि कोई भी पुत्र पितृसेवा मात्र से ही अभ्युदय-प्राप्ति रूप पुरुषार्थत्रय की प्राप्ति कर सकता है।[2] पितृसेवा से ही बल, धन-धान्य, विद्या, पुत्र एवं सुख आदि लौकिक ऐश्वर्यों एवं स्वर्ग, देव, गन्धर्व, ब्रह्म, तथा गोलोक आदि पारलौकिक ऐश्वर्यों की प्राप्ति भी कर सकता है।[3] पितृसेवा द्वारा प्राप्त होने वाले इन लाभों को ही ध्यान में रखते हुए उस युग में इसके आगे देवपूजन, यज्ञ, सत्य, दान एवं तप आदि धार्मिक अनुष्ठानों को भी तुच्छ एवं व्यर्थ मानाजाता था।[4]

१- "न ह्यतो धर्मचरणं किंचिदस्ति महत्तरम् ।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया ।।"
-- वही १६।२२

२- "यत्र त्रयं त्रयो लोकाः पवित्रं तत्समं भुवि ।
नान्यदस्ति शुभापाङ्गे तेनेदमभिराध्यते ।।"
-- वही ३० ।३४

३- "स्वर्गो धनं वा धान्यं वा विद्या पुत्राः सुखानि च ।
गुरुवृत्त्यनुरोधेन न किंचिदपि दुर्लभम् ।।
देवगन्धर्वगोलोकान् ब्रह्मलोकांस्तथापरान् ।
प्राप्नुवन्ति महात्मानो मातापितृपरायणाः ।।"
-- वही ३०।३६-३७

४- "अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैरभिराध्यते ।
स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम् ।।
न सत्यं दानमानौ वा यज्ञो वाप्याप्तदक्षिणः ।
तथा बलकराः सीते यथा सेवा पितुर्मता ।।"
-- वही ३०।३३ एवं ३५

पितृसेवा के अतिरिक्त पिता की आज्ञा का पालन करना भी उस युग में पुत्र के अनिवार्य कर्तव्य के रूप में मान्य था। तत्कालीन समाज की यह धारणा थी कि पुत्र को पिता के उचित-अनुचित सभी आदेशों का पालन करना चाहिए[1] क्योंकि पिता की आज्ञा के पालन से बढ़कर पुत्र का और कोई धर्म ही नहीं है।[2] वाल्मीकि युगीन समाज चिन्तकों की दृष्टि में, अपने जन्म के कारणभूत पिता का, पुत्र कभी विरोध नहीं कर सकता क्योंकि प्रादुर्भाव में कारण होने के कारण वह उसके लिए देवतुल्य होता है।[3]

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि राम के युग में पिता के प्रति पुत्र के कर्तव्य के रूप में उसे उसकी सेवा एवं आज्ञापालन ये दो उत्तरदायित्व दिए गए थे। अब हमें यहां यह देखना है कि राम ने पुत्र के इन दोनों कर्तव्यों को निभाया या नहीं।

वाल्मीकि के अनुसार राम अपने बाल्यकाल से ही पिता की सेवा में तत्पर रहते थे। वह क्षत्रियोचित शिक्षार्जन के साथ ही पिता दशरथ की सेवा भी दत्तचित्त होकर पूर्ण करते थे।[4] राजपुत्र होने के कारण वह पिता

१- 'गुरुश्च राजा च पिता च वृद्धः
क्रोधात् प्रहर्षाद्यदि वापि कामात् ।
यद् व्यादिशेत् कार्यमवेक्ष्य धर्मं
कस्तं न कुर्यादनृशंसवृत्तिः ॥
-- वा० रा० अयोध्या २१।५६

२- देखें : वही अयोध्या १६।२२

३- 'यतो मूलं नरः पश्येत् प्रादुर्भावमिहात्मनः ।
कथं तस्मिन् न वर्तेत प्रत्यक्षे सति दैवते ॥
-- वही १८।१६

४- 'धनुर्वेदे च निरतः पितुः शुश्रूषणे रतः ।
-- वही बाल० १८।२७ राम द्वारा दशरथ की सेवा किए जाने के अन्य उल्लेखों के लिए देखें --बाल०७७।२०; एवं अयोध्या १८।८ आदि ।

दशरथ की शासन-व्यवस्था में भी सहायता करते थे और उनके आदेशानुसार ही वह प्रजाओं के कल्याणात्मक कार्यों के निर्वाह के प्रति भी सचेष्ट रहते हुए उसे पूर्ण करते थे।[१] इन कर्तव्यों के अतिरिक्त वह पिता की प्रत्येक आज्ञा का पालन करने के लिए भी तत्पर रहते थे। वह पिता के आदेश को पाकर अग्नि में भी कूद सकते थे, तीव्र विष का भक्षण भी कर सकते थे या समुद्र में कूद कर प्राणान्त कर सकते थे।[२] राम द्वारा दशरथ के सभी आदेशों का आंख मूंद कर पालन करने का एक महत्वपूर्ण कारण यह था कि उनकी दृष्टि में वह राजा, हितैषी एवं गुरु थे।[३] अत: जिस प्रकार व्यक्ति राजा या गुरु आदि के आदेशों का उल्लङ्घन नहीं कर सकता उसी प्रकार वह भी दशरथ की किसी आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं कर सकते थे। पितृ-आज्ञापालन की अपनी इसी दृढ़ता के कारण वह न्यायत: प्राप्त होने वाले राजपद को ठुकराकर[४] पिता की आज्ञा प्राप्त करके वनवास को स्वीकार किया था और लक्ष्मण,[५] कौसल्या,[६] भरत[७] एवं वसिष्ठ

१- 'पितुराज्ञां पुरस्कृत्य पौरकार्याणि सर्वश: ।
चकार राम: सर्वाणि प्रियाणि च हितानि च ।।'

--वा० रा० बाल० ७७।२१

२- 'अहं हि वचनाद् राज्ञ: पतेयमपि पावके ।
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ।।
नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च ।

-- वही अयोध्या १८।२८-२९

३- देखें : वही १९।५ ; २४।१६ ; ३०।३८ एवं १०५।४२ आदि ।

४- वाल्मीकि युग में पिता के पश्चात् ज्येष्ठ पुत्र को ही राजपद पर अभिषिक्त कराने का नियम था --
'सतत राजपुत्रेषु ज्येष्ठो राजाभिषिच्यते ।'
-- वही ७३।१२

४- देखें : वा० रा० अयोध्या स० २१ एवं २३

५- ,, : वही स० २४

६- ,, : वही स० १०४ एवं १०५ तथा ११२

आदि गुरुओं[1] द्वारा विभिन्न प्रकार के दिए गए तर्कों को न मानकर उन्होंने अन्त समय तक पिता की आज्ञा को ही महान् मानते हुए उसे ही स्वीकार किया था ।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि राम ने अपने गार्हस्थ्य काल में पिता के लिए निर्धारित सभी दायित्वों को सुचारु रूप से पूर्ण किया था ।

यहां एक स्वाभाविक जिज्ञासा यह होती है कि जहां राम ने अपने जीवन में पिता को इतना महत्वपूर्ण स्थान दिया था, उसकी आज्ञा को वेदवाक्य मानकर उसका पालन किया था वहीं दशरथ का राम के प्रति कैसा व्यवहार था ?

इस सम्बन्ध के विवेचन के पूर्व हमें यहां यह देख लेना आवश्यक है कि वाल्मीकि युग में पारिवारिक व्यवस्था के अन्तर्गत ज्येष्ठ पुत्र का क्या स्थान था ? वाल्मीकि के अनुसार तत्कालीन समाज में ज्येष्ठ पुत्र का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान था । पिता के पश्चात् पारिवारिक व्यवस्था के निर्वाह का उत्तरदायित्व ज्येष्ठ पुत्र के ऊपर ही आता था । उसे ही राजपद पर अभिषिक्त होने का अधिकार था [2] और पिता की मृत्यु के पश्चात् उसकी अन्त्येष्टि तथा पिण्डदान आदि का पहला अधिकार ज्येष्ठ पुत्र का ही था ।[3] सम्भवत: इन्हीं कारणों से समाज में अन्य पुत्रों की तुलना में ज्येष्ठ पुत्र सदा ही पिता का अत्यधिक स्नेह-भाजन रहा है ।[4] अपने युग में प्रचलित ज्येष्ठ पुत्र की इसी महत्ता को ध्यान में रखते

१- देखें : वही स० १०८-१११

२- देखें : वा० रा० अयोध्या ७३।१२

३- देखें : वही १०२।८

४- 'प्रायेण हि नरश्रेष्ठ ज्येष्ठा: पितृषु वल्लभा: ।'

-- वही बाल० ६१।१९

हुए दशरथ भी राम को सर्वाधिक स्नेह करते थे ।[1] इस स्नेह के कारण ही वह विश्वामित्र को राम को नहीं देना चाहते थे ।[2] दशरथ राम को कैकेयी, जो कि उनकी प्राणप्रिया थी, से भी अधिक स्नेह करते थे ।[3] दशरथ का राम के प्रति इस पक्षपातपूर्ण स्नेह के कारण के रूप में वाल्मीकि ने उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त अन्य कारण के रूप में ज्येष्ठ रानी के ज्येष्ठ पुत्र होने का भी उल्लेख किया है ।[4]

प्रस्तुत प्रकरण की समाप्ति में निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि राम ने अपने युग में निर्धारित पिता के प्रति पुत्र के कर्तव्यों का पूर्णरूप से पालन किया था और महाराज दशरथ भी राम के गुणों के वशीभूत हो उन्हें सर्वाधिक स्नेह करते थे । इस प्रकार पिता-पुत्र में एक आदर्शभूत सम्बन्ध था । इस आदर्शमय स्नेह एवं सम्बन्ध के कारण ही दशरथ राम के अभाव में अपने प्राणों

१- 'तेषां केतुरिव ज्येष्ठो रामो रतिकरः पितुः ।
-- वही बाल० १८।२४

२- 'ज्येष्ठे धर्मप्रधाने च न रामं नेतुमर्हसि ।'
-- वही बाल० २०।१२

३- 'कलाचिन्मे न जानासि त्वत्तः प्रियतरो मम ।
मनुजो मनुजव्याघ्राद्रामादन्यो न विद्यते ।।'
-- वही अयोध्या ११।५

४- 'ज्येष्ठायामसि मे पत्न्यां सदृश्यां सदृशः सुतः ।
उत्पन्नस्त्वं गुणज्येष्ठो मम रामात्मजः प्रियः ।।
-- वही ३। ३९-४०

को भी संकटमय मानते थे[१] और राम का यह निश्चित मत था कि कोई भी पुत्र अपने माता-पिता से कभी अनृण नहीं हो सकता ।[२]

ख- माताओं से सम्बन्ध

वाल्मीकि-युग में पिता की तरह माता का भी पारिवारिक व्यवस्था में महत्वपूर्ण स्थान होता था । पुत्र के लिए माता के आवश्यक कर्तव्यों के रूप में उसकी सेवा एवं आज्ञापालन के दो उत्तरदायित्व ही निर्धारित थे ।[३] माता के प्रति पुत्र के इन्हीं कर्तव्यों को ध्यान में रखते हुए राम सदा ही माताओं की सेवा में लगे रहते थे ।[४] कौसल्या के अतिरिक्त वह विमाता कैकेयी की सेवा में भी तत्पर रहते थे और भरत से भी अधिक उसकी सेवा करते थे ।[५] इसके अतिरिक्त अन्य विमाताओं के प्रति भी वह मातृवत् व्यवहार करते थे और उन्हें कौसल्या के समान ही मानते थे ।[६]

ऊपर कहा जा चुका है कि वाल्मीकि युग में पिता के समान ही पुत्र द्वारा माता के आदेशों का पालन किया जाना भी अनिवार्य माना जाता था क्योंकि उस युग में दोनों का समान स्थान माना जाता था ।[७] ऐसी स्थिति में यहां एक रोचक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि माता एवं पिता के दो परस्पर विरोधी आदेश उपस्थित हों तो पुत्र किसके आदेश का पालन करेगा ।

१- देखें : वा० रा० अयोध्या १२।११-१३

२- देखें : वही १११।६-१०

३- देखें : वही ३०।३२,३३, ३४ एवं ३७

४- देखें : वही बाल० ७७।२२

५- देखें : वही अयोध्या० १२।८ एवं २४-२५ आदि ।

६- देखें : वही २०।३ एवं ११८।५-६

७- देखें : वा० रा० अयोध्या १०१।२१

राम ने ऐसी स्थिति में पिता के आदेश को ही सर्वोपरि मानते हुए उसका पालन किया था । कथानक के अनुसार कौसल्या ने राम के लिए दशरथ द्वारा दिए गए वनवास को उनको न मानने का आदेश दिया था क्योंकि दशरथ की तरह राम पर उनका भी अधिकार था ।[१] (इस अवज्ञा के प्रतिफल के रूप में) उन्होंने राम से यहीं रहकर अपनी सेवा करने का आदेश दिया था और कहा था कि माता की सेवा से ही काश्यप स्वर्गलोक गए थे ।[२] परन्तु राम ने कौसल्या के इस आदेश को न मानकर, कण्डु, सगर, परशुराम आदि अनेक पूर्वजों का उदाहरण देते हुए पिता दशरथ की आज्ञापालन का ही निश्चय किया,[३] क्योंकि उनकी दृष्टि में पूर्वजों की यही परम्परा थी और पिता के आदेश का पालन करने वाला कोई भी व्यक्ति धर्मभ्रष्ट नहीं माना जाता था ।[४] उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि राम ने अपने गार्हस्थ्य जीवन में पिता-माता की समान भाव से सेवा करते हुए भी आज्ञापालन के प्रसंग में पिता की आज्ञा को ही सर्वोच्च स्थान दिया था ।

यह तो हुआ राम का उनकी माताओं से सम्बन्ध विवेचन । अब हमें यहां यह देखना है कि माताओं का राम के प्रति कैसा व्यवहार था ? इस प्रसंग में यदि हम प्रस्तुत महाकाव्य का आश्रय लें तो यह ज्ञात होता है कि माताएं भी राम से प्रेमपूर्ण व्यवहार करती थीं और उन्हें अत्यधिक स्नेह देती थीं । माता कौसल्या राम के अभ्युदय के लिए सदा ही मांगलिक कृत्य किया

१- 'यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहम् ।
त्वां नाहं नानुजानामि न गन्तव्यमितो वनम् ।।
-- वही २१।२५

२- देखें : वही २१।२३-२४

३- देखें : वही २१।३०-३६

४- 'पितुर्हि वचनं कुर्वन् न कश्चिन्नाम हीयते ।'
-- वही २१।३७

करती थी [1] और कैकेयी भी उन्हें पुत्रवत् मानती हुयी उनके अभ्युदय से प्रसन्न होती थी । [2]

यहां एक स्वाभाविक जिज्ञासा यह होती है कि यद्यपि दशरथ की सभी पत्नियां राम को पुत्रवत् मानती थीं फिर भी उनके आपसी सम्बन्ध कैसे थे, उनका एक दूसरे के प्रति कैसा व्यवहार था ? प्रस्तुत प्रश्न के सन्दर्भ में यदि हम इस महाकाव्य का आश्रय लें तो वहां हमें दो विरोधी वक्तव्य

१- वनवास-गमन के पूर्व आशीर्वाद एवं माता कौसल्या की आज्ञा प्राप्त करने के लिए, कौसल्या-प्रासाद में गए हुए राम ने उन्हें विष्णु की पूजा करते हुए ही देखा था --

"कौसल्यापि तदा देवीं रात्रिं स्थित्वा समाहिता ।
प्रभाते चाकरोत् पूजां विष्णोः पुत्रहितैषिणी ।।
सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा ।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत् कृतमंगला ।।

-- वा० रा० अयोध्या २०।१४-१५

२- मन्थरा द्वारा राम राज्याभिषेक का समाचार सुनकर कैकेयी प्रसन्न हो उठी थी क्योंकि उसकी दृष्टि में भरत और राम में कोई अन्तर ही नहीं था --

"रामे वा भरते वाहं विशेषं नोपलक्षये
तस्मात् तुष्टास्मि यद् राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ।।"

-- वही ७।३५

राम और भरत में अन्तर न मानने के कारण ही वह इस राज्याभिषेक के समाचार से प्रसन्न हो उसे उपहारस्प में आभूषण देते हुए अपना यथेच्छ वर मांगने को कहा था --

देखें : वही ७।३३-३४ एवं ३६ ।

देखने को मिलते हैं। भरत के कथनानुसार कौसल्या कैकेयी के प्रति सदा भगिनीवत् व्यवहार करती थी।[१] सुमित्रा ने अपने को सर्वात्मना कौसल्या के हाथों में ही समर्पित कर दिया था। स्पष्ट है कि इन तीनों ही माताओं में सौहार्दपूर्ण व्यवहार था। परन्तु इसी महाकाव्य में कुछ ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं जिनसे यह स्पष्ट होता है कि इन तीनों राम-माताओं में सौतिया-डाह युक्त व्यवहार था। राम के वन-गमन का निश्चय सुनकर कौसल्या ने राम से कैकेयी से कष्ट पाने की शंका व्यक्त की थी।[२] स्वयं दशरथ से भी कौसल्या ने कैकेयी से कष्ट पाने की आशंका ही व्यक्त की थी[३] और आगे चल कर स्वयं राम को भी यह शंका हुई थी कि कहीं कैकेयी, सुमित्रा एवं कौसल्या को कष्ट न दे।[४]

इन विरोधी प्रमाणों के देखने से राम-माताओं के आपसी व्यवहार के विषय में कोई निश्चित् मत नहीं व्यक्त किया जा सकता क्योंकि एक प्रमाण जहां उनमें सौहार्दपूर्ण व्यवहार को बताता है वहीं दूसरे प्रमाण उनमें सौत-जन्य ईर्ष्या-युक्त व्यवहार भी चित्रित करते हैं। ऐसी परिस्थिति में यहां यह कहा जा सकता है कि सम्भवत: सभी राम-माताओं में स्नेह-युक्त सम्बन्ध होते हुए भी कैकेयी उन सब पर हावी थी।

१- 'तथा ज्येष्ठा हि मे माता कौसल्या दीर्घदर्शिनी।
त्वयि धर्मं समास्थाय भगिन्यामिव वर्तते।।'
-- वा० रा० अयोध्या० ७३।१०

२- देखें: वही २०।३६, ४१ एवं २४।१६

३- देखें: वही ४३।२-३

४- 'अपीदानीं तु कैकेयी सौभाग्यमदमोहिता।
कौसल्यां च सुमित्रां च सा प्रबाधेत मत्कृते।।'
-- वही ५३।१५

ग- भाइयों से सम्बन्ध

प्रस्तुत महाकाव्य में हमें राम का अपने अनुजों से भी स्नेह-युक्त व्यवहार देखने को मिलता है। राम बाल्यकाल से ही लक्ष्मण को अत्यधिक स्नेह करते थे। वह उनके दूसरे प्राण के समान थे। लक्ष्मण के बिना उन्हें नींद भी नहीं आती थी और स्नेह के कारण ही वह लक्ष्मण के बिना कुछ खा भी नहीं सकते थे।[1] लक्ष्मण की तरह ही भरत एवं शत्रुघ्न भी उनके स्नेह-भाजन थे।[2] युद्ध में लक्ष्मण को मूर्च्छित देख राम के विलाप से भी यही प्रकट होता है कि वह लक्ष्मण को अत्यधिक स्नेह करते थे।[3] इसी प्रकार चित्रकूट पर भरत के पौनः पुन्येन निवेदन किए जाने पर भी भ्रातृस्नेह के कारण ही सम्भवतः उन्होंने राजपद स्वीकार नहीं किया था।[4] राजपद प्राप्त करने पर भी उन्होंने स्नेह के कारण ही भाइयों को भी शासन-व्यवस्था में समान स्थान दिया था और राज्य-संचालन में सदा उनकी इच्छा को ही महत्ता दी थी।[5]

१- 'लक्ष्मणो लक्ष्मिसम्पन्नो बहिः प्राण इवापरः ।
न च तेन विना निद्रां लभते पुरुषोत्तमः ।।
मृष्टमन्नमुपानीतमश्नाति न हि तं विना ।।
-- वा० रा० बाल० १८।३०-३१ । इसी प्रकार
देखें : अयोध्या ३१।१० ; युद्ध० ४९।१८ ; १०१।४ आदि ।

२- वन-प्रस्थान के समय राम ने सीता को अयोध्या में ही रहने के लिए समझाते हुए उनसे भरत एवं शत्रुघ्न से पुत्रवत् व्यवहार करने का निवेदन करते हुए कहा था --
'भ्रातृ पुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः ।
त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम ।।
-- वही अयोध्या २६।३३

३- देखें : वही युद्ध स० ४९ एवं १०१

४- देखें : वही अयोध्या० स० १०५

५- देखें : वही युद्ध १२८।१०६ एवं उत्तर ४४।१६ आदि ।

स्पष्ट है कि राम ने अपने अनुजों से सदा ही पुत्रवत् व्यवहार किया था और सदा ही उन्हें स्नेह एवं आदर प्रदान किया था क्योंकि उनकी दृष्टि में पारिवारिक सदस्यों के अन्तर्गत एक गृहस्थ के लिए सहोदर भ्राता का ही महत्वपूर्ण स्थान होता है अन्य रिश्ते तो पुन: पुन: बन-बिगड़ सकते हैं परन्तु सहोदर भ्राता यदि बिछुड़ गया तो पुन: नहीं मिल सकता ।[1] सहोदर भाई की इसी दुर्लभता के कारण राम ने अपना सम्पूर्ण जीवन ही भाइयों के लिए समर्पित कर दिया था । भ्रातृ-सम्मान के लिए ही उन्होंने वन की राह ली और पुन: चौदह वर्षों के पश्चात् राज्य भी ग्रहण किया था ।[2]

राम की तरह ही उनके अन्य अनुज भी उन्हें अत्यधिक स्नेह करते थे और सदा उनके आदेश पालन के लिए तत्पर रहते थे । लक्ष्मण बाल्यकाल से ही राम के प्रति अनुरक्त थे और सदा ही उनकी सेवा एवं प्रिय-कार्यों के सम्पादन में लगे रहते थे ।[3] यहाँ तक कि वह आखेट के समय भी राम की रक्षा के लिए उनके साथ जाया करते थे ।[4] राम के प्रति इस स्नेह के कारण ही

१- 'देशे-देशे कलत्राणि देशे-देशे च बान्धवा: ।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदर: ।।
--वा० रा० युद्ध० १०१ ।१५

२- राम ने लक्ष्मण से अपने धर्म, अर्थ एवं काम इन पुरुषार्थत्रय को और राज्य की इच्छा को भी भाइयों के कल्याण के लिए ही कहा था --
'धर्ममर्थं च कामं च पृथिवीं चापि लक्ष्मण ।
इच्छामि भवतामर्थे एतत् प्रतिशृणोमि ते ।।
भ्रातृणां संग्रहार्थं च सुखार्थं चापि लक्ष्मण ।
राज्यमप्यहमिच्छामि सत्येनायुधमालभे ।।
-- वही अयोध्या ९७।५-६

३- बाल्यात् प्रभृति सुस्निग्धो लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धन: ।
रामस्य लोकरामस्य भ्रातुर्ज्येष्ठस्य नित्यश: ।।
सर्वप्रियकरस्तस्य रामस्यापि शरीरत: ।।
--वही बाल० १८।२८-२९

४- यदा हि हयमारूढो मृगयां याति राघव: ।
अथैनं पृष्ठतोऽभ्येति सधनु: परिपालयन् ।।--वा०रा०बाल०१८।३१-३२

उन्होंने सीता की रक्षा एवं राम की सेवा के लिए वन की राह ली थी ।[1] लक्ष्मण के इसी सेवा भाव के कारण राम उन्हें अपना प्रिय एवं सखा मानते थे क्योंकि लक्ष्मण सेवा एवं रक्षा के अतिरिक्त राम के आज्ञापालक भी थे ।[2] तत्कालीन विचारकों का भी यही मत था कि अनुज को बड़े भाई का आज्ञापालक होना चाहिए ।[3] अनुज द्वारा अग्रज के आज्ञापालन की इसी अनिवार्यता के कारण वह राम का आदेश पाकर गर्भिणी सीता को भी वन में छोड़ने के लिए बाध्य हुए थे ।[4]

परन्तु ऐसे सेवक, आज्ञापालक एवं स्नेही भ्राता को भी राम को सत्य या धर्म की बलिवेदी पर चढ़ाना पड़ा था । और काल से वार्तालाप के समय लक्ष्मण के आ जाने के कारण राम को उन्हें सदा-सदा के लिए त्याग देना पड़ा था ।[5] लक्ष्मण के समान ही भरत भी राम को सदा ही अत्यधिक स्नेह एवं सम्मान प्रदान करते थे ।[6] राम के प्रति प्रेम एवं सम्मान के कारण ही

१- देखें : वही अयोध्या ३१ ।२५-२७

२- लक्ष्मण के आज्ञापालन की प्रशंसा करते हुए राम ने कहा है --

"स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे स्थितः ।

प्रियः प्राणसमो वश्यो विधेयश्च च सखा च मे ।।

-- वही ३१। १०

३- "एष लोके सतां धर्मो यज्ज्येष्ठवशगो भवेत ।।"

-- वही ४० ।६

४- देखें : वही उत्तर स० ४६-४७

५- विस्तृत कथा के लिए देखें : वही स० १०३-१०६

६- "उभौ सौमित्रिभरतौ रामपादानुव्रतौ ।

-- वा० रा० उत्तर० १०२।१५

कैकेयी द्वारा छल-कपट से प्राप्त राज्य भी उन्होंने ठुकरा दिया था और उसे उसके वास्तविक अधिकारी राम को समर्पित करने के लिए वन की राह ली थी तथा अन्ततः एक धरोहर के रूप में चौदह वर्षों तक उसकी रक्षा करने के पश्चात् उसे राम को ही पुनः समर्पित कर दिया था। यह तो हुआ राम का उनके गार्हस्थ्य काल में परिवार के अन्य सदस्यों से सम्बन्ध विवेचन। अब हमें यह देखना है कि सीता का परिवार के अन्य सदस्यों से कैसा व्यवहार था ? पारिवारिक व्यवस्था में पिता का प्रमुख होने के कारण यहां भी सर्वप्रथम हमें यह देखना है कि सीता का महाराज दशरथ से कैसा बर्ताव था ?

घ- सीता का दशरथ से सम्बन्ध

वाल्मीकि युगीन समाज में पुत्रवधू के लिए श्वसुर पितृतुल्य पूज्यनीय होता था। तत्कालीन समाज की इसी परम्परा के कारण सीता भी नित्यप्रति दशरथ की वन्दना एवं सेवा-शुश्रूषा के लिए उनके प्रासाद में आया करती थीं। वन-प्रस्थान के समय राम ने सीता को अयोध्या में ही रहने की सलाह देते हुए नियमपूर्वक पिता दशरथ की सेवा करने का आदेश दिया था।[१]

दशरथ भी सीता से पुत्रीवत् व्यवहार करते थे और राम की तरह उन्हें भी अत्यधिक स्नेह करते थे। वनवास के समय राम के साथ सीता को भी जाता हुआ देखकर, उनके प्रति स्नेह के कारण ही वह दुःखी होकर उन्हें वन-गमन से रोकना चाहते थे और अन्ततः उन्हें रुकता न देख विभिन्न आभूषणों से सुसज्जित कराके वनवास के लिए विदा किया था।[२]

१- 'कल्यमुत्थाय देवानां कृत्वा पूजां यथाविधि।
वन्दितव्यो दशरथः पिता मम जनेश्वरः ।।
-- वा० रा० अयोध्या० २६।३०

२- देखें : वही स० ३८-३६

उ०- कौसल्या आदि से सम्बन्ध

दशरथ के समान ही कौसल्या आदि राम माताओं की भी सीता नित्यप्रति सेवा करती थीं। राम ने वन-प्रस्थान के पूर्व सीता को अयोध्या में रहते हुए कौसल्या की सेवा एवं पादाभिवन्दन का आदेश दिया था।[१] अन्य विमाताओं के प्रति भी उन्होंने सीता का यही कर्तव्य निर्धारित करते हुए उन्हें सदा ही इन विमाताओं की भी सेवाशुश्रूषा करने का आदेश दिया था।[२] वनवास की अवधि पूर्ण हो जाने पर पुनः अयोध्या में आकर सीता नियमित रूप से सासुओं की सेवा करने लगी थीं।[३]

सीता के इसी सेवाभाव से प्रसन्न होकर सासुएं भी उन्हें पुत्रीतुल्य मानते हुए अत्यधिक स्नेह देती थीं। इस स्नेह के कारण ही वनवास के समय कैकेयी के अतिरिक्त अन्य रानियों ने उन्हें वनवास से रोकने का प्रयास किया था।[४]

ब- लक्ष्मण आदि से सम्बन्ध

सीता का लक्ष्मण आदि अपने देवरों से भी स्नेहयुक्त सम्बन्ध

१- 'माता च मम कौसल्या वृद्धा संतापकर्षिता।
धर्ममेवाग्रतः कृत्वा त्वत्तः सम्मानमर्हति ॥'
-- वा० रा० अयोध्या० २६।३१

२- 'वन्दितव्याश्च ते नित्यं याः शेषाः मम मातरः।
स्नेहप्रणयसम्भोगैः समा हि मम मातरः ॥'
-- वही २६।३२

३- 'सीतापि देवकार्याणि कृत्वा पौर्वाह्णिकानि वै।
श्वश्रूणामकरोत् पूजां सर्वासामविशेषतः ॥'
-- वही उत्तर० ४२।२८

था । वह उन्हें पुत्रवत् मानती थीं । वन-प्रस्थान के पूर्व राम ने सीता को भरत एवं शत्रुघ्न को पुत्रवत् या भ्रातृवत् मानने का आदेश दिया था ।[1]

लक्ष्मण आदि भी सदा ही सीता के साथ मातृवत् व्यवहार करते थे ।[2] वनवास की अवधि में एवं उसके बाद भी लक्ष्मण ने सीता की, अपनी माता की तरह ही सेवा की थी । वह नियमित रूप से उनके चरणों की वन्दना किया करते थे ।[3] सीता उनके लिए साक्षात् देवता थीं ।[4] स्पष्ट है कि लक्ष्मण के लिए दशरथ, कौसल्या या राम का जितना महत्व

१- 'भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषत: ।
त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणै: प्रियतरौ मम ।।
-- वा० रा० अयोध्या० २६।३३

२- वन-प्रस्थान के समय सुमित्रा ने लक्ष्मण को उपदेश देते हुए उनसे मातृवत व्यवहार करने का आदेश दिया था --
'रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम् ।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम् ।।'
-- वही ४०।६

३- देखें : वा० रा० किष्किन्धा० ६।१ २

४- मारीच द्वारा 'हा राम' सुनकर लक्ष्मण से जाने का निवेदन करने पर भी उन्हें राम की सहायता के लिए जाता न देखकर सीता द्वारा किसी दुष्ट भाव से प्रेरित बताए जाने पर उन्होंने सीता से उनके देवत्व का ही उल्लेख करते हुए कहा था कि आप मेरे लिए साक्षात् देवता हैं आपको प्रत्युत्तर देने की मुझमें सामर्थ्य नहीं है --
'उत्तरं नोत्सहे वक्तुं दैवतं भवती मम ।'
-- वही अरण्य० ४५ ।२८

उतना ही सीता का भी । सीता भी उनके लिए इन सबके समान ही पूज्यनीय थीं । और वह सदा ही मातृवत सीता की सेवा के लिए तत्पर रहते थे । परन्तु उन दोनों में मातृ एवं पुत्रवत् सम्बन्धों के होते हुए भी उनमें लज्जा का एक आवरण विद्यमान था । इस लज्जाभाव की प्रधानता के कारण ही लक्ष्मण सीता को सम्मुख होकर कभी देखते भी नहीं थे । सीताहरण के पश्चात् उनके अन्वेषण-क्रम में प्राप्त कुछ आभूषणों को लक्ष्य करके जब राम ने लक्ष्मण से उन्हें पहचानने के लिए कहा था तब लक्ष्मण ने अत्यन्त विनम्रता के साथ यही उत्तर दिया था कि मैं सीता की नित्यप्रति चरण-वन्दना करने के कारण उनके नूपुरों को अच्छी तरह पहचानता हूं ।[1] इसी प्रकार लोकापवाद से बचने के लिए राम के द्वारा त्यागी जाती हुई गर्भिणी सीता ने लक्ष्मण से जब अपनी स्थिति देखने का निवेदन किया था तब भी उन्होंने इन्कार करते हुए यही कहा था कि आजतक मैंने जब आपका मुख नहीं देखा है तो भला आज राम से रहित इस सूने प्रदेश में मैं आपको कैसे देख सकता हूं ।[2] परन्तु ऐसे सेवा परायण एवं लज्जालु देवर पर स्त्री-स्वभाव या पति को ही सर्वोपरि मानने के कारण सीता ने उन पर अनेक लांछन लगाए थे । मायामृग द्वारा 'हा राम' सुनकर भी राम की शक्ति को जानने एवं उनके सीता रक्षा-रूपी आदेश के कारण लक्ष्मण को न जाता देखकर सीता ने उन पर 'उन्हें (सीता को) पत्नी रूप में) चाहने वाला एवं भरत का दूत' कहा था ।[3] और उन्हें अनार्य, नृशंस, कुलपांसन

१- 'नाहं जानामि केयूरे नाहं जानामि कुण्डले ।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात् ।।'
-- वही किष्किन्धा० ६।२२

२- 'दृष्टपूर्वं न ते रूपं पादौ दृष्टौ तवानघे ।
कथमत्र हि पश्यामि रामेण रहितां वने ।।
-- वा० रा० उत्तर० ४८।२१

३- देखें : वा० रा० अरण्य० ४५।५-६ ; २२-२६ ।

आदि भी कहा ।[१] सीता के इन मर्माहत वचनों का उन्हें फल भी मिला और लक्ष्मण के चले जाने पर रावण द्वारा उनका हरण भी हुआ ।

उपर्युक्त घटनाक्रम से ऐसा आभास मिलता है कि लक्ष्मण एवं सीता का सम्बन्ध सन्देह की भित्ति पर आधारित था । तभी तो सीता ने उन पर लांछन लगाए । परन्तु यहां यह ध्यातव्य है कि सीता ने लक्ष्मण पर ये आरोप सम्भवत: उन्हें राम की सहायता के लिए जाने के लिए प्रेरित करने के ध्येय से ही लगाए थे ।[२] स्वयं लक्ष्मण ने सीता द्वारा ऐसे लांछनों का मूल कारण स्त्री स्वभाव माना था ।[३]

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि देवरों का सीता के साथ मातृवत् व्यवहार था ।

(V) राम एवं सीता के गार्हस्थ्य-जीवन का आलोचनात्मक : अध्ययन :

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि राम ने अपने गार्हस्थ्य जीवन में एक आदर्श पुत्र एवं आदर्श भाई तथा पति के कर्तव्य का निर्वाह किया था । आदर्श पुत्र होने के कारण ही न्यायत: प्राप्त होने वाले राज्यपद को भी ठुकराकर उन्होंने पिता दशरथ एवं माता कैकेयी के

१- देखें : वही ४५।२१

२- रावण द्वारा हरण कर लिए जाने पर विलाप करती हुई सीता द्वारा लक्ष्मण को गुरु-चित प्रशावक आदि कहने से उपर्युक्त तथ्य की ही पुष्टि होती है ।

३- देखें : वही ४५ ।२६-३०

आदेश से वन की राह ली थी । आदर्श भाई होने के कारण ही उन्होंने अपने में एवं भरत में कोई भेद न मानते हुए प्रसन्नतापूर्वक उन्हें कोसल जनपद का राज्य सौंपा था । आदर्श पति होने के कारण ही उन्होंने वन्य-जीवन में भी सीता को अपने साथ रखा था और रावण द्वारा उनका अपहरण किए जाने पर अनेक कष्टों को सहन करने के पश्चात् भी उन्हें पुनः प्राप्त किया था ।

अपने उत्तरकालीन गार्हस्थ्य जीवन में राम हमारे समक्ष एक आदर्श नरेश एवं आदर्श पिता के रूप में भी उपस्थित होते हैं । वाल्मीकि द्वारा चित्रित रामराज्य से स्पष्ट हो जाता है कि वह एक आदर्श नरेश थे ।[१] उत्तरकालीन गार्हस्थ्य जीवन में ही हम राम को, पारिवारिक सदस्यों को बलिवेदी पर चढ़ाकर भी प्रजापालन में तत्पर पाते हैं । अग्नि-परीक्षा द्वारा सीता की शुद्धता प्रमाणित हो जाने के पश्चात् भी "भद्र" नाम के अयोध्या के एक नागरिक द्वारा सीता के चरित्र पर सन्देह प्रकट करने मात्र से, राम द्वारा गर्भिणी सीता के परित्याग से [२] यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपने उत्तरकालीन गार्हस्थ्य-जीवन में प्रजापालन को ही प्रधान माना । उसके आगे उन्होंने प्राणप्रिया सीता के परित्याग में भी कोई संकोच नहीं किया ।

राम की तरह सीता ने भी गार्हस्थ्य-जीवन में सास-ससुर की सेवा एवं राम के प्रति एकनिष्ठ प्रेम द्वारा अपने आदर्श पुत्रवधुत्व एवं पत्नीत्व को ही साकार किया है । फिर भी पुत्रवधू एवं पत्नी इन दोनों में से उन्होंने गार्हस्थ्य-काल में आदर्श पत्नी के दायित्व निर्वाह को ही महत्वपूर्ण माना था। सुख की घड़ियों में राम के साहचर्य सुख का अनुभव करने वाली सीता विभिन्न

१- रामराज्य के वर्णन के लिए देखें : वा० रा० युद्ध० १२८।९८-१०५

२- विस्तृत कथानक के लिए देखें : वही उत्तर० स० ४३-४८

सुखों को ठुकराकर भी चौदह वर्षों के लिए राम के साथ वन के लिए चल पड़ी, क्योंकि धार्मिक मान्यता के अनुसार प्रत्येक अवस्था में पति का अनुसरण करने वाली स्त्री ही महान् अभ्युदयशाली लोकों की प्राप्ति करती है;[1] इसके अतिरिक्त संकट काल में पति का साथ छोड़ देने वाली स्त्री "असती" या दुष्टा की संज्ञा प्राप्त करती है ।[2] तत्कालीन समाज की इन्हीं मान्यताओं एवं राम के प्रति प्रेम के कारण सीता ने वन की राह ली थी । वन्य-जीवन में भी उन्होंने पति की सेवा आदि पत्नी के उत्तरदायित्वों को निभाया था ।[3] सीता के आदर्श पत्नीत्व का एक महत्वपूर्ण स्वरूप हमें लंका में देखने को मिलता है । लंका में रावण द्वारा विभिन्न प्रलोभनों[4] एवं भयों तथा कष्टों[5] के दिए जाने पर भी

१- "नगरस्थो वनस्थो वा शुभो वा यदि वाशुभः ।
यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता तासां लोकाः महोदयाः ।।"
-- वही अयोध्या ११७।२३

२- "असत्यः सर्वलोकेऽस्मिन् सततं सत्कृताः प्रियैः ।
भर्तारं नानुमन्यन्ते विनिपातगतं स्त्रियः ।।
एष स्वभावो नारीणामनुभूय पुरा सुखम् ।
अल्पामप्यापदं प्राप्य दुष्यन्ति प्रजहत्यपि ।।"
-- वही ३९।२०-२१

३- भारतीय समाज ने स्त्री का परम धर्म पति की सेवा माना है । पति सेवा के आगे यहां पूजा-पाठ को भी व्यर्थ माना गया है ।
-- देखें : वा० रा० अयोध्या० २४।२६-२७

४- देखें : वही सुन्दर० २०।२३-२४,३१-३३ एवं ३५, ३६ आदि

५- देखें : वही स० २३-२४

वह राम का साथ छोड़ने के लिए तैयार नहीं हुई थीं ।[१] आदर्श पत्नी होने के कारण ही वह इस स्थिति में भी पर पुरुष के स्पर्श या उसके साथ वार्तालाप से बचती थीं । हनुमान द्वारा अपनी पीठ पर बैठकर राम के पास चलने का निवेदन किए जाने पर वह पातिव्रत्य के भंग होने के भय से ही इस प्रस्ताव पर सहमत नहीं हुई थीं ।[२] इसी प्रकार पातिव्रत्य की रक्षा के लिए ही वह रावण से वार्तालाप के समय तिनके का सहारा लेती थीं या उसकी ओर पीठ कर लेती थीं ।[३] सीता के आदर्श पत्नी होने का एक उदाहरण हमें उनके उत्तरकालीन गार्हस्थ्य-जीवन में भी देखने को मिलता है । अपनी चारित्र परीक्षा में खरी उतरने एवं अग्निदेव द्वारा उसकी पुष्टि किए जाने पर भी[४] लोकापवाद से बचने के लिए पति द्वारा त्यागी जाती हुई सीता पति के इस निरंकुश एवं निराधार आदेश के विरोध में प्रति आदर्श पत्नी होने के कारण एक शब्द भी नहीं कह पातीं । और वह राम से प्रजापालन-रूप राजा के कर्तव्य का निर्वाह करने की

१- 'शक्या लोभयितुं नाहमैश्वर्येण धनेन वा ।
अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा ।।
उपधाय भुजं तस्य लोकनाथस्य सत्कृतम् ।
कथं नामोपधास्यामि भुजमन्यस्य कस्यचित् ।।
अहमौपयिकी भार्या तस्यैव च धरापतेः ।
व्रतस्नानस्य विधेव विप्रस्य विदितात्मनः ।।'
-- वही २१।१५ ; १६ एवं १७ इसी प्रकार देखें २४।८-१३ आदि ।

२- 'भर्तुर्भक्तिं पुरस्कृत्य रामादन्यस्य वानर ।
नाहं स्प्रष्टुं स्वतो गात्रमिच्छेयं वानरोत्तम ।।'
-- वही ३७।६२

३- देखें : वही २१ ।३ एवं ६

४- देखें : वा० रा० युद्ध० स० ११५-११८

सलाह देते हुए उन्हें अपने प्रति चिन्तित न रहने का निवेदन करती हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में जहां राजा का प्रधान कर्तव्य लोकानुरंजन होता है वहीं पत्नी का प्रधान कर्तव्य होता है अपने प्राणों की बाजी लगाकर भी देवता, गुरु एवं बन्धु होने के कारण पति का प्रिय कार्य सम्पादित करना ।[1]

स्पष्ट है कि राम ने अपने गार्हस्थ्य के प्रारम्भिक चरण में देवतुल्य पिता के आदेश को सर्वोपरि माना था और उत्तरकालीन गार्हस्थ्य-जीवन में प्रजापालन रूप कर्तव्य को । राम की तरह सीता भी गार्हस्थ्य-जीवन में आदर्श पत्नीत्व के उत्तरदायित्व को पूर्ण किया था ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में यह निरूपित किया जा चुका है कि भारतीय ऋषियों की दृष्टि में व्यक्ति के गार्हस्थ्य जीवन की सफलता उसके द्वारा सम्पादित पुरुषार्थत्रय द्वारा ही सम्भव होती है । भारत की इसी सनातनी परम्परा को ध्यान में रखते हुए ही राम ने बाल्यकाल में शिक्षार्जन द्वारा धर्म, युवावस्था में अर्थ एवं काम का विधिपूर्वक उपभोग किया था । यहां यह तथ्य अवधेय है कि राम ने इन तीनों पुरुषार्थों में भी धर्म को ही सर्वोपरि माना था क्योंकि धर्म ही वह साधन है जिसके द्वारा व्यक्ति अर्थ,(काम) सुख आदि सब कुछ प्राप्त कर सकता है ।[2] धर्म की इसी महत्ता के कारण राम ने

१- "यत्तु पौरजने राजन् धर्मेण समवाप्नुयात् ।
अहं तु नानुशोचामि स्वशरीरं नरर्षभ ।।
यथापवादं पौराणां तथैव रघुनन्दन ।
पतिर्हि देवता नार्याः पतिर्बन्धुः पतिर्गुरुः ।।
प्राणैरपि प्रियं तस्माद् भर्तुः कार्यं विशेषतः ।"
-- वही उत्तर० ४८।१६-१७ एवं १८

२- धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात् प्रभवते सुखम् ।
धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत् ।।"

यावज्जीवन इसी का पालन एवं वर्द्धन किया । राम के जीवन में धर्म उनके द्वारा सम्पादित धर्म के विविध स्वरूप देखने को मिलते हैं । राम द्वारा पितृ-आज्ञापालन, प्रजा-रक्षण आदि कार्य धर्म-पालन के ही अन्तर्गत आते हैं । कर्तव्य रूप धर्मपालन के अतिरिक्त उन्होंने त्रिकालसंध्या एवं विभिन्न यज्ञों के सम्पादन द्वारा भी धर्म का पालन किया था ।

धर्म के साथ ही वह अर्थ-प्राप्ति के प्रति भी सचेष्ट थे क्योंकि गार्हस्थ्य की भित्ति अर्थ पर ही आधृत होती है परन्तु इस अर्थ की प्राप्ति में भी उन्होंने धर्म को ही मूल मानते हुए धर्ममूलक अर्थ की प्राप्ति की थी ।[1]

धर्म एवं अर्थ के साथ ही उनके द्वारा भुक्त 'काम' भी धर्म पर ही आश्रित था । यावज्जीवन एकपत्नी व्रत धारण एवं उसके साथ भी नियमित धर्मरति के आस्वादन से यही स्पष्ट होता है कि राम का 'काम' भी धर्म-भित्ति पर ही आश्रित था ।

यहां यह विचारणीय है कि भारतीय समाज में सदा से ही धर्म, अर्थ एवं काम के अर्जन का समय निर्धारित रहा है । क्षत्रिय के लिए यहां प्रातः काल उसके धर्मार्जन का तदनन्तर अर्थ सम्पादन का और रात्रि उसके कामोपभोग का समय निर्धारित किया गया है ।[2]

१- राम ने कैकेयी से अपने जीवन में धर्म को ही प्रधान मानते हुए उसके आगे अर्थ की हीनता प्रतिपादित की थी --

'नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे ।
विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममास्थितम् ।।
-- वा०रा०अयोध्या० १६।२०

इसी भावना के कारण उन्होंने चौदह वर्षों के वनवास के पश्चात् अर्थार्जन रूप राजपद को ग्रहण किया था ।

२- 'प्रातर्दानादिधर्मकालः तदनन्तरं आस्थान्यां राज्यविचारेणार्थकालः, रात्रौ कामकालः ।।
--वा० रा० अयोध्या १००।६३ पर गोविन्द राज की टीका ।

गार्हस्थ्य-जीवन में पुरुषार्थत्रय के अर्जन में राम ने भी उपर्युक्त विधान का ही आश्रय लिया था। प्रातःकाल वह धर्मार्जन में तत्पर रहते थे,[1] तदनन्तर अर्थार्जन पर विचार करते थे और उसके पश्चात् मध्याह्न काल में अन्तःपुर में प्रवेश करके रात्रि में काम-सुख का अनुभव करते थे।[2]

स्पष्ट है कि राम ने अपने गार्हस्थ्य-जीवन में पुरुषार्थत्रय का समुचित रूप से उपभोग किया था। इनके समुचित उपभोग एवं अर्जन के तथा गार्हस्थ्य काल में पुत्रोत्पादन आदि द्वारा तीन ऋणों से   होने के कारण ही जीवन के अन्त भाग में "परम तत्त्व" या "विष्णु स्वरूप" की प्राप्ति द्वारा वह "मोक्ष" नाम के चतुर्थ पुरुषार्थ को भी सम्पन्न कर सके थे।

५- महाभारत में गार्हस्थ्य चित्रण एवं यहां विवेचित गार्हस्थ्य-वृत्ति के : कुछ मूलभूत नियम :

क गार्हस्थ्य वृत्ति के नियम

संस्कृत-महाकाव्यों की परम्परा में महाभारत यद्यपि एक राजनीतिक वर्णन प्रधान महाकाव्य माना जाता है फिर भी इसमें चूंकि अनेक गृहस्थों के वर्णन के द्वारा गार्हस्थ्य जीवन का भी विस्तृत चित्रण हमें देखने को मिलता है इसलिए इसे गार्हस्थ्य चित्रण का निरूपण करने वाले महाकाव्यों के क्रम में भी रखा जा सकता है। काव्य के प्रतिपाद्य विषय में गार्हस्थ्य जीवन के वर्णन के कारण ही यहां हमें गृहस्थों के अनेक करणीय कर्तव्यों का विधान देखने को मिलता है।[3] गृहस्थाश्रम के सम्यक् निर्वाह के

१- देखें : वही उत्तर० ४२।७

२- देखें : वा० रा० उत्तर० ४२।२७

३- गार्हस्थ्य-जीवन के विविध-विधि-विधानों के लिए देखें : म० भा० वन० २।५९-६३ ; शान्ति० ८।१५-२७ ; ९१।६-१५ ; १९१।१०, १२,१६-१८ एवं अ० २४३ आदि।

लिए पहली आवश्यकता धन की पड़ती है क्योंकि 'अर्थ से ही सभी कार्यों का सम्पादन होता है, अर्थ से ही धर्म, काम, स्वर्ग सुलभ होते हैं और जीवन का सम्यक् निर्वाह होता है, अर्थ से विहीन मनुष्य किसी भी कार्य को पूर्ण नहीं कर सकता, अर्थ से ही कुल की रक्षा एवं जीवन की रक्षा तथा धर्म-कार्यों का सम्यक् निर्वाह होता है।'[1] गार्हस्थ्य जीवन में अर्थ की इसी महत्ता के कारण महाभारतकार का स्पष्ट आदेश है कि गृहस्थ के पास धन, गौ, भृत्य आदि अधिकाधिक संख्या में होना चाहिए क्योंकि इसके बिना वह कृश होता है।[2]

वस्तुतः महाभारत में गृहस्थ-जीवन में अर्थ की महत्ता एवं उसकी उपयोगिता के विषय में हमें दो भिन्न-भिन्न विचार देखने को मिलते हैं। प्रथम मत के अनुसार मनुष्य को अधिकाधिक धनोपार्जन करना चाहिए और दूसरे मत के अनुसार उसे अर्थोपार्जन में लगना ही नहीं चाहिए, गृहस्थ धर्म का पालन मात्र उसी धन से करना चाहिए जो आकाशवृत्ति से आ जाय। धनोपार्जन सम्बन्धी इन दो विधानों में से प्रथम का विधान तो ब्राह्मणेतर वर्णों (क्षत्रिय एवं वैश्य) तथा दूसरे का ब्राह्मण वर्ण के लिए किया गया था।

धनोपार्जन की इस आवश्यकता के साथ ही उस युग में वही अर्थ कल्याणकारी माना जाता था जो धर्मतः अर्जित किया जाय। महाभारतकार ने अर्थ को सदैव धर्ममूलक होना आवश्यक मानते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि अर्थ सदैव धर्ममूलक, काम अर्थमूलक एवं ये सब संकल्प-मूलक होते हैं।[3]

१- देखें : वही शान्ति ८।१६-२३

२- 'यः कृशार्थः कृशगवः कृशभृत्यः कृशातिथिः।
स वै राजन् कृशो नाम न शरीरकृशः कृशः॥
-- वही २४

३- 'धर्ममूलः सदैवार्थः कामोऽर्थफलमुच्यते।
संकल्पमूलास्ते सर्वे संकल्पो विषयात्मकः॥
-- म० भा० शान्ति० १२३।५

वर्णाश्रम के इस विधान के साथ ही गृहस्थ के कुछ अन्य विधानों की भी उस युग में स्थापना हो चुकी थी। इन विधानों के अन्तर्गत, गृहस्थ द्वारा विषयों के प्रति अनासक्त होने, शठता और कपट से दूर रहने, परिमित आहार करने, अपने व्यवहार में सत्य एवं मृदु-भाषण करने तथा दया एवं क्षमा आदि का पालन करने के नियमों की स्थापना की गयी। इसके साथ ही देवताओं एवं पितरों के लिए यज्ञ तथा ब्रह्मचारी वानप्रस्थी एवं सन्यासी के लिए दान करना भी उसके दैनिक कर्तव्यों का अंग माना गया है[1] गृहस्थ द्वारा अन्य तीनों आश्रमवासियों के पालन की अनिवार्यता को ध्यान में रखते हुए ही यह कहा गया है कि गृहस्थ के धन में सभी प्राणियों का भाग है उसे उन सबके लिए कुछ न कुछ देना है जो अपना भोजन स्वयं नहीं पकाते।[2] तत्कालीन धारणा के अनुसार गृहस्थ को केवल अपने लिए भोजन नहीं बनाना चाहिए अपितु उसके भोजन निर्माण का उद्देश्य होना चाहिए देवताओं, अतिथियों एवं पितरों आदि का परितोष। भोजन से पहले उसे विधिपूर्वक देवताओं को अर्पित करना चाहिए और तब ग्रहण करना चाहिए।[3] इसके अतिरिक्त गृहस्थ को नियमपूर्वक प्रतिदिन प्रात: एवं सायंकाल कुत्तों, चाण्डालों एवं कौवों आदि को भी अन्न दान देना चाहिए।[4] महाभारतकार की स्पष्ट सम्मति है कि गृहस्थ को प्रतिदिन "विघस"

१- देखें : वही ६१।६-२५

२- "संविभागो हि भूतानां सर्वेषामेव दृश्यते।
तथैवापचमानेभ्यः प्रदेयं गृहमेधिना ॥

--म० भा० वन० २।५३, इसी प्रकार देखें : शान्ति २४३।११

३- "आत्मार्थं पाचयेन्नान्नं - - - - - - - - -।
न च तत् स्वयमश्नीयाद् विधिवद् यन्न निर्वपेत् ॥"

-- वही वन.२।५८

४- "श्वभ्यश्च श्वपचेभ्यश्च वयोभ्यश्चावपेद् भुवि।
वैश्वदेवं हि नामैतत् सायं प्रातश्च दीयते ॥

-- वही वन.२।५६

एवं 'अमृत' भोजन करना चाहिए । उस युग में घर के सभी सदस्यों के भोजन कर लेने के बाद शेष अन्न 'विघस' एवं बलिवैश्वदेव से बचे हुए अन्न को अमृत कहा जाता था ।[1]

गृहस्थ के मुख्य कर्तव्य के रूप में उस युग में अतिथि-सत्कार का विधान किया गया था । अतिथि यज्ञ की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए यहां कहा गया है कि जो व्यक्ति अतिथि का सत्कार नहीं कर पाता, जिसके द्वार से असत्कृत व्यक्ति लौट जाता है उस गृहस्थ का सारा पुण्य तो असत्कृत व्यक्ति के साथ चला जाता है और असत्कृत व्यक्ति का सारा पाप उस गृहस्थ को मिल जाता है ।[2] अतिथि सत्कार की इसी अनिवार्यता के कारण महाभारतकार का यह मन्तव्य है कि गृहस्थ यदि दरिद्र भी हो तो उसके घर पर सभी प्राणियों के आसन के लिए तृण,(कुश) बैठने के लिए स्थान, जल एवं मधुर वाणी तो होनी ही चाहिए ।[3] उसे आर्त व्यक्ति के लिए शयन, थके व्यक्ति के लिए आसन, प्यासे के लिए पानी और भूखे व्यक्ति के लिए भोजन आदि देना ही चाहिए ।[4] क्योंकि

१- 'विघसाशी भवेन्नित्यं नित्यं चामृतभोजनः ।
विघसो भुक्तशेषं तु यज्ञशेषं तथामृतम् ।।
-- वही ४०, इसी प्रकार देखें : शान्ति० २४३।१२-१३ आदि

२- 'अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते ।
स दत्त्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति ।।
-- म० भा० शान्ति० १९१।१२

३- 'तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता ।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ।।'
-- वही वन० २।५४

४- 'देयमार्तस्य शयनं स्थितश्रान्तस्य चासनम् ।
तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम् ।।
-- वही ५५

तत्कालीन धारणा के अनुसार जो व्यक्ति भूखे अपरिचित अतिथि को प्रसन्नतापूर्वक भोजन देता है उसे महान पुण्यफल की प्राप्ति होती है ।[1] महाकवि व्यास ने अतिथि सत्कार की विधि के रूप में उसके पांच अंगों का उल्लेख किया है । उनके अनुसार गृहस्थ को सर्वप्रथम अतिथि को प्रेमपूर्वक देखना चाहिए, फिर मन से उसका हित-चिन्तन करते हुए उससे मधुर वार्तालाप करना चाहिए । जब वह जाने लगे तो उसे कुछ दूर तक उसके पीछे-पीछे जाना चाहिए और जब तक अतिथि घर पर रहे गृहस्थ को उसके पास रहते हुए सतत् उसकी सेवा में लगे रहना चाहिए । यही पांच प्रकार की दक्षिणाओं से युक्त अतिथि यज्ञ है ।[2]

महाभारतकालीन धारणा के अनुसार इन कर्तव्यों के पालन के साथ ही एक गृहस्थ के लिए यह भी अनिवार्य था कि वह अपनी पत्नी से ही सन्तुष्ट रहेगा, जितेन्द्रिय बनेगा, पाप, पारुष्य, अहंकार एवं दम्भ आदि को कभी पास नहीं आने देगा और अहिंसा तथा सत्य का अनिवार्य रूप से पालन करेगा ।[3] तथा सभी जीवों के साथ प्रेमपूर्ण व्यवहार करते हुए सदा ही कर्णप्रिय वार्ता करने वाला बनेगा ।[4] इन व्यक्तिगत कर्तव्यों के अतिरिक्त वृद्ध, बालक, माता, पिता, पुत्र एवं पत्नी तथा सेवक आदि सभी पारिवारिक सदस्यों से प्रेमपूर्ण व्यवहार करना भी उस युग में गृहस्थ का कर्तव्य माना जाता था; क्योंकि

१- 'यो दद्यादपरिक्लिष्टमन्नमध्वनि वर्तते ।
श्रान्तायादृष्टपूर्वाय तस्य पुण्यफलं महत् ।।
-- वही ६२

२- 'चक्षुर्दद्यान्मनो दद्याद वाचं दद्याच्च सूनृताम् ।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञः पंचदक्षिणः ।।'
--म०भा० वन० २।६१ इसी प्रकार देखें : २.५६ आदि ।

३- देखें : वही शान्ति० २४३।१४ एवं १६१।१४-१५

४- ,, ,, ,, २४३।१४-१६

उस युग की धारणा के अनुसार आदर न पाने के कारण पारिवारिक सदस्य अग्निहोत्र आदि गृहस्थ को अपनी क्रोधाग्नि से भस्म कर सकते थे ।[१]

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि महाभारत युग में गृहस्थों के अनेक व्यक्तिगत एवं पारिवारिक कर्तव्य निर्धारित थे और उस युग में उसी गृहस्थ का जीवन सफल माना जाता था जो गृहस्थों के निर्धारित दायित्वों का कुशलतापूर्वक निर्वाह करता था ।[२]

महाभारत में विवेचित गार्हस्थ्य-वृत्ति के इस संक्षिप्त विवेचन के पश्चात् अब हमें यहां यह देखना है कि महाभारत के मुख्य गृहस्थ कौन हैं और अपने गार्हस्थ्य काल में उन्होंने इन नियमों को कहां तक चरितार्थ किया था ?

क - महाभारत के प्रमुख गृहस्थ : पंचपाण्डव

वैसे तो वाल्मीकि रामायण की तरह ही महाभारत में भी अनेक गृहस्थों के विस्तृत गार्हस्थ्य जीवन का विवेचन हमें देखने को मिलता है परन्तु यहां मुख्यरूप से प्रस्तुत महाकाव्य के नायक "पंचपाण्डवों" के गार्हस्थ्य जीवन का ही विवेचन किया जाएगा क्योंकि काव्य की आधिकारिक कथावस्तु के अन्तर्गत उन्हीं का वर्णन किया गया है । अन्य गृहस्थों का वर्णन यहां प्रासंगिक कथावस्तु के अन्तर्गत ही किया गया है ।

१- "अग्निहोत्रमनऽग्निश्च ज्ञातयोऽतिथिबान्धवाः ।
पुत्रा दाराश्च भृत्याश्च निर्दहेयुरपूजिताः ।।
-- वही वन० २।५७

२- "एवं यो वर्तते वृत्तिं वर्तमानो गृहाश्रमे ।
तस्य धर्मं परं प्राहुः - - - - - - - ।।"
-- म० भा० वन० २।६३

ग- पंचपाण्डवों का गार्हस्थ्य जीवन

व्यक्ति के गार्हस्थ्य जीवन का प्रारम्भ चूंकि उसके विवाह संस्कार से होता है इसलिए पंचपाण्डवों के गार्हस्थ्य जीवन के विवेचन का प्रारम्भ भी उनके विवाह-संस्कार से किया जाना चाहिए । महाकाव्य के संक्षिप्त कथानक के अनुसार धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन के कुचक्र से बच निकलने के पश्चात् युधिष्ठिर आदि घूमते-घूमते पाञ्चाल देश जा पहुंचे और वहां द्रौपदी के स्वयंवर का समाचार सुनकर वह उसमें भाग लेने जा पहुंचे । स्वयंवर-मण्डप में लक्ष्यवेध की शर्त को पूरा करके अर्जुन ने द्रौपदी से विवाह करने का अधिकार प्राप्त कर लिया और वे सब उसके साथ ही अपने निवास स्थान पर आ पहुंचे । और आते ही मां कुन्ती को लक्ष्य करके अपनी भिक्षा-प्राप्ति का उल्लेख किया ।[1] कुन्ती ने अनजाने ही उसे भिक्षा का मिलकर उपभोग करने का आदेश दिया परन्तु भिक्षा सामग्री के रूप में एक स्त्री को देख वह ठगी सी रह गयी ।[2] अन्ततः अनेक ऊहापोह एवं तर्क-

---

१- गत्वा तु तां भार्गवकर्मशालां
पार्थौ पृथां प्राप्य महानुभावौ ।
तां याज्ञसेनीं परमप्रतीतौ
भिक्षेत्यथावेदयतां नराग्र्यौ ॥
-- म० भा० आदि १९० ।१

२- कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ
प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे ।
पश्चात् कुन्ती प्रसमीक्ष्य कृष्णां
कष्टं मया भाषितमित्युवाच ॥
-- वही २

मिलने के पश्चात् द्रौपदी का पंचपाण्डवों के साथ विवाह हुआ[१] और इस प्रकार पंचपाण्डवों एवं द्रौपदी के गार्हस्थ्य जीवन का शुभारम्भ हुआ । द्रौपदी से एक

१- भारतीय साहित्य में किसी स्त्री द्वारा अनेक पुरुषों के साथ विवाह करने का यह एकमात्र साहित्यिक उदाहरण है, अतः इस स्थल पर यह जान लेना आवश्यक है कि भारतीय समाज में "बहुपति प्रथा" का प्रचलन कब से हुआ । इस सन्दर्भ में आधुनिक ऐतिहासिकों का मत है कि भारतीय समाज प्राचीन काल से ही बहुपति विवाह की प्रथा से परिचित था । डा० संध्या मुकर्जी ने आपस्तम्ब धर्म सूत्र एवं वात्स्यायन के कामसूत्र के उल्लेखों के आधार पर इसी मत की पुष्टि करते हुए कहा है कि --

"Custom of polyandry though has not been mentioned in clear terms by the Dharmasutras and Dharmshastra writers, Yet it was quite popular in some parts of the country".

(विस्तृत विवेचन के लिए देखें) : Dr. Sandhya Mukerjee Some Aspects of Social Life in Ancient India. P.P. 91-92).
इसी प्रकार डा० कार्वे ने भी अनेक वैदिक उल्लेखों के आधार पर वैदिक काल में ही बहुपति-प्रथा के अस्तित्व को स्वीकारते हुए कहा है कि "Polyandry thus seems to be a feature of the ancient Vedic Culture." --(विस्तृत विवेचन के लिए देखें : Dr. Iravati Karve : A.B.O. R.I. XX P.P. 225-229)
श्री थर्स्टन महोदय ने भी प्राचीन भारत के दक्षिणी भाग में बहुपति प्रथा के अस्तित्व को स्वीकारते हुए कहा है कि "Among the Western Kallans of South India a woman could be the wife of ten, eight, Six or two

(कृपया अगले पृष्ठ पर देखें)...

साथ विवाह होने के कारण सभी भाइयों के साथ एक ही समय में चूंकि द्रौपदी

---

husbands" (See : : DR. Sandhya Mukerjee : Some Aspects of Social life in Ancient India, P.P. 92).

उपर्युक्त मन्तव्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि भारतीय समाज प्रारम्भिक काल से ही बहुपति प्रथा से परिचित था । अतः उसी परम्परा को ध्यान में रखते हुए पंचपाण्डवों ने भी द्रौपदी से विवाह किया था । युधिष्ठिर ने भी इस परम्परा को, प्राचीन काल से ही आविर्भूत होने के कारण धर्म मय मानते हुए द्रुपद नरेश से कहा था --

'एष धर्मो ध्रुवो राजश्चरैनमविचारयन् ।
मा च शंका तत्र ते स्यात् कथंचिदपि पार्थिव ।।
--म० भा० आदि० १९४।३१

श्री मजूमदार महोदय ने वात्स्यायन के एक उल्लेख को आधार बनाते हुए महाभारत युग में पांचाल देश में बहुपति प्रथा का प्रचलन मानते हुए कहा है कि "Polyandry in the case of Draupadi-Pañcali may be regarded as an ancient institution of the Pañcala country.
-- See : Dr. S. Mukerjee : Some Aspects of Social life in Ancient India, P.P.92).

निष्कर्ष यह कि महाभारत युग बहुपति प्रथा से परिचित था । हां यह अवश्य है कि उस युग में भी यह प्रथा सामान्य प्रथा न होकर एक अलौकिक घटना मानी जाती थी । यही कारण है कि पंचपाण्डवों द्वारा द्रौपदी से विवाह करने का निश्चय किए जाने पर कुन्ती एवं द्रुपद नरेश आदि ने इस प्रथा में धर्म-लोप का भय देखा था (देखें : म० भा० आदि० १९०, १९४ आदि) ।

का रहना सम्भव नहीं था अत: नारद की सलाह मानकर उन लोगों ने यह निश्चय किया कि उनमें से प्रत्येक के साथ अलग-अलग द्रौपदी एक-एक वर्ष तक रहा करेगी और यदि कोई भाई दूसरे भाई को द्रौपदी के साथ रहते हुए देख लेगा तो उसे बारह वर्षों तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए वनवास करना होगा ।[१]

इस प्रकार पंचपाण्डवों के गार्हस्थ्य-जीवन का प्रारम्भ एक सम्मिलित पत्नी से होता है । यहां अब हमें यह देखना है कि उनका अपने गार्हस्थ्यकाल में द्रौपदी से कैसा व्यवहार था ?

(क) पंचपाण्डवों का द्रौपदी एवं द्रौपदी का पंचपाण्डवों से सम्बन्ध

पति-पत्नी के इस सम्बन्ध विवेचन के पूर्व यहां पहले यह देख लेना आवश्यक है कि महाभारत-युग में गार्हस्थ्य काल में पत्नी का क्या महत्व था और पति के, पत्नी के प्रति क्या कर्तव्य थे ? महाभारत युगीन समाज में पत्नी, पति के अर्धांग, सर्वोत्तम मित्र एवं त्रिवर्ग के मूल कारण के रूप में प्रतिष्ठित थी ।[२] पति के धर्म-कार्यों में वह मातृ-तुल्य मानी जाती थी ।[३] और पति के परदेश में वही उसकी सहायक के रूप में मान्य थी तथा लोक व्यवहार में भी उसी की सहायता पति को विश्वस्त बनाने में सहायक मानी जाती थी ।[४] अपनी इस

१- 'एकैकस्य गृहे कृष्णा वसेद् वर्षमकल्मषा ।
द्रौपद्या न : सहासीनानन्योन्यं यो ऽभिदर्शयेत् ।
स नो द्वादश वर्षाणि ब्रह्मचारी वने भवेत् ।।
-- म० भा० आदि २११।२६

२- देखें : वही ७४।४१ ; शान्ति० १४४।१३

३- देखें : वही ७४।४३

४- देखें : वही ७४।४४ ; शान्ति १४४।१३

महत्ता के कारण वह पुरुष की श्रेष्ठ गति के रूप में प्रतिष्ठित थी ।[1]

उपर्युक्त विवेचन से प्रकारान्तर से गार्हस्थ्य जीवन में पत्नी की महत्ता सुस्पष्ट हो जाती है । अपनी इसी महत्ता के कारण उस युग में स्त्री पूज्या मानी जाती थी ।[2] व्यास का कथन है कि स्त्रियां मान के योग्य होती हैं, मनुष्यों को उनका सम्मान करना चाहिए । उसी से धर्म और रति का कार्य पूर्ण होता है, वही पति की परिचर्या करती है । सन्तान का उत्पादन, उत्पन्न सन्तान का परिपालन एवं सांसारिक जीवन में प्रीति का कारण पत्नी होती है इसलिए मनुष्य को उनका सम्मान करना चाहिए ।[3]

महाभारत युग में पत्नी के प्रति पति के कर्तव्यों के रूप में मुख्यरूप से पति द्वारा पत्नी के भरण तथा पालन-पोषण को निर्धारित किया गया था । तत्कालीन धारणा थी कि भरण करने योग्य स्त्री के भरण करने के कारण ही पुरुष भर्ता तथा पालन करने से पति कहलाता है ।[4] यदि कोई पति अपने इन दोनों कर्तव्यों का निर्वाह नहीं करता तो उसे भर्ता या पति की संज्ञा प्राप्त करने का कोई अधिकार नहीं है ।[5] उस युग में पति के गार्हस्थ्य-जीवन की सफलता तभी मानी जाती थी जबकि वह अन्न-पान आदि से पत्नी के मन को जीत लेता था ।[6]

१- देखें वही ७४।४४ ; शान्ति १४४।१६

२- देखें : म० भा० उद्योग० ३८।१०

३- देखें : वही अनु० ४६।६-१२

४- "भार्यायाः भरणाद् भर्ता पालनाच्च पतिः स्मृतः ।"
— वही आदि १०४।३१

५- "भरणाद्धि स्त्रिया भर्ता पालनाच्चैव स्त्रियाः पतिः ।
गुणस्यास्य निवृत्तौ तु न भर्ता न पुनः पतिः ॥"
-- वही शान्ति० २६६।३६

६- "अन्नपानजिता दाराः सफलं तस्य जीवितम् ।"
--वही उद्योग ३६।८३

अपने युग की इन्हीं मान्यताओं को ध्यान में रखते हुए पंचपाण्डवों ने भी द्रौपदी को सदा ही आदर और सम्मान किया था। गार्हस्थ्य काल में उसकी प्रत्येक इच्छा की पूर्ति करने का प्रयास किया था। इस सन्दर्भ में एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। पंचपाण्डव वनवास काल में गन्धमादन पर्वत पर रह रहे थे। एक दिन अचानक काम्यक-वन से आने वाली सौगन्धिक कमल के पुष्पों की सुगन्ध पाकर द्रौपदी भीमसेन से वैसे ही फूलों को लेने की इच्छा कर बैठी। काम्यकवन में अपना प्रवेश संकटमय जानते हुए भी भीम द्रौपदी की इच्छा को ध्यान में रखते हुए, वहां प्रविष्ट हुए और भयंकर युद्ध के पश्चात् उन कमल पुष्पों को लाने में समर्थ हुए थे।[1]

जहां तक भरण-पोषण का प्रश्न है पंचपाण्डव इसके लिए भी सदा तत्पर रहते थे और वनवास-काल में भिक्षार्जन द्वारा भी उन्हें द्रौपदी के भरण-पोषण में कोई संकोच नहीं था।[2] द्रौपदी के रक्षण के विषय में भी वे सावधान रहते थे। परन्तु द्यूत-क्रीड़ा में पराजित होने के पश्चात् सभा मण्डप में दुःशासन द्वारा अपमानित की जाती हुई द्रौपदी की रक्षा वे नहीं कर सके थे[3] क्योंकि युधिष्ठिर द्वारा द्यूत में उसे हार जाने के कारण उस पर से वे अपना स्वामित्व ही खो बैठे थे।

अतः निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि पंचपाण्डवों ने अपने गार्हस्थ्य-काल में एक पति के उत्तरदायित्व का पूर्णरूप से निर्वाह किया था।

---

१ - विस्तृत वर्णन के लिए देखें : म० भा० वन० अ० १४६, १५२-१५५

२ - ,, ,, ,, वही आदि० १६१ ।३

३ - ,, ,, ,, वही सभा अ० ६७

यह तो हुआ पंचपाण्डवों का द्रौपदी से सम्बन्ध विवेचन । अब हमें यह देखना है कि द्रौपदी का पंचपाण्डवों से कैसा व्यवहार था ? परन्तु पत्नी-पति के इस सम्बन्ध विवेचन से पूर्व यहां भी पहले यह देख लेना आवश्यक है कि महाभारत युग में पत्नी के लिए पति का क्या स्थान था और उसके लिए उसके मुख्य कर्तव्य के रूप में कौन-कौन से उत्तरदायित्व निर्धारित किए गए थे तथा द्रौपदी ने इन कर्तव्यों का कहां तक निर्वाह किया था ?

भारतीय समाज में सदा से ही पत्नी के लिए पति ही उसके देवता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है और पत्नी के मुख्य कर्तव्य के रूप में सर्वतो भावेन पति-सेवा का निर्धारण किया गया है । द्रौपदी के युग में भी यही परम्परा अक्षुण्ण रूप से विद्यमान थी । उस युग में पति ही पत्नियों का एकमात्र आश्रय स्थान माना जाता था । वही उसका देवता एवं गति माना जाता था ।[1] पति-सेवा ही उसके मुख्य कर्तव्य के रूप में मान्य थी और यह मान्यता थी कि पति-सेवा से ही स्त्री सन्तान, भोग, शय्या आदि लौकिक अभ्युदय एवं स्वर्गलोक आदि पारलौकिक अभ्युदयों को प्राप्त कर सकती है ।[2]

१- "पत्याश्रयो हि मे धर्मो मतः स्त्रीणां सनातनः ।
स देवः सा गतिर्नान्या - - - - - - - - - - - ॥

-- म० भा० वन० २३३।३७

इसी प्रकार देखें : शान्ति० २६६।३६, अश्व० ९०।५० आदि ।

२- "तस्मादपत्यं विविधाश्च भोगाः
शय्यासनान्यद्भुतदर्शनानि ।
वस्त्राणि माल्यानि तथैव गन्धाः
स्वर्गश्च लोको विपुला च कीर्तिः ॥"

-- वही वन० २३४।३

पति सेवा के आगे यज्ञ आदि भी उसके लिए अनावश्यक एवं व्यर्थ है ।[1] पति की प्रसन्नता ही स्त्रियों की सम्पूर्ण कामनाओं की पूरक एवं उसका क्रोध उसकी सभी आशाओं का विनाशक माना जाता था ।[2] स्पष्ट है कि महाभारतयुग में पति-सेवा ही पत्नी का सर्वोत्तम कल्याण करने वाली मानी जाती थी । उस युग में पिता, पुत्र, भाई आदि पारिवारिक सदस्य पत्नी को सीमित धन प्रदान करने वाले तथा पति अपरिमित धन-प्रदाता माना जाता था । इसीलिए वह पत्नी द्वारा सर्वतो भावेन पूज्य माना जाता था ।[3] अपने इन्हीं वैशिष्ट्यों के कारण वही उसका स्वामी एवं सर्वोत्तम गुरु माना जाता था ।[4]

अपने युग में स्थापित पति की इसी स्थापना के कारण द्रौपदी भी पंचपाण्डवों को अपना देवता मानती थी । वह रात-दिन निरन्तर

१- 'नैव यज्ञक्रिया: काश्चिन्न श्राद्धं नोपवासकम् ।
या तु भर्तरि शुश्रूषा तया स्वर्गं जयत्युत ।।'
-- वही वन० २०५।२२

२- 'नैतादृशं दैवतमस्ति सत्ये
सर्वेषु लोकेषु सदेवकेषु ।
यथा पतिस्तस्य तु सर्वकामा
लभ्या: प्रसादात् कुपितश्च हन्यात् ।।
-- वही २३४।२

३- 'मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुत: ।
अमितस्य हि दातारं भर्तारं का न पूजयेत् ।।
-- वही शान्ति १४८।६

४- 'नास्ति भर्तृसमो नाथो नास्ति भर्तृसमं सुखम् ।।'
-- वही १४८।७

ही पाण्डवों की सेवा में लगी रहती थी ।[1] वह सदा ही पति के बाहर से आने पर आसन एवं जल आदि से उनके स्वागत के लिए प्रस्तुत होती थी ।[2] पतियों के भोजन, स्नान एवं शयन आदि के पश्चात् ही वह अपने भोजन आदि की चिन्ता करती थी ।[3] सेवा-भावना के कारण ही उसने अपनी इच्छाओं को भी पतियों की इच्छाओं में ही समाहित कर दिया था ।[4] और पतियों को खाने-पीने की जो वस्तुएं नहीं पसन्द थीं उन्हें स्वत: भी त्याग देती थी ।[5]

१- 'अनिद्रायां निशायां च सदा या क्षुत्पिपासयो: ।
आराधयन्त्या कौरव्यांस्तुल्या रात्रिरहश्च मे ।।'
-- म० भा० वन० २३३।५७
ऐसे अन्य उल्लेखों के लिए देखें वन० २३३।१६,२२,२६, ३६ आदि ।

२- 'क्षेत्राद् वनाद् वा ग्रामाद् वा भर्तारं गृहमागतम् ।
अभ्युत्थायाभिनन्दामि आसनेनोदकेन च ।।'
-- वही २३३ ।२५

३- 'नाभुक्तवति नास्नाते नासंविष्टे च भर्तरि ।
न संविशामि नाश्नामि - - - - - - - ।।'
-- वही २३३।२४, ३८

४- 'प्रणयं प्रतिसंहृत्य निभृतात्मात्मनात्मनि ।
शुश्रूषे निरभिमाना पतीनां चित्तरक्षिणी ।।'
-- वही २३३।२०

५- 'यच्च भर्ता न पिबति यच्च भर्ता न सेवते ।
यच्च नाश्नाति मे भर्ता सर्वं तद् वर्जयाम्यहम् ।।'
-- वही २३३।३१-३२

इस सेवा-भावना के साथ ही वह पतियों को सदा ही एकनिष्ठ होकर प्रेम करती थी । देवता, मनुष्य, गन्धर्व, धनवान एवं रूपवान युवकों आदि को देखकर भी उसका मन उनकी ओर नहीं आकृष्ट हो पाता था ।[1] अपनी इस एकनिष्ठता के निर्वाह के लिए ही वह वार्तालाप में संयम रखती थी । असभ्य की तरह यहां-वहां खड़ी नहीं होती थी, निर्लज्ज की तरह सब ओर दृष्टि नहीं डालती थी, बुरी जगह पर बैठती नहीं थी तथा दुराचार एवं चाल-चलन में असभ्यता से बचते हुए, पतियों के अभिप्रायपूर्ण संकेत का सदा ही अनुसरण करती थी ।[2] इसके अतिरिक्त वह सदा ही दुष्ट स्त्रियों के सम्पर्क एवं आलस्य आदि से दूर रहती थी ।[3] पति के कार्य के अतिरिक्त परिहास से दूर रहती थी एवं बाग-बगीचों में अकेले भ्रमण से बचती थी ।[4] नीच पुरुषों के साथ वार्तालाप,

---

१- "देवो मनुष्यो गन्धर्वो युवा चापि स्वलंकृतः ।
द्रव्यवानभिरूपो वा न मेऽन्यः पुरुषो मतः ॥"
-- वही २३३।२३

२- "दुर्व्याहृताच्छङ्कमाना दुःस्थिताद् दुरवेक्षितात् ।
दुरासिताद् दुर्व्रजितादिङ्गिताध्यासितादपि ॥
-- वही २३३।२१

३- "अतिरस्कृतसम्भाषा दुःस्त्रियो नानुसेवति ।
अनुकूलवती नित्यं भवाम्यनलसा सदा ॥"
-- वही २३३।२७

४- "अनर्मं चापि हसितं द्वारि स्थानमभीक्ष्णशः ।
अवस्करे चिरस्थानं निष्कुटेषु च वर्जये ॥"
-- वही २३३।२८

परायी चर्चा, असन्तोष की भावना, अधिक हास, परिहास एवं क्रोध आदि से दूर रहते हुए वह सदा ही सत्य बोलती थी ।[1]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्रौपदी के लिए उसके पति ही सब कुछ थे और वह उन्हें ही अपना सर्वस्व मानते हुए, अपने को उनकी सेविका मात्र मानती थी और जैसे एक सेवक सदा ही स्वामी से भयभीत रहता है वैसे ही वह उनसे भयभीत रहा करती थी ।[2] परन्तु सेविका की इस भावना के साथ ही एक स्थल पर वह हमारे सामने, सारा भय एवं लज्जा आदि छोड़कर पाण्डवों के साथ कठोर वार्तालाप एवं उनकी निन्दा करते हुए भी उपस्थित होती है । दुर्योधन द्वारा द्यूत-क्रीड़ा में पराजित होने के पश्चात् युधिष्ठिर आदि तेरह वर्षों के वनवास के लिए चल पड़े थे । इसी वन-यात्रा-क्रम में द्वैतवन में रह रहे थे । वहीं एक दिन द्रौपदी युधिष्ठिर के साथ कठोर एवं संतापपूर्ण वार्तालाप करते हुए उपस्थित होती है । वह युधिष्ठिर द्वारा तेरह वर्षों की प्रतीक्षा को उनकी कायरता एवं मूर्खता मानते हुए उन्हें शीघ्र ही युद्ध द्वारा राज्य-प्राप्ति के लिए प्रोत्साहित करती है ।[3] इस वार्तालाप के अतिरिक्त वह एक स्थान पर पाण्डवों की निन्दा भी करती है । दुःशासन द्वारा भरी

१- 'अन्यालापमसन्तोषं परव्यापारसंकथाम् ।
अतिहासातिरोषौ च क्रोधस्थानं च वर्जये ।।
निरताहं सदा सत्ये भर्तृणामुपसेवने ।।
-- वही २३३ ।२६

२- मृदून् सतः सत्यशीलान् सत्यधर्मानुपालिन: ।
आशीविषानिव क्रुद्धान् पतीन् परिचराम्यहम् ।।
-- म० भा० वन० २३३।३६

३- देखें : वही अ० २७-३०

सभा में द्रौपदी का चीर खींचा जा रहा था और पंचपाण्डव चुपचाप बैठे हुए थे । वन-पर्व में कृष्ण से वार्तालाप के समय, उनके इसी कृत्य का उल्लेख करते हुए, द्रौपदी ने कहा था कि युद्ध में श्रेष्ठ महाबलवान् पाण्डवों की मैं निन्दा करती हूं, जो शक्तिशाली होते हुए भी अपनी पत्नी का अपमान देखते रहे । भीमसेन के बल को धिक्कार है, अर्जुन के गाण्डीव को धिक्कार है ।[1]

प्रस्तुत प्रसंग के निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि द्रौपदी जहां पतियों को अपना देवता मानती थी, उनकी सेवा ही अपना धर्म समझती थी, उनसे भयभीत रहा करती थी, वहीं उनके द्वारा अपना (पत्नी-रक्षा रूप) कर्तव्य न निभाए जाने पर उनकी निन्दा भी करती थी ।

यह तो हुआ द्रौपदी का पाण्डवों के प्रति निर्धारित कर्तव्य निर्वाह । इसके अतिरिक्त आदर्श गृहिणी होने के नाते वह पतियों के आय-व्यय और बचत का भी पूरा-पूरा लेखा-जोखा रखती थी और उनके विशाल खजाने पर पूर्ण नियन्त्रण रखती थी ।[2]

पतियों के साथ इस व्यक्तिगत व्यवहार एवं कर्तव्य निर्वाह के अतिरिक्त वह घर की आन्तरिक व्यवस्था भी संभाले हुए थी । घर के बर्तनों का मार्जन, शुद्ध एवं स्वादिष्ट भोजन निर्माण, ठीक समय पर सबको भोजन

१- देखें : वही १२।६८-६९

२- 'सर्वं राज्ञः समुदयमायं च व्ययमेव च ।
एकाहं वेद्मि कल्याणि पाण्डवानां यशस्विनि ।।
अनुष्यं भरतश्रेष्ठ निधिपूर्णमिवोदधिम् ।
एकाहं वेद्मि कोशं वै पतीनां धर्मचारिणाम ।।

--म० भा० वन० २३३।५३,५६

प्रदान, मन एवं इन्द्रियों पर संयम रखते हुए गुप्तरूप से अन्न-संचय एवं घर की सफाई आदि गृहिणी के दायित्वों को भी वह पूर्णरूप से निभाती थी ।[१]

पति एवं घर की आन्तरिक व्यवस्था के साथ ही गृहस्थ की परिधि में आने वाले परिजनों की समुचित व्यवस्था का भार भी द्रौपदी के ऊपर ही था । पति के राज्यकाल में युधिष्ठिर आदि की एक लाख दासियों के भोजन-पानी आदि की वह समुचित व्यवस्था करती थी[२] और इन सबको भोजन कराकर ही स्वयं भोजन करती थी ।[३] इनके अतिरिक्त महाराज युधिष्ठिर के साथ चलने वाली गज एवं अश्व सेनाओं की व्यवस्था भी वह स्वयं ही करती थी ।[४] अन्त:पुर के सेवकों के खान-पान की व्यवस्था के साथ ही वह उनके कार्यों पर भी पूर्ण नियन्त्रण रखती थी ।[५]

इन कर्त्तव्यों के निर्वाह के साथ ही वह भिक्षादान, बलि वैश्वदेव, श्राद्ध, पर्वकालोचित स्थाली पाक एवं अतिथि सत्कार आदि धर्म कार्यों की व्यवस्था के साथ ही वह राजप्रासाद में रहने वाले आठ हजार ब्राह्मणों एवं अट्ठासी हजार गृहस्थ स्नातकों एवं दस हजार ऊर्ध्वरेता यात्रियों के भोजन-पानी की भी पूर्ण व्यवस्था करती थी ।[६] इस प्रकार पतियों के घर को

१- देखें : म० भा० वन० २३३।२६
२- देखें : वही २३३।४६-४८
३- देखें : वही २३३ । २४
४- देखें : वही २३३ ।५०-५१
५- देखें : वही २३३ । ५२
६- देखें : वही २३३ ।४२-४५

पूर्णरूप से संभाले हुए वह उन्हें पारिवारिक व्यवस्था से मुक्त किए हुए थी और उन्हें कांक्षाओं के सम्पादन के लिए पूर्णत: स्वतंत्र किए हुए थी ।[१]

(ii) कुन्ती से सम्बन्ध

यह तो हुआ पति-पत्नी का सम्बन्ध विवेचन । अब हमें यह देखना है कि पंचपाण्डवों एवं द्रौपदी का गार्हस्थ्य-जीवन में माता कुन्ती से कैसा सम्बन्ध था ? महाभारत युग में भी माता-पिता एवं गुरु का सर्वोच्च स्थान था और इनकी सेवा ही पुत्र के सर्वोच्च धर्म के रूप में मान्य थी ।[२] इन तीनों में माता का सर्वोच्च स्थान था और वह "परम गुरु" के रूप में प्रतिष्ठित थी ।[३]

अपने युग में माता की इस प्रतिष्ठा को देख पंचपाण्डव भी सदा उसकी सेवा में तत्पर रहते थे और उसकी आज्ञा का वेदवाक्य की तरह पालन करते थे ।[४] द्रौपदी भी कुन्ती के साथ मातृवत व्यवहार करती थी । वह सदा ही उसकी, भोजन, वस्त्र आदि से सेवा करती थी ।[५]

१- देखें : म० भा० वन० २३३ ।५४

२- देखें : वही शान्ति १०८।३

३- देखें : वही १०८।१८

४- पंचपाण्डवों का द्रौपदी के साथ विवाह करने में माता कुन्ती की आज्ञा भी एक कारण थी । चूंकि कुन्ती ने उन सबको एक साथ ही भिक्षा में मिली वस्तु द्रौपदी का उपभोग करने का आदेश दिया था ।

-- देखें : वही आदि १९०/२

५- देखें : म० भा० वन० २३३।५०,५१

(III) पंचपाण्डवों का आपस में सम्बन्ध

पाण्डवों ने अपना गार्हस्थ्य जीवन चूंकि सम्मिलित रूप से व्यतीत किया था इसलिए यहां यह भी देख लेना आवश्यक है कि उनका आपस में कैसा सम्बन्ध था ? पंचपाण्डवों में युधिष्ठिर सबसे बड़े थे । भारतीय समाज में अग्रज का पितृ तुल्य स्थान माना गया है और यह विधान किया गया है कि अनुजों को अग्रज के अधीन रहना चाहिए । भारतीय समाज की इसी परम्परा का अनुसरण करते हुए अन्य पाण्डव भी धर्मराज युधिष्ठिर के अधीन ही रहते थे।[1] और उन्हें पितृतुल्य तथा अपने पुण्य एवं तप और प्राणों का भी प्रभु मानते थे ।[2] युधिष्ठिर भी सभी भाइयों का पुत्रवत् पालन करते थे[3] और उनके साथ समान व्यवहार करते थे ।[4]

स्पष्ट है कि पंचपाण्डवों में युधिष्ठिर अन्य भाइयों के पितृतुल्य थे । वह उनसे एक समान व्यवहार करते हुए उनका पुत्रवत् पालन करते थे । अन्य भाई भी युधिष्ठिर का पितृवत् सम्मान करते, उनके ही प्रिय एवं हितकारी कार्यों के सम्पादन में लगे रहते थे । परन्तु यहां यह तथ्य भी अवधेय है कि यदा-कदा अन्य भाई युधिष्ठिर का विरोध भी कर बैठते थे । इस विषय में एक ही

१- अर्जुन ने सभी भाइयों का युधिष्ठिर की अधीनता में रहने का उल्लेख किया है । -- देखें : आदि० १६० ।६

२- भीम ने युधिष्ठिर को अपने लिए पितृतुल्य एवं अपने तप पुण्य एवं प्राणों का भी स्वामी स्वीकार किया है । -- देखें : सभा० ७०।१२-१३, इसी प्रकार अर्जुन, नकुल एवं सहदेव भी युधिष्ठिर को पितृतुल्य मानते थे। -- देखें आदि १३८।१८-१६ ।

३- देखें : वही वन० ५०।६

४- देखें : वही सभा० ४६।२७-२८

उदाहरण प्राप्त होगा । युधिष्ठिर द्वारा जुए में द्रौपदी के हार जाने पर और सभा-मण्डप में उसे अपमानित होता देख भीमसेन क्रोधित हो उठे थे और इसके लिए युधिष्ठिर को दोषी मानते हुए वह उनकी निन्दा करते हुए उनके दोनों हाथों को जलाने की घोषणा कर बैठे ।[१] यद्यपि अर्जुन द्वारा समझाए जाने पर एवं युधिष्ठिर के इस अमर्यादित कृत्य को क्षात्रिय धर्म बताए जाने पर वह अपने इस निश्चय से विरत हुए थे[२] परन्तु इस घटना से ऐसी सम्भावना की जा सकती है कि युधिष्ठिर द्वारा किसी अमर्यादित कृत्य के करने पर सम्भवत: अन्य भाई उनका विरोध भी कर बैठते थे ।

पंचपाण्डवों के गार्हस्थ्य-जीवन के विवेचन की समाप्ति करते हुए निष्कर्षरूप में हम कह सकते हैं कि उन्होंने अपने गार्हस्थ्य-जीवन का निर्वाह उस युग में गृहस्थों के लिए निर्धारित नियमों एवं मान्यताओं का पालन करते हुए किया था ।

(१४) पंचपाण्डवों द्वारा गार्हस्थ्य काल में पुरुषार्थ चतुष्टय का सम्पादन

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के प्रथम अध्याय में यह कहा जा चुका है कि भारतीय समाज में गार्हस्थ्य जीवन की सफलता पुरुषार्थ त्रय के सम्यक् सम्पादन

१- 'अस्या: कृते मन्युरयं त्वयि राजन् निपात्यते ।
बाहू ते सम्प्रधक्ष्यामि सहदेवाग्निमानय ।।
-- म० भा० सभा० ६८।६

२- अर्जुन ने युधिष्ठिर का द्यूतकर्म में प्रवृत्त होने का मूल कारण क्षात्रिय धर्म का निर्वाह मानते हुए कहा था --
'आहूतो हि परै राजा क्षात्रं व्रतमनुस्मरन् ।
दीव्यते परकामेन तन्न: कीर्तिकरं महत् ।।
-- वही ६८।६

में निहित मानी गयी है । यहाँ उसी व्यक्ति का गार्हस्थ्य जीवन सफल माना जा सकता है जिसने धर्म, अर्थ एवं काम की सम्यक् प्राप्ति कर ली हो । अतः यहाँ यह भी देख लेना आवश्यक है कि पंचपाण्डवों ने अपने गार्हस्थ्य जीवन में इन तीनों की प्राप्ति की थी या नहीं ? इस सन्दर्भ में यदि हम महाभारत का आश्रय लें तो यह ज्ञात होता है कि उनमें पुरुषार्थ त्रय के विषय में मतभेद था । अर्जुन, नकुल एवं सहदेव जीवन में धर्ममूलक अर्थ को ही सब कुछ मानते थे क्योंकि उनकी दृष्टि में अतः आर्थिक अर्थ ही वह साधन है जो व्यक्ति को धर्म एवं काम की प्राप्ति में सहायता देता है ।[1] भीम उनके इस मत से सहमत न होकर 'काम' को ही जीवन का सर्वस्व मानते थे क्योंकि उनके अनुसार काम ही वह साधन है जो व्यक्ति को धर्म एवं अर्थ की प्राप्ति के लिए प्रेरित करता है ।[2] धर्मराज युधिष्ठिर जीवन में धर्म को ही सब कुछ मानते थे । उनके अनुसार धर्म की आराधना द्वारा ही व्यक्ति मोक्ष प्राप्त कर सकता है ।[3] परन्तु उनके गार्हस्थ्य जीवन का यदि हम विश्लेषण करें तो यह ज्ञात होता है कि पारस्परिक मतभेदों के होते हुए भी उन्होंने अपने गार्हस्थ्य जीवन में धर्म, अर्थ एवं काम की

१- "अर्थ इत्येव सर्वेषां कर्मणामव्यतिक्रमः ।
   न ऋतेऽर्थेन वर्तेते धर्मकामाविति श्रुतिः ।।
   अर्थस्यावयवावेतौ धर्मकामाविति श्रुतिः ।
   अर्थसिद्धया विनिर्वृत्तावुभावेतौ भविष्यतः ।।"
   —म० भा० शान्ति० १७४।१२ एवं इसी प्रकार देखें : शान्ति० १६७।११-१३, १५-२० एवं २२-२७ आदि ।

२- "नाकामः कामयत्यर्थं नाकामो धर्ममिच्छति ।
   नाकामः कामयानोऽस्ति तस्मात् कामो विशिष्यते ।।
   — म० भा० शान्ति० १६७।२९।
   इसी प्रकार देखें : १६७।३०-४२

३- "धर्म एव प्लवो नान्यः स्वर्गं द्रौपदि गच्छताम् ।
   सैव नौः सागरस्येव वणिजः पारमिच्छतः ।।"
   — वही वन ३१।२४

सम्यक् आराधना की थी ।[1] प्रजापालन,[2] संध्यावन्दन,[3] पितृतर्पण,[4] आदि दैनिक पूजापाठ एवं राजसूय[5] तथा अश्वमेध[6] आदि यज्ञों का सम्पादन उनकी धर्म-प्राप्ति को ही द्योतित करता है । इसी प्रकार धर्मतः प्राप्त विभिन्न नरेशों पर विजय[7] एवं अपनी अर्जित राज्य-सीमा का विस्तार उनके अर्थ प्राप्ति के तथा विभिन्न पुत्रों का उत्पादन[8] उनकी 'काम' की सफलता के ही द्योतक है ।

१- महाकवि व्यास के अनुसार धर्मराज युधिष्ठिर ने धर्म, अर्थ एवं काम का समान रूप से उपभोग किया था --

'स सर्वं धर्मकामार्थान् सिषेवे भरतर्षभ ।
त्रीनिवात्मसमान् बन्धून् नीतिमानिव मानयन् ।।

--वही आदि २२१।२

नीलकंठी टीका में इस पुरुषार्थत्रय के सम्पादन का काल इस प्रकार निरूपित किया गया है --

'पूर्वाह्णे त्वाचरेद् धर्मं मध्याह्ने ऽर्थमुपार्जयेत् ।
सायाह्ने चाचरेत् काममित्येषा वैदिकी श्रुतिः ।।

२- देखें : वही आदि० २२१।९-१२

३- देखें : वन १।४२

४- देखें : सभा ४६।३१

५- देखें : वही सभा ४५।३८-३९

६- देखें : अश्वमेध पर्व

७- देखें : आदि १३८।२०-२४ ; सभा अ० २६,२९-३०,३२ आदि

८- महाभारत के अनुसार द्रौपदी ने युधिष्ठिर से प्रतिविन्ध्य, भीमसेन से सुतसोम, अर्जुन से श्रुतकर्मा, नकुल से शतानीक तथा सहदेव से श्रुतसेन इन पांच पुत्रों को उत्पन्न किया था । इसके अतिरिक्त अर्जुन ने सुभद्रा से अभिमन्यु एवं भीम ने हिडिम्बा से घटोत्कच नाम के पुत्रों को उत्पन्न किया था ।

स्पष्ट है कि उन्होंने गार्हस्थ्य जीवन में धर्म, अर्थ एवं काम की सफलतापूर्वक प्राप्ति की थी और यही कारण है वे अन्त में मोक्ष-प्राप्ति में भी सफल हुए थे ।[1]

(४) पंचपाण्डवों के गार्हस्थ्य जीवन का आलोचनात्मक अध्ययन

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि पंचपाण्डवों ने अपना गार्हस्थ्य जीवन प्राचीन भारतीय समाज के अनुरूप ही व्यतीत किया था ।

यहां एक तथ्य यह अवधेय है कि इस आदर्शमय गार्हस्थ्य-जीवन के साथ ही उनमें कुछ राजोचित दोष भी थे । इन दोषों में मुख्य थे द्यूत-प्रेम एवं बहुपत्नी विवाह । महाभारत-युग में द्यूत-क्रीड़ा राजाओं के एक मुख्य व्यसन के रूप में मानी जाती थी ।[2] पाण्डवों के अग्रज युधिष्ठिर भी इस व्यसन से ग्रस्त थे और यही कारण है कि उन्होंने शकुनि द्वारा पराजित होने पर पुनः जुआ खेला और राज्य के साथ ही द्रौपदी को भी दांव पर लगा दिया ।[3]

जहां तक बहुपत्नी-प्रथा का प्रश्न है तो यहां यह समझ लेना अनिवार्य है कि बहुपत्नी प्रथा प्राचीन भारत में राजाओं के लिए एक सामान्य घटना थी और प्रत्येक राजा को कम से कम चार रानियां रखने का अधिकार था ।

१- देखें : म० भा० स्वर्ग

२- 'चत्वार्याहुर्नरश्रेष्ठा व्यसनानि महीक्षिताम् ।
मृगया पानमक्षांश्च ग्राम्ये चैवातिसक्तताम् ॥
-- वही सभा० ६८।२०

३- देखें : वही सभा अ० ६५

अन्तत: यहाँ यह कहा जा सकता है कि पंचपाण्डवों ने अपने गार्हस्थ्य जीवन का सुचारु रूप से पालन किया था और विभिन्न राजोचित व्यसनों से ग्रस्त होने के बावजूद उनका गार्हस्थ्य जीवन सुखमय था ।

६- उपजीव्य काव्यों में क्षत्रियेतर वर्णों (ब्राह्मणों) का गार्हस्थ्य जीवन

वाल्मीकि रामायण एवं महाभारत में राम एवं सीता तथा पंचपाण्डव एवं द्रौपदी आदि क्षत्रिय वर्णीय सदस्यों के गार्हस्थ्य जीवन के अतिरिक्त कुछ ब्राह्मण गृहस्थों के जीवन का भी चित्रण हुआ है । और यहाँ ब्राह्मण गृहस्थों के गृहस्थ जीवन के कुछ भिन्न कर्तव्यों का निर्धारण भी हमें देखने को मिलता है । महाभारत प्रणेता महर्षि व्यास ने ब्राह्मण गृहस्थों के मुख्य कर्तव्य के रूप में उनके द्वारा स्वल्प धनसंग्रह, नित्य ही वेदों के अध्ययन अध्यापन, दान एवं यज्ञ सम्पादन आदि का विधान किया है । इन कर्तव्यों के अतिरिक्त उनके अनुसार ब्राह्मण को दिन तथा रात्रि के पहले पहर में शयन नहीं करना चाहिए, प्रात: सायं भोजन नहीं करना चाहिए । और उसे नित्य ही अतिथि सत्कार में तत्पर रहना चाहिए ।[१]

ब्राह्मण गृहस्थों को अपना गार्हस्थ्य जीवन इन्हीं नियमों के अन्तर्गत व्यतीत करना पड़ता था । ब्राह्मण गृहस्थों को हम मुख्यरूप से दो भागों में विभाजित कर सकते हैं -- प्रथम भाग के अन्तर्गत कुछ गृहस्थों अर्थात् ब्रह्मचर्य की समाप्ति के पश्चात् गृहस्थ बनने वाले, का परिगणन किया जा

१- देखें : म० भा० शान्ति० अ० २४३

सकता है और द्वितीय भाग के अन्तर्गत वानप्रस्थ या सन्यास लेने के पश्चात् गृहस्थ होने वाले ब्राह्मणों को रखा जा सकता है ।

प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत आने वाले गृहस्थों में से मुख्य हैं ब्राह्मण त्रिजट[1] एवं महाभारत के एक अन्य ब्राह्मण ।[2] उपर्युक्त गृहस्थों का सारा जीवन निर्धनता में ही व्यतीत हुआ था । लेकिन इस धनाभाव के बावजूद वे विभिन्न यज्ञों के सम्पादन एवं अतिथि-सत्कार के लिए सदा तत्पर रहते थे ।

द्वितीय श्रेणी के गृहस्थों के अन्तर्गत मुख्यरूप से वाल्मीकि रामायण के अत्रि अनुसूया[3] एवं महाभारत के जरत्कारु[4], अगस्त्य, लोपामुद्रा,[5] च्यवन-सुकन्या,[6] जमदग्नि-रेणुका[7] आदि गृहस्थों के उदाहरण आते हैं ।

इन गृहस्थों का अधिकांश जीवन प्रायः तपः साधना में ही व्यतीत होता था । महाभारत के उपर्युक्त ब्राह्मण गृहस्थों में से प्रत्येक का विवाह राज-कन्याओं के साथ हुआ था । इन गृहस्थों का जीवन सुखमय नहीं था और पति उन पर हावी थे । विवाह के बाद इन क्षत्रिय कन्याओं को

१- देखें : वा० रा० अयोध्या अ० ३२

२- ,, : म० भा० आदि १५६-५७

३- ,, : वा० रा० अयोध्या ११७-११८

४- ,, : म० भा० आदि १३-१४

५- ,, : वही वन अ० ९७

६- ,, : वही अ० १२२

७- ,, : वही अ० ११६

भी योगिन का वेश धारण कराया जाता था[1] और उन्हें यावज्जीवन पति के कठोर अनुशासन एवं उनकी आज्ञा-पालन में तत्पर रहना पड़ता था[2]। पति के साथ पत्नी भी घोर तपश्चर्या में संलग्न रहती थी और अपने तप के प्रभाव से वह अनेक अलौकिक कार्यों के सम्पादन में समर्थ होती थी[3]।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि क्षत्रिय वर्ण की तुलना में ब्राह्मणों का गार्हस्थ्य जीवन धार्मिक कार्यों की प्रधानता एवं धनाभाव के कारण सुखमय नहीं था और पत्नियां पति के कठोर अनुशासन के कारण दु:खमय जीवन व्यतीत करती थीं।

७- धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों (मुख्यत: मनुस्मृति) में गार्हस्थ्य का स्वरूप

उपजीव्य महाकाव्यों में गार्हस्थ्य जीवन के स्वरूप के पश्चात् यहां यह भी देख लेना आवश्यक है कि धर्मशास्त्रों में गार्हस्थ्य जीवन का क्या स्वरूप है ? क्योंकि उपजीव्य काव्यों में चित्रित गार्हस्थ्य जीवन को ही आधार बनाकर धर्मशास्त्रियों ने भी अपने ग्रन्थों में गार्हस्थ्य का उपर्युक्त स्वरूप ही दर्शाया है और आगे चलकर महाकाव्यों की परम्परा में गार्हस्थ्य चित्रण के प्रसंगों में धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों की गार्हस्थ्य सम्बन्धी मान्यताओं का ही अनुवर्तन किया है।

१- अगस्त्य ने लोपामुद्रा को योगिनी का वेश धारण करने का आदेश दिया था और उसने बहुमूल्य वस्त्र तथा आभूषण उतार कर चीर, वल्कल एवं मृगचर्म धारण किया था। इसी प्रकार सुकन्या ने भी योगिनी का वेश धारण करके ही च्यवन की सेवा की थी।
—विस्तृत कथा के लिए देखें : क्रमश: म०भा० वन० ९७।८ एवं १२२

२- जमदग्नि के आदेश को पाकर रेणुका उनके मनोविनोद के लिए ज्येष्ठमास की कड़ी धूप में तप्त बालू पर नंगे पैर ही दौड़ती थी।
—देखें : वही वन० ९५-९६

३- ऋषि-पत्नी अनसूया, दस वर्षों से वृष्टि न होने के कारण दग्ध होते हुए संसार में अपनी तपस्या के प्रभाव से ही फल-मूल उत्पन्न करने एवं मन्दाकिनी की पवित्र धारा बहाने में समर्थ हुयी थीं।
—देखें : वा० रा० अयोध्या० ११७।९-१२

धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में, गार्हस्थ्य की परिधि में आने वाले विभिन्न सदस्यों के पारस्परिक व्यवहार सम्बन्धी नियमों का विस्तृत वर्णन किया गया है। गार्हस्थ्य जीवन के वर्णन क्रम में पति-पत्नी के सम्बन्ध-निरूपण के प्रसंग में जहां पति को पत्नी का देवता निरूपित किया गया है[1] वहां पत्नी के प्रति पति के मुख्य कर्तव्यों के अन्तर्गत ऋतुकालाभिगमन, एवं भरण-पोषण आदि कर्तव्यों का निर्धारण किया गया है। मनु का स्पष्ट आदेश है कि पति को सदा ही ऋतुकाल में स्त्री समागम करना चाहिए[2] ऋतुकाल का विस्तृत अर्थ प्रकट करते हुए वह कहते हैं कि रजोदर्शन के बाद की सोलह रात्रियां ही पत्नी समागम के लिए शास्त्रसम्मत हैं। इनमें से भी पहली चार एवं ग्यारहवीं एवं तेरहवीं रात्रियां पत्नी-समागम के लिए उचित नहीं हैं। स्पष्ट है कि उनकी दृष्टि में रजोदर्शन के बाद की दस रात्रियां ही पति-पत्नी के काम सम्बन्ध के लिए उचित हैं[3] इन रात्रियों में भी वह पर्व की रात्रियों को स्त्री-समागम के अयोग्य ठहराते हैं[4] उनके अनुसार उपर्युक्त विधि से पत्नी-समागम करने वाला व्यक्ति ब्रह्मचारी ही रहता है[5] स्त्री-समागम के इस वर्णन-क्रम में वह यह विचार भी व्यक्त करते हैं कि ऋतुकाल के लिए निर्धारित रात्रियों में से युग्म रात्रियों में पत्नी-समागम से पुत्रोत्पत्ति एवं अयुग्म रात्रियों में सम्भोग करने से कन्योत्पत्ति होती है[6]।

१- देखें : स्मृ० च० पृ० २५९ पर उद्धृत शङ्ख का वचन, का०सू० ४।११
२- देखें : मनु० ३।४५
३- ,, वही ३।४६-४७
४- ,, वही ३।४५
५- ,, वही ३।५०
६- ,, वही ३।४८

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि मनु ने पति-पत्नी के काम-सम्बन्ध के लिए पत्नी के रजोदर्शन के बाद की प्रथम चार एवं ग्यारहवीं तथा तेरहवीं रात्रियों को छोड़कर केवल दस रात्रियां ही निर्धारित की थीं और इन दस रात्रियों में भी वह पर्व की रात्रियों में सम्भोग को अनुचित मानते थे। मनु की दृष्टि में यही समुचित कामोपभोग की विधि थी।

पति के दूसरे कर्तव्य के अन्तर्गत मनु ने स्त्री के समुचित भरण-पोषण का विधान किया है। उनका स्पष्ट आदेश है कि पति को साध्वी स्त्री का भरण-पोषण सुचारु रूप से करना चाहिए[1]। धर्मशास्त्रियों ने प्रत्येक अवस्था यहां तक कि पति के प्रवासकाल के समय में भी पति द्वारा पत्नी के भरण-पोषण की व्यवस्था उसके मुख्य कर्तव्य के रूप में निर्धारित की है[2]। साथ ही याज्ञवल्क्य दुश्चरित्रा पत्नी के भरण की व्यवस्था का भार भी पति के ऊपर ही डालता है[3]। मेधातिथि और कुल्लूक भट्ट का स्पष्ट कथन है कि पति से द्वेष करने वाली पत्नी का भी पति द्वारा भरण-पोषण किया जाना चाहिए[4]।

उपर्युक्त दो कर्तव्यों के साथ ही पति के तृतीय कर्तव्य के रूप में मनु ने पत्नी-रक्षा का निर्धारण किया है। उनके अनुसार पति को पत्नी की अभी प्रकार से प्रयत्न पूर्वक रक्षा करनी चाहिए क्योंकि यदि वह उसकी रक्षा नहीं करेगा तो दूषित सन्तान उत्पन्न होगी[5]। पत्नी-रक्षा के महत्व को स्पष्ट करते हुए वह पुनः कहते हैं कि मनुष्य अपनी पत्नी की रक्षा से अपने पुत्र, चरित्र, कुल, आत्मा तथा धर्म की रक्षा करता है[6]। यहां यह तथ्य अवधेय है कि मनु के "रक्षा" शब्द का अर्थ

१- देखें : मनु० ९।९५
२- ,, : वही ९।७४-७५
३- ,, : याज्ञ० १।३।८४
४- ,, : मनु० ९।९५ पर मेधातिथि एवं कुल्लूक की टीका
५- ,, : वही ९।५ एवं ६ आदि
६- ,, : वही ९।७

मुख्यरूप से पत्नी की चारित्रिक रक्षा से ही है । चूंकि स्त्रियों में पुरुषों की अपेक्षा अधिक "काम" की भावना होती है इसीलिए उसके चारित्रिक पतन की पूरी सम्भावना रहती है । एतदर्थ मनु ने स्त्रियों के अनेक दैनिक कार्यों का उनके कर्तव्यरूप में निर्धारण किया है और इस प्रकार उनके जीवन की व्यस्तता से ही उनके चरित्र की रक्षा का प्रयास किया है । उनके अनुसार कोई भी व्यक्ति बलपूर्वक स्त्रियों की रक्षा में समर्थ नहीं हो सकता । हां, यदि वह उसे धन-संग्रह, व्यय, स्वच्छता, दैनिक धार्मिक कार्य एवं भोजन-व्यवस्था तथा घर की पूरी देखभाल में उन्हें नियोजित करे तो वह उनकी रक्षा करने में समर्थ हो सकता है[1]। क्योंकि इन कार्यों में व्यस्त होने के कारण वह पर-पुरुष का विचार करने का समय भी नहीं पा सकती[2]।

पत्नी के भरण-पोषण एवं रक्षण के साथ ही पति द्वारा पत्नी से सदा ही प्रेमपूर्ण एवं उत्तम व्यवहार भी यहां पति के कर्तव्य रूप में निर्धारित हुआ है । व्यास के अनुसार पति को पत्नी के साथ ही मृदु वचन बोलना चाहिए और उसके प्रति कोमल रहना चाहिए[3]। क्रुद्ध होने पर भी उस स्त्री से अप्रीतिकर व्यवहार नहीं करना चाहिए[4]। मनु इसके साथ ही यह भी विधान करते हैं कि पति को पत्नी का सदा ही लालन-पूजन करना चाहिए क्योंकि जहां स्त्रियां पूजी जाती हैं वहीं देवता रमण करते हैं[5]। पति को सदा ही उत्तमोत्तम आभूषणों, वस्त्रों और भोजन से पत्नी की पूजा करनी चाहिए[6]। क्योंकि स्त्री इस प्रकार भूषित, पूजित एवं सम्मानित होने से शोभायमान होती है और उसके शोभायमान होने से सारा कुल ही शोभायुक्त हो जाता है[7]।

१- देखें : मनु० ९।१०-१२
२- ,, मनु० ९।११ पर गोविन्द राज की टीका
३- ,, म० भा० उद्योग० ३८।१०
४- ,, ,, ,, शान्ति० १४४।५२
५- ,, मनु० ३।५५-५८
६- ,, ,, ३।५९
७- ,, ,, ३।६२

पति के उपर्युक्त कर्तव्यों के साथ ही धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में पत्नी के पति के प्रति विभिन्न कर्तव्यों का भी प्रतिपादन किया गया है । मनु ने सामान्य रूप से पत्नी कर्तव्यों के अन्तर्गत उसकी प्रसन्नता, गृहकार्यों में दक्षता, घर की सफाई एवं अपव्ययी न होने का उल्लेख किया है[१]। याज्ञवल्क्य ने इसके साथ ही पति के प्रिय कार्य सम्पादन, सास-ससुर के चरण-वन्दन, उत्तम आचरण आदि का उल्लेख किया है[२]। बृहस्पति ने पत्नी के कर्तव्यों के अन्तर्गत पारिवारिक सदस्यों से पहले उठने, भोजनादि उनके बाद ग्रहण करने तथा उनसे निम्न आसन ग्रहण करने का उल्लेख किया है[३]।

वस्तुत: इन सामान्य पत्नी कर्तव्यों की अपेक्षा मनु आदि धर्मशास्त्रियों ने पतिसेवा, पति-वचन पालन एवं पातिव्रत्य इन तीन कर्तव्यों का निर्धारण किया है । बृह० के मत में स्त्री को व्रत, उपवास, यज्ञ, दानादि से वैसा फल नहीं मिल सकता जैसा कि पतिसेवा से[४]। मनु ने इसी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए दु:शील, स्वच्छन्दगामी एवं गुणशून्य पति की भी देववत् पूजा करने का विधान किया है[५]।

पतिसेवा के साथ ही याज्ञवल्क्यादि ने पत्नी द्वारा पति के वचन-पालन को उसका परम धर्म माना है[६]। इसके साथ ही मनु आदि ने पातिव्रत्य को ही स्त्री का सर्वमहान् कर्तव्य निर्धारित किया है । मनु के अनुसार पातिव्रत्य से स्त्री स्वर्ग में भी साध्वी स्त्री की तरह पति का सायुज्य प्राप्त करती है जबकि पर-पुरुष के सम्पर्क से वह निन्दा, रोग-कष्ट एवं शृगाल-योनि प्राप्त करती है[७]।

१- देखें : मनु० ५।१५०
२- ,, याज्ञ० १।३।८३ एवं ८७
३- ,, स्मृ० च० व्यव० पृ० २५७
४- ,, ,, ,, ,, पृ० १३५
५- ,, मनु० ५।१५४-५५
६- ,, याज्ञ० १।३।७७
७- ,, मनु० ९।२९-३० इसी प्रकार देखें : याज्ञ० १।३।८७ एवं वशिष्ठ २१।१४ आदि ।

प्रस्तुत प्रकरण की समाप्ति करते हुए संक्षेप में हम कह सकते हैं कि यदि पति-पत्नी अपने-अपने कर्तव्यों का सुचारु रूप से पालन करें तभी वे दोनों मानसिक सुख प्राप्त करते हुए एक दूसरे से सन्तुष्ट रहेंगे और उनका यह पारस्परिक सन्तोष ही परिवार का कल्याण करेगा[1]।

गार्हस्थ्य जीवन के विवेचन-क्रम में पति-पत्नी के उपर्युक्त सम्बन्ध निरूपण के साथ ही धर्मशास्त्रियों ने गृहस्थों के कुछ अन्य कर्तव्यों जैसे पंचमहायज्ञों का सम्पादन[2], माता, पिता एवं गुरु की सेवा[3], अभ्यागताभिगमन, स्वदाराभिरमण, घर में प्रेमपूर्वक निवास[4], श्रद्धापूर्वक यज्ञ कर्म सम्पादन, तड़ाग, कूप, निर्माण[5], त्रिऋण से अनृण होने के प्रयास[6] आदि का भी उल्लेख किया है और प्रत्येक गृहस्थ द्वारा इन्हें करणीय निरूपित किया है ।

गार्हस्थ्य जीवन की सफलता का मुख्य स्रोत पुरुषार्थत्रय निरूपित करते हुए उसे यहां श्रेयस्कर कहा गया है । परन्तु पुरुषार्थत्रय-सम्पादन में धर्म रहित अर्थ एवं काम या कि दुःखदायी धर्म-सम्पादन को यहां मान्यता नहीं दी गई है और उनका निषेध किया गया है[7]।

१- देखें : मनु० ३।६०

२- ,, ,, ३।६८-७२

३- ,, ,, २।२२५-२६

४- ,, ,, ४।१८८

५- ,, ,, ४।२२६

६- ,, ,, ४।२५७

७- ,, ,, २।२२४ एवं ४।१७६

गार्हस्थ्य की परिधि में आने वाले अन्य सम्बन्धों के अन्तर्गत यहां माता-पिता-पुत्र-भाई-भाई एवं देवर व भाभी का भी सम्बन्ध निरूपण किया गया है । गार्हस्थ्य जीवन के क्रम में पारिवारिक व्यवस्था के अन्तर्गत यहां पिता, माता एवं ज्येष्ठ पुत्र को ही क्रमशः परिवार का मुखिया निरूपित किया गया है और अन्य पारिवारिक सदस्यों को उनकी आज्ञा के अधीन रहने का आदेश दिया गया है । यहां पिता को प्रजापति, माता को पृथ्वी एवं अनुज को अपनी मूर्ति के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है[2]। एक अन्य स्थान पर पिता को गार्हपत्य अग्नि एवं माता को दक्षिण अग्नि के रूप में स्थापित किया गया है[3]। ऐसे श्रेष्ठ पद वाले माता-पिता की सेवा को ही, पुत्र का सर्वोत्तम तप निरूपित करते हुए मनु ने यह आदेश दिया है कि पुत्र को उनकी अनुमति से ही अन्य धर्मकार्यों का सम्पादन करना चाहिए[4]। पारिवारिक व्यवस्था के अन्तर्गत ज्येष्ठ पुत्र को ही प्रमुख स्थान दिया गया है[5]। मनु ने ज्येष्ठ पुत्र को अनुजों का पुत्रवत् पालन करने का एवं अनुजों को उसका पितृवत आदर करने का आदेश दिया है[6]।

देवर-भाभी के सम्बन्ध के निरूपण के अवसर पर यहां भाभी, देवर के लिए मातृतुल्य[7] तथा छोटे भाई की पत्नी बड़े भाई के लिए वधू तुल्य निरूपित की गयी है ।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि धर्मशास्त्रों में चित्रित गार्हस्थ्य जीवन एक आदर्श पद्धति पर ही आधृत था और यही कारण है कि आगे चलकर संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में गार्हस्थ्य जीवन के चित्रण के प्रसंग में इसी आदर्श व्यवस्था का ही अनुवर्तन कि किया गया ।

-०-

१- देखें : मनु० २।२२५
२- ,, ,, २।२२६
३- ,, ,, २।२३१
४- ,, ,, २।२२९, इसी प्रकार देखें : २।२३३ आदि
५- ,, ,, ९।१०६
६- ,, ,, ९।१०८ एवं ११०
७- ,, ,, ९।५७

चतुर्थ अध्याय

-0-

धर्म एवं अर्थ-प्रधान महाकाव्यों में

गार्हस्थ्य चित्रण

चतुर्थ अध्याय

-0-

धर्म एवं धर्म-प्रधान महाकाव्यों में गार्हस्थ्य चित्रण

१- संस्कृत के धर्मप्रधान महाकाव्य, उनका प्रतिपाद्य विषय एवं विभाजन

संस्कृत साहित्य में "धर्म" को लक्ष्य करके प्रणीत किए जाने वाले महाकाव्यों की परम्परा हमें प्राचीनकाल से ही देखने को मिलती है। धर्म को लक्ष्य करके प्रणीत किए गए महाकाव्यों में "धर्म" शब्द को अत्यन्त सूक्ष्म रूप में ग्रहण किया गया है। यहां धर्म से तात्पर्य किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध उसके व्यक्तिगत धर्म से है। यही कारण है कि हमें यदि शंकरदिग्विजय में अद्वैतवाद का विवेचन देखने को मिलता है तो सौन्दरनन्द, बुद्धचरित, पद्मचूडामणि में बौद्ध धर्म का तथा धर्मशर्माभ्युदय में जैन धर्म का विस्तृत प्रतिपादन देखने को मिलता है।

धर्मप्रधान महाकाव्यों में विवेचित इस धर्म विशेष के प्रतिपादन को देखने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऐसे काव्यों में गार्हस्थ्य जीवन की उपेक्षा की गयी होगी क्योंकि इस धर्म विशेष का पर्यवसान मोक्ष तत्व में ही होता है। विषय-प्रतिपादन के इसी वैशिष्ट्य को ध्यान में रखते हुए, ऐसे महाकाव्य-रचयिताओं ने अपने काव्य-नायकों से गार्हस्थ्य जीवन की उपेक्षा करवायी है। शंकरदिग्विजय महाकाव्य के प्रणेता आचार्य माधव ने अपने काव्य नायक आचार्य शंकर को ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् सीधे ही सन्यास आश्रम स्वीकार करवाया है। और सौन्दरनन्द, बुद्धचरित, पद्मचूडामणि एवं धर्मशर्माभ्युदय के

महाकाव्य-रचयिताओं ने अपने-अपने काव्य-नायकों से गृहस्थाश्रम का मध्यावधि में ही विच्छेद कराके उन्हें प्रव्रज्या धारण करवायी है ।

परन्तु धर्म प्रधान काव्य-प्रणेताओं ने गार्हस्थ्य जीवन की इस उपेक्षा के साथ ही अपने-अपने काव्यों में गौण रूप में ही सही गार्हस्थ्य-जीवन का चित्रण भी किया है । हाँ, यह दूसरी बात है कि उनका प्रतिपाद्य मुख्यरूप से धर्मविशेष से ही सम्बद्ध है । महाकवि अश्वघोष ने इसी मन्तव्य की पुष्टि करते हुए सौन्दरनन्द के अन्तिम श्लोक में कहा है कि 'मोक्ष धर्म (प्रकारान्तर से यहां मोक्ष से तात्पर्य है बौद्ध धर्म की विस्तृत व्याख्या) की व्याख्या से परिपूर्ण यह कृति शान्ति प्रदान करने के लिए है न कि आनन्द देने के लिए, अन्यमनस्क श्रोताओं को आकृष्ट करने के लिए ही यह काव्य-शैली में रची गयी है । इसमें मोक्ष धर्म की व्याख्या के अतिरिक्त मैंने द्वारा जो कुछ कहा गया है (अश्वघोष के इस 'जो कुछ' से तात्पर्य यहां नन्द एवं सुन्दरी के गार्हस्थ्य जीवन के विवेचन से है) वो इसे काव्य-धर्म के अनुसार सरस बनाने के लिए ही जैसे कि तिक्त औषधि को पीने लायक बनाने के लिए उसमें मधु मिलाया जाता है ।'[1]

अश्वघोष के उपर्युक्त कथन से यह सुनिश्चित हो जाता है कि धर्मप्रधान महाकाव्यों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय भले ही धर्म विशेष का प्रतिपादन

१- इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृतिः
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात्कृता ।
यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात्कृतं
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति ।।
-- सौन्दर० १८।६३
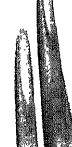
हो किन्तु काव्य को सरस बनाने के लिए उन्होंने अपने-अपने काव्यों में गौण रूप में अपने काव्यों के नायकों के गार्हस्थ्य जीवन का चित्रण भी किया है। महाकवि अश्वघोष एवं बुद्धघोष ने बौद्ध धर्म का चित्रण करते हुए भी नन्द एवं सुन्दरी तथा बुद्ध एवं यशोधरा के गार्हस्थ्य का संक्षिप्त चित्रण प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार महाकवि हरिचन्द्र ने जैन धर्म का विवेचन करते हुए भी अपने काव्य के नायक धर्मशर्मा एवं शृंगारवती के प्रारम्भिक गार्हस्थ्य जीवन का चित्रण किया है। यद्यपि महाकवि माधव के नायक आचार्य शंकर ने संसार में विरक्ति भावना उत्पन्न हो जाने के कारण आठ वर्ष की अवस्था में ही सन्यास-आश्रम स्वीकार कर लिया था[1] फिर भी महाकवि ने प्रासंगिक इतिवृत्त के अन्तर्गत आचार्य शिवगुरु एवं सती तथा आचार्य मण्डन एवं भारती के प्रारम्भिक गार्हस्थ्य जीवन का चित्रण प्रस्तुत किया है।

धर्म प्रधान महाकाव्यों को हम मुख्यरूप से तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं --

(१) सनातन या वैदिक धर्म प्रधान महाकाव्य - इस श्रेणी का प्रमुख महाकाव्य है शंकर-दिग्विजय।

(२) बौद्धधर्मप्रधान महाकाव्य - इस श्रेणी के प्रमुख महाकाव्य हैं बुद्धचरित, सौन्दरनन्द एवं पद्म चूड़ामणि।

(३) जैनधर्म प्रधान महाकाव्य -- इस श्रेणी का प्रमुख महाकाव्य है धर्मशर्माभ्युदय।

यहां सर्वप्रथम सनातन या वैदिक धर्मप्रधान महाकाव्य शंकर-दिग्विजय में उपलब्ध गार्हस्थ्य जीवन का विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा।

१- देखें : शंकर ५। ५६

२- सनातन या वैदिक धर्मप्रधान महाकाव्य-शंकरदिग्विजय में गार्हस्थ्य चित्रण

(क) आचार्य माधव की गृहस्थाश्रम सम्बन्धी मान्यतायें

ऊपर कहा जा चुका है कि आचार्य माधव का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है अद्वैतवाद मत की पुष्टि । परन्तु इस मुख्य विषय के प्रतिपादन के साथ ही समाज में गृहस्थाश्रम की महत्ता के कारण उन्होंने भूमिका के रूप में गृहस्थाश्रम की आवश्यकता एवं अनिवार्यता पर बल दिया है । उनके अनुसार भूख एवं प्यास से व्याकुल अतिथि को भोजन देने,[1] ब्रह्मचारी की क्षुधा मिटाने,[2] संयमी सन्यासी को भिक्षा देने,[3] वानप्रस्थी को अन्नदान देने[4] एवं पशुपक्षियों एवं कीट-पतंगों आदि की क्षुधा मिटाने के कारण गृहस्थाश्रम ही सर्वोत्कृष्ट है ।[5]

१- "मध्याह्नकाले क्षुधितस्तृषार्तः क्व मेऽन्नदातेति वदन्नुपैति ।
यस्तस्य निर्वापयिता क्षुधार्तेः कस्तस्य पुण्यं गदितुं क्षमेत ।।"
--शंकर० १४।९३

२- "सायं प्रातर्वह्निकार्यं वितन्वन्
मज्जंस्तोये दण्डकृष्णाजिनी च ।
नित्यं वर्णी वेदवाक्यान्यधीयन्
क्षुद्बाधायां शीघ्रं गेहिनो गेहमेति ।।"
-- वही १४।९४

३- "उच्चैः शास्त्रं भाषमाणोऽपि भिक्षुस्तारं मन्त्रं संजपन् वा यतात्मा
मध्येयत्नं जाठराग्नौ प्रदीप्ते दण्डी नित्यं गेहिनो गेहमेति ।।

७० -- वही १४।९५

४- "यदन्नदानेन निजं शरीरं पुष्णंस्तपो यं कुरुते सुतीव्रम् ।
- - - - - - - - - - - - - - - - ।।
-- वही १४।९६

५- "अन्तःस्थिता भूधरकुक्षिजीवा बहिः स्थिता गोमृगपक्षिमुख्याः ।
जीवन्ति जीवाः समोपजीव्यस्तस्माद् गृही सर्ववरो मतो मे ।।"
-- वही १४।९७

इस प्रकार समाज के सभी प्राणियों की क्षुधा शान्त कराने के कारण एवं उन्हें जीवन-यात्रा के लिए समर्थ बनाने के कारण गृहस्थाश्रम ही सर्वोत्कृष्ट है और संसार के जितने फल हैं वे सब गृहस्थ रूपी वृक्ष से प्राप्त होते हैं।[१]

समाज में गृहस्थाश्रम की इसी महत्ता के कारण आचार्य माधव ने अपने महाकाव्य के प्रारम्भिक सर्गों में काव्य के नायक आचार्य शंकर के माता-पिता एवं प्रासंगिक इतिवृत्त में आचार्य मण्डन मिश्र एवं भारती के गार्हस्थ्य जीवन का संक्षिप्त चित्रण प्रस्तुत किया है।

(ख) आचार्य शिवगुरु एवं सती का गार्हस्थ्य जीवन

महाकाव्य के कथानक के अनुसार आचार्य शिवगुरु के विधिवत् विद्योपार्जन के पश्चात् गुरु ने उन्हें यथासमय विवाह संस्कार की आवश्यकता[२]

१- 'शरीरमूलं पुरुषार्थसाधनं तच्चान्नमूलं श्रुतितोऽवगम्यते ।
तच्चान्नमस्माकमधीनसंस्थितं सर्वं फलं गेहपतिश्रमाश्रयम् ।।
गृही धनी धन्यतरो मतो मे तस्योपजीव्यपरे धनं हि सर्वे ।
वीर्येण कश्चित् दानेन कश्चित् बलेन बलतोऽपि कश्चित् ।।'
--शंकर. १४।१०३ एवं ६८

२- 'कालोप्तबीजादिव यादृशं स्यात्
सस्यं न तादृग्विपरीतकालात् ।
तथा विवाहादि कृतं स्वकाले
फलाय कल्पेत न चेद् वृथा स्यात् ।।'
--शंकर० २।११

एवं सन्तति-परम्परा के निर्वाह[1] तथा यज्ञों के सम्पादन के लिए पत्नी की आवश्यकता[2] होने के कारण, घर जाकर विवाह संस्कार सम्पन्न कराने का आदेश दिया क्योंकि प्रत्येक माता-पिता अपने पुत्र के विवाह संस्कार को सम्पन्न करना चाहता है ।[3] यद्यपि शिष्युत्र विवाह संस्कार के अवगुणों[4] एवं यज्ञों के

१- 'तत्तत्कुलीनपितर: स्पृहयन्ति कामं
तत्तत्कुलीनपुरुषस्य विवाह कर्म
पिण्डप्रदातृपुरुषस्य सन्ततित्वे
पिण्डाभिलाषमुपरि स्फुटमीक्षमाणा: ॥'
-- वही २।१३

२- 'अर्थाविबोधनफलो हि विचार एष
तस्यापि चित्रबहुकर्मविधानहेतो: ।
अध्यापिकामिति विगच्छति स द्वितीय:
कृत्वा विवाहमिति वेदविदां प्रवाद: ॥'
-- वही २।१४

३- 'आ जन्मनो गणयतो ननु तान् मनोरथान्
माता पिता परिणयं तव कर्तुकामौ ।
पित्रोरियं प्रकृतिरेव पुरोपनीतिं
यद्ब्रह्मचर्यकमुपेत्य ततो विवाहम् ॥ '
-- वही २।१२

४- दारग्रहो भवति तावदयं सुखाय
यावत्कृतोऽनुभवगोचरतां मत: स्यात् ।
पश्चात्कलौ विरसतामुपयाति सोऽयं
किं विस्तृणोषि त्वमनुष्ठितमदं महात्मन् ॥
-- वही २। १७

सम्पादन कर्म को कठिन मानने के कारण[1] नैष्ठिक ब्रह्मचर्य-व्रत चाहते थे,[2] परन्तु पिता के आदेश को पाकर उन्होंने गृहस्थाश्रम स्वीकार किया और घर आकर 'माघ' पण्डित की सती नामक कन्या से शुभ मुहूर्त में विवाह करके गार्हस्थ्य जीवन प्रारम्भ किया ।[3]

(i) दम्पती द्वारा धर्मकार्यों एवं शास्त्रविहित गृहस्थ के नियमों का सम्पादन

आचार्य शिवगुरु ने गार्हस्थ्य जीवन में विभिन्न यज्ञों के सम्पादन को आवश्यक मानते हुए सर्वप्रथम विज्ञ वैदिकों की सहायता से अग्नि का आधान किया क्योंकि अग्नि की स्थापना करने वाला ब्राह्मण ही वेदविहित यज्ञों का अधिकारी होता है ।[4] इस अग्निकुण्ड में उन्होंने अनेक कष्ट-साध्य

१- 'यागोऽपि नाकफलदो विधिना कृतश्चेत्
प्रायः समग्रकरणं भुवि दुर्लभं तत् ।
गृह्याश्रमिन्नपि फलं यदि कर्मणि स्यात्
विघ्ना यथोक्तविरहे फलदुर्विधत्वम् ।।'
--शंकर. २।१८

२- 'श्रीनैष्ठिकाश्रममहं परिगृह्य याव-
ज्जीवं वसामि तव पार्श्वगतश्चिरायुः ।
दण्डाजिनी व्रतिनयो भुवि कुलवह्नौ
वेदं पठन् पठितविस्मृतिहानिमिच्छन् ।।'
-- वही २।१९

३- देखें : वही २।२८-३४ ।

४- 'अग्नीनथाऽऽधित महोदयभागवाप्तं
कर्तुं निदेशकुशलैः सहितो द्विजैः ।
तत्फलं हि वचनाद्विहितक्रमादः
स्यादन्यथेऽ विहितेष्वपि नाधिकारी ।।'
-- वही २।३६

यागों से विभिन्न यज्ञों का सम्पादन किया ।[1] इन यज्ञों के अतिरिक्त उन्होंने गृहस्थ के लिए आवश्यक देव-पितृ एवं मनुष्य यज्ञों का भी सम्पादन किया ।[2] गार्हस्थ्य जीवन में ब्राह्मणों के लिए निर्धारित वेदाध्ययन एवं परोपकार तथा श्रुति एवं स्मृति में गृहस्थों के लिए निर्धारित अन्य अनेक कर्तव्यों का भी उन्होंने पालन किया[3] परन्तु इस धर्मिय जीवन के होते हुए भी उन्होंने अनेक वर्षों तक पुत्र-लाभ नहीं किया ।[4]

१- 'यागैरनेकैर्बहुवित्तसाध्यै-
विष्णुकामो भुवनान्ययष्ट ।
व्यस्तारि देवैस्सुतं तदाशे
दिने दिने देवितयज्ञभागैः ॥'
--शंकर. २।२७

२- सन्तर्पयन्तं पितृदेवमानुषां
स्वतत्पदार्थैरभिवांछितैः सदा ।
विशिष्टविधैः सुजनौरनन्तं
तं मेनिरे कंमकल्पपादपम् ॥
-- वही २।२८

३- परोपकाररतिनो दिने-दिने
व्रतेन वेदं पठतो महात्मनः ।
श्रुतिस्मृतिप्रोदितकर्म कुर्वतः
समा व्यतीयुर्दिनमाससंमिता: ॥
-- वही २। २९

४- देखें : २।४१-४५

(ii) पुत्र के लिए शिव की आराधना

अन्ततः पत्नी की सलाह मानकर उन्होंने पत्नी सहित शिव की आराधना की और शिव की कृपा से ही सती ने शिवरूप पुत्र को जन्म दिया जो आगे चलकर 'शंकर' नाम से प्रसिद्ध हुआ ।[1]

(ग) आचार्य मण्डन मिश्र एवं भारती का गार्हस्थ्य जीवन

आचार्य माधव ने प्रासंगिक इतिवृत्त के अन्तर्गत आचार्य मण्डन मिश्र एवं भारती के गार्हस्थ्य जीवन के प्रारम्भिक भाग (विवाह संस्कार) का चित्रण किया है । कथानक के अनुसार आचार्य मण्डन की विद्वत्ता एवं सच्चरित्रता आदि ब्राह्मणों के मुख से सुनकर भारती उन्हें प्रेम करने लगी थी और आचार्य मण्डन भी उसकी विद्वत्ता आदि का श्रवण करके उसे प्रेम करने लगे थे ।[2] वे स्वप्न में ही एक दूसरे से सम्भाषण करने लगे थे[3] और विरह की अधिकता के कारण कृशता को प्राप्त होने लगे थे ।[4] अन्ततः मण्डन द्वारा भारती से विवाह

१- देखें : शंकर० २।४६-८३

२- 'सा विश्वरूपं गुणिनं गुणज्ञा
मनोभिरामं द्विजपुंगवेभ्यः ।
शुश्राव तां चापि स विश्वरूप
स्तस्मात्तयोर्दर्शनलालसाऽभूत् ॥'
-- वही ३।१७

३- 'अन्योन्यसंदर्शनलालसौ तौ
चिन्ताप्रकर्षादधिगम्य निद्राम् ।
अवाप्य संदर्शनभाषणानि
पुनः प्रबुद्धौ विरहाग्नितप्तौ ॥'
-- वही ३।१८

४- विदूयमानावपि नेक्षमाणावन्योन्यमात्ताकुलमानसौ तौ ।
कृशौ विकाराविकारहीनौ तनौ तनुत्वं स्मरणादुपेतौ ॥
-- वही ३। १९

करने[1] तथा भारती द्वारा मण्डन से विवाह करने की इच्छा व्यक्त करने पर[2] दोनों के पिता द्वारा सम्मति मिलने पर इन दोनों का विधिपूर्वक विवाह संस्कार सम्पन्न हुआ ।[3] इस अवसर पर भारती की माता ने आ० पत्नी के कर्तव्य-पालन का उपदेश देते हुए उसे पति की अधीनता,[4] पति के भोजन एवं स्नान के पश्चात् स्वत: भोजन करने, पति के प्रवास-काल में अलंकार-विहीन रहने,[5] पति के क्रोधित होने पर भी उसका विरोध न करने तथा उसकी प्रसन्नता

१- 'शोणाख्यपुनंदतटे वसतो द्विजस्य
कन्यां श्रुतिं गतवती द्विजपुंगवेभ्य: ।
सर्वज्ञतावधगुणकवेशां
तामुद्विवक्षति मनो भगवन् मदीयम् ।।'
--शंकर० ३।२६

२- भृगुर्न्विलोकनगत: श्रुतविश्वशास्त्र:
श्री विश्वरूप इति य: प्रथित: पृथिव्याम् ।
तत्पादपङ्कजरजो स्पृहयामि नित्यं
वाचाऽमुमत्र यदि तां भवान् विदध्यात् ।।'
-- वही ३।२८

३- देखें : वही ३।५७-६८

४- 'पाणिग्रहात् स्वाधिपती जनित्रौ पुरा कुमार्या: पितरौ तत: पति: ।
पतिस्त्वमेकं शरणं प्रयाहि सं लोकद्वयं नेष्यसि येन दुर्लभम् ।।'
-- वही ३।७०

५- पत्यावभुक्तवति सुन्दरि मा स्म भुङ्क्ष्व
याते प्रवासमपि मा स्म भवेर्विभूषा ।
क्रुपिताधिनिमन्नौऽपि मिमन्क्षादौ
वृद्धाङ्गनाचरितमेव परं प्रमाणम् ।।'
-- वही ३।७१

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि आचार्य माधव ने अपने ग्रन्थ में मुख्य रूप से अद्वैतवाद की स्थापना करते हुए भी आचार्य शिवगुरु एवं सती तथा आचार्य मण्डन एवं भारती के गार्हस्थ्य जीवन के प्रतिपादन में गृहस्थाश्रम की महत्ता, विवाह संस्कार की अनिवार्यता, उसका मुख्य उद्देश्य, पति-पत्नी के कर्तव्य आदि गार्हस्थ्य जीवन से सम्बद्ध अनेक विषयों का भी वर्णन किया है, भले ही वह गौण रूप में है ।

३- बौद्ध धर्म-प्रधान महाकाव्यों में गार्हस्थ्य-चित्रण

महाकवि अश्वघोष ने अपने महाकाव्यों बुद्धचरित एवं सौन्दरनन्द में मुख्य रूप से इन दोनों काव्य-नायकों के प्रव्रज्या-ग्रहण का चित्रण करते हुए बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन किया है परन्तु इसके साथ ही उन्होंने इन दोनों काव्यों की पृष्ठभूमि में महाराज शुद्धोदन एवं मायादेवी के विस्तृत गार्हस्थ्य जीवन का चित्रण करते हुए अपने काव्य-नायकों एवं नायिकाओं, सर्वार्थसिद्ध एवं यशोधरा तथा नन्द एवं सुन्दरी के अल्पकालिक गार्हस्थ्य का वर्णन भी प्रस्तुत किया है ।

(क) शुद्धोदन एवं मायादेवी का गार्हस्थ्य जीवन

काव्य के कथानक के अनुसार कपिलवस्तु नृपति शुद्धोदन, काल-क्रम से राज्य-पद पर अभिषिक्त होने के पश्चात् प्रजापालन में व्यापृत हुए । इस राज्य-काल में गार्हस्थ्य जीवन के निर्वाह के लिए मुख्य सहधर्मिणी के रूप में मायादेवी उनके साथ थीं ।[1] परन्तु राज्य-पद की प्राप्ति के कारण उन्हें न तो गर्व था और न ही मायादेवी के साथ वह विषयभोगों में ही मग्न थे अपितु विषय-भोग

एवं प्रजापालन रूप कर्तव्य निर्वाह का समान रूप से पालन करने के कारण वह प्रजाओं एवं बन्धुजनों में प्रशंसित था ।[1]

गार्हस्थ्य जीवन में धर्म, अर्थ एवं काम की महत्ता समझते हुए उसने इन तीनों की सम्यक् प्राप्ति का यावज्जीवन प्रयास किया । गृहस्थ के लिए अर्थ एवं धर्म का विशेष महत्व होता है । अर्थ ही धर्म एवं काम-प्राप्ति का सहायक होता है, अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि अर्थ ही धर्म एवं काम का सम्वर्द्धन करता है ।[2] धर्म एवं अर्थ उसी व्यक्ति के लिए कल्याणकारी होते हैं जो सत्कार्य-सम्पादक होता है ।[3]

धर्म, अर्थ एवं काम की प्राप्ति में सदाचार की इस महत्ता के कारण शुद्धोदन ने यावज्जीवन सदाचार का पालन करते हुए इन तीनों की

१-(i) नाधीरवत्कामसुखे ससञ्जे न संररञ्जे विषमं जनन्याम् ।
धृत्येन्द्रियाश्वांश्चपलान्विजिग्ये बन्धूंश्च पौरांश्च गुणैर्जिगाय ॥
--बुद्ध० २।३४

(ii) यः ससञ्जे न कामेषु श्रीप्राप्तौ न विसिस्मिये ।
नावमेने परानृद्ध्या परेभ्यो नापि विव्यथे ॥
--सौन्दर० २।२

२- अश्वघोष ने उपर्युक्त तथ्य का ही प्रतिपादन किया है :-
'स तौ सम्वर्धयामास नरेन्द्रः परया मुदा ।
अर्थः सज्जनहस्तस्थो धर्मकामौ महानिव ॥'
--सौन्दर० २।६०

३- 'तस्य कालेन सत्पुत्रौ ववृधाते भवाय तौ ।
आर्यस्यारम्भमहतो धर्मार्थाविव भूतये ॥'
--सौन्दर० २।६१

सफलतापूर्वक प्राप्ति की थी । उनके द्वारा गार्हस्थ्य काल में परम ब्रह्म चिन्तन, दान, यज्ञ-सम्पादन, पूज्य व्यक्तियों के लिए अग्र भाग निवेदन, अतिथि-सत्कार, त्याग-भावना[1] एवं वेदविहित अन्य धार्मिक कर्त्तव्यों के पालन[2] आदि से यही स्पष्ट होता है कि शुद्धोदन ने अपने गार्हस्थ्य काल में "धर्म" का पालन किया था । धर्म-पालन एवं उसके सफलतापूर्वक अर्जन के साथ ही उन्होंने अर्थ के कुशलता पूर्वक अर्जन को ध्यान में रखते हुए पूर्वजों से प्राप्त पृथ्वी का ही उपभोग किया था और वंश के शत्रुओं के मान-मर्दन के लिए ही युद्ध का आश्रय लिया था न कि राज्य रूपी अर्थ-सीमा के विस्तार के लोभ से ।[3] धर्म युक्त अर्थ-प्राप्ति के साथ ही शुद्धोदन ने काम का उपभोग भी धर्मतः ही किया था । उसका मन कभी भी विषयों के प्रति आकृष्ट नहीं होता था ।[4] वह केवल अपनी ही पत्नियों से सन्तुष्ट रहता था । इस आसक्ति-रहित विषय भोग की पूर्ति के साथ ही अपनी बड़ी रानी माया एवं छोटी रानी से एक-एक पुत्र उत्पन्न करके[5] उसने "काम" की भी सफलता पूर्वक प्राप्ति कर ली थी ।

१- देखें : बुद्ध० २।५५, २।३६, ४६, ५१ एवं सौन्दर० २।१२, १६,३१, ३५-३६ एवं ४० आदि ।

२- देखें : सौन्दर० २।४०

३- देखें : बुद्ध० २।४४, सौन्दर० २।१०,१६,२८ एवं ३३ आदि ।

४- देखें : बुद्ध० २।३४, सौन्दर० २।२५,४२ ।

५- अश्वघोष के अनुसार मायादेवी ने सर्वार्थसिद्ध को और शुद्धोदन की छोटी रानी ने नन्द को जन्म दिया था ।

—देखें : बुद्ध० स० १ एवं सौन्दर० स० २ ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि शुद्धोदन ने अपने गार्हस्थ्य-काल में पुरुषार्थत्रय की सम्यक् प्राप्ति कर ली थी और इस प्रकार जीवन में सन्तानोत्पत्ति के कारण पितृऋण से, वेदाध्ययन द्वारा ऋषि-ऋण से एवं यज्ञादि कार्यों के सम्पादन द्वारा देव-ऋण से मुक्त होने के कारण मोक्ष-प्राप्ति का अधिकार भी प्राप्त कर लिया था क्योंकि मोक्ष वही प्राप्त कर सकता है जो गार्हस्थ्य-काल में उपर्युक्त तीन ऋणों से अनृण हो चुका हो ।[1]

(ख) सर्वार्थसिद्ध एवं यशोधरा का गार्हस्थ्य-जीवन

महाकवि अश्वघोष ने 'बुद्धचरित' काव्य के नायक सर्वार्थसिद्ध एवं नायिका यशोधरा के अल्प-कालिक गार्हस्थ्य का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन किया है । काव्य के कथानक के अनुसार सर्वार्थसिद्ध के ब्रह्मचर्याश्रम की समाप्ति के पश्चात्[2] उनका यशोधरा से विवाह हुआ[3] और इस प्रकार वह गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हुए । अपने गार्हस्थ्यकाल में उन्होंने कुछ समय तक यशोधरा के साथ विषय-भोगों का आस्वादन किया[4] और कालान्तर में उन्हें उससे एक पुत्र की प्राप्ति भी हुई ।[5]

१- "नर: पितृणामनृण: प्रजाभिर्वेदैर्ऋषीणां क्रतुभि: सुराणाम् ।
उत्पद्यते सार्धमृणैस्त्रिभिस्तैर्यस्यास्ति मोक्ष: किल तस्य मोक्ष: ।।"

—बुद्ध० ९।६५

२- देखें : बुद्ध० २।२४

३- ,, : वही २।२६

४- "विभ्राजमानो वपुषा परेण सनत्कुमारप्रतिम: कुमार: ।
सार्धं तया शाक्यनरेन्द्रवध्वा शच्या सहस्राक्ष इवाभिरेमे ।।"

— वही २।२९

५- "काले ततश्चारुपयोधरायाम् यशोधरायां स्वयशोधरायाम् ।
शौद्धोदने राहुसपत्नवक्त्रो जज्ञे सुतो राहुल एव नाम्ना ।।"

— वही २।४६

विषय-भोगों के आस्वादन के क्रम में ही उपवन-विहार को जाते हुए, मार्ग में एक रोगी, वृद्ध तथा मृत व्यक्ति को देखकर, और संसार के प्रत्येक व्यक्ति को व्याधि, जरा एवं मृत्यु से ग्रस्त देखकर उनके मन में सांसारिक भोगों के प्रति विरक्ति उत्पन्न हो गई और वह कैवल्य-प्राप्ति के लिए वन में तपस्या के लिए चल पड़े ।[1]

अश्वघोष द्वारा चित्रित सर्वार्थसिद्ध एवं यशोधरा के इस संक्षिप्त गार्हस्थ्य जीवन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सर्वार्थसिद्ध ने प्राचीन भारतीय परम्परा का अनुवर्तन करते हुए युवावस्था में काम का उपभोग किया और पुत्रोत्पादन द्वारा वंशतन्तु की रक्षा करने के पश्चात् ही वन की राह ली थी ।[2]

(ग) नन्द एवं सुन्दरी का गार्हस्थ्य जीवन

'सौन्दरनन्द' के नायक नन्द एवं नायिका सुन्दरी के अल्पकालिक गार्हस्थ्य जीवन का चित्रण करते हुए महाकवि अश्वघोष ने मुख्य रूप से इन दोनों के विषयोपभोगों का ही वर्णन किया है । इस वर्णन के विवेचन से यह ज्ञात होता है कि नन्द ने जीवन में 'काम' को ही सर्वोपरि माना था । यही कारण है कि उसके गार्हस्थ्य-जीवन का मुख्य कार्य मात्र प्रिया सुन्दरी के साथ विहार करना ही रह गया था ।[3] उन दोनों का सारा समय कामोपभोग में ही व्यतीत

१- विस्तृत कथानक के लिए देखें : बुद्ध० सं० ३-५ ।

२- 'वनमनुपमसत्त्वा बोधिसत्त्वास्तु सर्वे
विषयसुखरसज्ञा जग्मुरुत्पन्नपुत्राः ।
—वही २।५६

३- 'प्रासादसंस्थो मदनैककार्यः प्रियासहायो विजहार नन्दः ।'
—सौन्दर० ४।१

हो रहा था[1] और उन दोनों ने गार्हस्थ्य का मुख्य उद्देश्य कामोपभोग मानते हुए अनेक काम-क्रीड़ाओं को ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया था ।[2] सुन्दरी के साथ काम-क्रीड़ाओं में रत नन्द, गृहस्थ के लिए आवश्यक, अतिथि-सत्कार, यज्ञ-पालन आदि धर्म-कार्यों को भी भूल चुका था ।[3] कामोपभोग की इसी व्यस्तता के कारण उसे भिक्षा के लिए आगत तथागत का भान भी नहीं हो पाता और वह असत्कृत ही लौट जाते हैं ।[4] एक सेविका से उनके आगमन एवं असत्कृत प्रत्यावर्तन का समाचार पाकर उसे अपनी त्रुटि का भान होता है और वह अपनी इस त्रुटि के परिमार्जन के लिए तथागत के पास जाने का निर्णय करता है । तथा पत्नी से भगवान् तथागत से क्षमा-याचना करने के लिए अनुमति

१- 'कन्दर्परत्योरिव लक्ष्यभूतं प्रमोदनान्द्योरिव नीडभूतम् ।
प्रहर्षतुष्ट्योरिव पात्रभूतं द्वन्द्वं सहारंस्त मदान्धभूतम् ॥'

-- वही ४।८

२- नन्द एवं सुन्दरी की विभिन्न काम-क्रीड़ाओं के लिए
देखें : वही ४।१०-२३ ।

३- 'स चक्रवाकीव हि चक्रवाकस्तया समेतः प्रियया प्रियार्हः ।
नाचिन्तयद्वैश्रमणं न शक्रं तत्स्थानहेतोः कुत एव धर्मम् ॥'

-- वही ४।२

यहां 'धर्म' शब्द का विस्तृत अर्थ लेना चाहिए और उसके अन्तर्गत प्रजापालन, अतिथि-सत्कार, दान, यज्ञ, एवं गृहस्थ के लिए निर्धारित अन्य धार्मिक कर्तव्यों का समावेश मानना चाहिए क्योंकि ये सभी गृहस्थ के धर्म के रूप में मान्य हैं ।

४- देखें : वही ४।२४-२५ ।

मांगता है ।[1] सुन्दरी उसके इस निर्णय एवं अल्पकालिक विरह से कांप उठती है[2] और अन्त में धर्म-लोप के भय से अपने विशेषक सूखने के पहले ही उसे लौट आने का निर्देश देते हुए विदा करती है ।[3] इधर नन्द भी सुन्दरी के इस विरह की व्यथा से पीड़ित हो उठता है । अतिथि-सत्कार की भावना जहां उसे जाने के लिए प्रेरित करती है वहीं प्रिया-प्रेम उसे न जाने के लिए ।[4] अन्ततः काम एवं धर्म-पालन इन दोनों में से धर्म ही प्रधान हो जाता है और नन्द बड़े कष्ट से आगे बढ़ता है[5] और प्रिया को विशेषक सूखने से पहले प्रत्यावर्तन का आश्वासन एवं अतिथि-सत्कार योग्य वस्त्र धारण कर बुद्ध की सेवा में चल पड़ता है ।[6]

१- 'कृत्वाऽञ्जलिं मूर्धनि पद्मकल्पं ततः स कान्तां गमनं ययाचे ।
कर्तुं गमिष्यामि गुरौ प्रणामं मामभ्यनुज्ञातुमिहार्हसीति ॥'
--सौन्दर० ४।३२

नन्द के इस कृत्य से उसकी पत्नीवश्यकता सुव्यक्त होती है ।

२- 'सा वेपमाना परिषस्वजे तं शालं लता वातसमीरितेव ।
ददर्श चाश्रुप्लुतलोलनेत्रा - - - - - - - - - - - - ॥'
--वही ४।३३

३- 'नाहं यियासोर्गुरुदर्शनार्थमर्हामि कर्तुं तव धर्मपीडाम् ।
गच्छार्यपुत्रैहि च शीघ्रमेव विशेषको यावदयं न शुष्कः ॥'
--वही ४।३४

४- 'तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष ।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तुरंस्तरङ्गेष्विव राजहंसः ॥
-- वही ४।४२

५- स कामरागेण निगृह्यमाणो धर्मानुरागेण च कृष्यमाणः ।
जगाम दुःखेन विवर्त्यमानः प्लवः प्रतिस्रोत इवापगायाः ॥
-- वही ४।४४

६- ततः स्तनोद्वर्तितचन्दनाभ्यां मुक्तो भुजाभ्यां न तु मानसेन ।
विहाय वेषं मदनानुरूपं सत्कारयोग्यं स वपुर्बभार ॥
-- वही ४।३८

उपर्युक्त विवेचन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि नन्द एवं सुन्दरी के गार्हस्थ्य-जीवन में काम की ही प्रधानता थी और इसके आगे उन दोनों ने धर्म और अर्थ को भी उपेक्षित कर रखा था । सम्भवत: नन्द की इसी कामासक्ति के कारण बुद्ध ने उसे भिक्षु जीवन-धारण कराया था ।[1]

(घ) अश्वघोष की गृहस्थाश्रम सम्बन्धी मान्यता

प्रस्तुत प्रकरण के प्रारम्भ में ही यह कहा जा चुका है कि बौद्धधर्मप्रधानमहाकाव्य-प्रणेताओं का मुख्य उद्देश्य बौद्ध धर्म की विस्तृत व्याख्या करना था । बौद्ध-धर्म कैवल्य या निर्वाण की प्राप्ति के लिए गृहस्थाश्रम को व्यर्थ मानता है और गार्हस्थ्य जीवन में उपभोग्य काम एवं धर्म तथा अर्थ को निर्वाण-प्राप्ति का सबसे बड़ा शत्रु ।[2]

बौद्ध धर्म के इस वैशिष्ट्य को ध्यान में रखते हुए ही महाकवि अश्वघोष ने अपने काव्यों में पुरुषार्थत्रय की निन्दा करते हुए उसे निर्वाण-प्राप्ति का बाधक तत्त्व निरूपित किया है[3] और इसकी तुलना में मोक्ष को ही परम पुरुषार्थ माना है ।[4] इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपने

१- देखें : वही पृ० ५

२- काम, धर्म एवं अर्थ की निन्दा के लिए देखें : बुद्ध० ११।१०,१७-५५, सौन्दर० ५।२३ एवं ८।३५-४२ आदि ।

३- त्रिवर्गसेवां नृप यत्तु कृत्स्नतः परो मनुष्यार्थ इति त्वमात्थ माम् ।
अनर्थ इत्येव ममात्र दर्शनं क्षयी त्रिवर्गो हि न चापि तर्पकः ॥
—बुद्ध० ११।५८

४- "पदे तु यस्मिन्न जरा न भीर्न रुङ् न जन्म नैवोपरमो न चाधयः ।
तमेव मन्ये पुरुषार्थमुत्तमं न विद्यते यत्र पुनः पुनः क्रिया ॥"
—वही ११।५९

काव्य-नायकों से उनके गृहस्थाश्रम का मध्यावधि में ही विच्छेद कराकर उन्हें प्रव्रज्या धारण करवायी है ।

परन्तु ब्राह्मण होने के नाते वैदिक धर्म से प्रभावित होने के कारण उन्होंने गृहस्थाश्रम के प्रति अपना आदर व्यक्त करते हुए उसे भी मोक्ष प्राप्ति का उपाय बताया है[1] और गृहस्थाश्रम द्वारा मोक्ष प्राप्त करने वाले अनेक राजर्षियों का उल्लेख किया है ।[2] गृहस्थाश्रम के प्रति ऐसी आस्था के कारण ही उन्होंने पुरुषार्थत्रय के सम्पादन के प्रति भी अपना आदर-भाव व्यक्त करते हुए, इसी के सम्पादन द्वारा मोक्ष-प्राप्ति सम्भव कही है[3] और त्रिवर्ग की अप्राप्ति या उनके क्रमिक प्राप्ति के प्रभाव को लोक-परलोक दोनों को ही नष्ट करने वाला कहा है ।[4] वैदिक दर्शन की दृष्टि में गार्हस्थ्य-जीवन में पुरुषार्थत्रय की इसी महत्ता को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपने दोनों काव्यों की पृष्ठभूमि में शुद्धोदन एवं मायादेवी के गार्हस्थ्य-जीवन का चित्रण करते हुए उन्हें धर्म, अर्थ एवं काम की सफलता युक्त प्राप्ति करायी है तथा अपने एक काव्य के नायक सर्वार्थसिद्ध से भी धर्म एवं कामोपभोग तथा पुत्रोत्पादन के पश्चात् ही प्रव्रज्या

१- 'प्राप्तो गृहस्थैरपि मोक्षधर्मः ।'

-- बुद्ध० ९।१९

२- देखें : वही ९।२०-२१

३- 'तस्मात्त्रिवर्गस्य निषेवणेन त्वं रूपमेतत्सफलं कुरुष्व ।
धर्मार्थकामाधिगमं ह्यनूनं नृणामनूनं पुरुषार्थमाहुः ।।'

-- वही १०।३०

४- 'तदयुक्तिमान्यतरां वृणीष्व धर्मार्थकामान्विधिवद्भजस्व ।
व्यत्यस्य रागादिह हि त्रिवर्गं प्रेत्येह च भ्रंशमवाप्नुवन्ति ।।'

-- वही १०।२८

धारण करवाती है और इस प्रकार उपर्युक्त विवरणों द्वारा वैदिक धर्म की त्रिऋण-व्यवस्था के प्रति आदर-भाव व्यक्त करते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि मनुष्य, गुरु, पितृ एवं देव ऋणों से अनृण होने के पश्चात् ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है जो इन ऋणों की उपेक्षा करके मोक्ष पाना चाहते हैं वे असफल होते हैं ।[1] पुरुषार्थत्रय में भी 'काम' की सार्वजनीनता और मानव-जीवन में उसकी प्राबल्यशीलता से भी वह पूर्णरूप से परिचित थे । काम की उपेक्षा करते, मोक्ष-प्राप्ति का प्रयास करने वाले तथा अन्त में काम के पंजे में फंसकर आचरण भ्रष्ट होने वाले पराशर, वसिष्ठ, ययाति करालजनक आदि ऋषियों को ध्यान में रखते हुए ही[2] उन्होंने काम के प्रति अपना आदर-भाव व्यक्त करते हुए,[3] प्राचीन भारतीय परम्परा को ध्यान में रखते हुए काम एवं अर्थ को नष्ट करके धर्म-प्राप्ति के उपाय की निन्दा की है क्योंकि उनकी दृष्टि में भी मानव-जीवन की सफलता के लिए

१- "नरः पितृणामनृणः प्रजाभिर्वेदैर्ऋषीणां क्रतुभिः सुराणाम् ।
उत्पद्यते सार्धमृणैस्त्रिभिस्तैर्यस्यास्ति मोक्षः किल तस्य मोक्षः ॥
इत्येवमेतेन विधिक्रमेण मोक्षं सयत्नस्य वदन्ति तज्ज्ञाः ।
प्रयत्नवन्तोऽपि हि विक्रमेण मुमुक्षवः खेदमवाप्नुवन्ति ॥
—बुद्ध० ९।६५-६६

२- अश्वघोष के अनुसार महर्षि पराशर, ने काली नाम्नी कन्या, वसिष्ठ ने मतङ्ग की कन्या तथा राजर्षि ययाति ने वृद्धावस्था में विश्वाची अप्सरा एवं करालजनक ने एक ब्राह्मण-कन्या से सम्भोग किया था और इस प्रकार वे आचरण भ्रष्ट हुए थे ।
— देखें : बुद्ध० ४।७६-७८ एवं ८०-८१ ।

३- "नावजानामि विषयान् जाने लोकं तदात्मकम् ।"
— वही ४।८५

धर्म, अर्थ एवं काम तीनों का उपभोग ही आवश्यक है[1] और उन्होंने पुरुषार्थत्रय के पालन एवं वर्जन की विधि का वर्णन करते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि व्यक्ति को युवावस्था में काम, मध्यावस्था में अर्थ तथा वृद्धावस्था में धर्म-प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए।[2] इस प्रकार उन्होंने युवावस्था में काम एवं अर्थ के प्रति मानव के आकर्षण को ध्यान में रखते हुए उनके उपभोग का तथा[3] वृद्धावस्था में धर्म-प्राप्ति का विधान करते हुए[4] यह विचार व्यक्त किया है कि व्यक्ति युवावस्था में कामोपभोग की तुष्टि के पश्चात् वृद्धावस्था में ही धर्मार्जन में समर्थ हो सकता है।[5]

१- 'यो ह्यर्थधर्मौ परिपीड्य कामः स्याद्धर्मकामौ परिभूय चार्थः ।
कामार्थयोश्चोपरमेण धर्मस्त्याज्यः स कृत्स्नो यदि कांक्षितोऽर्थः ।।
-- वही १०।२९

२- 'अतश्च यूनः कथयन्ति कामान्मध्यस्य वित्तं स्थविराय धर्मम् ।'
-- वही १०।३४

३- धर्मस्य चार्थस्य च जीवलोके प्रत्यर्थिभूतानि हि यौवनानि ।
संरक्ष्यमाणान्यपि दुर्ग्रहाणि कामा यतस्तेन पथा हरन्ति ।।'
-- वही १०।३५

४- 'वयांसि जीर्णानि विमर्शवन्ति धीराण्यवस्थानपरायणानि ।
अल्पेन यत्नेन शमात्मकानि भवन्त्यगत्यैव च लज्जया च ।।'
-- वही १०।३६

५- 'शक्नोति जीर्णः खलु धर्ममाप्तुं कामोपभोगेष्वगतिर्जरायाः ।'
-- वही १०।३४

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि अश्वघोष ने बौद्ध धर्म मतावलम्बी होने के कारण जहाँ काम (या प्रकारान्तर से गार्हस्थ्य जीवन) की निन्दा की है वहीं प्रारम्भ में ब्राह्मण होने के नाते वैदिक धर्म से प्रभावित होने के कारण युवावस्था में काम तथा धर्म एवं अर्थ के सम्पादन द्वारा मोक्ष-प्राप्ति का निरूपण करते हुए गृहस्थाश्रम को भी मान्यता दी है ।

४- जैनधर्म प्रधान महाकाव्य "धर्मशर्माभ्युदय " में गार्हस्थ्य चित्रण

(क) धर्मशर्माभ्युदय का प्रतिपाद्य विषय

संस्कृत के धर्मप्रधान महाकाव्यों की परम्परा में धर्मशर्माभ्युदय एक ऐसा महाकाव्य है जिसमें जैन धर्म के प्रतिपादन के साथ ही काव्यशास्त्र में प्रतिपादित महाकाव्य-लक्षण को ध्यान में रखते हुए, नायक के पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति के साथ ही पर्वत वर्णन,[1] षड् ऋतु वर्णन,[2] वन-क्रीड़ा एवं पुष्पावचय तथा जल-क्रीड़ा वर्णन[3] सायं एवं प्रातःकाल वर्णन,[4] अन्धकार एवं चन्द्रोदय-वर्णन,[5] स्त्री-प्रसाधन वर्णन,[6] पानगोष्ठी वर्णन,[7] एवं रतिक्रीड़ा[8] आदि विभिन्न विषयों का वर्णन किया गया है तथा अन्त में युद्ध का वर्णन भी किया गया है ।[9] इन विविध काव्यशास्त्रीय वर्णनों को देखने से यहां एक

१- देखें : धर्मशर्मा० १०।१-५७

२- ,, : वही ११।१-७२

३- ,, : वही १२।१-६३ एवं १३।१-७९

४- ,, : वही १४।१-३९ एवं १६।१-४२

५- ,, : वही १४।२१-५२

६- ,, : वही १४।५३-६०

७- ,, : वही १५।१-२७

८- ,, : वही १५।२८-७०

स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि जब प्रस्तुत महाकाव्य में काव्यशास्त्र के अनुरोध से अनेक आलंकारिक वर्णन किए गए हैं तो उसे धर्मप्रधान महाकाव्य कैसे माना जा सकता है ? इस प्रश्न का तर्कसंगत उत्तर यह है कि यद्यपि इसमें महाकाव्य के लक्षणों को ध्यान में रखते हुए अनेक लौकिक काव्यशास्त्रीय वर्णन किए गए हैं, परन्तु चूंकि प्रस्तुत महाकाव्य का पर्यवसान जैन धर्म के सिद्धान्तों के विश्लेषण एवं प्रतिपादन से हुआ है[1] अतः इसे हम जैन धर्मप्रधान महाकाव्य की संज्ञा दे सकते हैं ।

प्रस्तुत महाकाव्य में पर्वत, षड्ऋतु आदि काव्यशास्त्रीय विषयों के वर्णन के साथ ही रत्नपुर-नरेश महासेन एवं सुव्रता तथा काव्य के नायक धर्मनाथ एवं शृंगारवती के गृहस्थ-जीवन के माध्यम से महाकवि हरिचन्द्र ने गार्हस्थ्य-जीवन का भी सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया है ।

(ख) महासेन एवं सुव्रता का गार्हस्थ्य-जीवन

उन्होंने काव्य की पृष्ठभूमि में रत्नपुर पुरी के विस्तृत वर्णन के पश्चात् वहां के शासक महाराज महासेन के गार्हस्थ्य जीवन का संक्षिप्त एवं रोचक चित्रण प्रस्तुत किया है ।

काव्य के कथानक के अनुसार महाराज रत्नसेन के यद्यपि अनेक रानियां थीं परन्तु उन्होंने गार्हस्थ्य का अधिकांश समय सुव्रता के साहचर्य में व्यतीत किया था[2] अनिन्द्य सुन्दरी इस सुव्रता के साथ ऋतुकाल में अभिगमन करते हुए भी महाराज महासेन को पुत्रोपलब्धि नहीं हो रही थी और पुत्र के

१- जैन धर्म के सिद्धान्तों के विस्तृत प्रतिपादन के लिए देखें :धर्मशर्मा०२१।१-१६६।

२- अथास्य पत्नी निखिलावनीपतेर्बभूव नाम्ना चरितैश्च सुव्रता ।
स्थितेऽवरोधे प्रचुरेऽपि या प्रभोरभूत्सुधांशोरिव रोहिणी प्रिया ।।
--धर्मशर्मा० २।३५

अभाव में वह दु:खी रहते थे, क्योंकि पारिवारिक जीवन में पुत्र का अप्रतिम स्थान होता है[1]। पुत्र के स्पर्श मात्र से मिलने वाला सुख माता-पिता के लिए अमृत से भी महत्वपूर्ण होता है[2]। परिवार की निरवच्छिन्नता के लिए पुत्र आवश्यक होने के कारण रानी सुव्रता भी दु:खी थी[3]। पुत्र के अभाव में महासेन, रानी सुव्रता और भूमि रूपी प्रचुर अर्थ को भी व्यर्थ समझते थे[4]। वह यद्यपि मोक्ष-प्राप्ति का प्रयास करना चाहते थे परन्तु पुत्र के अभाव में वह भी नहीं कर सकते थे क्योंकि व्यक्ति मोक्ष तभी प्राप्त कर सकता है जबकि वह पुत्रोत्पादन द्वारा वंश-तन्तु के रक्षा की व्यवस्था कर दे[5]। अन्तत: रानी सुव्रता गर्भ धारण करती है महासेन गर्भस्थ शिशु के कल्याण के लिए कुलपरम्परागत पुंसवनादि

१- "कथं तथाप्यत्र यथार्थनामिन: सुताह्वयं नोपलभामहे वयम् ।
अनन्यसन्तानविकारविन्नवान्निरन्तरं तेन मनो दुनोति न:।।"
--धर्मशर्मा० २।६६

२- "सहस्रधा सत्यपि गोत्रजे जने सुतं विना कस्य मन: प्रसीदति ।
अपीद्धताराग्रहवर्तिनं भवेदृते विधोर्ध्वान्तमिवैव दिङ्मुखम् ।।"
--वही २।७०

३- "न चन्दनेन्दीवरहारयष्टयो न चन्द्ररोचींषि न चामृतच्छटा: ।
सुताङ्गसंस्पर्शसुखस्य निस्तुलां कलामयन्ते खलु षोडशीमपि ।।"
--वही २।७१

४- देखें : वही २।७२ एवं ७३ ।

५- देखें : ,, ३।५६-५७

६- "चतुर्थपुरुषार्थाय स्पृहयालोर्ममाधुना : अदर्शनायते मोक्षान्तन्दनस्याप्यदर्शनम् ।।
अनाममन्यां गत्स्यापि पुंसस्तावन्न शस्यते : प्रदीपस्येव निर्वाणं यावन्नान्यं प्रकाशयेत् ।।
--वही ३।५८-५९

विभिन्न संस्कार सम्पादित करते हैं[१]। इस प्रकार कालान्तर में सुव्रता एक पुत्ररत्न को जन्म देती है। आदर्श पिता की तरह महासेन, पुत्र की शिक्षा आदि के पश्चात् युवा होने पर उसका विवाह सम्पादित करके[२] तथा उसे राज्य समर्पित करके[३] मोक्ष-प्राप्ति की दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं[४]।

(ग) धर्मनाथ एवं श्रृंगारवती का गार्हस्थ्य-जीवन

महाकवि हरिचन्द्र ने काव्य के नायक धर्मनाथ एवं श्रृंगारवती का गार्हस्थ्य जीवन का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन किया है और इस संक्षिप्त वर्णन के क्रम में उन्होंने उनके विवाह,[५] प्रजापालन[६] एवं अन्त में कैवल्य ज्ञान की प्राप्ति के लिए पुत्र को राज्य समर्पित करके, दीक्षा धारण का वर्णन किया है[७]।

(घ) महाकवि हरिचन्द्र की गृहस्थाश्रम सम्बन्धी मान्यताएं

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि महाकवि हरिचन्द्र ने अपने काव्य में जैन धर्म का प्रतिपादन करते हुए भी गृहस्थाश्रम को मान्यता दी है और इसी कारण से महासेन-सुव्रता एवं धर्मनाथ-श्रृंगारवती के गार्हस्थ्य जीवन का संक्षिप्त चित्रण प्रस्तुत किया है। उनकी दृष्टि में यद्यपि जीवन का लक्ष्य मोक्ष ही होना चाहिए परन्तु इसके लिए धर्म,

---

१- देखें : धर्मशर्मा० ६।१०
२- ,, : वही १७।१०५
३- ,, : ,, १८।४४
४- ,, : ,, १८।५४
५- ,, : ,, १७।१०५
६- ,, : ,, १८।५५-५७
७- ,, : ,, २०।२७-३४

अर्थ एवं काम की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए क्योंकि धर्म, अर्थ एवं काम की सम्यक् प्राप्ति के पश्चात् ही व्यक्ति मोक्ष-प्राप्त कर सकता है[1]। इन तीनों पुरुषार्थों में भी व्यक्ति की समान आसक्ति होनी चाहिए न तो अर्थ और काम को अधिक महत्व देते हुए धर्म की ही आराधना करनी चाहिए[2] और न ही धर्म की दुहाई देकर अर्थ और काम की ही उपेक्षा करनी चाहिए[3]।

मानव-जीवन में पुरुषार्थ-चतुष्टय की इसी महत्ता को ध्यान में रखते हुए महाकवि ने महासेन एवं धर्मनाथ के गार्हस्थ्य-जीवन में उनके प्रजापालन-रूपी धर्म, भूमिप्राप्तिरूपी अर्थ एवं पुत्र-प्राप्ति रूपी काम की सफलता पूर्वक प्राप्ति का चित्रण करते हुए अन्त में पुत्र को राज्यभार समर्पित करके उन्हें वानप्रस्थ का बाना धारण कराते हुए मोक्ष-प्राप्ति के लिए अग्रसर दिखाया है ।

५- अर्थप्रधानमहाकाव्यों में गार्हस्थ्य-चित्रण

(क) अर्थप्रधानमहाकाव्यों का मुख्य प्रतिपाद्य

संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में "अर्थ " को लक्ष्य में रखकर प्रणीत महाकाव्यों का यदि हम विश्लेषणात्मक अध्ययन करें तो यह ज्ञात होता

१- इहेहते यो भवसर्गसिद्धये तथापवर्गप्रतिपत्तिमायतौ ।
अपास्तबाधं स निषेवते क्रमात्त्रिवर्गमेव प्रथमं विचक्षण: ।।
--धर्मशर्मा० १८।३३

२- दृढार्थकामाभिनिवेशलालस: स्वधर्ममर्माणि भिनत्ति यो नृप: ।
फलाभिलाषेण समीहते तरुं समूलमुन्मूलयितुं स दुर्मति: ।।
-- वही १८।३२

३- "सुखं फलं राज्यफलस्य कथ्यते तदत्र कामेन च वार्धकायन: ।
विमुच्य तौ वैदिक धर्मसिद्धये तृणेन राज्यं वनमेव सेव्यताम् ।।"
-- वही १८।३१

है कि इनमें मुख्य रूप से इनके नायकों की युद्धविजय का चित्रण करते हुए उनके भूमिरूप 'अर्थ' संग्रह का ही चित्रण किया गया है । उपर्युक्त कथन की प्रामाणिकता के लिए यदि हम रघुवंश का ही आश्रय लें तो यह ज्ञात होता है कि महाकवि कालिदास ने रघुवंशीय नरेशों के जीवन चरित के वर्णन-क्रम में महाराज रघु, दशरथ एवं भरत आदि अन्यान्य रघुवंशीय नरेशों की युद्धविजय का चित्रण करते हुए उनके साम्राज्य-विस्तार का ही वर्णन किया है[1]। महाकवि भारवि ने तो अपने काव्य का मुख्य कथानक ही 'अर्थ' की चिन्ता से प्रारम्भ किया है । द्वैतवन में पंचपाण्डव इसी ऊहापोह में लगे रहते हैं कि किस प्रकार से दुर्योधन से वे अपना खोया हुआ राज्य वापस पा सकते हैं । अर्थप्रधान काव्यों की इस पूर्व परम्परा का ही अनुवर्तन करते हुए महाकवि कुमारदास आदि ने भी अपने काव्य का समापन राम के राज्यारोहण से ही किया है[2] और इसी प्रकार महाकवि बिल्हण आदि ने भी अपने काव्य-नायकों की युद्ध-विजय का ही चित्रण किया है[3]।

यहां यह तथ्य अवधेय है कि इन महाकाव्यों में युद्ध विजय के प्रसंग में धर्मयुद्ध का ही आश्रय लिया गया है फलतः इन काव्यों के नायकों ने साम्राज्य-विस्तार रूप अर्थार्जन भी धर्मतः किया है, तात्पर्य यह कि उन्होंने अपने साम्राज्य-विस्तार में धर्म युद्ध का आश्रय लेते हुए पराजित नरेश की भूमि का ही अधिग्रहण किया है या उसे अपना 'करद' बनाया है[4]। महाकवि कालिदास के रघुवंशीय नायक तो केवल धर्मयुद्ध को ही मान्यता देते हुए यश के लिए ही युद्ध का आश्रय लेते थे ।

१- देखें : रघु० ४।२०-८५ ; १५।८७-८८ ।

२- देखें : जानकी० २०।५३-६० ।

३- देखें : विक्रमांक ३।६७-७७, चतुर्थ सर्ग आदि ।

४- देखें : रघु० ४।४३, विक्रमांक तृतीय एवं चतुर्थ सर्ग आदि ।

५- देखें : रघु० ४।१० एवं १।७ ।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि अर्थप्रधान महाकाव्यों में अन्ततः प्राप्त अर्थ या धर्मयुक्त अर्थ का ही चित्रण किया गया है। इसका एक महत्वपूर्ण प्रमाण हमें किरात में भी देखने को मिलता है। महाकवि भारवि ने अपने काव्य के प्रारम्भ में दुर्योधन के साम्राज्य का चित्रण करते हुए भी उसे काव्य का नायक नहीं बनाया क्योंकि उसने छल-प्रपंच से साम्राज्य प्राप्त किया था।[1] इस घटना से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि अर्थप्रधानकाव्यों में धर्म-युक्त अर्थ का ही चित्रण किया गया है। मानव जीवन में अर्थ का मुख्य व्यवहार-क्षेत्र गार्हस्थ्य जीवन ही होता है इसीलिए अर्थप्रधान महाकाव्यों में हमें गार्हस्थ्य जीवन का चित्रण भी देखने को मिलता है। इसके अतिरिक्त भी अर्थप्रधान-काव्यरचयिता चूंकि समाज में गृहस्थाश्रम की उपयोगिता एवं उसकी महत्ता से परिचित थे[2] इसलिए उन्होंने अपने काव्य-नायकों के गार्हस्थ्य जीवन का चित्रण भी किया।

अर्थ प्रधान महाकाव्यों की परम्परा में सर्वप्रथम महाकवि कालिदास विरचित रघुवंश का क्रम आता है और इस दृष्टि से हम उसे अर्थ प्रधान महाकाव्यों की परम्परा में 'आदि काव्य' की संज्ञा दे सकते हैं। आदि काव्य होने के नाते, अर्थप्रधानमहाकाव्यों में गार्हस्थ्य-चित्रण के विवेचन के सन्दर्भ में यहां सर्वप्रथम रघुवंश में उपलब्ध गार्हस्थ्य जीवन का विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा।

(ख) रघुवंशीय नरेशों का गार्हस्थ्य जीवन

वैसे तो महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' में दिलीप से लेकर

१- देखें : किरात० १।७

२- कालिदास ने गृहस्थाश्रम को अन्य तीनों आश्रमों का पालक-पोषक माना है — देखें रघु० ५।१०

अग्निवर्ण तक, कुल तीस रघुवंशीय नरेशों के जीवन-चरित का वर्णन किया है परन्तु इन रघुवंशीय नायकों में से दिलीप-सुदक्षिणा, अज-इन्दुमती, दशरथ-कौशल्या, राम एवं सीता, कुश कुमुद्वती आदि कुछ ही नायक एवं नायिकाओं के गार्हस्थ्य जीवन पर प्रकाश डाला है। यहाँ उपर्युक्त गृहस्थों के गार्हस्थ्य-जीवन का अलग-अलग विवेचन न करके, सम्मिलित रूप से उनके गार्हस्थ्य का विवेचन करते हुए यह दिखाया जाएगा कि रघुवंश में पति-पत्नी के कैसे सम्बन्ध थे, गृहस्थ के लिए पुत्र का तथा गृहस्थाश्रम में पुरुषार्थ-त्रय का क्या महत्व था ?

(i) पति-पत्नी सम्बन्ध

रघुवंशीय नरेशों की दृष्टि में पति-पत्नी का सम्बन्ध जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध होता है। यही कारण है कि अनेक राजाओं के मध्य में से इन्दुमती ने पतिरूप में अज का ही वरण किया था[१]। पति के गार्हस्थ्य-काल में पत्नी उसकी सहचरी होती थी और वह गृहिणी, मन्त्री, एकान्त में मित्र तथा ललित कलाओं में पति की प्रिय शिष्या की भूमिका निभाने वाली

१- 'रतिस्मरौ नूनमिमावभूतां राज्ञां सहस्रेषु तथा हि बाला।
गतेयमात्मप्रतिरूपमेव मनो हि जन्मान्तरसङ्गतिज्ञम् ॥'

-- रघु० ७।१५

प्रत्येक पत्नी की यही अभिलाषा होती है कि वह अगले जन्म में भी अपने पति को प्राप्त करे। तभी तो सीता ने लोकमर्यादा एवं कर्तव्य के कारण राम द्वारा परित्यक्त किए जाने पर भी यही इच्छा व्यक्त की थी कि अगले जन्म में भी उन्हें राम ही पतिरूप में मिलें --

'साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः ॥'

--रघु० १४।६६

मानी जाती थी[४]। महाराज अज ने पत्नी इन्दुमती में इन्हीं गुणों का उल्लेख किया था[१]। स्पष्ट है कि रघुवंशीय नरेशों की पत्नियां गृहकार्यों के सम्पादन के साथ ही पति के अन्य कार्यों में मन्त्री की भूमिका भी निभाती थीं। पति के पत्नी के प्रति भी कुछ कर्तव्य होते हैं और उनमें से मुख्य हैं ऋतुकालाभिगमन एवं प्रत्येक परिस्थिति में पत्नी का भरण-पोषण[२]। रघुवंशीय नरेशों ने इन दोनों कर्तव्यों का पूर्णरूपेण निर्वाह किया था। महाराज दिलीप ऋतु-स्नाता सुदक्षिणा के पास पहुंचने की त्वरा में ही इन्द्रलोक से लौटते समय मार्ग में स्थित कामधेनु की प्रदक्षिणा भी नहीं कर पाए थे[३] जबकि मार्ग में गाय आदि की प्रदक्षिणा आवश्यक मानी जाती है[४]। यद्यपि उनको इस अपराध का दण्ड भी

१- गृहिणी सचिव: सखी मिथ: प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ।।

--रघु० ८।६७

२- राम द्वारा परित्यक्त सीता ने राम से अपनी रक्षा अर्थात् पालन-पोषण का निवेदन किया था --
'नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्स एव धर्मो मनुना प्रणीत: ।
निर्वासिताऽप्येवमतस्त्वयाऽहं तपस्विसामान्यमवेक्षणीया ।।'

-- रघु० १४।६७

३- 'धर्मलोपभयाद्राज्ञीमृतुस्नातामिमां स्मरन् ।
प्रदक्षिणक्रियाऽर्हायां तस्यां त्वं साधु नाचर: ।।'

-- वही १।७६

४- 'मृदं गां दैवतं विप्रं घृतं मधु चतुष्पथम् ।
प्रदक्षिणानि कुर्वीत विज्ञातांश्च वनस्पतीन् ।।

-- देखें : रघु० १।७६ पर मल्लिनाथ

उन्हें मिला और कामधेनु ने उन्हें पुत्रहीनता का शाप भी दिया[1] परन्तु फिर भी ऐसा लगता है कि कालिदास की दृष्टि में ऋतुकालाभिगमन ही आवश्यक था तभी तो उन्होंने ऋतुस्नाता पत्नी के पास पहुँचने की त्वरा में महाराज दिलीप द्वारा कामधेनु की यथोचित प्रदक्षिणा न करने का वर्णन किया[2]। गर्भिणी पत्नी के प्रति भी पति के कुछ कर्तव्य होते हैं और उनमें से मुख्य है पत्नी के दोहद को पूर्ण करना क्योंकि धर्मशास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार दोहद की पूर्णता के अभाव में गर्भस्थ शिशु के विकृत होने या गर्भपात हो जाने की सम्भावना रहती है[3]। दोहद की इसी महत्ता के कारण दिलीप ने सुदक्षिणा के दोहद को सखियों से पूछकर पूर्ण किया था[4] तथा राम ने भी सीता के दोहद वनवास-भ्रमण को पूरा किया था[5]।

१- "अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति ।
मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा ॥"
--रघु० १।७७

२- देखें : वही १।७९

३- "देयमप्युचितं तस्यै स्त्रियोपचितमल्पकम् ।
श्रद्धाविघाते गर्भस्य विकृतिश्च्युतिरेव वा ॥"
-- वही ३।५ पर मल्लिनाथ

४- "न मे ह्रिया शंसति किंचिदीप्सितं स्पृहावती वस्तुषु केषु मागधी ।
इति स्म पृच्छत्यनुवेलमादृत: प्रियासखीरुत्तरकोसलेश्वर: ॥
उपेत्य सा दोहददु:खशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम् ।
न हीष्टमस्य त्रिदिवेऽपि भूपतेरभूदनासाद्यमधिज्यधन्वन: ॥
-- वही ३।५-६

५- देखें : वही १४।४५

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि रघुवंशीय नरेशों में पति-पत्नी में एक आदर्श सम्बन्ध था । गार्हस्थ्य जीवन में पत्नी पति की सहचरी के रूप में जहां गृहिणी आदि दायित्वों को निभाती थी वहीं पति भी पत्नी के प्रति अपेक्षित कर्त्तव्यों को पूर्ण करता था ।

(ii) गृहस्थ के लिए पुत्र की आवश्यकता

कालिदास की दृष्टि में गृहस्थाश्रम की सफलता पुत्रोत्पादन में निहित है । उनके अनुसार तप एवं दान आदि भी पुत्र के अभाव में व्यर्थ है क्योंकि तप और दान तो केवल पारलौकिक सुख देता है जबकि पुत्र लोक-परलोक दोनों जगह ही सुख देता है[1] । वस्तुत: कालिदास गार्हस्थ्य या यों कहें कि विवाह का मुख्य उद्देश्य ही पुत्रोत्पादन मानते हैं और रघुवंशियों के चरित वर्णन के क्रम में पहले ही यह उद्घोषित कर देते हैं कि रघुवंशीय नरेशों के गार्हस्थ्य का मुख्य उद्देश्य ही था पुत्रोत्पादन[2] । पुत्र की इस महत्ता एवं उसके अभाव में पिता की चिन्ता हमें दिलीप एवं दशरथ के कथानक में देखने को मिलती है । पुत्र के अभाव में पिण्ड एवं जलदान आदि के लिए पूर्वजों का दु:ख देखकर[3] तथा अपने को पैतृक-ऋण से अनृण होता न देखकर[4] जहां एक ओर दिलीप

१- लोकान्तरसुखं पुण्यं तपोदानसमुद्भवम् ।
सन्तति: शुद्धवंश्या हि परत्रेह च शर्मणे ।।
--रघु० १।६९

२- 'प्रजायै गृहमेधिनाम् ।' -- वही १।७

३- नूनं मत्त: परं वंश्या: पिण्डविच्छेददर्शिन: ।
न प्रकामभुज: श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्परा: ।।
मत्परं दुर्लभं मत्वा नूनमावर्जितं मया ।
पय: पूर्वै: स्वनि:श्वासै: कवोष्णमुपभुज्यते ।।
-- वही १।६६-६७

४- असह्यपीडं भगवन्नृणमन्त्यमवेहि मे ।
अरुन्तुदमिवालानमनिर्वाणस्य दन्तिन: ।।
-- वही १।७२

दु:खी है[1] वहीं पूर्वजों से मुक्त करने का साधन एवं शोकरूपी अन्धकार के नाशक पुत्र के अभाव में दशरथ भी[2]। इनमें से दिलीप जहां कामधेनु के शाप के कारण पुत्रहीन हैं[3] वहीं दशरथ पुत्रेष्टि-यज्ञ न करने के कारण[4]। अन्तत: दिलीप नन्दिनी की एकनिष्ठ एवं विधिवत्[6] सेवा से[5] तथा दशरथ पुत्रेष्टि यज्ञ के सम्पादन से पुत्र-प्राप्ति में समर्थ होते हैं।

यहां यह तथ्य ज्ञातव्य है कि गर्भस्थ शिशु पुत्र ही हो इसके लिए प्राचीन नियामकों ने पुंसवन संस्कार की व्यवस्था की थी और इसीलिए दिलीप आदि रघुवंशीय नरेशों ने भी पुंसवनादि संस्कारों का सम्पादन करते हुए पुत्र के विवाह संस्कार तक को स्वयं ही पूर्ण करवाया[7]। यहां एक तथ्य यह भी ज्ञातव्य है कि कालिदास ने पुत्र एवं पुत्री के विवाह का उत्तरदायित्व पूर्ण रूप

१- सोऽहमिज्याविशुद्धात्मा प्रजालोपनिमीलित: ।
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च लोकालोक इवाचल: ।।
-- रघु० १।६८

२- न चोपलेभे पूर्वेषामृणनिर्मोक्षसाधनम् ।
सुताभिधानं स ज्योति: सद्य: शोकतमोपहम् ।।
-- वही १०।२

३- देखें : रघु० १।७७

४- अतिष्ठत्प्रत्ययापेक्षसन्तति: स चिरं नृप: ।
प्राङ्मन्थादनभिव्यक्तरत्नोत्पत्तिरिवार्णव: ।।
-- वही १०।३

५- देखें : वही द्वितीय सर्ग

६- ,, वही १०।५०-७९

७ ,,: वही २।१०,१८,२८,३३

से उनके पिता का ही माना है। रघु, अज, राम एवं अतिथि आदि रघुवंशीय नायकों के विवाह उनके पिता की देख-रेख में ही सम्पन्न हुए थे। दिलीप ने रघु का विवाह स्वयं अपनी ही देख-रेख में सम्पन्न कराया था[1]। अज इन्दुमती के स्वयंवर में पिता का आदेश प्राप्त करके ही गए थे[2]। राम द्वारा धनुर्भंग कर दिए जाने पर भी जनक ने सम्भवतः दशरथ की अनुमति प्राप्त करने के लिए उन्हें अपने यहाँ बुलवाया था[3] और कुश ने अतिथि का विवाह संस्कार भी स्वयं अपने ही संरक्षण में पूर्ण किया था[4]।

उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैवाहिक प्रसंगों में रघुवंशीय कुमार स्वतन्त्र नहीं थे उनके विवाह का भार पिता के ही ऊपर था। पुत्रों के अतिरिक्त कालिदास पुत्रियों को भी वैवाहिक स्वतंत्रता देने के पक्ष में नहीं हैं। एक आलंकारिक वर्णन में वह कहते हैं कि 'गुरुओं

१- 'अथास्य गोदानविधेरनन्तरं विवाहदीक्षां निरवर्तयद् गुरुः।
नरेन्द्रकन्यास्तमवाप्य सत्पतिं तमोनुदं दक्षसुता इवाबभुः॥'
—रघु० ३।३३

२- तं श्लाघ्यसम्बन्धमसौ विचिन्त्य दारक्रियायोग्यदशं च पुत्रम्।
प्रस्थापयामास ससैन्यमेनमृद्धां विदर्भाधिपराजधानीम्॥
— वही ५।४०

३- 'प्राहिणोच्च महितं महाद्युतिः कोसलाधिपतये पुरोधसम्।
भृत्यभावि दुहितुः परिग्रहाद्दिश्यतां कुलमिदं निमेरिति॥'
— वही ११।४९

४- तमादौ कुलविद्यानामर्थमर्थविदां वरः।
पश्चात्पार्थिवकन्यानां पाणिमग्राहयत्पिता॥
— वही १७।३

से विधिवद् सम्पूर्ण चौदह विद्याओं को प्राप्त किए हुए, युवावस्था से अत्यन्त सुन्दर उन राजकुमार अज के प्रति अनुरागिणी होती हुई भी राजलक्ष्मी धीरा कन्या जैसे पिता की आज्ञा (मनोवांछित पति वरण करने के लिए) चाहती है, वैसे ही श्रेष्ठ रघु महाराज की अनुमति चाहने लगी[1]।

इस वर्णन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि कालिदास की दृष्टि में मनोवांछित पति-वरण में भी कन्या को पिता की अनुमति प्राप्त करना चाहिए क्योंकि वह अपने विवाह के विषय में स्वतन्त्र नहीं है ।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि रघुवंशीय नरेशों में पिता-पुत्र एवं पुत्रियों में सौहार्दमय सम्बन्ध था । पिता ही पुत्र की शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध करता था और पुत्र-पुत्री उसकी आज्ञा के अधीन रहते थे ।

(iii) रघुवंशियों में सपत्नी-सम्बन्ध

चूंकि रघुवंशीय नरेशों में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी, दिलीप, दशरथ, अतिथि एवं अग्निवर्ण आदि रघुवंशीय नरेशों के अनेक पत्नियां थीं[2] इसलिए यहां यह भी देख लेना आवश्यक है कि रघुवंश में सपत्नियों का पारस्परिक सम्बन्ध किस रूप में चित्रित हुआ है । महाकवि कालिदास ने सपत्नियों के सम्बन्ध का विवेचन दशरथ एवं अग्निवर्ण के कथानक में किया है । कथानक के अनुसार दशरथ ने कौशल्या सुमित्रा तथा कैकेयी इन तीन रानियों से

१- 'उपात्तविद्यं विधिवद् गुरुभ्यस्तं यौवनोद्भेदविशेषकान्तम् ।
श्रीः साभिलाषाऽपि गुरोरनुज्ञां धीरेव कन्या पितुराचकांक्ष ।।'
--रघु० ५।३८

२- देखें : रघु० १।३२; ८।९७ ; १७।४ एवं १९।२०-२२ आदि ।

विवाह किया था[1] और अपने गार्हस्थ्य-काल में इन तीनों को ही समान महत्व दिया था[2]। फिर भी कौसल्या जहां महिषी होने के कारण उन्हें प्रिय थी वहीं कैकेयी सम्भवत: सौन्दर्यादि गुणों के कारण उन्हें प्रिय थी[3] इसीलिए अग्नि पुरुष द्वारा दिए गए चरु को उन्होंने पहले इन्हीं दोनों को दिया था[4] और कौसल्या तथा कैकेयी ने सुमित्रा के प्रति प्रेम के कारण एवं दशरथ का रुख देखकर ही उसे अपने भाग में से आधा-आधा चरु दिया था[5]। सुमित्रा भी इन दोनों से स्नेह करती थी[6]।

इस वर्णन के आधार पर कहा जा सकता है कि दशरथ की तीनों पत्नियों में प्रेम-युक्त सम्बन्ध था परन्तु उस प्रेम-युक्त सम्बन्ध के होते हुए

१- देखें : रघु० ६।१७

२- ,, : रघु० ६।१८

३- परन्तु कैकेयी के प्रति अत्यधिक प्रेमयुक्त होते हुए भी दशरथ उससे सशंकित रहते थे। उसके विद्रोह की आशंका के कारण ही उन्होंने राम के राज्याभिषेक का आयोजन किया था --

तं कर्णमूलमागत्य रामे श्रीर्न्यस्यतामिति ।
कैकेयीशङ्कयेवाह पलितच्छद्मना जरा ॥
--वही १२।२

और अन्त में कैकेयी ने विद्रोह किया भी।

४- देखें : रघु० १०।५५

५- ते बहुज्ञस्य चित्तज्ञे पत्न्यौ पत्युर्महीक्षितः ।
चरोरर्धार्धभागाभ्यां तामयोजयतामुभे ॥
--रघु० १०।५६

६- सा हि प्रणयवत्यासीत्सपत्न्योरुभयोरपि ।
भ्रमरी वारणस्येव मदनिःस्यन्दरेखयोः ॥
-- वही १०।५७

भी कैकेयी ने दशरथ के उत्तराधिकारी के रूप में राम को अभिषिक्त होता देख अपने पुत्र भरत को उत्तराधिकारी बनाने का प्रयास किया था और दशरथ से राम के चौदह वर्षों का वनवास एवं भरत को युवराज-पद देने का वचन ले लिया था[1]। कैकेयी के इस कृत्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि दशरथ की पत्नियों में भले ही प्रेमयुक्त सम्बन्ध रहा हो परन्तु किसी व्यक्तिगत लाभ के अवसर पर उनमें सपत्नी-जन्य ईर्ष्या भी विद्यमान रहती थी।

अग्निवर्ण की पत्नियों में भी सपत्नीजन्य ईर्ष्या पूर्ण रूप से विद्यमान थी। चूंकि महाकवि कालिदास ने अग्निवर्ण के जीवन-चरित में काम की प्रधानता का चित्रण किया है इसलिए उसकी सपत्नियों का सम्बन्ध विवेचन भी उन्होंने कामोपभोग के सन्दर्भ में किया है। काव्य के कथानक के अनुसार अग्निवर्ण की पत्नियों में उससे (अग्निवर्ण से) काम सम्बन्ध की स्थापना के लिए होड़ लगी रहती थी। अन्य रानियों के पास अग्निवर्ण को देख परित्यक्त रानियां उत्सव के व्याज से ही उनका सान्निध्य प्राप्त करती थीं[2] और अग्निवर्ण द्वारा स्वप्न में भी सपत्नी का नाम ले लेने पर अपना विरोध प्रकट करती थीं[3]। अग्निवर्ण का समय भी इन्हीं प्रियाओं के मान-मनौवल में ही व्यतीत होता था[4]।

१- देखें : रघु० १२।६

२- प्रेमगर्वितविपक्षमत्सरादायताच्च मदनान्महीक्षितम् ।
निन्युरुत्सवविधिच्छलेन तं देव्य उज्झितरुषः कृतार्थताम् ।।
--वही १९।२०

३- 'स्वप्नकीर्तितविपक्षमङ्गनाः प्रत्यभैत्सुरवदन्त्य एव तम् ।
प्रच्छदान्तगलिताश्रुबिन्दुभिः क्रोधभिन्नवलयैर्विवर्तनैः ।।'
--रघु० १९।२२

४- प्रातरेत्य परिभोगशोभिना दर्शनेन कृतखण्डनव्यथाः ।
प्राञ्जलिः प्रणयिनीः प्रसादयन्सो दुनोत्प्रणयमन्थरः पुनः ।।
-- वही १९।२१

दशरथ एवं अग्निवर्ण के गार्हस्थ्य-जीवन में सपत्नियों के उपर्युक्त वर्णन के आधार पर हम कह सकते हैं कि बहुपत्नीक रघुवंशियों का जीवन सुचारु रूप से व्यतीत नहीं हुआ था । जहां सपत्नियों ने राजनीतिक मंच पर विरोध खड़ा किया था वहीं पति के दैनन्दिन जीवन को भी अशान्तिमय कर रखा था । सम्भवतः बहुपत्नीक पूर्वजों की इस दुर्दशा को देखकर राम ने एकपत्नीव्रत निभाया था और अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर सुवर्णनिर्मित सीता-प्रतिमा को ही अर्धांगिनी रूप में प्रतिष्ठित किया था[1] तथा इसी विधि से अन्य यज्ञों को भी पूर्ण किया था[2]।

(IV) रघुवंशियों के भ्रातृ एवं पितामातृ-पुत्र सम्बन्ध

रघुवंशीय नरेशों के गार्हस्थ्य जीवन के वर्णन क्रम में, राम के गार्हस्थ्य-वर्णन के प्रसंग में, महाकवि कालिदास ने भ्रातृ-सम्बन्ध का भी सुन्दर एवं आदर्शयुक्त विवेचन प्रस्तुत किया है । कथानक के अनुसार राम लक्ष्मण एवं भरतशत्रुघ्न में समान भ्रातृ भाव था फिर भी राम-लक्ष्मण में तथा भरत और शत्रुघ्न में अपार स्नेह था[3]। उनमें परस्पर में कोई विरोध नहीं था[4]। इन चारों में ज्येष्ठ होने के कारण राम अन्य तीनों के लिए विशेष आदर के पात्र थे । लक्ष्मण राम के प्रति इसी प्रेम के कारण वनवास के समय उनके सहायक एवं

१- रहाधुवस्त्यक्तोऽपि वैदेह्याः पत्युः प्राग्वंशवासिनः ।
अनन्यजानेः सैवासीद्यस्माज्जाया हिरण्मयी ॥
--रघु० १५।६१

२- देखें : रघु० १४।८७

३- देखें : रघु० १०।८१-८२

४- देखें : रघु० १०।८०

सेवक बने थे तथा भरत ने भी राम के प्रति प्रेम एवं आदर-भाव के कारण ही माता द्वारा प्राप्त राज्य को ठुकरा दिया था और अन्त में चौदह वर्षों तक धरोहर के रूप में उनके राज्य की रक्षा की थी[1]। ये तीनों राम के आदेश का पालन करने के लिए भी ज्येष्ठ भ्राता की श्रेष्ठता के कारण बाध्य थे। तभी तो जब भद्र के मुख से पुरवासियों में प्रचलित सीता के चारित्रिक लांछन को सुनकर राम ने उनके परित्याग का निश्चय किया था तो अन्य तीनों भाई कुछ कह भी नहीं सके थे[2] और राम का आदेश पाकर लक्ष्मण गर्भिणी सीता को वन में छोड़ने के लिए बाध्य हुए थे[3]। राम ने भी ज्येष्ठ होने के नाते अपने अनुजों के साथ मिलकर ही राज्य का उपभोग किया था[4] और तीनों अनुजों को समान स्नेह दिया था[5]। सपत्नियों के वर्णन क्रम में ही यहां यह भी देख लेना आवश्यक है कि पुत्रों का विमाताओं से कैसा सम्बन्ध था विमाताओं का पुत्रों से। इस सन्दर्भ में हमें राम के जीवन-चरित से कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। राम अपनी विमाताओं से समान स्नेह करते थे और विमाताएं भी बिना किसी भेदभाव के उन्हें अपना ही पुत्र मानते हुए स्नेह करती थीं[6]।

१- देखें : रघु० १२।१५-१८

२- देखें : ,, १४।३२-४३

३- देखें : ,, १४।४५-५५

४- देखें : ,, १४।८५

५- देखें : ,, १४।२१

६- समांसु मातृष्वपि वत्सलत्वात् निर्विशेषप्रतिपत्तिरासीत्
षडाननापीतपयोधरासु नेता चमूनामिव कृत्तिकासु ॥
-- वही १४।२२

(V) रघुवंशियों द्वारा पुरुषार्थत्रय का सम्पादन

गार्हस्थ्य की परिधि में आने वाले सम्बन्धों के उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् अब हमें यहां यह देखना है कि रघुवंशीय नरेशों ने अपने गार्हस्थ्य जीवन में पुरुषार्थ-त्रय का किस प्रकार से अर्जन किया था ? इस सन्दर्भ में यदि हम रघुवंश का आश्रय लें तो यह ज्ञात होता है कि दिलीप, रघु, अज, दशरथ, राम, कुश एवं अतिथि आदि रघुवंशीय नरेशों ने धर्म, अर्थ एवं काम का समान रूप से सेवन किया था और उनके अर्थ एवं काम भी धर्मयुक्त थे। महाराज दिलीप ने लोक-मर्यादा की स्थिति के लिए अपराधियों को दण्ड देते हुए, विवाह का मुख्य उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति मानते हुए अपने अर्थ और काम को भी धर्मयुक्त बनाया था[1] और अपने जीवन में धर्म को प्रथम स्थान देते हुए[2] तथा अर्थ और काम में अनासक्त होते हुये उन्होंने इन तीनों का सफलतापूर्वक उपभोग किया था[3]। महाराज राम एवं अतिथि आदि ने भी इन तीनों पुरुषार्थों का समान रूप से सेवन किया था[4]

१- स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान्परिणेतुः प्रसूतये ।
अप्यर्थकामौ तस्यास्तां धर्म एव मनीषिणः ।।

--रघु० १।२५

२- अनाकृष्टस्य विषयैर्विद्यानां पारदृश्वनः ।
तस्य धर्मरतेरासीद्वृद्धत्वं जरसा विना ।।

-- वही १।२३

३- जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः ।
अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत् ।।

-- वही १।२१

४(अ) पितुर्नियोगाद्वनवासमेवं निस्तीर्य रामः प्रतिपन्नराज्यः ।
धर्मार्थकामेषु समां प्रपेदे यथा तथैवावरजेषु वृत्तिम् ।।

-- वही १४।२१

(ब) न धर्ममर्थकामाभ्यां बबाधे न च तेन तौ ।
नार्थं कामेन कामं वा सोऽर्थेन सदृशस्त्रिषु ।। -- वही १७।५७

कालिदास ने रघुवंशीय नरेशों के वर्णन-क्रम में "धर्म" के अन्तर्गत प्रजापालन, यज्ञ, अध्ययन एवं दान इन चार तत्वों का वर्णन किया है। राजा का मुख्य धर्म होता है प्रजापालन । रघुवंशीय नरेशों ने भी अपने इस धर्म का पूर्णरूपेण पालन किया था । महाराज दिलीप तो प्रजा-पालन के कारण ही प्रजाओं में पिता के रूप में प्रतिष्ठित थे[1] और वह प्रजाओं से उपार्जित कर भी उनकी भलाई में ही लगाते थे[2]। अज आदि अनेक रघुवंशीय नायकों ने प्रजा-पालन रूप कर्तव्य निर्वाह के लिए ही राजपद ग्रहण किया था न कि भोग-विलास के लिए[3]। प्रजापालन के आगे रघुवंशीय नरेशों ने अपने पारिवारिक जीवन की भी उपेक्षा की थी । राम ने एक प्रजा द्वारा सीता की शुद्धता में शंकामात्र व्यक्त कर देने से गर्भिणी सीता का परित्याग कर दिया था । इस कथानक से यही सिद्ध होता है कि उनकी दृष्टि में जन-मानस के विचारों की ही प्रधानता थी ।

धर्म के द्वितीय स्कन्ध 'यज्ञ' का भी रघुवंशीय नरेशों ने पूर्णतः पालन किया था । दिलीप राम एवं अतिथि आदि रघुवंशीय नायकों ने अनेक बार अश्वमेध यज्ञ का सम्पादन किया था[4]। महाराज रघु ने सर्वस्व दान करने

१- प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि ।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ।।
-- रघु० १।२४

२- प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ।।
-- वही १।१८

३- देखें : रघु० ८।२

४- देखें : रघु० ३।३८ एवं ६९ ; १५।५८ ; १७।८०

वाले विश्वजित याग को पूर्ण किया था[1] और दशरथ ने भी अनेक यज्ञों को किया था[2]।

धर्म के तृतीय स्कन्ध 'अध्ययन' का भी रघुवंशीय नरेशों ने पूर्ण पालन किया था। रघु, अज एवं अतिथि आदि सभी रघुवंशीय नरेश आन्वीक्षिकी, वेदत्रयी वार्ता-दण्डनीति एवं अस्त्र-शस्त्र की शिक्षा से युक्त थे[3]।

रघुवंशियों में दान की प्रवृत्ति भी विद्यमान थी। दान उनके दैनन्दिन जीवन-क्रम का ही एक अंग था[4]। दान की प्रवृत्ति का दर्शन हमें रघु एवं कुश के कथानक में देखने को मिलता है। विश्वजित याग में सर्वस्व दान कर देने के पश्चात् मिट्टी के पात्रों की गृहस्थी वाले रघु ने याचक रूप में उपस्थित वरतन्तु-शिष्य कौत्स को चौदह करोड़ स्वर्ण मुद्राएं देने का वचन दिया था और वह पूर्ण भी किया[5]। दूसरे रघुवंशीय नरेश कुश ने अपनी राजधानी अयोध्या में परिवर्तित करते समय 'कुशावती' नगरी को ही ब्राह्मणों को दान में दे दिया था[6]। गार्हस्थ्य जीवन की सफलता के लिए पुरुषार्थत्रय की प्राप्ति के अतिरिक्त कालिदास ने प्रत्येक मनुष्य का त्रिऋण से अनृण होना भी आवश्यक माना है और इसीलिए अज के वर्णन क्रम में उन्होंने उसे वेदादि के अध्ययन द्वारा ऋषि-ऋण, यज्ञ द्वारा देव-ऋण एवं पुत्रोत्पादन द्वारा पितृऋण से अनृण हुआ कहा है[7]।

१- देखें : रघु० ४।८६

२- देखें : ,, ९।२०

३- देखें : ,, ३।३०-३१ ; ५।३८ एवं १७।३

४- देखें : ,, १।६-७

५- विस्तृत वर्णन के लिए देखें : रघु० पंचम सर्ग।

६- देखें : रघु० १६।२५

७- ऋषिदेवगणस्वधाभुजां श्रुतयागप्रसवैः स पार्थिवः ।
अनृणत्वमुपेयिवान्बभौ परिधेर्मुक्त इवोष्णदीधितिः ॥-- वही ८।३०

चूंकि प्राय: सभी रघुवंशीय नरेश, वेदादि अध्ययन सम्पन्न, विभिन्न यज्ञों के कर्ता एवं पुत्रोत्पादन के पश्चात् पुत्र को राज्य समर्पित करके वानप्रस्थ स्वीकार करने वाले थे इसलिए हम कह सकते हैं कि रघुवंशियों ने गार्हस्थ्य-जीवन में पुरुषार्थ-त्रय की प्राप्ति के साथ ही त्रिऋण से अनृण होने की व्यवस्था कर ली थी ।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि कालिदास की दृष्टि में गार्हस्थ्य जीवन की सफलता पुरुषार्थत्रय के सम्यक् पालन में एवं त्रिऋण से अनृण होने में निहित है । परन्तु अपने इस दृष्टिकोण के साथ ही वह धर्म एवं अर्थ की उपेक्षा करके कामोपभोग की ओर सहज ही प्रवृत्ति वाले मानव-मन से भी परिचित थे और केवल काम की आराधना करने से होने वाले अनर्थ से भी। इसीलिए अपने काव्य के समापन में उन्होंने एक ऐसे रघुवंशीय नरेश का चरित्र प्रस्तुत किया जिसने जीवन में धर्म और अर्थ की उपेक्षा करके केवल कामोपभोग ही किया और अन्त में असमय ही मृत्यु को प्राप्त हुआ । कथानक के अनुसार कालिदास के अन्तिम रघुवंशीय नायक अग्निवर्ण ने अपने पिता महाराज सुदर्शन से निष्कंटक राज्य प्राप्त करके राज पद संभाला । अग्निवर्ण ने कुछ काल तक तो प्रजापालन-रूप राजा के मुख्य कर्तव्य का निर्वाह किया फिर इस कर्तव्य का भार मन्त्रियों पर डाल[1] वह कामोपभोग में ऐसे डूबे की प्रजापालन की कौन कहे प्रजाओं को उनके दर्शन भी दुर्लभ हो गए और प्रजा उनके दर्शन के नाम पर चरण-दर्शन ही पा सकी[2] । उनका सारा समय स्त्रियों के साथ जलक्रीड़ा,[3] मदिरापान,[4] संगीत,[5]

१- सोऽधिकारमभिकः कुलोचितं काश्चन स्वयमवर्तयत्समाः ।
   सन्निवेश्य सचिवेष्वत:परं स्त्रीविधेयनवयौवनो भवत् ।।
   -- रघु० १९।४

२- गौरवाद्यदपि जातु मन्त्रिणां दर्शनं प्रकृतिकाङ्क्षितं ददौ ।
   तद्गवाक्षविवरावलम्बिना केवलेन चरणेन कल्पितम् ।।
   -- वही १९।७

३- देखें : वही १९।९-१०
४- देखें : ,, १९।११-१२
५- देखें : ,, १९।१३-१४

नृत्य[1] आदि विभिन्न काम-क्रीड़ाओं एवं सपत्नियों के आराधन में ही व्यतीत होने लगा[2]। सारी ऋतुएं कामोपभोग में ही व्यतीत होने लगीं[3]। और उद्दाम काम वासना की पूर्ति के लिए पर-स्त्रियों के साथ ही वह दासी जनों से सम्भोग में भी नहीं हिचकिचाए[4]।

काम के इस एकान्तिक सेवन का उन्हें रोग-रूप में दण्ड भी मिला[5] परन्तु ऐसी परिस्थिति में भी वह विषय-वासनाओं से ऊपर न उठ सके[6] और अन्ततः मृत्यु को प्राप्त हुए[7]।

अग्निवर्ण के इस जीवन-चरित वर्णन से यह सुनिश्चित हो जाता है कि कालिदास की दृष्टि में धर्म एवं अर्थ की उपेक्षा करके केवल "काम" की आराधना व्यक्ति के अनर्थ का कारण होती है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि कालिदास गृहस्थाश्रम में पुरुषार्थत्रय के समान पालन को आवश्यक मानते थे[8]। वह न तो अर्थ एवं काम को ही जीवन का उद्देश्य मानते थे और न ही इन दोनों की उपेक्षा करके धर्म-पालन को ही।

१- देखें : वही १६।१५
२- देखें : ,, १६।२०-२२
३- देखें : ,, १६।३८-४७
४- देखें : ,, १६।१६ एवं ४७
५- देखें : रघु० १६।४८
६- देखें : ,, १६।४६-५०
७- देखें : ,, १६।५३
८- देखें : ,, ११।३५

(vi) कालिदास की गृहस्थाश्रम सम्बन्धी मान्यताएं

रघुवंश में चित्रित गार्हस्थ्य-जीवन के प्रसंग में पारिवारिक सदस्यों के विवेचन के पश्चात् यहां हमें कालिदास की गृहस्थाश्रम सम्बन्धी मान्यताओं को भी जान लेना चाहिए । प्रस्तुत काव्य के विवेचनात्मक अध्ययन से कालिदास की गृहस्थाश्रम सम्बन्धी मान्यताएं इस प्रकार प्रकट होती हैं - वह भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही प्रचलित आश्रम चतुष्टय के क्रमिक पालन के पक्षपाती थे । इसीलिए रघुवंशीय नरेशों के चरित्रवर्णन के क्रम में उन्होंने पहले ही यह स्पष्ट कर दिया है कि रघुवंशीय नरेश शैशवकाल में विद्याध्ययन करने वाले (यह ब्रह्मचर्याश्रम के पालन का द्योतक है) युवावस्था में कामोपभोग करने वाले (यह गृहस्थाश्रम के पालन को द्योतित करता है), वृद्धावस्था में मुनियों की तरह जीविका वाले (यह वानप्रस्थाश्रम के अनुवर्तन को प्रकट करता है) एवं अन्त में योग द्वारा शरीर-त्याग (यह सन्यास आश्रम के पालन को प्रकट करता है) करने वाले थे ।[1]

आश्रमचतुष्टय में से भी गृहस्थाश्रम की महत्ता से भी वे अच्छी तरह परिचित थे क्योंकि उनकी दृष्टि में ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी एवं सन्यासी के भोजन का उत्तरदायित्व गृहस्थ के ही ऊपर था[2] । गृहस्थाश्रम में वह पारिवारिक सदस्यों में पारस्परिक प्रेम एवं सद्भाव को आवश्यक मानते थे । उनकी दृष्टि में पारिवारिक सदस्यों को, चाहे वे पुत्र-पुत्री हों या फिर पत्नी आदि, गृह-स्वामी के अधीन रहना चाहिए । पति को पत्नी के भरण-पोषण की पूरी

१- देखें : रघु० १।८

२- देखें : रघु० ५।१०

व्यवस्था करनी चाहिए और ऋतुकाल में ही उससे काम-सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए । पत्नी को भी पति की गृहस्थी सम्भालने के साथ ही उसके संकटकाल में कुशाग्रबुद्धि मन्त्री की भूमिका निभानी चाहिए, एकान्त के क्षणों में मित्र के समान व्यवहार करते हुए उसे प्रसन्न रखना चाहिए और ललित कलाओं के समय भी उसे पति की सहायिका या शिष्या बनना चाहिए । स्पष्ट है कि कालिदास ने गृहस्थ के लिए पत्नी का महत्व एवं उसका स्थान काफी ऊंचा उठा रखा था और उसे उसके मित्र के रूप में प्रतिष्ठित कर रखा था । यही नहीं पति की अनुपस्थिति में उन्होंने पत्नी को राजपद दिलाकर[1] यही सिद्ध किया कि पत्नी या अन्य शब्दों में नारी पति या पुरुष से पीछे नहीं है परन्तु पत्नी की इस उच्च स्थिति के बावजूद वह उसे गृहस्वामी या पति के अधीन रखने के ही पक्षपाती थे और इसीलिए उस पर पति का पूर्ण प्रभुत्व भी मानते थे।[2] साथ ही वह यह भी चाहते थे कि पत्नी को पति के प्रत्येक उचित-अनुचित आदेशों का पालन करके भी अपने पातिव्रत्य को निभाना चाहिए।[3]

१- अग्निवर्ण की मृत्यु के पश्चात् उसकी रानी ने ही राज-पद ग्रहण करके मन्त्रियों के सहयोग से शासन व्यवस्था सम्भाली थी ।
-- देखें : रघु० १६।५७

२- सीता की पवित्रता एवं उसकी शुद्धता जानते हुए भी लोकानुरंजन मात्र के लिए राम द्वारा सीता परित्याग के चित्रण द्वारा कवि ने जहां राम की शासनप्रियता को दर्शाया है वहीं उन्होंने प्रकारान्तर से पत्नी के ऊपर पति के पूर्ण प्रभुत्व को भी स्पष्टरूप से प्रकट कर दिया है ।

३- कालिदास के इस मन्तव्य की पुष्टि में हम सीता के जीवन को देख सकते हैं । साध्वी सीता बिना किसी अपराध के ही राम द्वारा त्यागे जाने पर निन्दा का एक शब्द भी नहीं बोल पाती और उसने राम के उस कृत्य का कारण अपने दुष्कृतों को ही मानकर आत्म-निन्दा की थी --

"स लक्ष्मणमुक्तलक्षणमायया निराकरिष्णोर्वृजिनादृतेऽपि ।
आत्मानमेव स्थिरदुःखभाजं पुनः पुनः दुष्कृतिनं निनिन्द ।।
--रघु० १४।५७

पत्नी के अतिरिक्त गार्हस्थ्य जीवन के क्षेत्र में वह पुत्र-पुत्रियों के ऊपर भी पिता के पूर्ण नियन्त्रण के पक्षपाती थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा एवं विवाह जैसे महत्त्वपूर्ण विषय में पिता की आज्ञा का पालन दर्शाते हुए कवि ने अपने उपर्युक्त मन्तव्य को ही पुष्ट किया है।

पारिवारिक सम्बन्धों की इस व्यवस्था के साथ ही गार्हस्थ्य जीवन की सफलता एवं मानव जीवन से अनृण होने के लिए वह प्रत्येक गृहस्थ के लिए पुरुषार्थत्रय-प्राप्ति एवं त्रिऋण से अनृण होना भी आवश्यक मानते थे। रघुवंशीय नरेशों के वर्णन क्रम में उनके प्रजापालन, यज्ञ, अध्ययन एवं दानादि का चित्रण करके महाकवि ने रघुवंशियों की धर्मप्राप्ति, ऋतुकालाभिगमन, स्वपत्नीविषयक एकनिष्ठता आदि द्वारा उनके धर्म-समन्वित 'काम' एवं धर्मयुद्ध द्वारा उनके धर्म-समन्वित अर्थ-प्राप्ति को ही दर्शाया है। पुरुषार्थत्रय के साथ ही रघुवंशियों के अध्ययन, यज्ञ एवं पुत्रोत्पादन के चित्रण के द्वारा उनके क्रमशः ऋषि, देव एवं पितृ ऋण से अनृण होने का वर्णन करके महाकवि ने त्रिऋण से अनृण होने की भारतीय व्यवस्था के प्रति भी अपनी आस्था व्यक्त कर दी है।

(ग) किरातार्जुनीय में गार्हस्थ्य-चित्रण

(अ) पाण्डवों का गार्हस्थ्य जीवन

यद्यपि महाकवि भारवि ने अपने काव्य के प्रतिपाद्यविषय के अन्तर्गत अर्जुन की इन्द्रकील पर्वत पर की गयी तपस्या एवं किरातवेषधारी शिव के साथ हुए उनके युद्ध का ही विस्तृत वर्णन किया है फिर भी गार्हस्थ्य-जीवन के प्रति आस्था होने के कारण उन्होंने किरातार्जुनीयम् की आधिकारिक कथावस्तु के अन्तर्गत पाण्डवों के वन्य-गार्हस्थ्य एवं प्रासंगिक कथावस्तु के अन्तर्गत दुर्योधन के गार्हस्थ्य का चित्रण किया है। यहाँ पहले पाण्डवों एवं द्रौपदी के गार्हस्थ्य का विवेचन किया जाएगा।

(i) पति-पत्नी सम्बन्ध -

महाकवि भारवि ने पाण्डवों के गार्हस्थ्य जीवन के चित्रण के

अवसर पति-पत्नी के सम्बन्ध को एक नए एवं विद्रोही स्वरूप में प्रस्तुत किया है जो परम्परावादी महाकवियों के लिए एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है । द्वैतवन में रहते हुए, वनेचर द्वारा प्रस्तुत की गयी दुर्योधन की राज्य-व्यवस्था एवं उसकी लोकप्रियता को सुनकर द्रौपदी तिलमिला उठती है परन्तु धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा तेरह वर्षों की प्रतीक्षा किए जाने का निश्चय सोचकर ही वह क्रुद्ध हो उठती है और पति को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करना चाहती है । इस अवसर पर भारवि ने नारी-मन एवं उसके वाक् चातुर्य तथा व्यंग्य बोलने की कला का एक सजीव चित्र प्रस्तुत किया है । पहले तो वह युधिष्ठिर के क्रोध से बचने के लिए ही सम्भवतः यह कहती है कि 'यद्यपि आप जैसे राजा को मैं कुछ कहूं यह तो आपका तिरस्कार ही हुआ परन्तु क्या करूं नारी-जाति-सुलभ शालीनता को छोड़, शत्रुओं की उपेक्षा एवं अपमान का स्मरण ही मुझे मुखरित कर रहा है ।[1]

स्त्रियां पति को किसी कार्य के प्रति प्रेरित करने के लिए प्रायः उसके पूर्वजों के वर्णन को ही लक्ष्य बनाती हैं । द्रौपदी भी इस तथ्य से परिचित है इसीलिए वह युधिष्ठिर को युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने के क्रम में भी सर्वप्रथम उनके पूर्वजों का ही वर्णन करते हुए कहती है कि 'इन्द्र के समान पराक्रमशाली अपने वंश में उत्पन्न होने वाले भरत आदि राजाओं द्वारा चिरकाल तक सम्पूर्ण रूप से धारण की हुई इस धरती को तुमने मदोन्मत्त गजराज द्वारा माला की भांति अपने ही हाथों से तोड़-फोड़ कर त्याग किया है ।[2]

१- 'भवादृशेषु प्रमदाजनोदितं भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम् ।
तथाऽपि वक्तुं व्यवसाययन्ति मां निरस्तनारीसमया दुराधयः ॥
--किरात १ ।२८

२- अखण्डमाखण्डलतुल्यधामभिश्चिरं धृता भूपतिभिः स्ववंशजैः ।
त्वयाऽऽत्महस्तेन मही मदच्युता मतंगजेन स्रगिवापवर्जिता ॥
-- वही १।२९

अपने इस कथन द्वारा द्रौपदी ने युधिष्ठिर को उनके पूर्वजों के पराक्रम का स्मरण दिलाकर जहां एक ओर उत्तेजित किया है और उनके तेरह वर्षों की प्रतीक्षा पर मीठा व्यंग्य किया है वहीं दूसरी ओर द्यूतक्रीड़ा का स्मरण करा कर भी उन्हें उत्तेजित किया है।

अपने द्वितीय व्यंग्यास्त्र के रूप में उसने आलंकारिक रूप से दुःशासन द्वारा अपने अपमान का भी स्मरण दिलाया[1]। परन्तु इससे भी सम्भवतः युधिष्ठिर को प्रभावित होता हुआ न देखकर[2] वह स्नेही अनुजों को लक्ष्य करके एवं उनकी दुर्दशा का चित्र खींच कर युधिष्ठिर को प्रेरित करना चाहती है। इस अवसर पर वह भीम, अर्जुन एवं नकुल सहदेव द्वारा राजकाल में भोगे गए सुखों एवं युधिष्ठिर के कारण वनवास में मिले हुए दुःखों का उल्लेख करती है[3]। और अपने अन्तिम

१- गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः ।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमात्मवधूमिव श्रियम् ॥

--किरात० १।३१

यहां द्रौपदी ने युधिष्ठिर के कुल पर भी व तीखा व्यंग्य किया है।

२- भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते विवर्तमानं नरदेव । वर्त्मनि ।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः ॥

-- वही १।३२

३- परिभ्रमंल्लोहितचन्दनोचितः पदातिरन्तर्गिरि रेणुरूषितः ।
महारथः सत्यधनस्य मानसं दुनोति नो कच्चिदयं वृकोदरः ॥
विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान्कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः ।
स वल्कवासांसि तवाधुना हरन् करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः ॥
वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ
कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम् ॥

-- वही १।३४-३६

यहां द्रौपदी ने एक ओर तो भीम आदि की दुर्दशा का चित्र खींचकर युधिष्ठिर को द्रवित करना चाहा है और दूसरी ओर यह संकेत भी किया है कि ऐसे पराक्रमी भाइयों का बाहुबल आज तुम्हारी वचन-पालन रूपी कायरता के कारण कुंठित हो रहा है।

व्यंग्यास्त्र के रूप में युधिष्ठिर को भोगे गए राज्यी वैभव का स्मरण दिलाते हुए कहती है कि 'आप पहले जहां बहुमूल्य पर्यंक पर शयन करते थे, स्तुतिपाठक वैतालिकों के मंगल गान के पश्चात् शयन-त्याग करते थे वहीं आज कुशों से आकीर्ण कुशस्थली पर शयन करते हुए एवं अमंगल सूचक शृगालियों का रुदन सुन कर निद्रा त्यागते हैं[1]। राज्यकाल में जहां आप पहले ब्राह्मणों को उत्तमोत्तम भोजन कराकर तब भोजन ग्रहण करते थे वहीं आज वनोपलब्ध फल-मूलादि से ही पेट पाल रहे हैं[2], जहां पहले सम्राट होने के कारण अभिवादन के लिए झुके हुए राजाओं के मस्तक की धूल से रंजित पैरों वाले थे वहीं आज आपके वही पैर कुशों की चुभन प्राप्त कर रहे हैं[3] क्या अवनति एवं अपमान की द्योतक ये बदली हुई परिस्थितियां आपको जरा भी क्षुब्ध नहीं करतीं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि द्रौपदी पति के त्रुटियों के लिए उसे अपमानित(भले ही वह अपमान प्रेरणा के लिए ही हो) करने वाली पत्नी थी। उसके इस स्वरूप का एक परिवर्तित स्वरूप हमें तपः साधना के लिए प्रस्थान करते हुए अर्जुन के समक्ष भी देखने को मिलता है। तपस्या द्वारा

१- पुराऽधिरूढः शयनं महाधनं विबोध्यसे यः स्तुतिगीतमंगलैः।
अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः॥
--किरात० १।३८

२- पुरोपनीतं नृप ! रामणीयकं द्विजातिशेषेण यदेतदन्धसा।
तदद्य ते वन्यफलाशिनः परं परैति कार्श्यं यशसा समं वपुः॥
-- वही १।३९

३- अनारतं यौ मणिपीठशायिनावरंजयद्राजशिरःस्रजां रजः।
निषीदतस्तौ चरणौ वनेषु ते मृगद्विजालून शिखेषु बर्हिषाम्॥
-- वही १।४०

शक्ति-अर्जन के लिए प्रस्थान करते हुए अर्जुन को वह अपने केशाकर्षणरूप अपमान[1], उनकी दुरवस्था[2] आदि का उल्लेख करके उन्हें उत्साहित करती है और शत्रुओं से बदला चुकाने के पश्चात् ही उन्हें पत्नी-सुख देने की घोषणा करती है[3]।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि द्रौपदी ने अपने गार्हस्थ्य-काल में एक ऐसी पत्नी की भूमिका निभायी थी जो कि अपने कायर पतियों को उनके पराक्रम का स्मरण दिलाते हुए उन्हें फटकार भी सकती है ।

(ii) भ्रातृ-सम्बन्ध

यह तो हुआ पति-पत्नी का सम्बन्ध विवेचन । इस विवेचन के अतिरिक्त भारवि ने पाण्डवों के गार्हस्थ्य जीवन में भ्रातृ-सम्बन्ध पर भी संक्षिप्त प्रकाश डाला है । इस सन्दर्भ में कह सकते हैं कि अर्जुन आदि सभी युधिष्ठिर की आज्ञा के अधीन थे[4]।

पाण्डवों के इस पारिवारिक सम्बन्ध विवेचन के साथ ही उनके गार्हस्थ्य-काल में किए गए धर्म-कार्यों के अन्तर्गत भारवि ने उनके यज्ञों[5] एवं अतिथि-क्रियाओं[6] का वर्णन किया है ।

(ब) दुर्योधन का गार्हस्थ्य जीवन

पाण्डवों के इस गार्हस्थ्य के अतिरिक्त भारवि ने दुर्योधन के

१- देखें : किरात० ३।४१-४४

२- देखें : ,, ३।४४-४६

३- "तदाशु कुर्वन्वचनं महर्षेर्मनोरथान्न: सफलीकुरुष्व ।
प्रत्यागतं त्वाऽस्मि कृतार्थमेव स्तनोपपीडं परिरब्धुकामा ।।
— वही ३।५४

४- देखें : वही ११।७७

५- देखें : वही ३।६

६- देखें : वही २।५८

गार्हस्थ्य पर भी प्रकाश डाला है और उसके न्यायपूर्ण शासन, सुनियोजित राज्य व्यवस्था आदि के राजकीय कर्तव्यों के वर्णन के साथ ही गार्हस्थ्य जीवन से ही सम्बद्ध पारिवारिक सदस्यों से उसके सम्बन्ध, पुरुषार्थ-त्रय पालन आदि का वर्णन किया है। राजपद सम्भालने के पश्चात् वह अहंकार रहित होकर, निष्कपट भाव से सभी से समान व्यवहार करता था। सेवकों से वह मित्रवत्, मित्रों से निजी कुटुम्बियों सा व्यवहार करता था और कुटुम्बियों को तो राज्याधिकारी के समान आदर देता था[1]। गार्हस्थ्य-जीवन को सफल बनाने के लिए वह धर्म, अर्थ एवं काम का समान रूप से उपभोग करता था[2]। वह दान एवं अतिथि सत्कार जैसे, गृहस्थों के महत्वपूर्ण कर्तव्यों को निरालस भाव से पूर्ण करता था[3] तथा विभिन्न यज्ञों को पूर्ण करता था[4]।

स्पष्ट है कि दुर्योधन ने अपने गार्हस्थ्य जीवन को भारतीय पद्धति के अनुरूप ही व्यतीत किया था।

१- सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः समानमानान्सुहृदश्च बन्धुभिः ।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम् ॥
—किरात० १।१०

२- असक्तमाराधयतो यथायथं विभज्य भक्त्या समपक्षपातया ।
गुणानुरागादिव सख्यमीयिवान् न बाधतेऽस्य त्रिगणः परस्परम् ॥
— वही १।११

३- निरत्ययं साम न दानवर्जितं न भूरि दानं विरहय्य सत्क्रियाम् ।
प्रवर्तते तस्य विशेषशालिनी गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया ॥
— वही १।१२

४- स यौवराज्ये नवयौवनोद्धतं निधाय दुःशासनमिद्धशासनः ।
मखेष्वखिन्नोऽनुमतः पुरोधसा धिनोति हव्येन हिरण्यरेतसम् ॥
— वही १।२२

(ख) भारवि की गृहस्थाश्रम सम्बन्धी मान्यताएं

गार्हस्थ्य जीवन की परिधि में विवेचित उपर्युक्त सम्बन्ध-विवेचन के पश्चात् अब हमें यहां यह देखना है कि महाकवि भारवि की गृहस्थाश्रम सम्बन्धी क्या मान्यताएं थी ? इस सन्दर्भ में यदि हम किरातार्जुनीयम महाकाव्य का आश्रय लें तो यह ज्ञात होता है कि अपनी पूर्व परम्परा का अनुवर्तन करते हुए ही भारवि भी आश्रम चतुष्टय के क्रमिक पालन के ही कायल थे[1]। गार्हस्थ्य-जीवन में पुरुषार्थ-त्रय के समान पालन को आवश्यक मानते हुए[2] वह केवल अर्थ या काम पालन को अनुचित मानते थे[3]। पारिवारिक व्यवस्था के क्रम में वह पत्नी के प्रति पति के

१- उपर्युक्त कथन के प्रमाण-रूप में हम इन्द्र अर्जुन संवाद को देख सकते हैं। इन्द्र ने जब अर्जुन को शस्त्रास्त्ररहित हो तपः साधना करने का आदेश दिया था तो अर्जुन ने उनके इस आदेश को अनुचित करार देते हुए यही कहा था कि भारतीय चिन्तक तो आश्रम चतुष्टय के क्रमिक पालन को अनिवार्य मानते हैं फिर आप मुझ युवक को जिसके गार्हस्थ्य-जीवन का समय चल रहा है,आप वानप्रस्थ बाना धारण करने का आदेश कैसे दे रहे हैं --

'कथं वादीयतामर्वाङ्मुनिता धर्मरोधिनी ।
आश्रमानुक्रमः पूर्वैः स्मर्यते न व्यतिक्रमः ।।
--किरात० ११।७६

२- देखें : किरात० ११।

३- इन्द्र के मुख से अर्थ और काम की निन्दा कराते हुए भारवि ने यही सिद्ध किया है कि अर्थ और काम सभी अनर्थों के मूल कारण होते हैं --

'मूलं दोषस्य हिंसादेरर्थकामौ स्म मा पुषः ।
तौ हि तत्त्वावबोधस्य दुरुच्छेदावुपप्लवौ ।।
--वही ११।२०

कर्तव्यों के अन्तर्गत पत्नी की सभी प्रकार से रक्षा को आवश्यक मानते थे[1]। प्रत्येक पारिवारिक सदस्यों द्वारा गृहस्वामी के आज्ञा-पालन किया जाना वह अनिवार्य मानते थे[2] और पिता के अभाव में माता या ज्येष्ठ भ्राता को परिवार के मुखिया का अधिकार प्रदान करते हुए उसकी आज्ञा को ही सर्वोपरि मानते थे[3]।

१- अर्जुन के निम्न श्लोक से यही ध्वनि निकलती है कि पत्नी-रक्षा पति का प्रधान कर्तव्य है --

'अयथार्थक्रियारम्भैः पतिभिः किं तवेक्षितैः ।
अरुध्येतामितीवास्या नयने बाष्पवारिणा ।।
-- वही ११।५२

२- अर्जुन के प्रसंग-वर्णन में उन्होंने पारिवारिक सदस्यों के इसी कर्तव्य की ओर संकेत किया है --

'स वंशस्यावदातस्य शशांकस्येव लांछनम् ।
कृच्छ्रेषु व्यर्थया यत्र भूयते भर्तुराज्ञया ।।
-- वही ११।७५

३- अर्जुन ने अपने को पिता या भ्राता का आज्ञापालक ही कहा था और इन्द्र से अपनी तपस्या के कारणों के विवेचन के प्रसंग में शत्रुओं से बदला चुकाने की भावना के साथ ही वृद्धा माँ एवं अग्रज युधिष्ठिर को भी अपना नियन्त्रक कहा था --

'आसक्ता धूरियं रूढा जननी दूरगा च मे ।
तिरस्करोति स्वातन्त्र्यं ज्यायांश्चाचारवान्नृपः ।।
-- वही ११।७७

(घ) जानकी हरण में गार्हस्थ्य चित्रण

(i) राम एवं सीता का गार्हस्थ्य जीवन

संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में राम-कथा को आधार बनाकर महाकाव्य के रचयिताओं में महाकवि कुमारदास का महत्वपूर्ण स्थान है । इन्होंने अपने काव्य के नायक राम के शृंगारिक गार्हस्थ्य जीवन का ऐसा मोहक चित्र उपस्थित किया है जो हमें राम-कथा पर आधारित अन्य महाकाव्यों में देखने को नहीं मिलता । राम के शृंगारिक गार्हस्थ्य-जीवन के वर्णन-क्रम में महाकवि ने एक नव-वधू की विभिन्न काम-चेष्टाओं का क्रमिक वर्णन प्रस्तुत किया है । नव-वधू काम सम्बन्ध से अनभिज्ञ होने के कारण पहले तो विरोध करती है फिर स्वयं अंकशायिनी हो जाती है । सीता भी पति से रति-सम्बन्ध के प्रति पहले विरोध ही प्रकट करती हैं परन्तु सीता का यह विरोध भी राम को आनन्द ही देता है[1]। राम जब उसे अंक में लेना चाहते हैं तो वह बार-बार भागने का उपक्रम करती हैं[2]। इसी वर्णन-क्रम में कवि ने राम सीता की शृंगारिक क्रीड़ाओं के अन्तर्गत उनकी विभिन्न कामचेष्टाओं[3], रति-क्रीड़ा[4], राम द्वारा सीता के पैरों में महावर लगाने[5]

१- आचरन्नथ स योषितो हठं सा वामचरिताऽनुरागिणः ।
अप्यनीप्सितविधानचेष्टितौ तेनतुः सपदि सम्मदं मिथः ॥
-- जानकी० ८।१

२- कामिना कुचयुग्म बालिका सप्रयत्नमुपपीडिताऽप्यसौ ।
माऽकृति स्म कुचेतुकल्पतः साध्वसेन वचसा मुहुः मुहुः ॥
-- वही ८।२

३- देखें : जानकी० ८।३-१८

४- ,, : ,, ८।१९-३१

५- ,, : ,, ८।३५

कंकण लगाने[1] एवं उसके विविध प्रसाधनों का वर्णन[2] तथा राम-सीता के मदिरापान[3] आदि का विस्तृत वर्णन किया है।

(ii) राम का बाल जीवन

राम एवं सीता के इस शृंगारिक गार्हस्थ्य जीवन के वर्णन के साथ ही महाकवि ने गुरुजनों को आनन्दित करने वाली राम की विभिन्न बाल-क्रीड़ाओं का भी सजीव चित्रण किया है जो दर्शनीय है। रनिवास की स्त्रियां जब राम यहां नहीं हैं कहां चले गए कहतीं तो राम अपना मुख ढंक लेते हैं जैसे वह यहां हैं ही नहीं[4]। हास-परिहास के समय जब स्त्रियां उनसे पूछती कि बताओ तुमने मुंह से क्या लिया तो राम अपने सुन्दर दांत दिखा देते थे[5]। इसी प्रकार कवि ने राम आदि द्वारा पिता के चरणों के दबाने[6] या उनके वक्ष पर सोने के लिए उनके पारस्परिक युद्ध का भी चित्रण किया है[7]।

१- देखें : जानकी० ८।४१

२- देखें : ,, ८।४२

३- देखें : ,, ८।६४-६८

४- न स राम इह क्व यात इत्यनुयुक्तो वनिताभिरग्रतः ।
निजहस्तपुटावृताननो विदधे लीकनिलीनमर्भकः ॥
-- वही ४।८

५- अयि दर्शितविद्रुमांकुराद् भवतो भाजनमिति प्रचोदितः ।
प्रविदर्शयति स्म लीलया नवकं दन्तचतुष्टयं शिशुः ॥
-- वही ४।११

६- स्वैरेऽपि परोक्षितजानुभिः सा जनतापितैः करैः ।
क्षणमे समनाय्यन्त पितुश्चरणौ भ्रातृजनेन चोदिताः ॥
-- वही ४।१२

७- उपनीय महस्य मूर्ध्नः शिशवः क्रीडनिवेशनाऽऽस्थया ।
निशि वापितमातुरंकनं जनकं कोमल वल्गितं वपुः ॥
-- वही ६।१२

(iii) कुमारदास की गार्हस्थ्य सम्बन्धी मान्यताएं

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि कुमारदास ने गार्हस्थ्य-जीवन के विवेचन क्रम में गृहस्थों की विविध काम-क्रीडाओं एवं बालकों की विभिन्न बालकेलियों का ही वर्णन किया है । उन्होंने न तो पति-पत्नी के सम्बन्ध पर ही कुछ प्रकाश डाला है, न ही गृहस्थों के अन्य कर्तव्यों पर या कि पारिवारिक सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों पर । हां यह अवश्य है कि सीता की विदाई के समय जनक के मुख से उन्होंने सीता को जो उपदेश दिलाया है उससे हमें पत्नी के कर्तव्यों का कुछ ज्ञान हो जाता है । जनक ने अपने उपदेश के क्रम में सीता को शरीर-सौन्दर्य, गुणों की प्रचुरता, पिता के राजत्व, अपनी युवावस्था आदि पर गर्व न करने का आदेश देते हुए पति को प्रसन्न करना ही उनका मुख्य कर्तव्य कहा था[1]। क्योंकि पति ही उनके तेज एवं वैभव का कारण होता है[2]। साथ ही उन्होंने क्रोध की स्थिति में भी पति से कटु वचन न बोलने[3] एवं अपने पातिव्रत्य एवं शील से ही राम को अपने अधीन रखने का आदेश दिया था[4]।

१- पर: प्रकर्षो वपुष: समुन्नतिर्गुणस्य तातो नृपतिर्नवं वय: ।
इति स्म मा मानिनि मानमागम: पतिप्रसादोन्नतयो हि योषित: ॥
--जानकी० ६।४

२- स्त्रियो न पुंसामुदयस्य साधनं त एव तासामभिभूतिहेतव: ।
तडिद्वियुक्तोऽपि घन: प्रशुम्भते विना न मेघं विलसन्ति विद्युत: ॥
-- वही ६।५

३- गताऽपि भर्त्रे परिकोपमायतं गिर: कृथा मा परुषार्थदीपनी: ।
कुलस्त्रियो भर्तृजनस्य भर्त्सने परं हि मौनं प्रवदन्ति साधनम् ॥
-- वही ६।६

४- पतिव्रता वश्यमवश्यमङ्गना करोति शीलेन गुणस्पृशं पतिम् ।
विनष्टचारित्रगुणा गुणैषिण: पराभवं भर्तुरुपैति दुस्तरम् ॥
-- वही ६।७

जनक के उपर्युक्त उपदेश वचनों के आधार पर हम कह सकते हैं कि कुमारदास, पत्नी के मुख्य कर्तव्यों के अन्तर्गत पति को प्रसन्न रखना, क्रोध में भी उसका विरोध न करना एवं पातिव्रत्य एवं शील की रक्षा करना मानते थे।

(ड) विक्रमांकदेवचरित में गार्हस्थ्य-चित्रण

अर्थप्रधानमहाकाव्यों के प्रतिपाद्य विषय की पूर्व परम्परा का ही अनुवर्तन करते हुए महाकवि बिल्हण ने भी 'विक्रमांकदेवचरित' महाकाव्य में मुख्य रूप से काव्य के नायक विक्रमांक द्वारा अर्थार्जन का चित्रण करते हुए उनकी युद्ध-विजय का ही विस्तृत चित्रण किया है। परन्तु इसके साथ ही उन्होंने काव्य की पृष्ठभूमि में आहवमल्ल के गार्हस्थ्य जीवन का चित्रण करते हुए काव्य-नायक विक्रमांक के प्रारम्भिक गार्हस्थ्य (विवाह एवं कामोपभोग तथा पुत्र-प्राप्ति) का भी चित्रण किया है।

(i) आहवमल्ल का गार्हस्थ्य जीवन

बिल्हण द्वारा चित्रित आहवमल्ल के कथानक के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि वह एक युद्धप्रिय सम्राट थे। उन्होंने अनेक देशों पर विजय-प्राप्ति की थी[१]। परन्तु उनके युद्ध का मुख्य उद्देश्य शत्रुओं को पराजित करके उन्हें अपनी अधीनता स्वीकार करवाना था न कि उनके राज्य को हड़पना[२]। उन्होंने कल्याणपुर नगर की स्थापना की थी[३] और वहीं अपना गार्हस्थ्य जीवन भी व्यतीत किया था। इस गार्हस्थ्य-काल में उन्होंने अनेक यज्ञों का सम्पादन किया था[४] और जीवन में प्रचुर दान किया था क्योंकि सम्पत्ति की सफलता सत्पात्र-दान में

१- देखें : विक्रमांक० १।८८-९५

२- ,, : वही १।११३

३- ,, : वही २।१

४- ,, : वही १।९५-९६ एवं ९८-१००

ही निश्चित मानी जाती है[1]। परन्तु गार्हस्थ्य-काल में प्रजापालन, दान, यज्ञ आदि विभिन्न धार्मिक कार्यों के सम्पादन से भी उन्हें आत्मिक सन्तोष नहीं था क्योंकि वह वंश परम्परा को अक्षुण्ण नहीं कर सके थे। जबकि गृहस्थाश्रम का मुख्य उद्देश्य या फल पुत्र-प्राप्ति ही होता है[2]। वस्तुतः पारिवारिक जीवन में स्त्री के लिए पुत्र का विशेष स्थान होता है। वही उसका शोभादायक होता है[3]। पुत्र से ही पति-पत्नी मानसिक शान्ति-लाभ करते हैं[4] और वही व्यक्ति को पितृऋण से अनृण करता हुआ जलांजलि आदि से उभयलोकों में सहायक होता है। इसलिए पुत्र के अभाव में यज्ञादि भी व्यर्थ माने जाते हैं[5]। पुत्र की इसी महत्ता के कारण चक्रवर्ती सम्राट के लिए भी पुत्रोत्पादन आवश्यक माना जाता था और इसके अभाव में उसका चक्रवर्तित्व होना भी निरर्थक माना जाता था।[6]

१- "विजित्य सर्वाः ककुभः स भार्गवप्रचण्डकोदण्डपराक्रमो नृपः।
उवास तत्रार्थिततानि पूरयन् फलं हि पात्रप्रतिपादनं श्रियः॥"
--विक्रमांक २।२६

२- देखें: वही २।२८-२९

३- प्रियप्रसादेन विलाससम्पदा तथा न भूषाविभवेन गेहिनी।
सुतेन निर्व्याजविलोकहारिणा यथांकपर्यंकगतेन शोभते॥
-- वही २।३२

४- "वहन्ति ज़िह्माः परमः कमात्मनो गुणं वितर्क्यात्मजदर्शनक्रमम्।
पदार्थसामर्थ्यमचिन्त्यमीदृशं यदत्र विश्राम्यति निर्भरं मनः॥"
-- वही २।३३

५- "किमश्वमेधप्रभृतिक्रियाक्रमैः सुतोऽस्ति येन्नोभयलोकबान्धवः।
ऋणं पितृणामपनेतुमक्षमाः कथं लभन्ते गृहमेधिनः शुभम्॥"
--वही २।३४

६- प्राप्यापि यौवराज्यादिगुणं लब्धो ऽप्युपैति तावन्न कृतार्थतां नृपः।
सुतेन दोर्विक्रमलब्धकीर्तिना न यावदारोहति पुत्रिणां धुरि॥
-- वही २।३५

गार्हस्थ्य जीवन में पुत्र की इस महत्ता के कारण ही आहवमल्ल ने पुत्र-प्राप्ति के लिए कुलदेवता शिव की आराधना करने का निश्चय किया और पत्नी सहित शिव की आराधना पूर्ण की।[1] अन्ततः शिव की कृपा से ही उनकी महिषी ने गर्भ धारण किया। भूपति आहवमल्ल ने उसके दोहद आदि का पूर्ण प्रबन्ध करते हुए[2] तथा पुंसवनादि संस्कार सम्पादित करते हुए[3] क्रमशः पति तथा पिता के कर्तव्यों का निर्वाह किया और इस प्रकार महिषी ने क्रमिक रूप से तीन पुत्रों को जन्म दिया जो आगे चलकर सोमदेव, विक्रमांकदेव एवं सिंहदेव नाम से प्रसिद्ध हुए। कालान्तर में आहवमल्ल ने ज्येष्ठपुत्र सोमदेव को राज्यार्पण करके शिवत्व प्राप्त किया।[4]

बिल्हण द्वारा चित्रित आहवमल्ल के उपर्युक्त गार्हस्थ्य जीवन के आधार पर हम कह सकते हैं कि उन्होंने अपने गार्हस्थ्य-काल में यज्ञ सम्पादन एवं दानादि तथा प्रजापालन आदि द्वारा धर्म को, भोगोपभोग एवं पुत्रोत्पादन द्वारा काम को, विभिन्न शत्रुओं पर विजय-प्राप्ति करके अर्थ को पूर्णरूप से सफल बनाया था इसीलिए अन्त में वह शिव-सायुज्य-प्राप्ति में भी सफल हुए थे।

(ii) विक्रमांकदेव का गार्हस्थ्य जीवन

काव्य के कथानक के अनुसार विक्रमांकदेव का अनेक रानियों से विवाह हुआ था[5] परन्तु उन्होंने गार्हस्थ्य जीवन में चन्द्रलेखा को ही अत्यधिक

१- देखें : विक्रमांक० २।४०-५९
२- ,, : ,, २।७६-७७
३- ,, : ,, २।८७
४- ,, : ,, ३।५५-५७ एवं ५८-६८
५- ,, : ,, ३।६७

महत्व दिया था । चन्द्रलेखा ने अपने पातिव्रत्य एवं सेवा आदि गुणों से विक्रमांकदेव को ऐसा आकर्षित कर लिया था कि वह केवल चन्द्रल देवी के ही वश में रहते थे अन्य रानियों को महत्व नहीं देते थे[1]। विक्रमांकदेव भी पति धर्म को जानते हुए चन्द्रलेखा की सुख-सुविधा का पूर्ण ध्यान रखते थे और इसीलिए चन्द्रलेखा भी उन पर विश्वस्त हो पत्नी धर्म का निर्वाह करती थी[2]। इसके पश्चात् महाकवि बिल्हण ने विक्रमांक एवं चन्द्रलेखा की कामकेलियों का ही चित्रण किया है और इसके अन्तर्गत पुष्पावचय, दोलारोहण, जल-विहार एवं सुरापान आदि का ही वर्णन किया है[3]।

१- सा चन्द्रवांगी शनकैः प्रियस्य तथा गुणैर्मानसमारुरोह ।
तदेकवश्यं स्मरशासनेन यथा तदन्याभिरशक्यमासीत् ॥
श्रीकुन्तलक्षोणिपकौस्तुभीये वक्षुबिम्बे हृदयं प्रविष्टे ।
अन्यांगनानां मुखपंकजानि संकोच भीत्येव बहिर्बभूवुः ॥
-- वही १०।५६

इस वर्णन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि विक्रमांकदेव पत्नी के मुख्य कर्तव्यों के अन्तर्गत उसकी पति सेवा एवं पातिव्रत्य आदि गुणों को मानते थे और इन्हें ही पति को वश में करने या एकनिष्ठ बनाने का साधन भी ।

२- सा तत्र शीघ्रं विविधोपचार - प्रौढे नवोढाप्यनुरक्तवर्ती ।
स्वीकर्तुं पत्युरिदं चिरेण विश्वासमायाति नवा वधूर्हि ॥
-- वही

इस श्लोक से प्रकारान्तर से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बिल्हण की दृष्टि में पति का मुख्य कर्तव्य होता है पत्नी की सुखसुविधाओं की पूर्ण व्यवस्था ।

३- देखें : विक्रमांक० १०।१८-२०, ३१,३८,६३-८०,११।४४-६८, इत्यादि

बिल्हण द्वारा चित्रित विक्रमांकदेव के उपर्युक्त गार्हस्थ्य जीवन के आधार पर हम कह सकते हैं कि उन्होंने अपने गार्हस्थ्य जीवन में प्रजापालन एवं दानादि द्वारा धर्म का,[1] विभिन्न भू-प्रदेशों पर विजय द्वारा अर्थ का[2] और कामोपभोग तथा पुत्रोत्पादन द्वारा काम का पूर्ण रूप से पालन किया था[3]।

(iii) विक्रमांकदेव में सपत्नी-सम्बन्ध

ऊपर कहा जा चुका है कि विक्रमांकदेव ने अनेक रानियों से विवाह किया था, अतः यहाँ यह भी देख लेना आवश्यक है कि उनकी सपत्नियों का पारस्परिक सम्बन्ध कैसा था । इस सन्दर्भ में यदि हम "विक्रमांकदेवचरित" का आश्रय लें तो यह होता है कि महाकवि ने सपत्नी-सम्बन्ध का थोड़ा सा वर्णन विक्रमांक की कामकेलियों के अवसर पर ही किया है और उस वर्णन के आधार पर कहा जा सकता है कि उनका पारस्परिक सम्बन्ध द्वेषमय था । उनमें विक्रमांकदेव का साहचर्य-सुख प्राप्त करने की होड़ सी लगी रहती थी । कोई सपत्नी क्रीड़ा के व्याज से ही अन्य सपत्नी की आँखों में धूल डालकर पति का साहचर्य सुख प्राप्त करके उसे दुःखित कर देती थी;[4] विक्रमांकदेव द्वारा किसी सपत्नी को वृक्षारोहण कराते देख अन्य सपत्नी क्षुब्ध हो उठती थी[5]। भूपति द्वारा आभूषण-मण्डित सपत्नी अन्य को तृण के समान भी नहीं समझती थी क्योंकि सौभाग्यरूपी मद को

१- देखें : विक्रमांक० ३।७९, ६।२ ; प्रजापालन एवं उनकी राज्य व्यवस्था के लिए देखें : १७।१-८

२- देखें : विक्रमांक० तृतीय एवं चतुर्थ सर्ग

३- देखें : वही दशम सर्ग एवं १७।६

४- विधाय काचिन्नयने सपत्न्याः क्रीडाच्छलात्पुष्पपरागपूर्णे ।
पात्रत्वमाप प्रियचुम्बनस्य किमस्ति वैदग्ध्यवतामसाध्यम् ॥
--विक्रमांक० १०।४९

५- कस्याश्चिदध्यास्य नयनाभिरामामाक्रम्य यानमधैति स्म देवः ।
सा वन्दितव्यस्य महेण भग्ना सन्नं मनोभिः प्रतिकामिनीनाम् ॥
-- वही १०।५९

उत्पन्न करने वाली पति की प्रसन्नता शराब से हजार गुना अधिक नशा उत्पन्न करती है[1]।

(iv) 'विक्रमांकदेव' में भ्रातृ-सम्बन्ध

सपत्नी-सम्बन्ध के अतिरिक्त महाकवि बिल्हण ने प्रस्तुत महाकाव्य में भ्रातृ-सम्बन्ध पर भी कुछ प्रकाश डाला है। काव्य के अनुसार आहवमल्ल के सोमदेव, विक्रमांकदेव एवं सिंहदेव ये तीन पुत्र हुए थे। इनमें से महाकवि ने सिंहदेव की उपेक्षा करके सोमदेव को एक स्वार्थलोलुप भ्राता तथा विक्रमांकदेव को भ्रातृ-सम्मान करने वाला भ्राता के रूप में प्रस्तुत किया है[2]। विक्रमांकदेव सोमदेव की पितातुल्य पूजा एवं सिंहदेव को अनुज के लिए अपेक्षित करता था[3] और सोमदेव के प्रति इस आदर-भाव के कारण ही उसने पिता द्वारा दिए जाते हुए राजपद को अस्वीकृत करके[4] ज्येष्ठ होने के कारण सोमदेव को ही राज-पद पर अभिषिक्त कराया था[5]। सिंहदेव के प्रति स्नेह के कारण ही विक्रमांकदेव ने राजा बनने पर उसे वनवासि-मण्डल का राजपद प्रदान किया था[6]। परन्तु सोमदेव ने अपने इन अनुजों के साथ अपेक्षित भ्रातृ-व्यवहार का निर्वाह नहीं

१- नृपेण काचिद्विहितावलंबा तृणाय नामन्यत कामिनीन्याम् ।
स्त्रीणां हि सौभाग्यमदप्रसूतिः प्रियप्रसादो मदिरासहस्रम् ॥
--विक्रमांक० १०।५०

२- ज्येष्ठं गुणैर्गरिष्ठोऽपि पितृतुल्यममंस्त सः ।
महात्मनाममार्गेण न भवन्ति प्रवृत्तयः ॥
-- विक्रमांक० ४।६५

३- देखें : वही ३।३३-३६

४- देखें : वही ३। ५५-५६

५- देखें : वही ६।६६

किया था और स्नेह की कौन कहे, इन्हें अपने मार्ग का प्रतिरोधक मानकर मारने का प्रयास किया था[1] और अन्ततः विक्रमांकदेव द्वारा बन्दी बनाया गया था[2]।

(V) बिल्हण की गृहस्थाश्रम सम्बन्धी मान्यताएं

जयसिंह एवं विक्रमांकदेव के उपर्युक्त गार्हस्थ्य-जीवन के आधार पर हम कह सकते हैं कि महाकवि बिल्हण गार्हस्थ्य जीवन की सफलता पुत्रोत्पादन में ही निहित मानते थे और पुरुषार्थत्रय के समुचित पालन के पक्षपाती थे। उनकी दृष्टि में सपत्नियों का पारस्परिक सम्बन्ध सदा ही प्रेम-विहीन होता था और भाइयों का सम्बन्ध भी स्वार्थ एवं घृणा-युक्त होता था।

६- अर्धप्रधान महाकाव्यों में विकृत गार्हस्थ्य

अर्धप्रधान महाकाव्यों के विश्लेषणात्मक अध्ययन से हमें यह भी ज्ञात होता है कि ऐसे महाकाव्यों में पति-पत्नी के शास्त्र-सम्मत गार्हस्थ्य जीवन के वर्णन के साथ ही गार्हस्थ्य जीवन या अन्य शब्दों में काम केलियों का चित्रण एक विकृत एवं अशास्त्रीयरूप में भी किया गया है। इन महाकाव्यों में इस विकृत गार्हस्थ्य के हमें दो स्वरूप प्राप्त होते हैं -- वन विहार एवं स्त्रियों एवं पुरुषों का स्वतंत्र अभिसार। इनमें से वन विहार का चित्रण महाकवियों ने अपने काव्य में नायक या उनके पूर्वजों (पिता) द्वारा कराया है और अभिसार का स्वतंत्र रूप से चित्रण किया है।

संस्कृत के अर्धप्रधान काव्यों की परम्परा में वनविहार के चित्रण

१- देखें : विक्रमांक० ५।६६ ६।१ एवं छठां सर्ग

२- ,, : ,, ६।९०

इसमें रघुवंश में दशरथ-चरित वर्णन में, शिशुपाल में कृष्ण के सेना सहित रैवतक पर्वत के निवास के वर्णन में, कुमारदास के दशरथ-चरित वर्णन में और बिल्हण के विक्रमांकदेव के वर्णन में देखने को मिलता है। वन विहार के वर्णन-क्रम में महाकवियों ने पुष्पावचय, दोलारोहण, वृक्षारोहण, जल-क्रीड़ा एवं मदिरापान, प्रियाराधन आदि का वर्णन किया है।[1]

अभिसारिकाओं के स्वतंत्र अभिसार का चित्रण इसमें मुख्यरूप से किरात एवं विक्रमांकदेव चरित महाकाव्यों में देखने को मिलता है। महाकवि भारवि ने अपने काव्य के अष्टम सर्ग में गन्धर्वों एवं अप्सराओं के अभिसार के अन्तर्गत उनके पुष्पावचय, जल-क्रीड़ा, स्त्रियों के अलंकरण, समागम के लिए एकान्त भवनों में की जाने वाली प्रतीक्षा, मदिरापान एवं रति-क्रीड़ा आदि विभिन्न कामकेलियों का चित्रण किया है।[2] महाकवि माघ ने रैवतक पर्वत पर कृष्ण की सेनाओं के वर्णन क्रम में भी स्वतंत्र अभिसार का ही चित्रण करते हुए विभिन्न कामकेलियों का वर्णन किया है।[3] इसी प्रकार महाकवि बिल्हण ने भी विक्रमांकदेव के वनविहार के साथ ही अभिसारिकाओं के स्वतंत्र अभिसार का ही चित्रण किया है और इस अवसर पर अभिसारिकाओं द्वारा अन्धकार में भी

१- देखें : रघु० ६।३०-४७ ; शिशुपाल० ६।७-१२,१३-१६,३४-३१ ; ७।२६-३९, ७५; ८।३-८,३०-३३,एवं ३४-३८ ; जानकी० ३।१७-२०,३५-५७,६६-७४ एवं विक्रमांक० १०।१८-३९,३८,६३-८७ एवं ११।४४-६८ आदि।

२- देखें : किरात० ८।१३-२०,२८-५५,९।१-६,३४,३६-४२,५९-६३ एवं ६४-७७ आदि।

३- देखें : शिशुपाल० ६-९ सर्ग।

पति के घर पहुंचने[1], पति के समागम को प्राप्त करने के लिए जन-समूह की दृष्टि से बचने के लिए प्रच्छन्न रूप धारण करने[2] आदि का वर्णन किया है ।

स्वतंत्र अभिसार के उपर्युक्त वर्णन द्वारा महाकवियों ने जहां काम का स्वतंत्र चित्रण किया है वहीं प्रिय का समागम प्राप्त करने के लिए उनके बुद्धि-चातुर्य का परिचय दिया है । स्त्रियों में प्रिय से काम सम्बन्ध की स्थापना के लिए महाकवियों ने उनकी बुद्धि का एक और स्वरूप भी बताया है कि किस प्रकार वे पुरुष को काम-सम्बन्ध की स्थापना के लिए प्रेरित करती हैं और उसे कामासक्त बनाती हैं । महाकवि भारवि की अभिसारिकाओं ने अपने प्रियतमों को आकर्षित करने के लिए कटाक्षपात, लज्जाप्रदर्शन, अलस चाल आदि का ही सहारा लिया था[3]।

१- देखें : विक्रमांक० ११।२०-२२

२- बिल्हण की एक नायिका योगिन का रूप धारण करके और इस प्रकार जन-समूह से बचते हुए अपने प्रिय के पास पहुंचती है --

'रागसेन बहिता रक्तवस्त्री-रूपधारि विरचय्य शरीरम् ।
कापि वञ्चितवती जनबाधा कं विडम्बयति नो कुसुमेषु: ।।
--विक्रमांक० ११।२४

इसी प्रकार उनकी एक युवती अभिसारिका अपने हाथ में लिए हुए दीपक को अपनी सखी के हाथों में देकर और इस प्रकार जन-समूह को वंचित करके प्रिय के गृह पहुंचती है --

'कापि मुग्धपथवीमधिरोप्य स्वां सखीं स्वकरधारितदीपा ।
प्राणनाथरतिवेश्मयातीद् गूढ़ रतिकौतुकवेश: ।।
-- वही ११।२५

३- सरसनमवलम्ब्य नीलनन्या विगलितनीवि विलोलमन्तरीयम् ।
अभिमतमना: स्वाम्बसेव च्युतरसनागुणसन्दितावतस्थे ।।
--किरात० १०।५४

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि संस्कृत के अप्रधानमहाकाव्यों में आश्रमचतुष्टय के क्रमिक पालन का चित्रण हुआ है। आश्रमचतुष्टय में से गृहस्थाश्रम चूंकि अन्य तीनों आश्रमों का पालक होता है इसीलिए वह इनमें व्यापक रूप से चित्रित हुआ है। गार्हस्थ्य चित्रण के अन्तर्गत इनमें गार्हस्थ्य की परिधि में आने वाले विभिन्न पारिवारिक सदस्यों में आदर्श पारस्परिक सम्बन्ध दर्शाया गया है। पारिवारिक चित्रण के अन्तर्गत यहां गृहस्वामी के प्रभुत्व को ही स्वीकृत किया गया है और अन्य पारिवारिक सदस्यों को उसके अधीन रहने एवं उसके आज्ञापालक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। पति-पत्नी के सम्बन्ध में पत्नी को पूर्णरूप से पति के अधीन दिखाया गया है। उसे पति की गृहिणी के रूप में चित्रित करने के साथ ही उसकी शिष्या एवं मन्त्री तथा सखा के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है। पत्नी की सखा रूप में मान्यता के कारण ही भारवि की द्रौपदी ने युधिष्ठिर को अनेक मर्माहत वचनों द्वारा युद्ध के लिए प्रेरित करने का प्रयास किया था। पत्नी के पति के मुख्य कर्त्तव्यों के रूप में यहां पातिव्रत्य एवं पति सेवा को ही मान्यता दी गयी है। पति के कर्त्तव्यों के अन्तर्गत यहां पत्नी के भरण-पोषण एवं उससे ऋतुकालाभिगमन का निर्धारण किया गया है।

पति-पत्नी के सम्बन्ध के अतिरिक्त यहां सपत्नी एवं भ्रातृ-सम्बन्धों का भी विवेचन किया गया है। इन काव्यों में सपत्नी-सम्बन्ध ईर्ष्यायुक्त ही दर्शाया गया है। वे पति के राजनीतिक सम्बन्धों में जहां सहायक होती थीं वहीं उससे काम-सम्बन्ध की स्थापना के लिए भी उनमें होड़ लगी रहती थी।

भ्रातृ सम्बन्ध यहां हमें दो रूपों में देखने को मिलता है। कालिदास के भरत ने जहां अग्रज राम का राज्यपद पर अधिकार मानने के कारण उसे ठुकरा दिया था और अन्ततः धरोहर के रूप में चौदह वर्षों तक राज्य-व्यवस्था सम्भालने के पश्चात् उन्हें लौटा दिया था तथा भारवि के अर्जुन ने भाइयों के अभ्युदय के लिए कठिन तपस्या का आश्रय लिया था वहीं बिल्हण के सोमदेव अपने अनुजों

के वध के लिए प्रयत्नशील बताये गए हैं। इन उदाहरणों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि पौराणिक कथानकों पर आधारित महाकाव्यों में आदर्श भ्रातृ सम्बन्ध का चित्रण हुआ है तथा चरित काव्यों की परम्परा में स्वार्थमय भ्रातृ-सम्बन्ध चित्रित हुआ है।

इन पारिवारिक सदस्यों के साथ ही प्रत्येक नायक के गार्हस्थ्य जीवन की सफलता के लिए उससे पुरुषार्थत्रय का पालन कराते हुए उसे त्रिऋण से अनृण हुए के रूप में प्रस्तुत किया गया है और उनके धर्मपालन के अन्तर्गत प्रजापालन एवं यज्ञ यागादि का सम्पादन करने, अर्थ-प्राप्ति के अन्तर्गत धर्मयुक्त पद्धति से साम्राज्य-विजय करने और कामोपभोग के अन्तर्गत पत्नी से ऋतुकालाभिगमन करके पुत्रोत्पादन करने का चित्रण किया गया है। पुत्रोत्पादन के लिए यहां नायकों द्वारा पुत्रेष्टियज्ञ करने या कि कुलदेव की आराधना करने का भी वर्णन किया गया है।

-o-

पंचम अध्याय

रामप्रधान महाकाव्यों में गार्हस्थ्य-चित्रण

पंचम अध्याय
-0-

कामप्रधान महाकाव्यों में गार्हस्थ्य-चित्रण

१-(क) कामप्रधान महाकाव्यों का मुख्य प्रतिपाद्य

संस्कृतमहाकाव्यों की परम्परा में 'काम' को केन्द्रबिन्दु में रखकर प्रणीत, कुमारसम्भव, नवसाहसांकचरित, नैषध, पारिजातहरण, रुक्मिणीहरण, लक्ष्मण परिणय तथा राधा परिणय आदि महाकाव्यों का यदि हम आलोचनात्मक अध्ययन करें तो यह ज्ञात होता है कि इनमें मुख्य कथानक के रूप में नायक एवं नायिका के पूर्वानुराग, विवाह एवं उनके शृंगारिक वैवाहिक जीवन का ही प्रतिपादन हुआ है। ऐसे काव्यों में यदि युद्ध का वर्णन भी हुआ है तो वह प्रेमिका की प्राप्ति के लिए[1] या फिर उसकी आराधना के लिए[2]।

१- नवसाहसांक एवं वज्रांकुश तथा कृष्ण एवं रुक्मी का युद्ध शशिप्रभा एवं रुक्मिणी के कारण ही हुआ था। नवसाहसांक ने वज्रांकुश के उद्यान से स्वर्णकमलों की प्राप्ति के लिए वज्रांकुश से युद्ध किया था और इस प्रकार शशिप्रभा के पिता की शर्त पूरी करके उसे प्राप्त किया था। कृष्ण ने रुक्मिणी के हरण के लिए युद्ध का आश्रय लिया था और उसे पत्नी बनाया था।
- देखें: नवसाहसाङ्क. स.१८ एवं रुक्मिणी. स.१५

२- कृष्ण-इन्द्र का युद्ध प्रियाराधन के कारण ही हुआ था। कृष्ण ने सत्यभामा की प्रसन्नता के लिए ही पारिजात पुष्पों को इन्द्रलोक से लाने के लिए इन्द्र से युद्ध किया था।

(ख) कुमारसम्भव में गार्हस्थ्य-चित्रण

संस्कृत साहित्य में कामप्रधान महाकाव्यों की परम्परा का प्रारम्भ महाकवि कालिदास के कुमारसम्भव से माना जा सकता है और इस कारण से हम उसे कामप्रधान महाकाव्यों की परम्परा का आदिकाव्य मान सकते हैं। इस प्रकार कामप्रधान महाकाव्यों में गार्हस्थ्य चित्रण के विवेचन के सन्दर्भ में सर्वप्रथम कुमारसम्भव का ही क्रम आता है। एतदर्थ यहां सर्वप्रथम इस काव्य के नायक शिव एवं पार्वती के गार्हस्थ्य जीवन का विवेचन किया जाएगा।

(१) शिव एवं पार्वती का गार्हस्थ्य जीवन

शिव एवं पार्वती के गार्हस्थ्य जीवन के वर्णन क्रम में महाकवि कालिदास ने नारद द्वारा शिव एवं पार्वती के विवाह की घोषणा[१], तप: रत शिव की पार्वती द्वारा सेवा[२] एवं शारीरिक सौन्दर्य के बल पर उन्हें वश में करने का प्रयास[३]; अन्तत: पराजय[४] एवं तब तपस्या द्वारा शिव को प्राप्त करने के लिए पार्वती की कठिन तपस्या[५], शिव द्वारा उनकी परीक्षा[६], अन्तत: दोनों के विवाह[७] एवं विवाहोत्तर नव वर-वधू के लिए अपेक्षित विभिन्न कामकेलियों का चित्रण[८]

१- देखें : कुमार० १।५०
२- ,, : ,, १।५८-६०
३- ,, : ,, ३।५१-५७
४- ,, : ,, ३।६५-७२
५- विस्तृत वर्णन के लिए देखें : कुमार० ५।१२-२८
६- ,, ,, ,, ,, ५।२९-८३
७- ,, ,, ,, ,, सप्तम सर्ग
८- ,, ,, ,, ,, अष्टम एवं नवम सर्ग

तथा अन्त में कुमार कार्तिकेय के जन्म इन आठ घटनाओं का विस्तृत चित्रण किया है। इन वर्णनों में से पार्वती की कठिन तपस्या के चित्रण के अवसर पर महाकवि ने पति को प्राप्त करने के लिए पत्नी द्वारा की जाने वाली साधना को ही दर्शाया है। पार्वती ने अपनी रूप-राशि की व्यर्थता प्रकट हो जाने पर तप: साधना के बल-बूते पर ही शिव को वश में करने के लिए ही तपस्या का आश्रय लिया था[2]। ऐसी कठिन तपस्या की थी कि स्वयं "अपर्णा" की संज्ञा प्राप्त कर ली थी[3] और अपनी तप: राशि से बड़े-बड़े ऋषियों को भी लज्जित कर दिया था[4]। पार्वती की कठिन तपस्या से ही अन्तत: शिव को उसे स्वीकार करना पड़ा था।

यहां एक तथ्य यह अवधेय है कि पार्वती की तप: साधना के वर्णन के द्वारा महाकवि ने उसकी शिव विषयक दृढ़ अनुराग को भी प्रकारान्तर से दर्शाया है। उसके इस दृढ़ अनुराग की पुष्टि के लिए ही आगे चलकर बटुकधारी शिव एवं पार्वती के वार्तालाप के अवसर पर उन्होंने उसके पातिव्रत्य का भी सुन्दर

१- विस्तृत वर्णन के लिए देखें : कुमार० पंचम सर्ग

२- "यथा श्रुतं वेदविदांवर। त्वया जनोऽयमुच्चैःपदलंघनोत्सुकः।
तपः किलेदं तदवाप्तिसाधनं मनोरथानामगतिर्न विद्यते ॥"
—वही ५।६४ एवं इसी प्रकार देखें ५६

३- स्वयंविशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता परा हि काष्ठा तपसस्तया पुनः।
तदप्यपाकीर्णमतः प्रियंवदां वदन्त्यपर्णेति च तां पुराविदः ॥
— वही ५।२८

४- मृणालिकापेलवमादिभिर्व्रतैः स्वमंगं ग्लपयन्त्यहर्निशम्।
तपः शरीरैः कठिनैरुपार्जितं तपस्विनां दूरमधश्चकार सा ॥
— वही ५।२९

दिग्दर्शन कराया है। बटुकधारी शिव ने जब पार्वती की तपस्या का उद्देश्य शिव की पतिरूप में प्राप्ति को जाना तो उसने उनके विचित्र वेशभूषा, अज्ञात जन्म एवं धनहीनता आदि का उल्लेख करके उन्हें शिव की ओर से विमुख करना चाहा[1]। परन्तु पार्वती ने उसकी इन कटोक्तियों का जवाब देते हुए[2] उससे यही कहा कि ठीक है भाई विवाद करने से क्या लाभ? तुमने शिव को जैसा समझा है वैसा ही मानो। मेरा मन तो उन्हें पतिरूप में ही पाना चाहता है[3]। परन्तु मुंहफट ब्रह्मचारी जब पुनः कुछ बोलना चाहता है तो वह सखी से उसे मना करवाती है[4] और स्वयं अन्यत्र जाने को उद्यत हो जाती हैं[5]। पार्वती के उपर्युक्त कृत्य जहां उसकी शिवविषयक निष्ठा को व्यक्त करते हैं वहीं शिवरूप में प्राप्त होने वाले पति के पातिव्रत्य को भी। वह अपने पति शिव के एक भी दुर्गुणों का सुनना भी पाप समझती हैं। उसकी दृष्टि में तो वही विरूपाक्ष सबसे सुन्दर है, वृष की सवारी वाला एवं दिगम्बर वह सबसे अधिक धनवान है।

ऐसे लोकातिशायी पावन चरित वाले शिव एवं पार्वती के विवाह को सम्पन्न कराकर एवं उन्हें सामान्य मानव के रूप में चित्रित करके

१- देखें : कुमार० ५।६८-७२

२- देखें : ,, ५।७६-८१

३- 'अलं विवादेन यथा श्रुतस्त्वया तथाविधस्तावदशेषमस्तु सः।
ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिर्वचनीयमीक्षते ॥
--वही ५।८२

४- निवार्यतामालि। किमप्ययं बटुः पुनर्विवक्षुः स्फुरितोत्तराधरः।
न केवलं यो महतोऽपभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक् ॥
-- वही ५।८३

५- 'इतो गमिष्याम्यथवेति वादिनी चचाल बाला स्तनभिन्नवल्कला

--वही ५।८४

महाकवि ने उनकी कामकेलियों का चित्रण करके और उन्हें पुत्र-प्राप्ति कराके उनके गार्हस्थ्य की पूर्णता दर्शायी है । यद्यपि कवि की यह कामकेलि कुछ विदग्ध एवं परम्परावादी आलोचकों को खटक सकती है परन्तु यदि इन दोनों पर से देवत्व का आवरण हटा दिया जाय तो यह सुस्पष्ट हो जाता है कि मानव जगत के ही नायक एवं नायिका होने के कारण कवि का यह कर्तव्य था कि वह उनकी कामकेलियों का भी चित्रण करे । सम्भवतः इसी तथ्य को ध्यान में रखकर महाकवि ने इन दोनों की कामकेलि-वर्णन के अन्तर्गत नवोढ़ा वधू की रति विषयक कल्पनाओं[1], शिव की रतिचेष्टाओं[2], पर्वत-विहार[3], गन्धमादन पर विहार[4], मदिरापान[5], शिवसम्भोग[6] एवं शिव द्वारा पार्वती के प्रसाधन[7] आदि का सुन्दर चित्रण किया है । इस प्रकार वर-वधू दोनों को ही समान अनुराग की स्थिति में चित्रित किया है[8]।

(ii) पार्वती का मातृजीवन

यह तो हुआ गार्हस्थ्य चित्रण के क्रम में कालिदास द्वारा वर्णित पति-पत्नी का चित्रण । गार्हस्थ्य जीवन का एक और महत्वपूर्ण पक्ष

१- विस्तृत वर्णन के लिए देखें : कुमार० ८।१-१२

२- ,, ,, ,, वही ८।१३-१८

३- ,, ,, ,, वही ८।१९।२४

४- ,, ,, ,, वही ८।३२।३८

५- ,, ,, ,, वही ८।७४-८०

६- ,, ,, ,, वही ८।८५-९१

७- ,, ,, ,, वही ९।२१-२८

८- "तं यथात्मसदृशं वरं वधूरन्वरज्यत वरस्तथैव ताम् ।
सागरादनपगा हि जाह्नवी सोऽपि तन्मुखरसैकनिर्वृतिः ।।"
— वही ८।१६

होता है बालकेलि । वस्तुतः पति-पत्नी के सम्बन्ध की चरम परिणति होती है सन्तति का उत्पादन और आगे चलकर वही सन्तति उनके आमोद-प्रमोद का साधन बनती है । गार्हस्थ्य जीवन में बालकेलि की इसी महत्ता को ध्यान में रखकर महाकवि ने भी पार्वती एवं कार्तिकेय की बालकेलियों का दृश्य उपस्थित किया है। पार्वती की बाल्यावस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह कभी तो सहेलियों के साथ गंगातट पर वेदिका बनाती थीं, कभी गेंद खेलती थीं और कभी गुड़िया सजाती थीं[1]। पार्वती की इस संश्लिष्ट बालकेलि के साथ ही आगे चलकर शिव-पार्वती के गार्हस्थ्य जीवन को आनन्दित करने वाले कुमारकार्तिकेय की बाल्यकालीन क्रीड़ाओं का चित्रण किया है । कुमार कार्तिकेय लड़खड़ाते, गिरते पड़ते मनोहर चाल से ही शिव-पार्वती को आनन्दित करते हैं[2]। इसी प्रकार आगे चलकर महाकवि ने कार्तिकेय के अकारण ही हास्य करने, धूल लपेटने, गोद में चढ़ने, अस्फुट बोलने[3] नन्दीश्रृंग एवं भृंगी शिखाग्र का कौतुकवश ग्रहण करने[4], कल्पित गिनती गिनने[5], शिव के कण्ठ में पड़ी कपाल माला के कपालों में अंगुली डालने[6], शिवपटा

१- मन्दाकिनीसैकतवेदिकाभिः सा कन्दुकैः कृत्रिमपुत्रकैश्च ।
रेमे मुहुर्मध्यगता सखीनां क्रीडारसं निर्विशतीव बाल्ये ॥

—वही १।२९

२- क्वचित्स्खलद्भिः क्वचिदस्खलद्भिः क्वचित्प्रकम्पैः क्वचिदप्रकम्पैः ।
बालः स लीलाचलनप्रयोगैस्तयोर्मुदं वर्धयति स्म पित्रोः ॥

३- देखें : वही ११ ।४३

४- देखें : वही ११।४४

५- देखें : वही ११।४५

६- देखें : वही ११।४६

में स्थित गंगा से खेल करने[1] एवं उनके शिर पर स्थित चन्द्र को पकड़ने का[2] सुन्दर वर्णन किया है।

(iii) कुमारसम्भव में विवेचित गार्हस्थ्य जीवन की मान्यताएं -

गार्हस्थ्य जीवन से सम्बद्ध उपर्युक्त पारिवारिक चित्रणों के साथ ही महाकवि ने गार्हस्थ्य जीवन से ही सम्बद्ध कुछ अन्य तथ्यों पर भी प्रकाश डाला है जो इस प्रकार है --

कालिदास वैवाहिक सम्बन्धों के क्रम में वर-वधू का, अवस्था, सौन्दर्य एवं पारिवारिक स्थिति की दृष्टि से समान होना आवश्यक मानते थे । अपने इसी दृष्टिकोण की पुष्टि के लिए उन्होंने काव्य के प्रारम्भ में ही हिमालय और मैना के वर्णन-क्रम में प्रकारान्तर से इसी तथ्य को बताया है।[3] इसी प्रकार आगे चलकर शिव के मुख से भी उन्होंने वर में सौन्दर्य, उच्चकुल में जन्म एवं धनसम्पन्न होना आवश्यक माना है[4] और पार्वती में भी इन गुणों का उल्लेख किया है।[5]

वर एवं कन्या की सम्बन्ध-स्थापना में केवल रूप या सौन्दर्य की प्रधानता न मानकर वे रूप के साथ गुण का होना भी आवश्यक मानते थे। इसीलिए पार्वती के मुख से स्वयं अपने लोकातिशायी सौन्दर्य की निन्दा कराके वह

१- देखें : कुमार० ११।४७

२- ,, : वही ११।४८

३- स मानसीं मेरुसखः पितॄणां कन्यां कुलस्य स्थितये स्थितिज्ञः ।
मेनां मुनीनामपि माननीयामात्मानुरूपां विधिनोपयेमे ॥
-- वही १।१८

४- देखें : कुमार० १।७२

५- कुले प्रसूतिः प्रथमस्य वेधसस्त्रिलोकसौन्दर्यमिवोदितं वपुः ।
अमृग्यमैश्वर्यसुखं नवं वयस्तपःफलं स्यात्किमतः परं वद ॥
-- वही ५।४१

उसे कठिन तपस्या में रत दिखाते हैं और तभी शिव को उसकी ओर उन्मुख भी । इस विषय का विस्तृत विवेचन पीछे हो चुका है ।

गार्हस्थ्य जीवन के क्रम में वह पत्नी को पूर्णरूप से पति की अनुगामिनी होना आवश्यक मानते थे । इसीलिए उन्होंने रति के मुख से स्पष्ट घोषणा करवायी कि पत्नियां तो पति के ही मार्ग का अनुसरण करती हैं और इस कथन की पुष्टि में चन्द्रमा एवं कौमुदी तथा मेघ एवं विद्युत का उदाहरण दिखाया है[1]। कहने का आशय यह कि कवि की दृष्टि में जैसे कौमुदी चन्द्रमा का अनुसरण करते हुए उसी के साथ विलीन हो जाती है और विद्युत भी मेघ का ही अनुवर्तन करती है उसी प्रकार पत्नी को भी पति का अनुसरण करना चाहिए । कालिदास के उपर्युक्त मत में भारतीय सामाजिक परम्परा का ही पूर्ण अनुवर्तन किया गया है । यहां की सामाजिक मान्यता के अनुसार वही स्त्री पतिव्रता कही जा सकती है जो पति की दुःखावस्था में दुःखी, प्रसन्नता में आनन्द, उसके प्रवास-काल में मलीन एवं उसकी मृत्यु पर स्वयं मृत्यु का वरण कर ले[2]। कालिदास पत्नी का मुख्य धर्म ही उसका पातिव्रत्य मानते थे । उनकी मान्यता थी कि पतिव्रता स्त्री अपने पातिव्रत्य के प्रभाव से पति के मानसिक भावों को जानने में भी समर्थ हो सकती है । हिमालय पत्नी मेना ने अपने पातिव्रत्य के बल पर ही पार्वती के विवाह के अवसर पर पति के कार्यों को जान लिया था और उसे पूर्ण किया था[3]।

१- "शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित्प्रलीयते ।
प्रमदाः पतिवर्त्मगाः इति प्रतिपन्नं हि विचेतनैरपि ॥"
— वही ४।३३

२- आर्तार्ते मुदिते हृष्टा प्रोषिते मलिना कृशा ।
मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता ॥
—कुमार० ४।३३ पर मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत

३- "मेने मेनापि तत्सर्वं पत्युःकार्यमभीप्सितम् ।
भवन्त्यव्यभिचारिण्यो भर्तुरिष्टे पतिव्रताः ॥ — वही ६।८६

गार्हस्थ्यकाल में वह कन्याओं का पूर्ण भार उनकी माता पर ही डालने के पक्षपाती थे चाहे वह उनकी शिक्षा हो या कि विवाह । पर्वतराज हिमालय ने भी पार्वती के विवाह का दायित्व मैना पर ही डाल दिया था[1] ।

कालिदास प्रत्येक गृहस्थ द्वारा तप: साधना करना एवं नियमित रूप से संध्यावन्दन करना आवश्यक मानते थे । इसीलिए उन्होंने शिव एवं पार्वती दोनों से ही कठिन तपस्या करवायी है । पार्वती ने जहां शिव की प्राप्ति के लिए कठोर तपस्या का आश्रय लिया था[2] वहीं शिव ने भी किसी इच्छा की पूर्ति के लिए ही तपस्या की थी[3] । तप: साधना के अतिरिक्त वह प्रत्येक गृहस्थ (विशेषत: ब्राह्मण गृहस्थ) द्वारा संध्यावन्दन का सम्पादन आवश्यक मानते थे और इसीलिए उन्होंने शिव से भी पार्वती की अनुमति प्राप्त कराके संध्या करायी है[4] ।

१- शैल: सम्पूर्णकामोऽपि मेनामुखमुदैक्षत ।
प्रायेण गृहिणीनेत्रा: कन्यार्थेषु कुटुम्बिन: ॥
— वही ६।८५

२- यदा च तस्याधिगमे जगत्पतेरपश्यदन्यं न विधिं विचिन्वती ।
तदा सहास्माभिरनुज्ञया गुरोरियं प्रपन्ना तपसे तपोवनम् ॥
—कुमार० ५।५९

३- तत्राग्निमाधाय समित्समिद्धं स्वमेव मूर्त्यन्तरमष्टमूर्ति: ।
स्वयं विधाता तपस: फलानां केनापि कामेन तपश्चचार ॥
— वही १।५७

४- अद्रिराजतनये । तपस्विन: पावनाम्बुविहिताञ्जलिक्रिया: ।
ब्रह्मगूढमभिसन्ध्यमादृता: शुद्धये विधिविदो गृणन्त्यमी ॥
तन्मुहूर्तमनुमन्तुमर्हसि प्रस्तुताय नियमाय मामपि ।
त्वां विनोदनिपुण: सखीजनो वल्गुवादिनि विनोदयिष्यति ॥
— वही ८।४७-४८

(ग) नवसाहसांक में गार्हस्थ्यचित्रण --

(१) नवसाहसांक एवं शशिप्रभा का गार्हस्थ्य जीवन

कालक्रमानुसार कामप्रधान महाकाव्यों की परम्परा में कुमारसम्भव के पश्चात् पद्मगुप्त के नवसाहसांकचरित का क्रम आता है। परन्तु इस काव्य का यदि आलोचनात्मक अध्ययन किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि पद्मगुप्त ने अपने काव्य नायक नवसाहसांक एवं नायिका शशिप्रभा के पूर्वानुराग का ही विस्तृत चित्रण किया है और काव्य के समस्त सर्गों में इनके पूर्वानुराग को ही मुख्य रूप से पुष्ट किया है[1]। काव्य के अन्तिम सर्ग एवं अठारहवें सर्ग में भी उन्होंने इन दोनों के विवाहोत्तर गार्हस्थ्य जीवन का चित्रण न करके इनके विवाह[2], शशिप्रभा के पिता द्वारा नवसाहसांक को उपहाररूप में शिव लिंगार्पण[3], एवं नवसाहसांक एवं शशिप्रभा के उज्जयिनी-प्रवेश[4] और नवसाहसांक द्वारा पुनः राज्यसंचालन की व्यवस्था ग्रहण करने का वर्णन किया है[5]।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि पद्मगुप्त ने नवसाहसांक के गार्हस्थ्य जीवन पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाला है। परन्तु पूर्वानुराग के वर्णन के अवसर पर उन्होंने नायक की शशिप्रभा की प्राप्ति के लिए कठोर संघर्ष एवं शशिप्रभा के एकनिष्ठ प्रेम का चित्रण अवश्य ही किया है। इसके साथ ही उन्होंने नवसाहसांक की धार्मिक बुद्धि का भी चित्रण किया है। और उसके धर्म कार्यों के अन्तर्गत, सन्ध्यावन्दन करने[6] एवं उज्जयिनी में महाकालेश्वर की विधिवत् पूजा करने

१- इन दोनों के पूर्वानुराग का विस्तृत चित्रण प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में किया जा चुका है।

२- देखें : नवसाहसांक० १८।४६-४७

३- ,,: वही १८।५१-५३

४- ,,: वही १८।५८-६४

५- ,,: वही १८।६८

६- ,,: वही २।८२,१००

का वर्णन किया है[1]। इस वर्णन के अतिरिक्त कवि ने अन्तिम सर्ग में शशिप्रभा की सखियों के उपदेश के अवसर पर पति-पत्नी के सम्बन्ध पर भी संक्षिप्त प्रकाश डालते हुए सखियों से यह कहलाया है कि हे शशिप्रभे । कभी भी अपने पति से नाराज न होना, अपने गर्व को वश में करके तुम उसकी इच्छा के अनुसार ही आचरण करना क्योंकि इसी उपाय से तुम पति को अपने अनुकूल रख सकती हो[2]। इस वर्णन से प्रकारान्तर से यह भी सुस्पष्ट हो जाता है कि पद्मगुप्त की दृष्टि में पत्नी का मुख्य कर्तव्य होता है पति की प्रत्येक आज्ञा का पालन, इसी उपाय से पति पत्नी का वशवर्ती हो सकता है ।

ध- नैषधीयचरित में गार्हस्थ्यचित्रण--

(क) नल दमयन्ती का गार्हस्थ्य जीवन

नवसाहसांकचरित महाकाव्य के पश्चात् कामप्रधान महाकाव्यों की परम्परा में आगे चलकर महाकवि श्री हर्ष ने 'नैषधीय चरित' महाकाव्य में अपने काव्य नायक नल एवं नायिका दमयन्ती के पूर्वानुराग, विवाह, विवाहोत्तर कामकेलि एवं उनके दैनिक जीवनचर्या का विस्तृत चित्रण किया है । पूर्वानुराग के वर्णन प्रसंग में उन्होंने दमयन्ती के पातिव्रत्य का चित्रण करते हुए नल को एक कर्तव्य-निष्ठ नरेश के रूप में प्रस्तुत किया है और इस कर्तव्य-निष्ठा को दर्शाने के लिए स्वयं दमयन्ती के प्रार्थी नल को देवताओं के दूत के रूप में दमयन्ती के पास पहुंचाया है । इन दोनों के पूर्वानुराग को ही विवाह के रूप में चित्रित करने के

१- देखें : नवसाहसांक० १७ १८।६१

२- 'मा भूः कदापि कुपिता रमणे यदस्य

छन्दानुवृत्तिरतिसंवननं मदस्य ।

उक्त्वेति तामभियुतामगमन् गृहाणि

गन्धर्वकिन्नरमहोरगसिद्धकन्याः ।।

--वही १८।६७

पश्चात् आगे चलकर अठारहवें से लेकर बाइसवें सर्ग तक उन्होंने नल-दमयन्ती के गार्हस्थ्य जीवन की दैनिक दिनचर्या को दर्शाया है ।

काव्य के अनुसार महाराज नल ने स्वयंवर में दमयन्ती को प्राप्तकर एवं उसे अपनी महिषी के रूप में साथ लेकर गार्हस्थ्य जीवन को सफल करने के लिए रमण प्रारम्भ किया[1]। परन्तु इस कामोपभोग के समय भी उन्होंने शास्त्रीय मान्यताओं का पालन किया और दिवामैथुनादि अमर्यादित कृत्यों से बचे रहे क्योंकि विषयों में कृत्रिम एकाग्रता ज्ञानी पुरुषों को दूषित नहीं करती[2]। कामोपभोग की व्यस्तता से राज्य संचालन कहीं अव्यवस्थित न हो जाए इसलिए उन्होंने राज्य की पूरी व्यवस्था का भार मन्त्रियों पर सौंप दिया और फिर निश्चिन्त होकर अपने सुशोभित प्रासाद में[3] प्रिया दमयन्ती को साथ लेकर कामदेव की आराधना प्रारम्भ किया[4]। इसके पश्चात् ही महाकवि ने नल-दमयन्ती की विस्तृत काम-केलि के चित्रण के प्रसंग में नवोढ़ा दमयन्ती की रतिविषयक

१- सोऽयमित्थमथ भीमनन्दिनीं दारसारमधिगम्य नैषधः ।
स तृतीयपुरुषार्थवारिधेः पारलम्भनतरीमरीरमत् ॥
--नैषध० १८।१

२- "आत्मवित्सह तया दिवानिशं भोगभागपि न पापमाप सः ।
आवृता हि विषयैकतानता ज्ञानधौतमनसं न लिम्पति ॥"
--नैषध० १८।२

३- महाकवि श्रीहर्ष ने नल के भव्य प्रासाद का चित्रण करते हुए उनकी अर्थसम्पन्नता को प्रदर्शित किया है ।
--देखें : वही १८।४-२६

४- "न्यस्य मन्त्रिषु स राज्यमादरादारराध मदनं प्रियासखः ।
हैमवर्णमणिकोटिकुट्टिमे हैमभूमिभृति सौधभूधरे ॥
--वही १८।३

लज्जालुता[1], परिचय की प्रगाढ़ता के पश्चात् दमयन्ती की लज्जा दूर होने[2] एवं आगे चलकर उनकी विस्तृत कामकेलि को दिखाया है[3]। कवि के अनुसार दमयन्ती ने नल के साथ भूमि, समुद्र,वन, पर्वतीय भूमि देश एवं भू:, भुव: स्व:, मह:, जन: एवं तप: इन सात लोकों पर कामकेलि का सुख लिया था। इन दोनों ने कामकेलि के सन्दर्भ में कामशास्त्र में विवेचित विभिन्न आसनों का भी प्रयोग किया था[4]। यही नहीं कामोपभोग में स्त्री द्वारा सौन्दर्य वेष आदि से पति को आकर्षित करने के प्रसंग में दमयन्ती के द्वारा कवि ने देववरदान के फलस्वरूप विविधस्वरूप धारण से सौन्दर्यस्वरूप, महाराष्ट्र, गुजरात, लाट आदि देश वाली सुन्दर स्त्रियों के भूषण वस्त्रादि से श्रृंगार रचना, नीले, पीले श्वेत चित्रित आदि विविध रंग बिरंगे कपड़े, चन्दन, कपूर, कस्तूरी आदि के लेप की सुगन्ध एवं विविध भूषणों से तथा अनेक विध भाषा, गायन, कला आदि द्वारा नल को सन्तुष्ट करती हुई चित्रित किया है[5]। दमयन्ती ने कामोपभोग द्वारा पति को सन्तुष्ट करने के साथ ही, सखि आदि से पति के गुणों के वर्णन एवं उनके दोष के अपलाप रूप चेष्टा से, पति के शयन के पश्चात् सोने एवं उनसे पूर्व उठने, पति के आने पर प्रसन्नता व्यक्त करने एवं जाने पर उदासीन रहने तथा सुख-दु:ख

१- देखें : नैषध० १८।२६-५२

२- ,, : वही १८।४५-४६

३- ,, :,,१८।५३-१४८,२०।१३-१६,२४-२६; ७४-६५ आदि

४- न स्थली न जलधिर्न काननं नाद्रिभूर्न विषयो न विष्टपम् ।+
क्रीडिता न सह यत्र तेन सा सा विधैव न यया यया न वा।।
—नैषध० १८।७६

५- रूपवेषवसनांगवासनाभूषणादिषु पृथग्विदग्धताम् ।
सा न्यधिक्ष्वयुवतिभ्रमदाया नित्यमेत्य तमगाम्नवा नवा ।।
-- वही १८।७४

में ध्यान रखने आदि कर्तव्यों द्वारा तथा नल की प्रशंसा (आपके जैसा सुन्दर, महादानी, वीर, सब कलाओं का पण्डित एवं तेजस्वी अन्य कोई नहीं है) रूप अनुकूल वचनों द्वारा तथा पंखे से हवा करने, चरण दबाने एवं पानादि देने की सेवा आदि से नल को सर्वथा अपने वश में कर लिया था । अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि दमयन्ती ने अपनी चेष्टा, कुशलता, सेवा तथा भक्ति-भाव से नल को अपने वश में कर लिया था ।[1]

दमयन्ती द्वारा नल के लिए किए गए उपर्युक्त कर्तव्यों से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि वह एक आदर्श पत्नी थी । इस आदर्श के निर्वाह के एक दो अन्य उदाहरण भी हमें देखने को मिलते हैं । पति के साथ कामकेलि के अवसर पर वह प्रियाराधन के प्रसंग में नल के चरण स्पर्श के लिए उठे हाथ को रोक कटाक्षपात से ही उन्हें मुग्ध कर देती है[2]। यही नहीं वह भारतीय पत्नी के परम्परागत नियम को ध्यान में रखते हुए नल का नाम भी कभी नहीं लेती ।[3]

स्पष्ट है कि दमयन्ती ने अपने गार्हस्थ्यकाल में पत्नी के लिए अपेक्षित कर्तव्यों का पूर्ण निर्वाह किया था । इन कर्तव्यों के निर्वाह के साथ ही उसमें एक पतिव्रता स्त्री के गुण भी विद्यमान हैं, जिनका दिग्दर्शन

१- इंगितेन निजरागनागरं संविभाव्य पटुभिर्गुणैस्ततम् ।
भक्तवांश्च परिचर्ययाऽनिशं सा ऽपि कामिजनवश्यं व्यधत तम् ॥
—नैषध० १८।७५

२- हस्तेऽस्याः प्रणयत्वे पत्येषा प्रेरितौ करौ ।
रुद्ध्वा कोपं सार्कं तं कटाक्षैरमूमुहत् ॥
— वही २० ।२६

३- कां नामन्त्रयते नाम नामग्राहमियं सखीं ?
नले नलेति नामाकौ स्मृतस्याहृतां नु जिह्वया ॥
— वही २० ।३५

हमें उसके पूर्वानुराग की स्थिति में ही देखने को मिल जाता है । दमयन्ती के पातिव्रत्य का दर्शन हमें, हंस दमयन्ती वार्तालाप,[1] दमयन्ती एवं इन्द्रदूती-वार्तालाप[2] तथा दूतरूप में उपस्थित नल से वार्तालाप,[3] इन तीन अवसरों पर होता है । हंस जब नल के ऐश्वर्य एवं गुणों आदि के वर्णन के पश्चात् दमयन्ती का नल के प्रति प्रगाढ़ प्रेम देख लेता है तो पुनः उसकी परीक्षा के लिए यह कहता है कि 'पिता की आज्ञा से अथवा स्वेच्छा से ही यदि कहीं तुमने किसी दूसरे को पति रूप में ग्रहण कर लिया तो निषधेश्वर का मुझ पर क्या विश्वास रह जाएगा'[4]। हंस की इस शंका के समाधान में दमयन्ती ने अपने नल विषयक अनुराग को जिन शब्दों में व्यक्त किया है वे उसके पातिव्रत्य के ही सूचक हैं । उसके अनुसार जैसे रात्रि का पति चन्द्रमा से भिन्न कोई अन्य नहीं हो सकता वैसे ही नल के अतिरिक्त उसका दूसरा कोई पुरुष पति नहीं हो सकता । जैसे सूर्य के अतिरिक्त अन्य द्वारा कमलिनी विकसित नहीं हो सकती वैसे ही उसका विवाह भी नलेतर पुरुष के साथ नहीं हो सकता ।[5] अपने प्रेम की दृढ़ता को ही प्रकट करने के लिए वह तो नल की दासी का ही पद चाहती है ।[6] उसकी तुलना में अमूल्य चिन्तामणि भी व्यर्थ है । पति नल

१- विस्तृत वर्णन के लिए देखें : नैषध० ३।१३-१२८

२- ,, ,, ,, ,, ६।७८-११०

३- ,, ,, ,, ,, अष्टम एवं नवम सर्ग ।

४- पितुर्नियोगेन निजेच्छया वा युवानमन्यं यदि वा वृणीषे ।
त्वदर्थमर्थित्वकृतप्रतीतिः कीदृङ्मयि स्यान्निषधेश्वरस्य ।।
-- नैषध० ३।७२

५- 'मदन्यदानं प्रतिकल्पना वा वेदस्त्वदीये हृदि तावदेषा ।
निशोऽपि सोमेतरकान्तकामोंकारमग्रेसरमस्य कुर्याः ।।
सरोजिनीमानसरागवृत्तेरनर्कसम्बन्धमतर्कयित्वा ।
मदन्यपाणिग्रहशङ्किनो महीयस्तव साहसिक्यम् ।।
--वही ३।७५-७६

६- तदेकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधित्सुता ते ।
अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाकरेणापि सुधाकरेण ।।
-- वही ३।८०

ही उसकी सबसे बड़ी निधि है[1]। आगे चलकर इन्द्रदूती के वार्तालाप के समय भी दमयन्ती का पातिव्रत्य प्रकट हुआ है । इन्द्रदूती ने दमयन्ती से इन्द्र को वरण करने को कहते हुए उसे स्वर्गगंगा तथा नन्दन वन में विहार आदि विभिन्न प्रलोभनों को दिखाया[2]। परन्तु दमयन्ती ने उसके इन प्रलोभनों को ठुकराते हुए अत्यन्त विनम्र शब्दों में इन्द्र की महिमा को स्वीकारते हुए[3] अत्यन्त चातुर्यपूर्ण शब्दों में इन्द्र को भी ठुकराते हुए कहा कि हे दूती । मैं उन्हीं इन्द्र की पति-रूप में शुश्रूषा करना चाहती हूं । मुझे उन्हीं से भोग सुख मिलेगा और मेरे पातिव्रत्य का वैभव भी बढ़ेगा । हां, इतनी विशेषता अवश्य होगी कि वे देव रूप में न होकर नृप रूप में उन्हीं के एक अंश होंगे[4]। और आगे चलकर स्पष्ट शब्दों में इन्द्र को अस्वीकार करती हुई इस भूतल के ही एक नरेश नल को अपना पति स्वीकार करने की घोषणा करती है[5]। कहीं दूती यह न कह बैठे कि अब

१- तवैक तुच्छे हृदि मेऽस्ति लब्धुं चिन्ता न चिन्तामणिमप्यनर्घम् ।
चित्ते ममैकस्य नलस्त्रिलोकीसारो निधिः पद्ममुखस्य एव ।।
--नैषध० ३।८२

२- मन्दाकिनीनन्दनयोर्विहारे देवे भवेद्देवरि माधवे च ।
कैलासिभ्यां चातरि यत्र तस्यां तत्त्वेनता भाविनि भावय त्वम् ।।
--नैषध० ६।८२ इसी प्रकार देखें ८४,८५ आदि ।

३- देखें : वही ६।९१-९२

४- शुश्रूषिताहे तवदं तमेव पतिं मुदेऽपि प्रसभम्पदेऽपि ।
विशेषकेऽसौ मनदेवदेवमंशागतं तु क्षितिभृत्वेह ।।
-- वही ६।९४

५- वर्षेषु यद्भारतमार्यधुर्याः स्तुवन्ति गार्हस्थ्यमिवाश्रमेषु ।
तत्रास्मि पत्युर्वरिवस्ययाहं शर्मोर्मिकिर्मीरितकर्मठिम्नः ।।
-- वही ६।९७

तुम्हें इन्द्र को चुनना नहीं था तो अब तक उसने उनकी प्रशंसा क्यों सुनी ? इस सम्भावना का उत्तर देते हुए दमयन्ती कहती है कि मैंने इन्द्र के प्रति आदरभाव रखने के कारण ही पातिव्रत्य धर्म की बाधक इन्द्र की प्रशंसा अब तक सुनी है । रहा सवाल पति-चयन का वह तो मैंने नल को ही चुन लिया है[1] और अन्त में इन्द्र दूती को अपने इन्द्रविषयक प्रचार कार्य से विरत हो जाने का आदेश देते हुए कहती है कि तुम्हें इन्द्र की शपथ है । अब पुनः मुझसे उनके वरण का निवेदन न करना । रहा सवाल इन्द्र के क्रोध का तो मैं अपने सतीव्रत से उन्हें मना लूंगी[2] ।

अन्त में दूतरूप नल के समक्ष दमयन्ती के पातिव्रत्य का सर्वोत्तम रूप देखने को मिलता है । दूतरूप नल से इन्द्रादि विषयक सम्वाद को सुनकर पहले तो वह देवों की इस अभिलाषा को मीठे व्यंग्य वचनों से तुच्छ बताती है[3] फिर नल के चरणों में अपने को समर्पित कर देने के कारण वह देवों के विषय में कुछ सोचना भी पाप समझती है और अन्त में दूत की दलीलों का जवाब देते हुए नल विषयक अपने अनुराग को प्रकट करते हुए यही कहती है

१- अमोघमिन्द्रादरिणी गिरस्ते सतीव्रतातिप्रातिलोमदीप्रा: ।
एवं प्रागहं प्रादिषि नामराय किं नाम तस्मै मनसा नराय ।।
--नैषध० ९।९५

२- भूयोऽपीनं यदि मां त्वमात्थ तदा मघावच्छपसे मघोन: ।
सतीव्रतैस्तीव्रमिम तु मन्युमन्त: परं वह्निमणि मार्जितास्मि ।।
--नैषध० ९।११०

३- देखें : वही ९।२४-२८

४- चिनोति चित्तामपि कर्तुमीक्षितुं चिराय चित्तार्पितनैषधेश्वरा ।
मृणालतन्तुच्छिदुरा सतीस्थितिर्लवादपि त्रुट्यति चापलात् किल ।।
--नैषध० ९।३१

कि यदि नल को वह पतिरूप में नहीं पा सकती तो मृत्यु का वरण कर लेगी।[1] दमयन्ती के उपर्युक्त कथनों से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि वह पातिव्रत्य धर्म को पूर्णरूप से निभाने वाली महिला थी। नलेतर पुरुष के साहचर्य की वह स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकती थी फिर वह चाहे देवरूप में इन्द्र ही क्यों न हों। नल-दमयन्ती के उपर्युक्त कामोपभोगप्रधान गार्हस्थ्य चित्रण के साथ ही महाकवि ने इन दोनों के धार्मिक कार्यों का भी विस्तृत चित्रण किया है। इस प्रसंग में कवि ने नल के त्रिकालिक-स्नान, संध्यावन्दन, देवर्षि पितृ-तर्पण एवं देव-पूजनादि एवं पार्वती के गौरी-पूजन का वर्णन किया है। वस्तुतः इस धार्मिक कर्तव्यों के वर्णन प्रसंग में महाकवि ने राजाओं की, शास्त्रों में विवेचित दिनचर्या का ही विस्तृत प्रतिपादन किया है और इसी प्रसंग में उनके धार्मिक कार्यों को दर्शाया है। व्यक्ति की दिनचर्या का प्रारम्भ चूंकि प्रातः-कालीन कृत्यों से होता है इसीलिए कवि ने भी नल के प्रातःस्नान से ही उनकी दिनचर्या का वर्णन किया है। नल चूंकि अप्रतिरथी थे, देवलोक में भी उनका आना-जाना था इसीलिए अपना प्रातःकालीन स्नान वह आकाश गंगा में पूर्ण करते थे[2] और वापस प्रासाद में आकर प्रातःकालीन सन्ध्या एवं अग्निहोत्र सम्पादित करते थे।[3]

१- अपि द्रढीयः शृणु मे प्रतिश्रुतं स पीडयेत् पाणिमिमं न चेन्नृपः।
हुताशनोद्बन्धनवारिवारितां निजायुषस्तत्करवै स्ववैरिताम् ॥
निषिद्धमप्याचरणीयमापदि क्रिया सती नावति यत्र सर्वथा।
घनाम्बुना राजपथेऽतिपिच्छले क्वचिद्बुधैरप्यपथेन गम्यते ॥
— नैषध० ९।३५-३६

२- देखें : नैषध० १६।६६

३- ,, वही २०।६ एवं १०

चूंकि कवि का प्रधान उद्देश्य था इन दोनों जीवन के शृंगारिक पक्ष को दर्शाना इसीलिए कवि ने इस प्रातःकालीन धार्मिक कार्य-सम्पादन के पश्चात् उनकी कामकेलियों का वर्णन किया है । नल के प्रातः-कालीन कृत्यों में विलम्ब एवं उनके इस तात्कालिक वियोग से दमयन्ती रुष्ट हो जाती है और सखियों के पास चली जाती है,[1] अतः श्री हर्ष कामकेलि-वर्णन का प्रारम्भ नल द्वारा दमयन्ती की आराधना से ही करते हैं ।[2] और आगे चलकर उन्होंने दमयन्ती की सखियों से नल के कामप्रधान हास-परिहास[3] एवं दमयन्ती के आलिंगन[4], चुम्बन[5] एवं नखक्षत[6] आदि का वर्णन किया है । परन्तु इन काम-केलियों के वर्णन के प्रसंग में भी उनके सम्भोग का वर्णन न करते हुए तथा नल द्वारा दिन के समाप्ति की प्रतीक्षा करते हुए उन्हें अलग करा देता है ।[7]

नल के मध्याह्न कालीन दिनचर्या का प्रारम्भ कवि ने नल का अन्य राजाओं से सत्कार एवं उनके द्वारा उन्हें पुरस्कार-वितरण से किया है[8]। इसके पश्चात् कवि ने उनके राजोचित स्नान का वर्णन किया है । पहले तो

१- देखें : नैषध० २० ।६

२- ,, वही २०।१४-२३

३- ,, वही २०।२६-१४०

४- ,, वही २०।२४, १४१-१४४

५- ,, वही २०।२५, १४६

६- ,, वही २०।१४५-१४७

७- ,, वही २०।१४८ एवं १५२

८- ,, वही २१।१-५

युवती स्त्रियां नल को सुगन्धित जल से स्नान कराती हैं और फिर पुरोहित प्रयागादि तीर्थों से आहृत जल से उन्हें पुन: स्नान कराता है[1]। स्नान के बाद के धार्मिक कार्यों के वर्णन क्रम में कवि ने उनके आचमन, तिलकधारण, मार्जन, प्राणायाम, वस्त्रधारण (प्राणायाम तक की क्रिया नल ने गीले वस्त्रों को धारण किए हुए ही पूर्ण की थी) अघमर्षण, गायत्री जप, देवर्षि-पितृतर्पण आदि का वर्णन किया है[2] और इसके पश्चात् उन्हें देवालय में पहुंचाकर उनसे पंच देवताओं का पूजन कराया है। साथ ही उनके शतरुद्रीय जप, विष्णु पूजन के साथ एवं दशावतार की स्तुति का कवि ने विस्तृत वर्णन किया है[3]। नल के साथ ही दमयन्ती ने भी मध्याह्न काल में गौरी पूजनादि धार्मिक कार्यों को पूर्ण किया था[4]।

नल-दमयन्ती के मध्याह्न कालिक धार्मिक कार्यों के पश्चात् कवि ने पुन: उनके शृंगारिक जीवन को बताते हुए संगीत गोष्ठी आदि का वर्णन किया है[5] और इसके बाद उनके सायंकालिक सन्ध्यावन्दन का वर्णन करते हुए दिनचर्या की समाप्ति करायी है[6]।

उपर्युक्त विवेचन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि नल-दमयन्ती ने काम की आराधना या कामोपभोगप्रधान जीवन में भी धार्मिक कर्तव्यों की

१- देखें : नैषध० २१ । ७-६

२- ,, वही २१ । १०-२६

३- ,, वही २१ । ३०-१०५

४- ,, वही २१ । १०७

५- ,, वही २१ । ११०-११३ आदि ।

६- ,, वही २१ । १२७ एवं २२।१

उपेक्षा नहीं की थी । उन्होंने इन दोनों में सामंजस्य स्थापित करते हुए धर्मयुक्त काम का ही उपभोग किया था ।

(ii) गार्हस्थ्य-जीवन के सन्दर्भ में हास्य वर्णन

महाकवि श्री हर्ष ने काव्य के नायक एवं नायिका के उपर्युक्त गार्हस्थ्य जीवन के वर्णन के साथ ही गृहस्थों को आनन्दित करने वाले कुछ अन्य प्रसंगों का भी वर्णन किया है और इसके अन्तर्गत वरपक्षीय एवं कन्या-पक्षीय लोगों के हास-परिहास का वर्णन किया है । नल-दमयन्ती के विवाह संस्कार के पश्चात् राजकुमार 'नल' ने कहीं तो प्रजाओं को नेत्र संकेत से प्रेरित कर बरातियों से हास-परिहास करवाया और कहीं बारात में आए हुए लोगों को भूतल की अप्सराओं अर्थात् दासी, सैरन्ध्री, वारांगना आदि सुन्दरियों से भोजन परोसवा कर[1]। इस अवसर पर कवि ने काम-रहित एवं कामयुक्त दोनों ही तरह के परिहास का वर्णन किया है[2]। नल ने कहीं तो भोज्य पदार्थ के श्लेषयुक्त शब्द से परिहास कराया है और कहीं वाक्य के श्लेषार्थ से । एक स्थान पर नल एक बराती से कहते हैं कि हे महोदय । इस भोजनपात्र में (अथवा परोसने वाली इन स्त्रियों में) कोई स्त्री रुचि के अनुसार बेसन (कढ़ी या बड़ी बड़ा) लाए ? या प्यास से व्याकुल तुम्हें जल या भात दे । नल के इस कथन का श्लेषार्थ हुआ कि हे बराती महोदय । परोसने वाली इन स्त्रियों में को स्त्री स्तन जघनादि शरीरशोभा को देखने की अभिलाषा के अनुसार तुम्हारे मन का अपहरण करे अर्थात् शरीर-शोभा से तुम्हारे मन को

१- देखें : नैषध० १६।४८

२- महाकवि श्रीहर्ष ने १६।४६-५४ तक काम रहित एवं १६।५५-१०८ तक काम-युक्त परिहास का वर्णन किया है ।

आकृष्ट करे, अथर चुम्बन के लिए पिपासु तुम्हारे लिए सब तरह से नेत्रादि के चुम्बनस्थानों के मुख में रखने से देखने मात्र से काम-हर्षप्रद मुख को अर्पित करे या मुख के पिपासु तुम्हारे लिए कामहर्षकारक वरांग अर्पित करे।[1] इसी प्रकार आगे चलकर उन्होंने "वरांगभाग" जैसे श्लेषार्थयुक्त शब्द से हास कराया है।[2] काम युक्त परिहास के अन्तर्गत कवि ने दम की सेविकाओं एवं वारांगनाओं द्वारा वरपक्षीय युवकों को आकर्षित करने,[3] एक परोसती हुई युवती का वरपक्षीय युवक द्वारा चुम्बन लेने के प्रयास[4] आदि का विस्तृत चित्रण किया है। कामुक परिहास के इस क्रम में भी महाकवि ने यत्र-तत्र शिष्ट परिहास को भी चित्रित किया है। बरातियों के भोजन के पश्चात् दम द्वारा बिच्छू के आकृति वाली मुखशुद्धि-पदार्थ द्वारा बारातियों को भयभीत करने का वर्णन[5] एवं महाराज

१- स कंचिदूचे रचयन्त तेनोपहारमत्रांग । स्मेरयौवनम् ।
पिपासतः कांचन अर्धतोमुखं त्वार्पयन्त्वामपि कामभोजनम् ।।
—नैषध० १६।४९

२- मुखेन सेऽथोपविशत्यथाविति प्रयाच्य दृष्टाकृतिं वधू स्वयम् ।
वरांगभागः स्वमुखं मतोऽमुना स हि स्फुटं येन विलोपविश्यते ।।
— वही १६।५०

३- अथोपचाराद्धृतलोचनाविलासनिर्मा[illegible]सम्पदः ।
स्मरस्य शिल्पं वरवर्णिनिक्रिया विलोकनं लोकहास्यन मुहुः ।।
— वही १६ ।५५

४- परं वधूत्याः कलिताननेऽमुखं व्यवस्यता वारविलेन चुम्बितुम् ।
करो परिहारिणि मन्मथपाणिना प्रतिषिद्धोऽन्[illegible]ः ।।
— वही १६ ।५८

५- मुखे विधाय क्रमुकं नलानुगैरुत्पीडिते पर्णोऽविलेपन वृश्चिकम् ।
[illegible]तनिर्मितं भयाविलैः स्वभ्रमहासिताविलैः ।।
— वही १६ ।१०६

भीम द्वारा असली नकली हीरों से वारांगनाओं के वञ्चित करने का वर्णन, कवि के शिष्ट हास के ही परिचायक हैं।[1]

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि वारांगनाओं से हास-परिहास करने की भारतीय समाज की लोकपरम्परा को ध्यान में रखते हुए ही महाकवि श्री हर्ष ने अपने काव्य में शिष्ट एवं अशिष्ट या कामप्रधान, दोनों ही तरह के परिहास का वर्णन किया है। हां कामप्रधान परिहास के वर्णन-क्रम में वह अशिष्टता या निर्लज्जता की चरम सीमा तक पहुंच गए हैं और उनके इस अशिष्ट वर्णन की आधुनिक आलोचकों ने जम कर आलोचना की है। श्री हर्ष के इस परिहास के सन्दर्भ की कटु आलोचना करते हुए डा० भोलाशंकर व्यास ने कहा है कि 'सोलहवें सर्ग के ज्योनार-वर्णन में वारांगनाओं के साथ किए गए ऐसी मजाक में कवि आवश्यकता से अधिक अश्लील हो गया है, जो सहृदय पाठकों को खटकता है। ज्योनार के समय वारांगनाओं तथा परिवेषिकाओं की कई हरकतें बड़ी भद्दी मालूम देती हैं। ये चित्र श्रीहर्ष जैसे वेदान्ती की घोर-विलासिता का पर्दाफाश किए बिना नहीं रहते और उस काल के समाज के अध:पतन का चित्र देने में पूर्णत: समर्थ हैं, चाहे ये सब श्रीहर्ष के अपने दिमाग की ही करामात हों।[2]'

१- अमीषु तथ्यानृतरत्नजात्योर्विदग्धराट् भाडनिवान्तवारतरुणीः ।
स्वयं गृहाणैकमिहेत्युदीर्य तद् द्वयं ददौ भैम्यविभूषणे स्मन् ॥
--नैषध० १६।११०

२- देखें : डा० भोलाशंकर व्यास : संस्कृतकविदर्शन, पृ० २०६ ।

(ग) महाकवि श्रीहर्ष की गार्हस्थ्य सम्बन्धी मान्यताएं

यदि नैषधीयचरित महाकाव्य का आलोचनात्मक अध्ययन किया जाय तो हमें यह ज्ञात होता है कि श्रीहर्ष ने प्रस्तुत महाकाव्य में नल-दमयन्ती के गार्हस्थ्य जीवन के चित्रण के साथ ही अनेक स्थानों पर गार्हस्थ्य सम्बन्धी अपनी मान्यताएं भी प्रकट की हैं। काव्य के अध्ययन से महाकवि की गार्हस्थ्य सम्बन्धी निम्नलिखित मान्यताएं सुव्यक्त होती हैं :--

प्राचीन भारतीय परम्परा का अनुवर्तन करते हुए महाकवि श्री हर्ष भी आश्रम चतुष्टय के अन्तर्गत गार्हस्थ्य को सर्वप्रमुख मानते थे[1]। गार्हस्थ्य की महत्ता का कारण वह तीनों आश्रमों का इसके द्वारा पालन-पोषण किया जाना मानते थे[2]।

पति-पत्नी के सम्बन्ध के प्रसंग में वह विवाह संस्कार के

१- दमयन्ती के ने गार्हस्थ्य को सर्वप्रमुख मानते हुए कहा है --

'धर्मेषु चतुराश्रमार्थपूर्णाः स्तुवन्ति गार्हस्थ्यमिवाश्रमेषु ।
तत्रापि पत्युर्विरहस्थिताहं स्त्रीभिर्विनीतितपसोऽपि सु : ॥'
--नैषध० ९।६७

२- 'ब्रह्मचारिवनस्थानाभिक्षवो गृहिणं यथा ।
सर्वे समुपजीवन्ति ग्रीष्मलोमनोभवा: ॥'
-- वही १७।३२

पश्चात् पत्नी को पूर्णरूप से पति के आश्रित मानते थे।[१] उनकी दृष्टि में पत्नी का प्रधान कर्तव्य था एकनिष्ठ भाव से पति सेवा[२] या पातिव्रत्य का पालन। इसीलिए उन्होंने पूर्वानुराग की स्थिति में ही दमयन्ती के पातिव्रत्य का विशद् वर्णन प्रस्तुत किया है। कवि की स्पष्ट मान्यता है कि भविष्य में भी वर्तमान पति के सायुज्य की कामनायुक्त सती स्त्री अपने पातिव्रत्य के प्रभाव से नरकगामी पति को स्वर्ग में पहुंचा देती है।[३] पति का पत्नी के प्रति मुख्य कर्तव्य के रूप में वह पति द्वारा पत्नी की प्रत्येक इच्छा का पूर्ण किया जाना मानते थे।[४]

१- दमयन्ती की विदाई के समय महाराज भीम ने उसे पूर्णरूप से नल के आश्रित बताते हुए कहा था --

'पिताऽऽत्मनः पुण्यजनापदः सामा धनं मनस्तुष्टिरथाखिलं नलः।
अतः परं पुत्रि न कोऽपि तेऽहमित्युदस्रुरेष व्यसृजन्निजौरसीम्॥

--नैषध० १६।११७

२- दमयन्ती ने नल से पाणिग्रहण उनकी सेवा करने के उद्देश्य से ही किया था देखें: वही ६।६७।

३- दलनमिहदीप्सितयाऽस्तंगते गतमादर
प्रमनसमप्राप्ते पत्यौ विवस्वति रागिणी।
अमरमुवनात् लोकुमुत्पेत्या छायरतेः कृता-
नरपतिपुराग्निपदी सतीव्रतमूर्तिताम् ॥

-- वही १६।४४

४- नल ने दमयन्ती की प्रत्येक इच्छा को पूर्ण करके उसे प्रसन्न किया था और यही उनके दृढ़ स्नेह का कारण था --

'तदेकतानस्य नृपस्य रतिजां चिरोद्गया भावमिवात्मनि प्रिया।
विदाय तापस्करांचि भीमजा अमृतढाम्भितपूर्तिवृत्तिभिः ॥

-- वही १६।१२०

विवाहित नवदम्पती का मुख्य कर्तव्य कामोपभोग मानते हुए भी वह धार्मिक कर्तव्यों का पालन आवश्यक मानते थे । कामोपभोग के सन्दर्भ में वह धर्मसमन्वित कामोपभोग के ही पक्षधर थे । इसीलिए नल से भी उन्होंने विलासम्भोगादि से रहित कामोपभोग कराया था । गृहस्थ के धार्मिक कर्तव्यों के अन्तर्गत वह त्रिकालिक स्नान एवं सन्ध्या तथा इष्टदेवपूजादि की गणना करते थे और उनका यह मन्तव्य था कि प्रत्येक गृहस्थ को इन दैनिक कर्तव्य का पालन करना चाहिए । जैसा कि हम देख चुके हैं उन्होंने नल से भी इन कर्तव्यों का निर्वाह पूर्णरूप से करवाया है और नल की प्रजाओं को भी संध्यावन्दन, पितृतर्पण एवं अतिथि-सत्कार में ही रत दिखाया है ।[1] इन कर्तव्यों के अतिरिक्त प्रत्येक गृहस्थ द्वारा वह विभिन्न यज्ञों का किया जाना आवश्यक मानते थे और इसीलिए नल की प्रजाओं द्वारा उन्होंने गोमेध, इन्द्रयाग, सर्वमेध दर्शपौर्णमास एवं अग्निष्टोम, सत्त्वार, महाव्रत एवं अश्वमेध आदि विभिन्न यज्ञों के पूर्ण किए जाने का वर्णन किया है ।[2]

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि महाकवि श्रीहर्ष गार्हस्थ्य जीवन में धर्मसमन्वित काम के ही पक्षपाती थे । वह गार्हस्थ्य जीवन के सन्दर्भ में धर्म को ही प्रधान मानते थे ।

छ०- कृष्णकाव्यों में गार्हस्थ्यचित्रण --

(क) कृष्ण का गार्हस्थ्य जीवन

संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में कृष्ण के कथानक पर आधृत पारिजातहरण, राधापरिणय एवं रुक्मिणीहरण इन तीन महाकाव्यों

१- देखें : नैषध० १७।१८८, १९६, १९४ एवं १९७

२- ,, वही १७।१७२-२०१

में से प्रथम दो में ही कृष्ण के गार्हस्थ्य जीवन का विस्तृत चित्रण किया गया है । रुक्मिणीहरण में कवि ने केवल उनके विवाह का वर्णन करके ही काव्य की समाप्ति कर दी है । उपर्युक्त अन्य दोनों महाकाव्यों में भी कृष्ण के गार्हस्थ्य जीवन के वर्णन-क्रम में भी उनके कामोपभोग का ही विस्तृत चित्रण किया गया है और इसी कारण से सम्भवत: इन काव्यों में उन्हें 'विविधकेलिकलाविलासविशारद' जैसे विशेषण दिए गए हैं ।

कृष्णचरित प्रधान काव्यों की परम्परा में सर्वप्रथम महाकवि कर्णपूर विरचित 'पारिजातहरण' महाकाव्य का क्रम आता है । इस महाकाव्य में कृष्ण के गार्हस्थ्य जीवन के चित्रण के क्रम में कवि ने सपत्नी जन्य ईर्ष्या से क्रुद्ध सत्यभामा की आराधना, कामोपभोग एवं उनके क्रीडाओं का ही मुख्य रूप से वर्णन किया है ।

काव्य के कथानक के अनुसार नारद द्वारा प्रदत्त पारिजात-पुष्प जब कृष्ण रुक्मिणी को दे देते हैं तो सत्यभामा इसे अपना अपमान समझ क्रुद्ध हो उठती हैं । इस अवसर पर कवि ने क्रुद्ध सत्यभामा का एक सुन्दर एवं स्वाभाविक चित्रण करते हुए उनके भूमि-शयन,[2] क्रोध एवं अपमान

१- देखें : पारिजात० १८ । ३८, ४६

२- अवधूत्य मनस्विनी तदा कमनीयं शरदिन्दुसुन्दरम् ।
परिहीणविभूषणा रुषा निपपात प्रसभं महीतले ॥
—पारिजात० ३।२५

से रक्तिम मुख एवं नेत्र,[1] दीर्घ निःश्वास,[2] मूर्च्छा,[3] कृशता-प्राप्ति[4] का वर्णन किया है। तत्पश्चात् अन्य ताप से अभिभूत सत्यभामा नलिनी नवपल्लवस्रस्तर पर भी शान्ति नहीं पाती[5] और उसकी सखी दुःखी हो जाती है उसके जीवन की

१- अलिकोपपरीतवेल्लतो दलदम्भोरुहतो मुखेन्दुना ।
उदितारुणरोचिरञ्चिता विदिता शोणसरोरुहद्युतिः ॥
अथ यत्र विलोललोचना निदधे सा सहसा मुखाम्बुजम् ।
ग्रथिता इव तत्र रेजिरे परितः शोणसरोजराजयः ॥
--पारिजात० ३।२६ एवं २८

२- अपरेण तथा मृगीदृशो बत निःश्वासविशेषकम्पिना ।
अवलम्ब्य दुकूलानिलाहतिः स्फुरता चारुपटेन वीरुधाम् ॥
--वही ३।२७

३- क्वचिदुद्धततापतापिता क्वचिदाशाविलोकमूर्च्छिता ।
विषयैरवशीकृतेन सा सहसा संस्मृतिमाप न क्वचित् ॥
--वही ३।३०

४- अधिकं कृशतामुपागतां शशिलेखामिव तामनिन्दिताम् ।
सहसा स्वगताः समन्ततः सहर्षं सहसा सम द्विषः ॥
-- वही ३।३१

५- प्रतिकारपरायणस्तया हृदि दाहोपशमाय सुभ्रुवः ।
अवतन्तनसंश्रितं नलिनीकोमलपल्लवं वपुः ॥
कदलीदलचारुमारुतैर्नलिनीपल्लवसंचयैरपि ।
न शशाम यथा मृगीदृशः परिपूर्णः परितापपावकः ॥
--वही ३।३२-३३ इसी प्रकार देखें : ३।३७-३८ आदि

घोषित करती हैं[1]।

सपत्नीजन्य ईर्ष्या से अभिभूत सत्यभामा के इस रूप को देख कृष्ण भी विचलित हो उठते हैं और अपने पूर्वकाल के व्यवहार का उल्लेख करते हुए उससे उसकी नाराजगी का कारण पूछते हैं[2]। सखी से उसके क्रोध का कारण सुने[3] रुक्मिणी को पारिजात पुष्पदान पर देवलोक से पारिजात वृक्ष लाने की एवं उसे सत्यभामा को प्रदान करने की प्रतिज्ञा करते हैं[4] और अन्ततः युद्ध में इन्द्र को पराजित करके कल्पवृक्ष लाकर सत्यभामा को सन्तुष्ट करते हैं।

१- परितापकारी महोष्मणा कुपितं लोहितं लोचनात्मिका
सुदुस्सहतुरैः सखीशतैः श्वसितेनानुमितं च जीवितम् ।।
--पारिजात० ३।२५
सत्यभामा की इस स्थिति के अन्य वर्णन के लिए देखें ४।१-५ एवं १०।१२ आदि ।

२- प्राणाधिकप्रियतमे । न हि तावकीनं
स्वप्नेऽपि विप्रियमकारि मया कदापि ।
तत् किं मुधे समरशोणितशोणिमान
मालम्बते सपदि ते नयनारविन्दम् ।।
-- वही ४। ३८
कृष्ण के विस्तृत कथन के लिए देखें ४।३२-४०

३- देखें : वही ४।४६-५९

४- वाक्कमधिरोप्य हरित्सवानीं
सपत्नदीयवचनं चतुरस्रसुप्य ।
आलिंग्य वामय मनोज्ञविलासिनी
संगीकार सुरराजपुरप्रमाणम् ।।
— वही ३। ५६

कृष्ण के गार्हस्थ्य जीवन के कामोपभोग का वर्णन कवि ने दो अवसरों पर किया है। पहले तो उसने स्वर्णपर्वत पर कृष्ण के अनेक स्त्रियों के साथ विहार का वर्णन किया है और फिर अन्त में सत्यभामा के साथ उनके कामोपभोग का चित्रण किया है। स्वर्णपर्वत पर कृष्ण-विहार के वर्णन क्रम में कवि ने स्त्रियों द्वारा कृष्ण को आकर्षित करने की विभिन्न मुद्राओं, विविध मुखें[1], मोहित दृष्टिपातों[2], चित्रगत स्थितियों[3] आदि का वर्णन किया है।

स्पष्ट है कि कृष्ण अनेक स्त्रियों से एक साथ विहार नहीं कर सकते थे अतः वह योगमाया से अपने को स्वतः शरीर धारण कराकर[4] अन

१- प्रियमाननमीक्षितेच्छया स्फुटयन्ती कुचकांचनाचलौ
परिचुम्बती मुहुर्मुहुः सखीमुद्धतबाहुरङ्गना ॥
--पारिजात० ११।२१

२- अवलम्ब्य करेण मौक्तिकां पवनोद्धतविलसत्स्तनाम्बरा ।
मुरभिन्नयनार्पितानना ललना कापि मोहमुपागता ॥
-- वही ११।२२

३- कुपितेव ससाधुपागता भ्रमयन्ती नवनीलकौस्तुभम् ।
हरिहासविलासलोचिता तरुणी चित्रगतेव कापि भूत् ॥
-- वही ११।२३

विस्तृत वर्णन के लिए देखें : ११।२०-२५

४- रमणीगणविस्मृतिं रुचिरैरनुरागकर्षितः ।
भगवानपि योगमायया स्वतः स्वीयतनुमकल्पयत् ॥
-- वही ११।२७

प्रमदाओं के साथ चुम्बन[1], कर ग्रहण[2], जल केलि[3] आदि सभी कामकेलियों का आस्वादन लेते हैं और स्त्रियां भी उन पर पुष्पवृष्टि[4], कोमलपलाशताडन[5], सीत्कार[6] आदि स्नेह-युक्त काम-केलियों का प्रयोग करती हैं[7]।

कृष्ण के इस विवृत या स्वतंत्र कामोपभोग के अतिरिक्त

१- अधरं प्रसरेण खण्डितं दयित द्रागवशोऽन्यतामिह
गदित: प्रिययेति सादरं हरिरालिङ्ग्य चिरं चुचुम्ब ताम् ।।
--पारिजात० २२।३२

२- दयितो नवपल्लवभ्रमात् प्रणयिन्या: करसंग्रहोन्मुख: ।
हसितोऽपि चिरं सखीजनैर्नयनाम्बुभिरेव बोधित: ।।
-- वही ११।३३

३- देखें : वही ११।४७-५०

४- कुसुमानि निजै: कराम्बुजैरुपादाय समादुपागता: ।
कुतुकेन मुरारिमस्तके व्यकिरन् सादरमब्जलोचना: ।।
-- वही ११।२६

५- अतिकोमलपल्लवाख्यया दयितेन प्रथमं समाहता
कुपितेव शनैरताडयत् सुमुखी तं च पलाशपल्लवै: ।।
-- वही ११।३८

६- दयितेन मुखं कुतूहलात् स्वकपक्ष्माहतया मृगीदृशा ।
तरसा यदकारि सीत्कृतं मदनस्तेन कृतार्थतामगात् ।।
-- वही ११।३४

७- कृष्ण एवं प्रमदाओं की इन कामकेलियों के विस्तृत वर्णन के लिए देखें : प्रस्तुत काव्य का सम्पूर्ण एकादश सर्ग ।

कवि ने उनके मर्यादित गार्हस्थ्य जीवन के कामोपभोग का भी चित्रण किया है ।

युद्ध विजय के पश्चात् पारिजात वृक्ष को अपनी पुरी में स्थापित कर श्रीकृष्ण पुन: कामोपभोग के लिए तत्पर होते हैं । वह राज्य-भार मन्त्रियों पर सौंप कर अनेक प्रमदाओं और मुख्य रूप से सत्यभामा के साथ विहार प्रारम्भ करते हैं[1]। इस प्रसंग में कवि ने कृष्ण की कामकेलियों के अन्तर्गत प्रियतमाकुच-भूषण क्रिया[3], आलिंगन[4], नखदान[5], प्रियाराधन[6]

१- अथ निधाय महीपरिपालनो
भरं नयशालिषु मन्त्रिषु
प्रमुदितप्रमदाभिरुदारधी:
सह विहार सुखं हरिरन्वभूत ।।
--पारिजात० १८ ।२२

२- कुसुमसौरभभारसुसंभृते
मलयमारुतसंगमशीतले ।
नवलतामवने सह सत्यया
हरिरुदारतर सुखमन्वभूत ।।
-- वही १८।३६

३- सुरतरुप्रसवैरधिकादरा
द्विशिखमण्डनमेव नवप्रभै: ।
प्रियतमाकुचयोः विभूषयन्
मुरहरो मुमुदे कुसुमेक्षण: ।।
-- वही १८ ।३७

४- स्मितविकासितचारुवरानना
मधुमदारुणलोलविलोचना
प्रणयिनं त्वनुरागरसाकुला
प्रियतमा परिरभ्य मुदं ययौ ।।
-- वही १८।४०

५- मृगदृशां स्तनमौक्तिकसुन्दरता
रुरुचिरे नखरावतराश्च: ।
मदयितुं सुमनानसपन्नगान्
मदनबाणविलम्भेक्षणा इव: ।।-- वही १८।४२

६- सरभसं परिचुम्ब्य मुखाम्बुजं
वसनसंहृताय समुत्सुक: ।
अथ निरुद्धकर: प्रियया स ता
मनुनयेन मुरारिरतोषयत ।।
--वही १८।४४

और अधर चुम्बन[1] आदि का वर्णन किया है । साथ ही कामोपभोग के इस अवसर पर कवि ने कृष्ण के कटाक्षपात से स्त्रियों के मदनबाण से आहतचित्त होने,[2] रतिक्रीडा के श्रम से थककर कृष्ण के वक्ष में आश्रय लेने[3] एवं लज्जाभिभूत हो उनके नम्रमुखी होने का[4] सुन्दर वर्णन किया है ।

१- ददाति केलिपरे धरपल्लवं

न यदरोपि करेण मृगीदृशा

रसिकचित्तविमोहन हेतवे

तदभवन्मदनस्य महौषधम् ॥

--पारिजात० १८।४५

२- विविधकेलिविलासविशारदो

हरिरुदैक्षत यां कुतुकादपि ।

मदनबाणविमोहितचेतसा

मुकुलितानि तया नयनं क्षणुः ॥

-- वही १८ ।३८

३- अभिमुखाहतरम्भनिभोरु

रुरुमधुरैरभिमीलितलोचना ।

प्रियतमोरसि कामवशंवदा

हरिवधू रसिका ससमाश्रयत् ॥

-- वही १८।३६

४- गलितकंचुकबन्धनमण्डले

ददति पाणिपुटं युवनन्दने ।

करनिमीलितलुग् विलसन्नितं

मुकुलितारि मुगेक्षणया नतम् ॥

-- वही १८।४३

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि कवि कर्णपूर ने कृष्ण एवं सत्यभामा के गार्हस्थ्य जीवन के चित्रण-क्रम में उनके कामोपभोग का ही विस्तृत चित्रण किया है । यहां यह तथ्य अवधेय है कि इस कामप्रधान चित्रण के साथ ही कवि ने कृष्ण के धार्मिक कार्यों का भी उल्लेख किया है और इन धार्मिक कर्तव्यों के विवेचन-क्रम में उनके दान,[1] यज्ञ-सम्पादन[2] आदि का वर्णन किया है । गृहस्थ के मुख्य कर्तव्य अतिथि सत्कार का भी कवि ने कृष्ण से पालन करवाया है और काव्य के प्रथम सर्ग में ही भक्तिभाव सहित उनके द्वारा महर्षि नारद को प्रणाम करने,[3] आसन देने[4] एवं

१- बहु विप्रोऽपि यशोभिरूषिता

गुणवत्तेन विधिवत्य मधुहः ।

विविधदानकृतार्थिताक

रिचलयष्ट मखेष्टकर्मभिः ।।

--पारिजात० १८।१३

२- विविधयागविशेषविनिर्मितैः

कनकयूपगणैर्मुरारिणा ।

विशद कीर्तिभिरेव भाविताः

सपदि वारिनिधेस्तटभूमयः ।।

-- वही १८।१४

३- ससम्भ्रमः फुल्लविलोचनाम्बुजः प्रहृष्टरोमा मुकुलीकृतांजलिः ।

हरिस्तदा तस्य पपात पादयोर्गुरौ च प्रणामो हि शिवाय जायते ।।

--वही १।२६

४- इदं मणिभ्या भवनाय शार्ङ्गिणा स्वयं समानीयमुदा निवेदिते ।

अथोपविष्टो वरकांचनासने रराज राजेव स मेरुमूर्धनि ।।

--वही १।३२

विधिपूर्वक मधुपर्क प्रदान करने[1] का चित्रण करते हुए कवि ने उनकी अतिथि-सत्कार की विधि को दर्शाया है ।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि कवि कर्णपूर ने कृष्ण के गार्हस्थ्य जीवन के चित्रण के प्रसंग में धर्म और काम का अद्भुत समन्वय दिखाया है । उन्होंने जहां उनकी कामकलाओं का चित्रण किया है वहीं उनके क्षात्रियोचित शौर्य एवं राजोचित कलाओं को भी दर्शाया है । कुद्ध सत्यभामा की आराधना के वर्णन में कवि ने कृष्ण के हृदय के कोमल पक्ष को भी प्रस्तुत किया है और एक पति, पत्नी के क्रोध से किस प्रकार अभिभूत हो पराक्रम का आश्रय लेता है, इस विषय का सुन्दर प्रतिपादन किया है ।

आगे चलकर आधुनिक कवि श्री बदरी नाथ शर्मा ने भी "राधापरिणय" महाकाव्य के प्रारम्भिक सर्गों में काव्य-नायक कृष्ण के जन्म, पूतना नाशादि का वर्णन करते हुए,[2] राधा एवं कृष्ण के पूर्वानुराग,[3] विवाह[4] एवं राधा तथा अन्य स्त्रियों के साथ उनके कुंज-विहार का वर्णन किया है[5]।"

१- प्रक्षाल्य पादाविभिरम्बनः क्षाननामयं पुष्पमपुष्पितेन सः ।
अथातिथेयं मधुपर्कपूर्वं महर्षये हर्षवशो न्यवेदयत् ।।
--पारिजात० १।३३

२- देखें : राधा० सं० १-१३ ।

३- देखें : ,, सं० १४-१७ ।

४- देखें : ,, सं० १८

५- देखें : ,, सं० १९-२०

स्पष्ट है कि इस महाकाव्य में कृष्ण के प्रेम-प्रसंग को ही बताया गया है । इस प्रेम प्रसंग के वर्णन-क्रम में कवि ने कृष्ण एवं राधा के विवाहोत्तर-प्रेम-प्रसंगों के वर्णन-क्रम में दोनों के कुंज-गमन[1] वहां नवोढ़ा वधू राधा की विभिन्न लज्जाओं, संकोच से नम्रमुखी होने,[2] कृष्ण द्वारा कर ग्रहण करने पर कष्टानुभव करने,[3] नेत्रबन्द करने,[4] न बोलने आदि[5] का वर्णन किया है । और इसी प्रसंग में आगे चलकर उनके द्वारा विभिन्न प्रेम-कलापों के आस्वादन का उल्लेख किया है[6] ।

१- अनन्त मध्य प्रवेश्य काले बालेन्दुवक्त्रां परिणीय राधाम् ।
स्वेच्छ निर्वापयितुं स्वकाले कालेश्वरस्तु कुंजगृहे स्मराग्निम् ॥
--वही १८।८५

२- स्मेरां मनोकुंचितकुन्तलारोपावनम्रमुखीं सोऽपि तारोमराजिम् ।
कपोलयो: स्वेदकणमिनमधिकमन्तरं प्राणसमां समाक्ष ॥
-- वही १८ ।८६

३- करे गृहीता सहसा प्रियेण विलीयमाणा वृषभानपुत्री ।
अनुकम्पितेव तु साध्वसत्व, क्षणं विरक्ताऽनुभव मासु ॥
-- वही १८।८७

४- देखें : वही १८ ।८८-८९

५- देखें : वही १८ ।९२

६- अनन्तरं मन्मथतन्त्रनिष्णातौ भवं सकृष्णौ रहसि प्रतीतौ ।
नवोल्लसद्यौवनयोग्ययोग्यान ब्यातेनतुस्तौ विविधान विहारान् ॥
--राधा० १८ ।९९

कृष्ण एवं राधा के प्रेम प्रसंग के ही वर्णन-क्रम में कवि ने अन्य स्त्रियों के साथ कृष्ण को क्रीडारत देख राधा के क्रुद्ध होने[1] तथा कृष्ण द्वारा उनको मनाने का वर्णन[2] भी किया है तथा अन्त में इन दोनों के दोला-युद्ध[3] एवं रासलीला[4] आदि विभिन्न लीलाओं का वर्णन करके काव्य समाप्ति की है[5]।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि राधापरिणय काव्य में कृष्ण एवं राधा के अल्पकालिक गार्हस्थ्य जीवन का ही चित्रण हुआ है और उसमें भी केवल उनके प्रेम-व्यापार का ।

(11) रुक्मिणी का बाल्य वर्णन

शोधप्रबन्ध की अध्ययन परिधि में कृष्णप्रधान महाकाव्यों की परम्परा में गृहीत तृतीय महाकाव्य "रुक्मिणी हरण" में काव्य रचयिता हरिदास सिद्धान्तवागीश ने केवल रुक्मिणी के पूर्वानुराग एवं कृष्ण द्वारा उसके हरण का ही चित्रण किया है और इस प्रकार उन्होंने कृष्ण के गार्हस्थ्य जीवन का प्रतिपादन नहीं किया है परन्तु गार्हस्थ्य जीवन की इस उपेक्षा के साथ ही उन्होंने गार्हस्थ्य जीवन को आनन्दित करने वाली बाल क्रीड़ाओं का

१- देखें : राधा० १६।३५-३६

२- ,, ,, १६।३७-७२

३- ,, ,, १६।६३-६४

४- ,, ,, [illegible] बीसवां सर्ग

५- वितत्यकेलिं विविधैः प्रकारैः प्रकामसंभावितकामचारैः
राधाऽनुकूलः प्रथुपाल्यामा स्वकार कृष्णः परिपूर्णकामाः ।।
-- वही २० ।१०४

सुन्दर चित्रण किया है।[1] इस बाल क्रीड़ाओं के चित्रण क्रम में कवि ने बाला रुक्मिणी की बाल पुष्प तोड़फोड़ एवं धूल आदि से रुक्मिणी के खेलने का वर्णन किया है[2]।

२- कामप्रधान महाकाव्यों में गार्हस्थ्य का स्वरूप

शोधप्रबन्ध की अध्ययन परिधि में कामप्रधान महाकाव्यों के काव्य नायकों के उपर्युक्त गार्हस्थ्य-जीवन के विवेचन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत के कामप्रधान महाकाव्यों में गार्हस्थ्य जीवन के चित्रण के क्रम में मुख्य रूप से कामोपभोग का ही चित्रण किया गया है। इस चित्रण क्रम में नवोढ़ा वधू की लज्जाकुलता, प्रियतम द्वारा उसे निःसंकोच करने एवं दोनों की कामकेलियों का वर्णन किया गया है। परन्तु इस वर्णन के साथ ही ऐसे काव्यों में काव्य के नायक एवं नायिकाओं के धर्मकार्यों, सन्ध्यावन्दन एवं देवपूजन आदि का भी वर्णन किया गया है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि कामप्रधान महाकाव्यों में गार्हस्थ्य चित्रण के प्रसंग में धर्म एवं काम के समन्वय को ही दर्शाया गया है।

१- अयाति लीला विनतीति बाला
लावण्यलीलाललिता स्म खेलाम् ।
पश्यज्जनान् सैव चमत्कार
स्वभावरम्यो हि शिशु स्वभावः ।।

-- रुक्मिणी २।१

२- विस्तृत वर्णन के लिए देखें : वही २।२-१६

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि ऐसे काव्यों में कहीं भी ऋतुकालाभिगमनादि का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि इनमें धर्म समन्वित काम चित्रित हुआ है ? इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में मात्र यह तथ्य कथनीय है कि कामप्रधान काव्यों के कवियों ने अपने काव्य के नायक एवं नायिकाओं के विवाहोत्तर कालीन नव वर-वधू के कामोपभोग का ही चित्रण करके अपने काव्य की समाप्ति की है । स्पष्ट है कि नव वर-वधू के इस तत्कालकालिक कामोपभोग के चित्रण में कविगण ऋतुकालाभिगमनादि का उल्लेख कैसे कर सकते थे । फिर भी जैसा कि हम नैषध में देख चुके हैं, यहाँ विवाहसंभोगादि का वर्णन न करके प्रकारान्तर से यही सिद्ध किया गया है कि काम प्रधान व काव्यों में विवेचित 'काम' धर्म समन्वित ही था । एक प्रश्न यहाँ यह भी उठता है कि ऐसे काव्यों में गार्हस्थ्य जीवन के चित्रण के प्रसंग में अर्थ का भी स्पष्ट उल्लेख नहीं किया गया है । इस सन्दर्भ में इतना ध्यातव्य है कि ऐसे काव्यों में जहाँ नल एवं नवसाहसांक जैसे अर्थसम्पन्न पराक्रमी नरेशों तथा देवाधिदेव शंकर एवं कृष्ण के गार्हस्थ्य का वर्णन किया गया है वहाँ इन नायकों की अर्थ-सम्पन्नता तो स्वतः सिद्ध है ।

स्पष्ट है कि संस्कृत के कामप्रधान महाकाव्यों के गार्हस्थ्य जीवन के वर्णन-क्रम में भी धर्म, अर्थ एवं काम इन तीनों पुरुषार्थों का वर्णन किया गया है । इस प्रकार इन काव्यों में गार्हस्थ्य जीवन की सफलता पुरुषार्थत्रय में निहित मानी गई है ।

- o -

उपसंहार

उपसंहार

संस्कृत महाकाव्यों में चित्रित गार्हस्थ्य जीवन के उपर्युक्त विवेचन से यह सुस्पष्ट हो जाता है कि इन महाकाव्यों के प्रणयन-युग में समाज में संयुक्त कुटुम्ब पद्धति का ही प्रचलन था। परिवार के सदस्यों में सौहार्द या स्नेहयुक्त सम्बन्ध था। पिता ही परिवार का सर्वेसर्वा होता था। अन्य पारिवारिक सदस्यों को उसकी अधीनता में ही रहना पड़ता था। पिता ही पुत्र एवं पुत्रियों की शिक्षा एवं उनके विवाह आदि की व्यवस्था करता था। यहां तक की स्वयंवर विवाहों में भी, जैसा कि हम देख चुके हैं पिता की अभिरुचि का ही समादर किया जाता था।

संयुक्त परिवार की इस व्यवस्था के अन्तर्गत पिता के पश्चात् उसके ज्येष्ठ पुत्र का प्रभुत्व युक्त स्थान होता था और वही पिता के उत्तरदायित्वों को पूर्ण करता था। अन्य अनुजों को उसकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ती थी। परन्तु बड़ा भाई इस प्रभुत्व के साथ ही अनुजों के साथ पुत्र तुल्य व्यवहार करता था। माता भी पुत्रों के लिए आदर की पात्र होती थी किन्तु अधिकार-क्षेत्र में पिता की अपेक्षा उसका कम महत्व था।

सामान्य दृष्टि से गृहस्थाश्रम का पालन प्रत्येक व्यक्ति के लिए अनिवार्य था। गृहस्थाश्रम की इस अनिवार्यता के कारण ही विवाह

संस्कार भी प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के अनिवार्य कर्तव्य के रूप में निर्धारित था । विवाह संस्कार ही स्त्री एवं पुरुष की पूर्णता एवं उनके जीवन की सार्थकता का मापदण्ड माना जाता था और इसे ही उन दोनों के सर्वोच्च जीवन लक्ष्य, मोक्ष-प्राप्ति का सहायक स्वीकार किया जाता था ।

विवाह का मुख्य उद्देश्य था कामोपभोग, सन्तति उत्पादन एवं धर्मकार्यों का सम्पादन । केवल कामोपभोग की दृष्टि से विवाह लोक में एक अनैतिक कर्तव्य के रूप में मान्य था । इसीलिए विवाहित व्यक्ति के कामोपभोग के सन्दर्भ में यहां ऋतुकालाभिगमन एवं रात्रि काल में ही सम्भोग, ये दो नियम निर्धारित किए गए थे । स्पष्ट है कि संस्कृत महाकाव्यों का समाज विवाह का मुख्य उद्देश्य मानता था पुत्रोत्पादन एवं धर्मकार्यों का सम्पादन और रति या कामोपभोग विवाह संस्कार का गौणफल ।

विवाह संस्कार के पश्चात् पत्नी पूर्णरूप से पति के आश्रित होती थी । वह उसकी घर-गृहस्थी संभालने के साथ ही संकट की घड़ियों में पति के मन्त्री तथा आमोद-प्रमोद के समय में उसके मित्र की भूमिका निभाती थी । पति-सेवा ही उसका सर्वोपरि धर्म होता था और यही उसके ऐहिक तथा आमुष्मिक कल्याण का मार्ग प्रशस्त करता था । पति-सेवा की तुलना में व्रत, उपवास आदि भी व्यर्थ था । इस प्रकार पत्नी पति की सेवा, उसके घर-गृहस्थी की देखरेख, संकट की घड़ियों में मन्त्री तथा रति के क्षणों में उसके मित्र की भूमिका निभाती थी । पत्नी के इन कर्तव्यों के देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह पति की आश्रिता होते हुए भी उसकी सहयोगिनी ही होती थी । गार्हस्थ्य जीवन के निर्वाह में पति से किसी भी माने में उसका स्थान कम नहीं था ।

पति भी पत्नी के भरण-पोषण की पूर्ण व्यवस्था करता था और पत्नी को आर्थिक चिन्ता से सर्वथा मुक्त रखता था । जीवन के हर क्षण में वह उसका सहयोग लेता था ।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि संस्कृत-महाकाव्यों में चित्रित समाज में पति-पत्नी जीवन रूपी गाड़ी के दोनों पहिए के रूप में प्रतिष्ठित थे और इस प्रकार दोनों का समान स्थान एवं महत्व था । एक के अभाव में दूसरे की कोई उपयोगिता ही नहीं थी ।

गार्हस्थ्य जीवन के क्रम में दोनों के जीवन का मुख्य उद्देश्य था धर्म, अर्थ एवं काम का सम्मिलित रूप से अर्जन एवं उपभोग । संस्कृत काव्यों में चित्रित पति-पत्नी सम्मिलित रूप से धर्मार्जन में तत्पर रहते थे । अश्वमेधादि यज्ञों में जहां दोनों सम्मिलित रूप से उपस्थित होते थे वहीं दैनन्दिन धर्मकार्यों, संध्यावन्दन, देवपूजन आदि को भी दोनों ही पूर्ण करते थे । पति जहां बाहर से अर्थोपार्जन की व्यवस्था करता था वहीं पत्नी घर में रहते हुए भी उसके आय-व्यय का लेखा जोखा रखती थी । इसी प्रकार काम का उपभोग भी दोनों सम्मिलित रूप से करते थे ।

परन्तु खेद का विषय है कि आज भारतीय समाज पाश्चात्य जगत् की संस्कृति एवं उसकी मान्यताओं के प्रभाव में आकर, संयुक्त-कुटुम्ब पद्धति एवं परिवार तथा घर की इस प्राचीन परम्परा को अनुपयोगी एवं व्यर्थ का आडम्बर मानकर उसका विरोध कर रहा है । मानव-जीवन की सफलता के एकमात्र माध्यम "विवाह-संस्कार" को भी व्यक्तित्व के विकास का बाधक मानकर उसका विरोध कर रहा है और यह तर्क दे रहा है कि विवाह स्त्री के व्यक्तित्व के विकास का बाधक है । यह उसे पूर्णरूप से पति की दासी या सेविका बना देता है ।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है आज का भारतीय समाज पाश्चात्य जगत् से प्रभावित होकर अपनी परम्परागत मान्यताओं का विरोध कर रहा है इसलिए प्रस्तुत सन्दर्भ में यह देख लेना आवश्यक है कि पाश्चात्य जगत् की पारिवारिक या गार्हस्थ्य सम्बन्धी क्या मान्यताएं हैं ।

आज का पश्चिमी जगत् वैज्ञानिक और यान्त्रिक उन्नति के प्रभाव से इतना समुन्नत हो चुका है कि उसे संयुक्त कुटुम्ब पद्धति एक व्यर्थ की व्यवस्था लग रही है । पाश्चात्य जगत् में बच्चा पैदा हुआ, बोर्डिंग हाउसों में उसकी शिक्षा पूर्ण हुई और युवक होकर चर्च में विवाह रचाकर उसने अपना एक नया घर बसा लिया । इस प्रकार पिता केवल उसके जन्म का कारण बनता है और युवा होने तक आर्थिक सहायता दे करके अपने कर्तव्य की इति श्री मान लेता है । ऐसी दशा में पिता-पुत्र या पुत्री तथा अन्य पारिवारिक सदस्यों में भावात्मक एकता का प्रश्न ही नहीं उठता । परिणामतः परिवार विशृङ्खलित हो उठता है । जीवन के प्रभात में ही परिवार से सम्बन्ध टूट जाने के कारण वहां का व्यक्ति भला पारिवारिक सुख का अनुभव कैसे कर सकता है इसीलिए वह परिवार-प्रथा को अनुपयोगी मानकर स्वतन्त्र जीवन-यापन करता है ।

आज से कुछ समय पूर्व न्यूयार्क राज्य के एक अधिकारी ने अपने पिता से वैवाहिक उपहार के रूप में प्राप्त पच्चीस हजार डालर की राशि पाने वाली एक युवती से पूछा कि क्या वह इसे अपना घर बनाने में व्यय करेगी । उस युवती ने इस प्रश्न पर आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा, 'मैं चिकित्सालय में पैदा हुई हूं, शिशुशाला में पली हूं, कालेज में पढ़ी हूं,

वर्ष में मेरी शादी हुई है, होटल में रहती हूं, मुझे परिवार और घर की क्या आवश्यकता[१]।`

इस कथन से स्पष्ट है कि पाश्चात्य जगत् इतना संकुचित दृष्टिकोण वाला हो गया है कि वहां का प्रत्येक व्यक्ति परिवार की व्यवस्था को अपना बन्धन मानता है। समाज में परिवार के विरोध की इस दशा को ही देखते हुए पाश्चात्य जगत् के प्रमुख समाजशास्त्री `वाटसन' महोदय ने यह विचार व्यक्त किया है कि `घर अब अतीत की वस्तु हो रहा है, इस समय इसका इतना ही उपयोग है कि यहां कपड़े बदल लिए जाएं और कुछ घन्टे सो लिया जाय। वह दिन दूर नहीं जब बच्चे घर की बजाय उससे अधिक अच्छी संस्थाओं में बाल शिक्षण निष्णात व्यक्तियों द्वारा पाले जाया करेंगे, परिवार प्रथा का अन्त हो जाएगा[२]।`

संयुक्त कुटुम्ब व्यवस्था एवं परिवार के इस विरोध के साथ ही यौन-समागम में स्वतन्त्र होने के कारण आज पाश्चात्य जगत् विवाह-प्रथा का भी विरोध कर रहा है और इसके प्रति अनास्था व्यक्त करते हुए विवाह बन्धन को अनैतिक एवं स्वार्थ से परिपूर्ण कह रहा है। विवाहोत्तर यौन समागम को वेश्यावृत्ति के समकक्ष मानते हुए फोरले महोदय ने कहा है कि "Marriage is more fashionable form of Prostitution." चिंटन महोदय का मत है कि `धार्मिक पवित्रता की ओट में विवाह पद्धति के रूप में वस्तुतः जघन्य अनैतिकता और घोर स्वार्थपरता को खुली छूट दी

१- देखें : डा० हरिदत्त वेदालंकार : हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० ४६० पर उद्धृत डेलाय बैन्ट का कथन।

२- देखें : श्री हरिदत्त वेदालंकार : हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० ४६० का फुटनोट।

जाती है ।' विवाह द्वारा भोग्य यौन समागम को ध्यान में रखते हुए काण्ट महोदय यह विचार व्यक्त करते हैं कि 'विवाह दो विरोधी लिंगियों में स्थित यौन गुणों के आदान-प्रदान का जीवन व्यापी प्रयास है'। इसी प्रकार विवाह संस्कार के बन्धन की निन्दा करते हुए सर जान बूट ने भी कहा है कि 'प्रेम भी कितना ऊबा देने वाला मांस है जबकि विवाह उसके लिए चटनी । विवाह के दो वर्षों में मेरी सूक्ष्म अनुभूतियां नष्ट हो गई हैं । कोई शिष्य अपने शिक्षक से इतना नहीं ऊबा होगा, कोई लड़की अपने गले की तकिया से, कोई आलसी व्यक्ति प्रायश्चित करने से और कोई बूढ़ा कुमारी ब्रह्मचर्य पालन से इतनी नहीं ऊबी होगी जितना कि मैं विवाहित जीवन से ऊब गया हूं । अवश्य ही पत्नी शब्द को ही कोई गुप्त अभिशाप लगा हुआ है । स्त्री होना काफी है । जहां तक मुझे मालूम है स्त्री में कोई पाप नहीं है परन्तु वह पत्नी होती है और पत्नी को लानत है ।' विवाह संस्कार के प्रति इन कुत्सित एवं गर्हित विचारों के कारण ही वहां पत्नी को वेश्या के समकक्ष बैठा दिया गया है । प्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक मैरो ने पत्नी की इसी स्थिति का उल्लेख करते हुए कहा है,

"The difference between the woman who sells herself in marriage is only difference in price and duration of contract.[1]"

विवाह संस्कार के प्रति इस अनास्था एवं उसके बन्धन को

१- पाश्चात्य समाज शास्त्रियों के उपर्युक्त कथनों के लिए देखें श्री प्रशान्त कुमार वेदालंकार : 'वैदिक साहित्य में नारी ', पृ० १५८ की पाद टिप्पणी ।

अभिशाप मानकर पुरुष के साथ ही आज वहां की स्त्री भी पारिवारिक दायित्वों के निर्वाह को अपना बन्धन मानती है और वह इस बन्धन से मुक्त होने के लिए विद्रोह कर उठी है। पिछले दशक में अमेरिका की कुमारी केट की 'दि पालिटिक्स आफ सेक्स' नाम की पुस्तक ने विश्व की नारियों में एक हलचल उत्पन्न कर दी और सभी देशों में 'वीमेन लिबरेशन' आन्दोलन जिसका मुख्य उद्देश्य है नारी को स्वतंत्र करना, चल पड़ा। संसार की स्त्रियों ने यह कहा कि अब वे पारिवारिक बन्धनों से मुक्त होंगी, आज तक वे पुरुषों से बंधी थीं अब इस बन्धन को तोड़ कर स्वतन्त्र जीवन-यापन करेंगी। कुमारी 'केट' ने स्त्रियों के इन्हीं विचारों को ध्यान में रखते हुए 'वीमेन लिबरेशन '(नारी मुक्ति) के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार हुए हैं, उनका प्राप्य उन्हें नहीं मिला, उन्हें पुरुषों से हीन समझा गया। इसीलिए 'नारी-जागरण' मेरी जिन्दगी बन गया है।'

इसी प्रकार इस आन्दोलन की पक्षधर कुमारी लेविया ने आन्दोलन की पृष्ठभूमि स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'स्त्रियां पुरुष की तृप्ति का उपकरण मात्र मानी गई हैं। उनके स्वतन्त्र व्यक्तित्व को नकारा गया है। उनकी स्थिति का नाजायज फायदा उठाकर उनके पारिवारिक एवं सामाजिक योगदान को आसानी से भुला दिया गया है। वे पुरुषों पर आश्रित हैं इसलिए गुलाम हैं .... साहित्य के पन्ने पलटिए, स्त्री का उपयोग पुरुष की उत्तेजना-तृप्ति से अधिक क और क्या है।'[१]

१- कुमारी केट एवं लेविया के उपर्युक्त कथनों के लिए देखें : साप्ताहिक हिन्दुस्तान, १६ मई, ७७, पृ० ७।

पाश्चात्य जगत् में प्रचलित इन्हीं विचारों के कारण आज वहाँ के समाज में विवाह-प्रथा समाप्त सी हो चली है या उसकी स्थिरता में कमी आयी है । पति-पत्नी में भावात्मक एकता नष्ट हो चुकी है और वे एक दूसरे से मुक्त होते हुए पुनः अन्य जोड़ी बनाते रहते हैं ।

पश्चिमी जगत् की गार्हस्थ्य सम्बन्धी इन्हीं मान्यताओं के कारण आज भारतीय समाज में भी गार्हस्थ्य जीवन के प्रति अनास्था का भाव उदित हो रहा है । जीवन में स्वार्थ की प्रधानता के कारण संयुक्त कुटुम्ब-पद्धति धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न हो रही है । विवाह-संस्कार के प्रति अनास्था भले ही यहाँ न उत्पन्न हुई है लेकिन उसका मुख्य उद्देश्य कामोपभोग मानने के कारण उसकी स्थिरता में कमी आ रही है । पति-पत्नी में भी एक दूसरे के प्रति अनास्था का भाव प्रस्फुटित हो रहा है और पति-पत्नी के सम्बन्ध को जन्म-जन्मान्तर का सम्बन्ध मानने वाले भारतीय समाज में भी 'तलाक' की संख्या बढ़ रही है । समाज के इन परिवर्तनों को ही ध्यान में रखते हुए आज यहाँ के समाजशास्त्री भी यह मत व्यक्त करने लगे हैं कि 'भविष्य में हिन्दू परिवार में संयुक्त कुटुम्ब पद्धति का बहुत कुछ लोप हो जाएगा, परिवार एकाकी होंगे .... परिवार में पुरुष की प्रभुता का अन्त हो जाएगा, बच्चों पर पिता के अधिकार कम होंगे, उनकी शिक्षा, स्वास्थ्य और भरण-पोषण की व्यवस्था राज्य की ओर से होने लगेगी । पति-पत्नी कुटुम्ब में समान स्थिति का उपभोग करेंगे । परिवार का आर्थिक और धार्मिक महत्व लगभग समाप्त हो जाएगा । परिवार के वर्तमान स्थायित्व में कमी आएगी, विवाह-विच्छेदों की संख्या बढ़ेगी । विवाह द्वारा परिवार निर्माण एक आवश्यक कर्तव्य नहीं किन्तु ऐच्छिक कार्य होगा

और उसका प्रधान आधार दाम्पत्य प्रेम होगा[१]।"

विचारणीय यह है कि भारत के भावी समाज का यह स्वरूप क्या समाज, व्यक्ति या देश के लिए कल्याणकारी होगा ? यदि गम्भीरता से इस पर विचार किया जाय तो निश्चय ही इसका हमें नकारात्मक उत्तर ही प्राप्त होगा क्योंकि मानव व्यक्तित्व के विकास में संयुक्त कुटुम्ब-पद्धति, परिवार एवं विवाह से मिलने वाले योगदान को सहज ही अमान्य नहीं ठहराया जा सकता । मानव जीवन में सुख-दुःख की घड़ियों में संयुक्त कुटुम्ब पद्धति से जो योगदान मिलता है पारिवारिक सदस्यों में इस पद्धति द्वारा जो सहयोग की भावना, एक दूसरे को सहारा देने की भावना का विकास होता है, उसे देखते हुए इस पद्धति के महत्व को कैसे नकारा जा सकता है ? व्यक्ति बाल्यावस्था में जिस परिवार में पलता है, जीवन की प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण करता है, स्नेह एवं प्रेम या ममता के बन्धन में बंधता है, उस परिवार-प्रथा को व्यर्थ कैसे कहा जा सकता है ? राज्य की ओर से संचालित शिशु शिक्षणालयों में निश्चितरूप से बालक में इन गुणों का विकास नहीं हो पायेगा । क्योंकि उसे इन कर्तव्यों की शिक्षा परिवार में माता-पिता से ही मिलती है इसीलिए भारतीय समाज में इन दोनों को "आदि गुरु " की उपाधि से विभूषित किया गया है ।

इसी प्रकार जीवन में त्याग एवं एक दूसरे के प्रति समर्पण तथा सहयोग का पाठ पढ़ाने वाली तथा कामोपभोग द्वारा मानसिक शान्ति देने वाली विवाह-प्रथा की उपयोगिता में सन्देह कैसे हो सकता है ।

१- देखें : श्री हरिदत्त वेदालंकार : हिन्दू परिवार मीमांसा, पृ० ५३६-३७ ।

कहने का आशय यह है कि यदि भारतीय समाज को समुन्नत बनाना है तो यहां संयुक्त परिवार एवं विवाह-प्रथा का दृढ़ता से पालन करना होगा। इन दोनों में भी विवाह-प्रथा की ओर विशेष ध्यान देना होगा क्योंकि समाज की स्थिरता एवं उसकी गतिशीलता इसी पर निर्भर है। विवाह द्वारा ही स्त्री एवं पुरुष सम्मिलित रूप से अपना एवं समाज का कल्याण कर सकते हैं। एकाकी रहकर ये दोनों ही शक्तियां अपने एवं समाज के लिए व्यर्थ सिद्ध होंगी। गार्हस्थ्य जीवन के यापन में दोनों को ही एक दूसरे के सहयोगी की भूमिका प्रस्तुत करते हुए धर्म, अर्थ एवं काम का समान रूप से सेवन करना होगा। स्त्री को पुरुष का साहचर्य स्वीकार करना पड़ेगा। उसके साहचर्य में ही उसे अपना विकास करना होगा। पुरुष के साहचर्य में उसे नारी जीवन की तीन स्थितियाँ परिणय, प्रणय और मातृत्व को पूरा करना होगा। परिणय प्रणय और मातृत्व चूंकि ये तीनों एक दूसरे से बंधे हुए हैं, परिणय के अभाव में प्रणय एवं मातृत्व असंभव है, तथा प्रणय के अभाव में परिणय एवं मातृत्व व्यर्थ है इसलिए नारी को इन तीनों की प्राप्ति के लिए पुरुष को साथ लेना पड़ेगा और पति-रूप में उसके साथ स्नेहयुक्त-सम्बन्ध-निर्वाह करते हुए जीवन-यापन करना पड़ेगा। यद्यपि प्रणय-व्यापार के लिए परिणय आवश्यक नहीं है किन्तु प्रणय के स्थायित्व एवं उसकी सामाजिक मान्यता के लिए यही एक हेतु है। भारतीय सामाजिक मान्यताएं नारी के लिए यह आवश्यक मानती हैं कि वह परिणय से ही प्रणय की ओर बढ़े न कि प्रणय से परिणय की ओर, क्योंकि प्रथम स्थिति के परिणय में शारीरिक आकर्षण एवं कामुक दृष्टि के कारण स्थायित्व की सम्भावना कम रहती है तथा समाज भी ऐसे प्रणय को निन्दा की दृष्टि से देखता है परन्तु द्वितीय स्थिति में चूंकि एक दूसरे को समझने का पूरा अवसर मिलता है तथा सामाजिक मान्यता भी, अतः ऐसा प्रणय निश्चित ही स्थायी होता है और यही प्रणय स्त्री पुरुष दोनों के

सम्मिलित जीवन का हेतु बनकर उन्हें जीवन में एक दूसरे का सहयोगी बनने को बाध्य करता है । परन्तु परिणय से प्रणय की उद्भावना वाली स्थिति में भी स्त्री एवं पुरुष दोनों को ही उन्मुक्त भाव से स्वतन्त्र होना चाहिए किसी दबाव या सामाजिक भय से यदि दोनों परिणय में बंधेंगे तो निश्चित ही उनमें प्रणय विकसित नहीं हो पाएगा और फल होगा कलह का उद्भव । कलह उनमें टकराव एवं असहयोग की भावना उत्पन्न करेगा और यही उनमें अलगाव या तलाक कराने में सफल होगा । भारतीय समाज में बढ़ते हुए तलाक का आज केवल यही कारण है कि स्त्री एवं पुरुष दोनों ही परिणय के प्रसंग में स्वतन्त्र नहीं हैं । आज भी जीवन को स्वतंत्र रूप से जीने का मार्ग प्रशस्त करने वाले विवाह के विषय में दोनों ही पारिवारिक मान्यताओं से बंधे हैं । अत: यदि भारतीय समाज में परिणय को स्थायित्व प्रदान करना है, उससे प्रणय एवं मातृत्व को विकसित करना है तो स्त्री एवं पुरुष दोनों को ही इस विषय में सोचने-समझने का स्वतन्त्र रूप से समय देना होगा इसी स्थिति से यदि दोनों ने एक दूसरे को परख लिया, अपने लिए उपयोगी समझ लिया तो निश्चित् ही उनका विवाहोत्तर जीवन सफल होगा और तभी यह कहना सार्थक होगा कि "विवाह स्त्री एवं पुरुष के जीवन के समझौते का एक जीवन-व्यापी प्रयास है । परन्तु परिणय की इस स्वतंत्रता के साथ ही स्त्री एवं पुरुष दोनों को चयन में सावधान रहना पड़ेगा । पुरुष को यह ध्यान में रखना होगा कि सौन्दर्य या शारीरिक चमक-दमक ही स्त्री नहीं स है बल्कि यह स्त्री का केवल एक गुण है । भारतीय समाज पत्नी के लिए आवश्यक गुणों में जैसे उसका मितव्ययी होना, उसकी सेवा भावना या घर के दायित्व को सम्भालने की योग्यता आदि आवश्यक मानता है, वैसे ही उसका सुन्दर होना भी । न तो इन गुणों के अभाव में उसके सौन्दर्य को मान्य ठहराया जा सकता है और न ही सौन्दर्य के अभाव

में उसके उपर्युक्त गुणों को ही महत्ता दी जा सकती है क्योंकि यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि पुरुष प्रायः सर्वप्रथम बाह्य-सौन्दर्य पर ही आकर्षित होता है किन्तु बाह्य-सौन्दर्य, पत्नी के अपेक्षित गुणों के अभाव में सुगन्धिरहित किंशुक पुष्प की तरह ही व्यर्थ है। स्पष्ट है कि अधिकांश स्त्रियों में पुरुष द्वारा अपेक्षित सभी गुण नहीं मिल सकते इसलिए उसे चयन में सचेष्ट होकर इन गुणों की उपलब्धि में समझौता करना पड़ेगा। उसे ही यह निर्णय करना पड़ेगा कि सौन्दर्य प्रबल है या कि स्त्री के गुण। इसीलिए पत्नी-चयन में पुरुष को पूर्ण स्वतंत्र होना चाहिए।

पुरुष की तरह ही स्त्री को भी पति-चयन में उसके गुणों या धन सम्पत्ति पर न रीझकर उसके अध्यवसाय के भावुकता एवं उदारचित आदि पुरुष में अपेक्षित गुणों को परखना होगा।

यदि उपर्युक्त मान्यताओं को ध्यान में रखकर ही भारतीय समाज में परिणय का प्रचलन होगा तो निश्चित ही ऐसे परिणय से प्रणय एवं मातृत्व का प्रवाह उद्भूत होगा और समाज सुखी गृहस्थों को पाकर स्वयं उन्नति की ओर बढ़ेगा। परिणीत गृहस्थों को यह भी ध्यान में रखना होगा कि गृहस्थ-आश्रम की सफलता का स्रोत धर्म, अर्थ एवं काम की सम्यक् प्राप्ति से ही प्रवाहित होता है। उन्हें यह ध्यान में रखना होगा कि विवाह यौन-सम्भोग की खुली छूट का अनुज्ञा-पत्र न होकर अनेक कर्तव्यों के निर्वाह का घोषणा-पत्र है। उसे इस सुपरिष्कृत 'काम' के साथ ही अपने कर्तव्य निर्वाहादि रूप धर्म का पालन एवं गार्हस्थ्य के सम्यक् संचालन के लिए अपेक्षित अर्थोपार्जन के लिए भी सचेष्ट रहना होगा। तभी वह गार्हस्थ्य [illegible] में पुरुषार्थत्रय के सम्यक् अर्जन के पश्चात् जीवन के सर्वोच्च

शोधप्रबन्ध - परिशिष्ट - १

१- महर्षि विश्वामित्र द्वारा श्वान-मांस भक्षण

त्रेता और द्वापर के सन्धिकाल में एक बार देश में महान् अकाल पड़ा था। बारह वर्षों तक जल-वृष्टि नहीं हुयी थी। जलाशय आदि सूख चुके थे। अन्न के अभाव में लोग आपस में ही एक दूसरे को मारकर अपनी क्षुधा शान्त करते थे। ऐसे अकाल के समय ऋषि विश्वामित्र भी स्वजनों को छोड़, अन्न के अन्वेषण में निकल पड़े परन्तु उन्हें कहीं भी अन्न या फल आदि का दर्शन नहीं हुआ। एक दिन वह भूख-प्यास से पीड़ित हो, बेहोश होकर भूमि पर गिर पड़े। ऐसी स्थिति में उन्होंने किसी भी प्रकार प्राणों की रक्षा करने का निश्चय किया और इस निश्चय के साथ ही एक चाण्डाल के घर में वह चुपके से घुस गए और वहां श्वान-मांस का भक्षण करके अपने प्राणों की रक्षा की थी।

--विस्तृत कथा के लिए देखें : म० भा० शा० प० अ० १४१।

२- अर्जुन द्वारा प्रतिज्ञा-भंग

द्रौपदी से विवाह करके पंचपाण्डव खाण्डवप्रस्थ में रहने लगे थे और नारद की सलाह मानकर उन्होंने यह निश्चय कर लिया था कि द्रौपदी उनमें से प्रत्येक के साथ अलग-अलग एक-एक वर्ष तक रहा करेगी। ऐसी स्थिति में द्रौपदी के साथ एकान्त में बैठे हुए एक भाई को यदि दूसरा भाई देख लेगा तो उसे बारह वर्षों तक वन में ब्रह्मचर्य पूर्वक निवास करना पड़ेगा। इस नियम के साथ ही पंचपाण्डव खाण्डवप्रस्थ में रह रहे थे। एक दिन वहां एक ब्राह्मण उपस्थित हुआ और उसने चोरों द्वारा ले जायी जाती हुई अपनी गौओं की रक्षा करने का पाण्डवों से निवेदन किया क्योंकि प्रजा के जान-माल की रक्षा करना प्रत्येक राजा का धर्म होता है और इसीलिए प्रजा उसे अपनी आय का छठां भाग

कार-रूप में देती है । उसकी इस पुकार को अर्जुन ने सुना । उस समय धर्मराज युधिष्ठिर द्रौपदी के साथ रह रहे थे और पंचपाण्डवों के सभी आयुध उसी कक्ष में थे । ऐसी परिस्थिति में यदि अर्जुन चोरों से ब्राह्मण के गायों की रक्षा के लिए शस्त्र लेने के लिए उस कक्ष में प्रवेश करते तो उन्हें बारह वर्षों तक वन में निवास करना पड़ता । ऐसे अवसर पर अर्जुन ने प्रजा-रक्षण रूप कर्तव्य को ही मुख्य मानते हुए अस्त्र-शस्त्र लेने के लिए, की गयी प्रतिज्ञा को भंग करके उस कक्ष में प्रवेश किया और वहां से अपने अस्त्र-शस्त्र लेकर चोरों से ब्राह्मण की गायों को उसे छुड़ाकर ब्राह्मण की रक्षा किया ।

-- विस्तृत कथा के लिए देखें : म० भा० आदि० अ २११-२१२

३- आस्तीक मुनि, ध्रुव एवं प्रह्लाद के ब्रह्मचर्याश्रम में अर्थ के साथ ही धर्म भी लक्ष्य

क- आस्तीक का कथानक

महर्षि जरत्कारु एवं नागराज वासुकि की भगिनी के सुपुत्र आस्तीक ब्रह्मचर्याश्रम में रहते हुए विद्याध्ययन रूपी अर्थार्जन में तत्पर थे । इसी बीच जनमेजय ने सर्पों के विनाश के लिए `सर्पसत्र ' का प्रारम्भ किया और उस यज्ञ में अनेक सर्प नष्ट हुए । सर्पों के इस विनाश को देखकर नागराज वासुकि एवं आस्तीक की माता जरत्कारु ने आस्तीक से सर्पकुल को विनाश से बचाने का निवेदन किया । माता का आदेश पाकर आस्तीक, जनमेजय के `सर्पसत्र' में पहुंचे और उसे बन्द करवाया ।

इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम में विद्याध्ययनरूपी अर्थ के अर्जन के साथ ही आस्ती ने सर्पों की प्राणरक्षा-रूपी धर्म का निर्वाह किया ।

--विस्तृत कथा के लिए देखें : म० भा० आदि० आस्तीक पर्व अ० १३-५८

ख- ऋष्यशृङ्ग ऋषि का कथानक

महर्षि विभाण्डक के पुत्र ऋष्यशृंग अंगदेश के वनों में ब्रह्मचर्याश्रम में रहते हुए तपश्चर्या में लगे रहते थे । उनके समय में रोमपाद नामक भूपति अंगदेश के राजा थे । राजा रोमपाद के किसी अधर्म से असन्तुष्ट होकर देवराज इन्द्र ने एक बार बारह वर्षों तक अंगदेश में जलवृष्टि नहीं की । जलवृष्टि न होने से क्षुब्ध हो, रोमपाद ने ब्राह्मणों की सलाह से छलपूर्वक, प्रमदाओं द्वारा ऋष्यशृंग को कामयुक्त करके अंगदेश में बुलवाया और वहां अपनी पुत्री शान्ता का उनसे विवाह किया । रोमपाद ने अपने इस छल-कृत्य के लिए क्षमा मांगते हुए ऋष्यशृंग से कहा कि उन्होंने उन्हें विवाह के लिए मात्र इसलिए प्रेरित किया था कि इससे अंगदेश में वृष्टि होगी और वृष्टि हुई भी । इस प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए ही सम्भवत: ऋष्यशृंग ने शान्ता से विवाह किया था ।

ऋष्यशृंग के उपर्युक्त कथानक के आधार पर कहा जा सकता है कि उन्होंने ब्रह्मचर्याश्रम में तपश्चर्या एवं विद्या रूपी अर्थार्जन के साथ ही परोपकार रूपी धर्म का भी पालन किया था और इस प्रकार उनका ब्रह्मचर्याश्रम अर्थ के साथ ही धर्म से भी युक्त था ।

--विस्तृत कथा के लिए देखें : वा० रा० बाल० स० ९-१० एवं म० भा० वन० अ० ११०-११३

ग- ध्रुव का कथानक

श्रीमद्भागवत के अनुसार ध्रुव महाराज उत्तानपाद एवं सुनीति के पुत्र थे । एक बार ध्रुव जब बाल्यावस्था में ही थे तो पिता के पास ही उनके सिंहासन पर जा बैठे परन्तु उनकी विमाता सुरुचि को यह सह्य नहीं था अत: उसने ध्रुव का अपमान करते हुए और यह कहते हुए कि यदि उसे सिंहासन पर बैठना था तो मेरे

गर्भ से जन्म लेना था, उन्हें पिता के सिंहासन से उतार दिया । ध्रुव यह अपमान सह न सका और माता सुनीति तथा देवर्षि नारद की अनुज्ञा प्राप्त करके घोर तपश्चर्या में संलग्न हुआ । अन्ततः भगवान् गरुणध्वज उसकी कठोर तपश्चर्या से प्रसन्न हुए और उसे राजपद-प्राप्ति का आशीर्वाद देकर अन्तर्धान हो गए । अन्ततः ध्रुव गृह लौट आए ।

इस कथानक से स्पष्ट है कि ध्रुव ब्रह्मचर्य जीवन में अर्थ के साथ ही धर्म की सफलतापूर्वक प्राप्ति में भी समर्थ हुए थे ।

--विस्तृत कथा के लिए देखें : श्रीमद्भागवत चतुर्थ स्कन्ध अ० ८-१३

ख- प्रह्लाद का कथानक

प्रह्लाद महाराज हिरण्यकशिप का पुत्र था । हिरण्यकशिप ने ब्रह्मा की उपासना द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली थी और इसी गर्व के कारण वह भगवान के स्थान पर अपनी उपासना करवाने लगा था । उसका पुत्र प्रह्लाद उसकी इस उद्दण्डता का विरोध करते हुए भगवान् की उपासना एवं धर्म की आराधना में ही लगा रहता था । यह देख हिरण्यकशिप उस पर तरह-तरह के अत्याचार करने लगा था । अन्ततः प्रह्लाद की कठिन आराधना एवं हिरण्यकशिप के प्रचण्ड अत्याचार को देख भगवान् ने नृसिंह रूप धारण करके हिरण्यकशिप का वध किया ।

इस कथा से स्पष्ट हो जाता है कि प्रह्लाद भी अपने ब्रह्मचर्य काल में अर्थ की प्राप्ति के साथ ही धर्म की आराधना करने में भी सफल हुए थे ।

--विस्तृत कथा के लिए देखें : श्रीमद्भागवत सप्तम स्कन्ध अ० १-८

४- गृहस्थ का मुख्य लक्ष्य 'काम' के साथ ही धर्म अथवा मोक्ष

(क) जनक एवं याज्ञवल्क्य का कथानक

भारतीय साहित्य में ऐसे अनेक गृहस्थों के उदाहरण प्राप्त होते हैं

जिन्होंने गृहस्थाश्रम में 'काम' से अधिक मोक्ष-तत्व के विश्लेषण को महत्व दिया । इस सन्दर्भ में जनक एवं याज्ञवल्क्य, जैसे गृहस्थों के कथानक को देखा जा सकता है । विदेहराज जनक सुनयना आदि राजरानियों के साथ गार्हस्थ्य जीवन बिताते हुए अपना सारा समय मोक्षतत्व के विश्लेषण में ही लगाते थे । इसी प्रकार महर्षि याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी के साथ गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते हुए अपना सारा समय उसके साथ मोक्ष-तत्व के विश्लेषण में ही व्यतीत किया था।

-- उपर्युक्त व्यक्तियों से सम्बद्ध विस्तृत कथा के लिए देखें : म० भा० शा० प० मोक्ष धर्म पर्व

(ख) वशिष्ठ एवं अगस्त्य का कथानक

प्राचीन साहित्य में हमें ऐसे गृहस्थों के भी उदाहरण प्राप्त होते हैं जिन्होंने अपने गार्हस्थ्य काल में 'काम' से अधिक, 'धर्म' को महत्व दिया था । इस सन्दर्भ में महर्षि वशिष्ठ एवं अगस्त्य के कथानक को देखा जा सकता है । वशिष्ठ एवं अगस्त्य ने क्रमशः अरुन्धती तथा लोपामुद्रा के साथ गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते हुए अपने जीवन में काम से अधिक धर्म को ही महत्व दिया था । यही कारण है कि इन दोनों ने अपने गार्हस्थ्य का अधिकांश भाग धर्मार्जन में ही व्यतीत किया ।

--विस्तृत कथा के लिए देखें : वा० रा० बाल० १२-१३ आदि एवं रघु० १।५६ एवं म० भा० वन० अ० ९६-९९

५- सन्यासी भरत मुनि की मृग शावक के प्रति आसक्ति

श्रीमद्भागवत के अनुसार महाराज ऋषभदेव के सुपुत्र महाराज भरत, विश्वरूप की कन्या पंचजनी के साथ अपने गार्हस्थ्य जीवन का सफलतापूर्वक निर्वाह करने के पश्चात् सांसारिक भोगों से विरक्त हो जाने के कारण, गृहस्थाश्रम का

परित्याग करके 'पुलहाश्रम' में घोर तपश्चर्या में संलग्न हुए । परन्तु उस सन्यास आश्रम में भी जहां कि मनुष्य की सभी आसक्तियां नष्ट हो जाती हैं, वह एक मृगशावक के प्रति आसक्त हो गए और फलत: उन्हें मृगयोनि में जन्म लेना पड़ा । अन्तत: मृगयोनि से भी मुक्त होकर वह ब्राह्मण कुल में पुन: उत्पन्न हुए ।

--विस्तृत कथा के लिए देखें : श्रीमद्भागवत् पंचम स्कन्ध अ० ७-६

६- ऋषियों में 'काम' की उत्पत्ति

(क) ऋषि पराशर का कथानक

महर्षि पराशर एक उग्र तपस्वी थे । एकबार विभिन्न तीर्थों के देशाटन क्रम में वह यमुना-तट पर पहुंचे और वहां सत्यवती या मत्स्यगंधा नाम की स्त्री की नौका पर चढ़े । सत्यवती अत्यधिक सुन्दर थी एवं उसके शरीर से सदा ही मछली की गन्ध आती रहती थी । पराशर, सत्यवती के रूप-सौन्दर्य पर आकृष्ट हो उससे सम्भोग की याचना कर बैठे और अन्तत: सत्यवती को विभिन्न वरदान देकर, उसे अपने अनुकूल एवं सम्भोग के लिए उत्सुक बनाकर, तप: राशि से दिन में कोहरे का अन्धकार उत्पन्न करके उन्होंने उससे सम्भोग किया और इस प्रकार पराशर एवं सत्यवती के इस सम्भोग से ही महर्षि द्वैपायन का जन्म हुआ ।

-- विस्तृत कथा के लिए देखें : म० भा० आदि अ० ६३।६८-८६
एवं १०४ । ६-१६

(ख) महर्षि शरद्वान गौतम का कथानक

पूर्वकाल में शरद्वान् गौतम नाम के एक तप: साधना सम्पन्न ऋषि थे । वह तप: साधना में महान् होने के साथ ही धनुर्वेद में भी निष्णात थे । एक बार वन में मात्र एक वस्त्र धारण किए हुए 'जानपदी' नाम की एक अप्सरा उनके आश्रम पर आकर उन्हें लुभाने लगी । परन्तु ऋषि उससे सम्भोग करने का साहस

न छूटा पाए फिर भी कामभाव के उत्पन्न होने के कारण उनका वीर्य स्खलित होकर सरकण्डे के समुदाय पर गिर पड़ा था । कालान्तर में उसी वीर्य से एक कन्या एवं एक पुत्र का जन्म हुआ ।

-- देखें : म० भा० आदि० अ० १२९ ।२-१७

यदि उपर्युक्त कथानक पर से अलौकिकता का आवरण हटा दिया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि शरद्वान् गौतम ने जानपदी से अवश्य ही सम्भोग किया था क्योंकि प्रचलित शास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार सन्तति तभी उत्पन्न होती है जबकि पुरुष का वीर्य एवं स्त्री का रज संयुक्त होता है ।

(ग) महर्षि भरद्वाज का कथानक

पहले गंगाद्वार में भरद्वाज नाम के एक महान् तपस्वी थे । वह सदा ही कठोर-व्रत-चर्या में संलग्न रहते थे । एकबार वह महर्षियों के साथ गंगा स्नान करने गए । वहां घृताची नाम्नी अप्सरा स्नान करने के पश्चात् वस्त्र परिवर्तन कर रही थी । सम्भवत: ऋषि को देख उसका वस्त्र खिसक गया और इधर मदोन्मत्त सौन्दर्य को देख महर्षि भी सम्भल न पाए, उनका वीर्य स्खलित हो ही गया । उस वीर्य को उन्होंने द्रोण में रख दिया । उसी वीर्य से एक पुत्र का जन्म हुआ जो आगे चलकर द्रोणाचार्य नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

--देखें म० भ० आदि १२९।३३-३७

उपर्युक्त कथानक का भी यदि अलौकिकताभाव का परित्याग करके विश्लेषण किया जाय तो यह स्पष्ट है कि महर्षि भरद्वाज ने घृताची से सम्भोग किया था ।

७- भूपति पाण्डु को किन्दम ऋषि का शाप

एक बार भूपति पाण्डु आखेट के लिए एक विशाल वन में प्रविष्ट हुए ।

आधार ग्रन्थसूची

आधार ग्रन्थसूची

	सम्पादक	प्रकाशक	संस्करण
वैदिक साहित्य			
१- ऋग्वेद (सायण भाष्य सहित)	श्री एफ० मैक्समूलर	चौखम्भा संस्कृत सीरीज आफिस बनारस	प्रथम संस्करण सन् १९६६ ई०
२- अथर्ववेद (हिन्दी भाष्य सहित)	ऋषि वसन्त श्रीपाद दामोदर सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल, पारडी सूरत	तृतीय संस्करण सन् १९५८ ई०
पुराण साहित्य			
३- श्रीमद्भागवत	श्री कृष्ण शंकर शास्त्री	संसार प्रेस 'संसार' लिमिटेड काशीपुरा, वाराणसी	सन् १९६६ ई०
४- देवी भागवत	-	गीता प्रेस, गोरखपुर	-
५- अग्नि पुराण (दो भागों में)	पं० श्रीराम शर्मा	संस्कृति संस्थान ख्वाजा कुतुब (वेद नगर) बरेली	प्रथम संस्करण सन् १९६८ ई०

	सम्पादक एवं अनुवादक	प्रकाशक	संस्करण
६- पद्म पुराण	श्री मनसुख राय मोर	५ क्लाइव रोड कलकत्ता	-
७- ब्रह्मवैवर्त पुराण	श्री मनसुख राय मोर	५ क्लाइव रोड कलकत्ता	-

महाकाव्य

८- वाल्मीकि रामायण (हिन्दी अनुवाद सहित)	पं० जानकी नाथ शर्मा	गीताप्रेस गोरखपुर	प्रथम संस्करण सं० २०१७
९- महाभारत (हिन्दी अनुवाद सहित)	श्रीमन्त श्रीपाद दामोदर सातवलेकर एवं पं० राम नारायण दत्त शास्त्री	स्वाध्याय मण्डल पारडी, सूरत गीताप्रेस गोरखपुर	
१०-बुद्धचरित	महन्त श्रीरामचन्द्र दास	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी	द्वितीय संस्करण सन् १९६६ ई०
११- सौन्दरनन्द	श्री सूर्यनारायण चौधरी	मोती लाल बनारसी दास,वाराणसी	तृतीय संस्करण वि०सं०२०२६
१२-कुमारसम्भव	श्री नारायण राम आचार्य	निर्णय सागर प्रेस, बाम्बे	१९५५ ई०
१३- रघुवंश	श्री ब्रह्मशंकर मिश्र	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस बनारस	द्वितीय संस्करण सन् १९५६ ई०
१४- किरातार्जुनीय	श्री रामप्रताप त्रिपाठी	किताब महल इलाहाबाद	प्रथम संस्करण सं० २०१५

	सम्पादक एवं अनुवादक	प्रकाशक	संस्करण
१५- शिशुपालवध	श्री दुर्गाप्रसाद	निर्णय सागर प्रेस बम्बई	द्वादश संस्करण सन् १९५७ ई०
१६- जानकीहरण	श्री ब्रजमोहन व्यास	मित्र प्रकाशन प्रा०लि०इलाहाबाद	
१७- नवसाहसांकचरित	श्री जितेन्द्रचन्द्र भारतीय	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी	प्रथम वि० सं० २०२०
१८- विक्रमांकदेवचरित (तीन भागों में)	श्री विश्वनाथ शास्त्री	संस्कृतसाहित्यानु-सन्धानसमिति बनारस विश्वविद्यालय	सन् १९५८ ई०
१९- धर्मशर्माभ्युदय	श्री पन्नालाल जैन	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन	प्रथम संस्करण सन् १९७१ ई०
२०- नैषध	श्री हरगोविन्द शास्त्री	चौखम्ब संस्कृत सीरीज,बनारस	सन् १९५४ ई०
२१- शंकरदिग्विजय	श्री बलदेव उपाध्याय	महन्त शान्तानन्द नाथ, श्री श्रवणनाथ ज्ञान-मन्दिर, हरद्वार	सं० २०००
२२- कविकर्णपूर विरचित पारिजातहरण	श्री अनन्त लाल ठाकुर	मिथिला इंस्टीच्यूट आफ पोस्टग्रेजुएट स्टडीज एण्ड रिसर्च इन संस्कृतलर्निंग दरभंगा	सन् १९५६ ई०

काव्य एवं नाटकादि	सम्पादक एवं अनुवादक	प्रकाशक	संस्करण
२३- रुक्मिणीहरण	रचयिता हरिदास सिद्धान्तवागीश	श्री हेमचन्द्र भट्टाचार्य कलकत्ता	
२४- राधापरिणय	रचयिता बदरीनाथ शर्मा	विश्व मुद्रणालय मुजफ्फरपुर	प्रथम संस्करण
२५- मेघदूत(उत्तर भाग)	डा० जयशंकर त्रिपाठी	देवभाषा-प्रकाशन दारागंज,इलाहाबाद	प्रथम संस्करण २०२६
२६- भोजप्रबन्ध	श्री केदार नाथ शर्मा	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, १	तृतीय सन् १९७० ई०
२७- भगवदज्जुकीय	,,अनुपम अञ्जन	पालीग्रन्थ शाला अमृतसंगत	सन् १९२५ ई०
२८- अभिज्ञानशाकुन्तल	,,एम०आर० काले	मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी	दशम् १९६९ ई०
२९- कामसूत्र	,,देवदत्त शास्त्री	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी	१९६४ ई०
३०- कौटिलीय अर्थशास्त्र	,,वाचस्पति गैरोला	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी	प्रथम वि०सं० २०१९
३१- सिद्धान्तकौमुदी	,, वासुदेव शर्मा	निर्णयसागर मुद्रणालय बम्बई	
३२- अष्टाध्यायी	-	रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ सोनीपत, हरयाणा	प्रथम संस्करण सन् १९७३ ई०

	सम्पादक एवं अनुवादक	प्रकाशक	संस्करण
३३- सत्यार्थप्रकाश	श्रीयुधिष्ठिर मीमांसक	रामलाल कपूर ट्रस्ट हरियाणा	प्रथम सन् १९७२ ई०
३४- श्रीमद्भगवद्गीता	--	गीताप्रेस, गोरखपुर	--

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ

	सम्पादक एवं अनुवादक	प्रकाशक	संस्करण
३५- काव्यालंकार (भामह विरचित)	,,पी०वी०नागनाथ शास्त्री	मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी	द्वितीय सन् १९७० ई०
३६- काव्यादर्श	,, कुमुदरंजन राय	के राय विवेकानन्द रोड, कलकत्ता	
३७- साहित्यदर्पण	,,शालग्राम शास्त्री	मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी	चतुर्थ सन् १९६१ ई०
३८- काव्यालंकार (रुद्रट)	डा०सत्यदेव चौधरी	वासुदेव प्रकाशन दिल्ली	प्रथम सन् १९६५ ई०
३९- काव्यप्रकाश	आचार्य विश्वेश्वर	ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी	द्वितीय सं० २०१८
४०- ध्वन्यालोक	श्री शोभित मिश्र	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस	द्वितीय सन् १९५३ ई०
४१ -दशरूपक	डा० श्रीनिवास शास्त्री	साहित्य भण्डार सुभाष बाजार, मेरठ	द्वितीय सन् १९७३ ई०

		सम्पादक एवं अनुवादक या लेखक	प्रकाशक	संस्करण
	कोशग्रन्थ			
४२-	हलायुधकोश	श्री जयशंकर जोशी	प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश	प्रथम शक सं० १८७९
४३-	शब्दकल्पद्रुम (द्वितीय भाग)	,, राजा राधा कान्त देव	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी	सन् १९६१ ई०
४४-	वाचस्पत्य (चतुर्थ भाग)	,, तारानाथ तर्क वाचस्पति	,,	सन् १९६२ ई०
४५-	अमरकोश	,, शिवदत्त कोविद	निर्णयसागर प्रेस बम्बई	षष्ठ सन् १९४४ ई०
४६-	शब्दस्तोममहानिधि	,, तारानाथ तर्कवाचस्पति	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी	तृतीय सन् १९६७ ई०
४७-	निरुक्त	,, उमाशंकर शर्मा	,,	द्वितीय सं० २०२२
४८-	Sanskrit English Dictionary	" V. S. Apte	Moti Lal Banarsidas Varanasi	1965
	धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ (गृह्य सूत्र)			
४९-	आश्वलायन गृह्यसूत्र ("अनाविला" टीका सहित)	श्री टी०गणपति शास्त्री	गवर्नमेण्ट प्रेस त्रिवेन्द्रम	सन् १९२३ ई०
५०-	लौगाक्षिगृह्यसूत्र (देवपालभाष्य सहित)	,, मधुसूदन कौल	निर्णय सागर प्रेस बम्बई	सन् १९२८ ई०

	सम्पादक एवं अनुवादक	प्रकाशक	संस्करण
५१- मानवगृह्यसूत्र (अष्टावक्र की टीका सहित)	श्री रामकृष्ण हर्षजी शास्त्री	सेण्ट्रल लायब्रेरी, बड़ौदा	सन् १९२१ ई०
५२- आपस्तम्बगृह्यसूत्र (तात्पर्यदर्शन एवं अनाकुला टीका तथा हिन्दी भाष्य सहित)	डा० उमेशचन्द्र पाण्डेय	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी	द्वितीय सन् १९७१ ई०
५३- पारस्करगृह्यसूत्र (हरिहर भाष्य एवं हिन्दी भाष्य युक्त)	डा० हरिदत्त शास्त्री	भारतीय विद्या प्रकाशन वाराणसी	प्रथम सन् १९७३ ई०
५४- गोभिल गृह्यसूत्र	श्री चन्द्रकान्त तर्कालंकार	कलकत्ता	
५५- वाराह गृह्यसूत्र	,, आर० शाम शास्त्री	सेण्ट्रल लायब्रेरी बड़ौदा	सन् १९२१ ई०
५६- जैमिनिगृह्यसूत्र	डा० डब्ल्यु कैलेण्ड	मोतीलाल बनारसीदास वाराणसी	सन् १९२२ ई०
५७- कौषीतकिगृह्यसूत्र	श्री सोमनाथ उपाध्याय	वृज व० शाह एण्ड कम्पनी	सन् १९०८ ई०
५८- शांख्यायन गृह्यसूत्र	,, एस० आर० सहगल	ओरियण्टल बुकसेलर्स एण्ड पब्लिशर्स, नई सड़क, दिल्ली	
५९- खादिर गृह्यसूत्र	,, उदय नारायण सिंह	शास्त्र पब्लिशिंग हाउस, मुजफ्फरपुर	सन् १९३४ ई०
६०- द्राह्यायणगृह्यसूत्र	,, ,, ,,	,,	,,

	सम्पादक एवं अनुवादक	प्रकाशक	संस्करण
६१- आग्निवेश्य गृह्यसूत्र	श्री एल० ए० रविवर्मन	त्रिवेन्द्रम	१९४० ई०
६२- बौधायन गृह्यसूत्र	,, आर० शाम शास्त्री	गवर्नमेण्ट ब्रांच प्रेस, मैसूर	सन् १९२० ई०
६३- भारद्वाज गृह्यसूत्र	,, एच० जे० डब्ल्यू सैलमन्स	लेडेन	१९१३ ई०
६४- काठकगृह्यसूत्र	डा० डब्ल्यू कैलेण्ड	विद्या प्रकाश प्रेस, लाहौर	सन् १९२५ ई०
६५- हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र	,, जे० क्रिस्टे	वियेन्ना	१८८९
६६- बौधायनधर्मसूत्र (विवरण टीकायुक्त)	,, चिन्नस्वामी शास्त्री	चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी	सन् १९३४ ई०
६७- आपस्तम्ब धर्मसूत्र (उज्ज्वला टीकायुक्त)	,, ,, ,,	,,	सन् १९३२ ई०
६८- गौतमधर्मसूत्र ('मिताक्षरा' टीका एवं हिन्दी भाष्ययुक्त)	,,डा० उमेश चन्द्र पाण्डेय	,,	सन् १९६६ ई०

स्मृतियां	सम्पादक एवं अनुवादक	प्रकाशक	संस्करण
६९- मनुस्मृति (मेधातिथि, सर्वज्ञ नारायण, कुल्लूक, राघवानन्द, नन्द एवं रामचन्द्र की टीकाओं के साथ)	श्री विश्वनाथ	श्री गणपतकृष्णा जी मुद्रणालय, बम्बई	स० १८०७
७०- याज्ञवल्क्य स्मृति ("बालक्रीडा" एवं "मिताक्षरा" टीकायुक्त)	,,टी०गणपति शास्त्री		सन् १९२२ ई०
७१- विष्णु स्मृति (केशववैजयन्ती टीका-युक्त)	,,वी०कृष्णमाचार्य	अड्यार पुस्तकालय एवं शोध केन्द्र, मद्रास	सन् १९६४ ई०
७२- वशिष्ठ स्मृति	,, श्रीराम शर्मा	संस्कृति संस्थान, बरेली, उत्तर प्रदेश	सन् १९६६ ई०
७३- सम्वर्तस्मृति	,, ,,	,,	,,
७४- दक्षस्मृति	,, ,,	,,	,,
७५- वेदव्यासस्मृति	,, ,,	,,	,,
७६- हारीतस्मृति	,, ,,	,,	,,
७७- शङ्खस्मृति	श्री श्रीराम शर्मा	संस्कृति संस्थान, बरेली, उत्तर प्रदेश	,,
७८- बौधायनस्मृति	,, ,,	,,	,,

स्मृति	सम्पादक एवं अनुवादक	प्रकाशक	संस्करण
७९- लघ्वाश्वलायनस्मृति	श्री श्रीराम शर्मा	संस्कृति संस्थान, बरेली, उत्तर प्रदेश	१९६६ ई०
८०- बुधस्मृति	,, ,,	,,	,,
८१- नारद स्मृति	,, ,,	,,	,,

नोट : श्री श्रीराम शर्मा जी ने उपर्युक्त स्मृतियों के साथ ही कुछ अन्य स्मृतियों का संग्रह करके "बीस स्मृतियां " शीर्षक से उन्हें दो भागों में प्रकाशित किया है । अत: वशिष्ठ से बुधस्मृति तक के सन्दर्भों के लिए देखें " बीस स्मृतियां : (दो भागों में) सम्पादक : श्रीराम शर्मा : प्रकाशक : संस्कृति संस्थान, बरेली (उत्तर प्रदेश), सन् १९६६ ई० ।

८२- नारद स्मृति	श्री जाली	-	-

धर्मशास्त्रीय निबन्ध ग्रन्थ	लेखक	प्रकाशक	संस्करण
८३- गृहस्थरत्नाकर	श्री कमलकृष्णस्मृति तीर्थ	द एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, कलकत्ता	सन् १९२८ ई०
८४- वीरमित्रोदय (संस्कार प्रकाश भाग)	,, मित्र मिश्र	चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस	सन् १९१३ ई०
८५- स्मृतिचन्द्रिका (संस्कारकाण्ड)	,, देवण भट्ट	गवर्नमेण्ट ब्रांच प्रेस, मैसूर	सन् १९१४ ई०
८६- स्मृतिमुक्ताफल	,, जगन्नाथ रघुनाथ घारपुरे	आर्य भूषण प्रेस पटना	प्रथम संस्करण सन् १९३७ ई०

आधुनिक आलोचनात्मक ग्रन्थ (हिन्दी ग्रन्थ)	लेखक	प्रकाशक	संस्करण
८७- रामायणकालीन समाज	डा० शान्ति कुमार नानूराम व्यास	सस्ता साहित्य मण्डल नई दिल्ली	प्रथम सन् १९५८ ई०
८८- वैदिक साहित्य में नारी	डा० प्रशान्त कुमार वेदालंकार	वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली	प्रथम सन् १९६४ ई०
८९- भारतीय ज्योतिष शास्त्र का इतिहास	डा० गोरख प्रसाद	प्रकाशन ब्यूरो उत्तर प्रदेश सरकार लखनऊ	प्रथम सन् १९५६ ई०
९०- धर्मशास्त्र का इतिहास (प्रथम भाग)	मूललेखक डा० पी० वी० काणे हिन्दी अनुवादक श्री अर्जुन चौबे काश्यप	हिन्दी समिति सूचना विभाग उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ	प्रथम
९१- हिन्दू विवाह का संक्षिप्त इतिहास	श्री हरिदत्त वेदालंकार	हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ	प्रथम सन् १९७० ई०
९२- हिन्दू परिवार मीमांसा	,,	सरस्वती सदन, मसूरी	सन् १९६३ ई०
९३- प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका	डा० रामजी उपाध्याय	लोकभारती प्रकाशन	प्रथम सन् १९६६ ई०
९४- भारतवर्ष का सामाजिक इतिहास	डा० विमल चन्द्र पाण्डेय	हिन्दुस्तानी एकेडमी इलाहाबाद	प्रथम सन् १९६० ई०
९५- प्राचीन भारतीय सामाजिक एवं आर्थिक	डा० कैलाशचन्द्र जैन	मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल	प्रथम सन् १९७१ ई०

		लेखक	प्रकाशक	संस्करण
९६-	ऋग्वैदिक काल में पारिवारिक सम्बन्ध	डा० शिवराज शास्त्री	मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ	
९७-	भारतीय इतिहास की रूपरेखा	श्री जयचन्द्र विद्यालंकार	हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद	सन् १९३३ ई०
९८-	संस्कृत-कविदर्शन	डा० भोलाशंकर व्यास	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी	तृतीय सन् १९६८ ई०
९९-	प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन	डा० लक्ष्मीदत्त ठाकुर	हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ	प्रथम सन् १९६५ ई०
१००-	अथर्ववेद में गृहस्थाश्रम	श्रीपाद दामोदर सातवलेकर	स्वाध्याय मण्डल पारडी, बलसाड़	प्रथम सन् १९६४ ई०
१०१-	अन्योक्तिवाङ्मय: उद्भव एवं विकास	डा० राजेन्द्र प्रसाद मिश्र	अप्रकाशित (इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी०फिल उपाधि के लिए सन् १९६६ ई० में स्वीकृत शोधप्रबन्ध)	

अंग्रेजी ग्रन्थ

१०२-	Juridical Studies in Ancient Indian Law, Part I	Mr.L.Sternbach	Moti Lal Banarasidas Delhi	First 1965

		लेखक	प्रकाशक	संस्करण
१०३-	The Hindu Law of Marriage and Stridhan	MR. G. Banerjee	Tagore Lecture Series Publication	1978
१०४-	Kalidas	MR. V.V. Mirashi	Popular Prakashan Bombay	
१०५-	Hindu Law and Custom	MR. J. Jolly	The Greater India Society, Calcutta	1928
१०६-	Hindu Kinship	Dr. K.M.Kapadia	Popular Book Depot, Bombay	1947
१०७-	Rgvedic Culture	MR. A.C. Dass	R.Cambray & Company Calcutta	1925
१०८-	Some Aspects of Social Life in Ancient India	Dr. S.Mukerjee	Narayan Publishing house, 629 University Road, Allahabad	1976

पत्र पत्रिकाएं

१०९- Journal of Asiatic Society of Bengal - 1977

११०- Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute XX.

१११- कल्याण : संक्षिप्त वाल्मीकि रामायणांक.

११२- ,, : फरवरी, १९६१ ई०

११३- साप्ताहिक हिन्दुस्तान : १९ मई, १९७७ ई०

- 0 -